विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

१३

जैन आगम साहित्य
में
भारतीय समाज

लेखक-
डॉ० जगदीशचन्द्र जैन
एम० ए०, पी-एच० डी०,
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
रामनारायण रुइया कालेज, बम्बई

चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-१
१९६५

THE

VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA

93

JAINA ĀGAM SĀHITYA
ME
BHĀRATĪYA SAMĀJA

(Social Life in Jain Canonical literature)

(600 B. C.–1600 A. D.)

By

Dr. JAGADĪSHCHANDRA JAIN M. A., Ph. D.

Head of the Hindi Deptt.

Ramnarain Ruia College, Bombay.

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1965

प्रास्ताविक

जैन आगमों में भगवान् महावीर का उपदेश सन्निहित है जिसे उनके गणधरों ने सूत्र रूप में निबद्ध किया। इस हिसाब से जैन आगमों को महावीर जितना ही प्राचीन मानना चाहिए। लेकिन उन दिनों सूत्रों को कण्ठस्थ रखने की पद्धति थी। ऐसी हालत में आगमों को सुव्यवस्थित रखने के लिए समय-समय पर जैन श्रमणों के सम्मेलन होते रहे। अन्तिम सम्मेलन ईसवी सन् की पांचवीं शताब्दी में गुजरात-काठियावाड़ में हुआ। इसका मतलब यह कि समस्त उपलब्ध आगमों को महावीर का साक्षात् प्रवचन नहीं कहा जा सकता। काल-दोष से ईसवी सन् के पूर्व पांचवीं शताब्दी से लगाकर ईसवी सन् की पांचवीं शताब्दी तक यानी १,००० वर्ष के बीच, उनमें अनेक संशोधन और परिवर्तन होते रहे जिसका परिणाम यह हुआ कि जैन आगम अपने रूप में सुरक्षित न रह सके।

ये आगम संक्षिप्त होने के कारण गूढ़ थे, अतएव बिना टीका-टिप्पणियों के इन्हें समझना कठिन था। ऐसी हालत में समय-समय पर जैन आचार्यों ने इन पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी और टीकाएँ लिखीं। यह टीका-साहित्य ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी से लेकर ईसवी सन् की १६ वीं शताब्दी तक चलता रहा। आगमों के अनेक पाठ विस्मृत अथवा त्रुटित हो जाने से टीकाकारों को मूल सूत्रों के समुचित प्रतिपादन में काफी कठिनाई हुई। फिर भी जो कुछ उन्हें स्मरण था अथवा आचार्य-परम्परा से ज्ञात था उसे लिखकर उन्होंने सन्तोष किया।

जैन आगम-साहित्य में विविध सांस्कृतिक और सामाजिक सामग्री मिलती है जो भारतीय इतिहास के सांगोपांग अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जैन श्रमण संस्कृति के क्रमिक विकास का यहाँ चित्र प्रस्तुत है जिसके अध्ययन से पता लगता है कि जैन श्रमणों को अपने संघ को सुदृढ़ बनाने के लिए क्या-क्या कष्ट सहन नहीं करने पड़े। इस दृष्टि से जैन छेदसूत्र और उनकी टीकाओं का अभ्यास विशेष उपयोगी है।

छेदसूत्रों में उल्लेख है—

तम्हा न कहेयव्वं आयरियेण पवयणरहस्सं।
खेत्तं कालं पुरिसं नाऊण पगासए गुज्झं॥

आचार्य को प्रवचन का रहस्य किसी से न कहना चाहिए। क्षेत्र, काल, और पुरुष को जान-बूझकर ही उसे प्रकाश में लाना उचित है।

इस प्रकार के विधान का कारण यही है कि छेदसूत्रों में व्रतों के अपवाद-नियमों का विधान है। उदाहरण के लिए, "यदि कहीं महामारी हो जाये, दुर्भिक्ष पड़ने लगे, राजा द्वेष करने वाला हो, किसी प्रकार का भय हो, रोग हो जाये या कोई अन्य मानसिक बाधा उत्पन्न हो तो वर्षा काल में भी साधु अन्यत्र गमन कर सकता है।" लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि छेदसूत्रों में प्रायः जैन साधुओं के शिथिलाचार का उल्लेख है, और इसलिए उन्हें गोपनीय रखना चाहिए। जैन साधुओं को तो सदा मन, वचन और कर्म से अप्रमत्त रहने का ही उपदेश है। कहा है—"यदि कोई सीखा हुआ पुरुष भी यत्नपूर्वक तलवार, कांटों और विषम पथ पर गमन करे तो जैसे उसके स्खलित हो जाने की आशंका रहती है, उसी प्रकार अप्रमत्त मुनि के भी स्खलित होने की सम्भावना बनी रहती है।" इसी प्रकार "जैसे स्रोत-वाहिनी नदी अपना मार्ग छोड़कर उन्मार्ग से बहने लगती है, अथवा जाज्वल्यमान कंडे की अग्नि समय पाकर मंद हो जाती है; उसी प्रकार साधु के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।"

निर्ग्रन्थ प्रवचन को "धीर पुरुषों का शासन" बताया है। इसमें" सर्प के समान एकान्त दृष्टि और छुरे के समान एकान्त धार रखनी होती है, और लोहे के जौ के समान इसे भक्षण करना पड़ता है। बालू के ग्रास के समान यह नीरस है, महानदी गंगा के प्रवाह के विरुद्ध तैरने तथा महासमुद्र को भुजाओं द्वारा पार करने की भांति दुस्तर है, तथा असिधाराव्रत के समान इसका आचरण दुष्कर है। कायर, कापुरुष और क्लीवों का इसमें काम नहीं।" प्राचीन जैनसूत्रों में "श्रमण धर्म को उपशम का सार" (उवसमसारं सामन्नं) कहा है। "श्रमण धर्म का आचरण करते हुए भी यदि क्रोध आदि कषायों की उत्कटता दीख पड़े तो गन्ने के पुष्प की भांति श्रामण्य को निष्फल ही समझना चाहिए।" ऐसी दशा में "यदि नवदीक्षित साधु का मन धर्म में न रमण करता हो तो उसे धीरे-धीरे, किसी बैल को जुए में जोतने की भांति धर्म में लगाना चाहिए। मतलब यह कि हर-हालत में धर्म पालन में अप्रमत्त रहना ही योग्य है।

फिर भी जीवन में कितने ही प्रसंग ऐसे उपस्थित होते हैं कि लाख जतन करने पर भी मनुष्य से भूल हो ही जाती है। ऐसी दशा में अपनी भूल को सुधार कर आगे बढ़ने का आदेश जैन सूत्रों में है—हताश होकर और मन मारकर बैठ जाने का नहीं। जैसे "कोई बालक अच्छा या बुरा काम करने पर सरलतापूर्वक सब कुछ कह-सुन देता है, उसी प्रकार साधु को चाहिये कि वह निष्कपट भाव से अपने गुरु के समक्ष अपने दोषों की आलोचना करे।" यहाँ "वैद्य को जिन भगवान के समान, रोगी को साधु के समान, रोगों को अपराधों के समान और औषधि को प्रायश्चित्त के समान बताया गया है।" प्रायश्चित्त का विधान भी कोई ऐसे-वैसे नहीं बताया। "न वह (प्रायश्चित्त) सर्वकाल में विधि रूप होता है और न प्रतिषेध रूप। बल्कि जैसे कोई लाभ का इच्छुक वणिक् आय और व्यय का सन्तुलन रखता है, उसी प्रकार प्रायश्चित्त देने वाले आचार्य को भी बहुत सोच-विचार कर प्रायश्चित्त देना चाहिए।" अथवा "जैसे कोई रत्नों का व्यापारी मौका पड़ने पर अपने बहुमूल्य रत्नों को अल्प मूल्य में और अल्प मूल्य के रत्नों को अधिक मूल्य में बेच देता है, इसी तरह आचार्य भी राग और द्वेष के कम या ज्यादा होने पर, तदनुसार प्रायश्चित्त का विधान करता है।"

दूसरा प्रश्न है संयम पालन के लिए देह धारण का। "मोक्ष के साधन दर्शन, ज्ञान और चारित्र की सिद्धि देह धारण से हो सकती है और देह धारण के लिए आहार की आवश्यकता है।" जैनसूत्रों में उल्लेख है कि "जैसे तेल के उचित अभ्यंग से गाड़ी अच्छी तरह चलने लगती है और घाव ठीक हो जाता है, उसी प्रकार आहार द्वारा संयम का भार वहन किया जा सकता है।" "जैसे कोई फसल काटने वाला दांती के बिना फसल नहीं काट सकता, नदी पार जाने वाला नाव के बिना नदी पार नहीं कर सकता, योद्धा शस्त्र के बिना शत्रु को पराजित नहीं कर सकता, राहगीर पदत्राण के बिना रास्ता तय नहीं कर सकता, रोगी औषधि के बिना नीरोग नहीं हो सकता, और संगीत विद्या का इच्छुक वादित्र के बिना संगीत नहीं सीख सकता, इसी प्रकार समाधि का इच्छुक आहार के बिना समाधि नहीं प्राप्त कर सकता।" अतएव संयम धारण करने के लिए अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक शरीर की रक्षा करना चाहिए, क्योंकि शरीर ही धर्म का स्रोत है।

जैन श्रमणों को पुष्टिकारक भोजन का निषेध किया गया है। क्योंकि "इस भोजन से शुक्र की वृद्धि होती है, उससे वायु प्रकोप होता है और वायु प्रकोप से काम जागृत होता है, अतएव साधु को आहार-विहार में अत्यन्त संयमशील होने

की आवश्यकता है।" लेकिन जैसे कहा जा चुका है, कितने ही प्रसंगों पर, परिस्थितियोंवश, वे अपने मार्ग से स्खलित भी हो जाते थे, यद्यपि इसे स्वस्थ मनोवृत्ति का परिचायक हरगिज नहीं समझा जाता था। उन्हें सदा जागृत रहने और क्षण भर के लिए भी प्रमाद न करने का ही उपदेश था। इस प्रकार की स्खलनाओं का उल्लेख छेदसूत्रों में अनेक स्थलों पर किया गया है। लेकिन इससे उन सूत्रों का महत्व कम नहीं होता और न जैन श्रमण संघ की दुर्बलता ही सिद्ध होती है। इससे यही ज्ञात होता है कि उन लोगों ने मानव कमजोरियों को न छिपाकर बड़े साहसपूर्वक उनका सामना करते हुए जैन संघ को सुदृढ़ बनाया। यदि जैन श्रमण संघ के पुरस्कर्ता इस दिशा में हिम्मत से काम न लेते तो निस्संदेह जैनधर्म का इतिहास कुछ और ही होता। इसमें संदेह नहीं कि छेदसूत्रों के अध्ययन के बिना जैन श्रमण संघ का ऐतिहासिक क्रमिक विकास ठीक-ठीक समझ में नहीं आ सकता।

परिस्थितियों पर काबू प्राप्त करने के लिए मनुष्य जीवनोपयोगी नियमों का निर्माण करता है। उदाहरण के लिये, बौद्ध सूत्रों में उल्लेख है कि "वर्षा ऋतु में हरित तृणों का संमर्दन करने से एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है। ऐसे समय पक्षी भी वृक्षों पर घोंसला बनाकर रहते हैं। अतएव बौद्ध भिक्षुओं को वर्षावास में एक स्थान पर रहना उचित है" (महावग्ग ३, वस्सूपनायिकक्खंध)। इसी से मिलता-जुलता उल्लेख जैनों के बृहत्कल्पभाष्य में मिलता है। यहां कहा गया है कि "वर्षाकाल में गमन करने से वृक्ष की शाखा आदि के सिर पर गिर जाने, कीचड़ में रपट जाने, नदी में बह जाने अथवा कांटा आदि लग जाने का भय रहता है।" कहने की आवश्यकता नहीं, जैन और बौद्ध धर्म का प्रचार मगध (बिहार) से आरम्भ हुआ था, और वर्षा ऋतु में, विशेष कर, उत्तर बिहार की बागमती, कोसी और गंडक आदि नदियों में बाढ़ के कारण यहां की क्या भयंकर दशा हो जाती है, इसे भुक्तभोगी ही जान सकते हैं।

रात्रिभोजनत्याग के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार के जनोपयोगी व्यावहारिक उल्लेख मिलते हैं। मज्झिमनिकाय के लकुटिकोपमसुत्त में कहा है कि रात्रि में भिक्षा के लिए जाते समय बौद्ध भिक्षु अंधेरे में ठोकर खाकर गिर पड़ते थे और स्त्रियां उन्हें देखकर चीत्कार करने लगती थीं। ऐसी दशा में बुद्ध भगवान् ने अपने भिक्षुओं को विकाल भोजन का निषेध किया है। बृहत्कल्पभाष्य में भी कहा है कि रात्रि अथवा विकाल में भोजन करने से गड्ढे आदि में गिरने, सांप अथवा कुत्ते से काटे जाने, बैल से मारे जाने अथवा कांटा आदि लगने का डर रहता है। इस प्रसंग पर कालोदाई नामक भिक्षु की कथा दी है। रात्रि के समय किसी

गर्भवती ब्राह्मणी के घर वह भिक्षा के लिए गया, और अँधेरा होने के कारण कील पर गिर जाने से ब्राह्मणी की मृत्यु हो गयी। कहना न होगा कि उत्तर बिहार आज भी कुत्ते, गीदड़ और सांपों के भयंकर उपद्रव से ग्रस्त है।

इसी प्रकार रोग आदि की अवस्था मे जैन और बौद्धों के प्राचीन सूत्रों में चमड़े के जूते धारण करने का उल्लेख है। महावग्ग के चम्मक्खंधक में कहा है कि लकड़ी की पादुकाएं पहनने से खटखट की बहुत आवाज होती है, इसलिए बुद्ध ने भिक्षुओं को काष्ठ पादुकाएं धारण करने का निषेध कर दिया। इसी तरह, अवन्ति दक्षिणापथ की भूमि काली होती थी और वह गोखरूओं से व्याप्त रहती थी, यह देखकर भगवान् बुद्ध ने स्नान करने और जूता पहनने की अनुज्ञा अपने भिक्षुओं को दी। प्राचीन जैनसूत्रों में कोंकण आदि अत्यधिक वर्षा वाले प्रदेशों में छाता लगाने का विधान किया गया है, यद्यपि सामान्यतया जैन श्रमण के लिए छाते का निषेध ही है। इसी प्रकार मंत्रप्रयोग और औषध आदि ग्रहण करने के सम्बन्ध में भी अनेक अपवाद-नियमों का उल्लेख है।

श्रमणों के लिए लोकव्यवहार का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक बताया है। शुद्ध होने पर भी यदि कोई बात लोक के विरुद्ध हो तो उसे अस्वीकार करने का ही विधान हैं (यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाकरणीयं नाचरणीयं)। जैन श्रमणों के लिए विशेष कर जनपद-परीक्षा द्वारा विभिन्न प्रदेशों के रीति-रिवाज आदि को जानना अत्यन्त आवश्यक कहा है, नहीं तो निर्ग्रन्थ प्रवचन के हास्यास्पद होने की सम्भावना है। इसके लिए जैन साधुओं को विभिन्न देशोंकी भाषा मे कुशलता प्राप्त करना चाहिए जिससे कि वे लोगों को उनकी भाषा में उपदेश दे सकें। साधुओं को इस बात की जानकारी भी आवश्यक है कि कौन-से देश में किस प्रकार से धान्य की उत्पत्ति होती है, कहाँ वनिज-व्यापार से आजीविका चलती है, कहां के लोग मासभक्षी होते हैं, कहाँ रात्रि-भोजन करने का रिवाज है, और कहाँ के लोग शुद्धाशुद्धि का बहुत विचार नहीं करते। इससे पता लगता है कि जैन श्रमण लोकाचार से सम्बन्ध रखने वाली छोटी-छोटी बातों का भी बहुत ध्यान रखते थे।

यद्यपि जैन और बौद्ध संघ को व्यवस्था का आदर्श वैशाली और उसके आसपास के वज्जी आदि गणों की जनतान्त्रिक व्यवस्था पर आधारित है, फिर भी मानव स्वभाव के कारण जैन और बौद्ध श्रमणों के बीच अनेक विवादास्पद विषयों को लेकर मतभेद हो जाता था, और कभी तो यह मतभेद कलह का उग्र रूप धारण कर लेता था। जैन सूत्रों में उल्लेख है कि "जैसे नृत्यकला के बिना

कोई नट नहीं कहा जा सकता, नायक के बिना कोई रूपवती स्त्री नहीं रह सकती, और गाड़ी के धुरे के बिना पहिया नहीं चल सकता, इसी प्रकार आचार्य के बिना कोई गण नहीं चल सकता।" लेकिन कभी कोई आचार्य बहुत अनुशासन-प्रिय होते थे, अथवा साधु प्रमाद के कारण अनुशासन में रहना पसन्द नहीं करते थे। ऐसी दशा में आचार्य के पुनः-पुनः आवागमन के कारण साधु को बार-बार उठना-बैठना पड़ता था जिससे उसकी कमर ही टूट जाती थी और छोटी-छोटी बातों के लिए उसे भर्त्सना सहन करनी पड़ती थी। इस परिस्थिति में कभी वह एक गच्छ को छोड़कर दूसरे गच्छ में जाकर रहने लगता था। कभी तो आपसी लड़ाई-झगड़ा इतना बढ़ जाता कि हाथापाई या लाठी का प्रयोग करने या दाँतों से काट लेने तक की नौबत आ जाती थी। ऐसी दशा में आचार्य के लिए बताया गया है कि "जैसे एक ही खम्भे से दो मदोन्मत्त हाथियों को नहीं बांधा जाता, या दो व्याघ्रों को एक पिंजरे में नहीं रखा जाता, उसी प्रकार एक कलहशील साधु को दूसरे कलहप्रिय साधु के साथ न रहने दे।" बौद्धों के महावग्ग के अन्तर्गत कोसंबकक्खंधक में कौशाम्बी के बौद्ध भिक्षुओं की कलह का उल्लेख है जिसे शान्त करने के लिए स्वयं बुद्ध को कौशाम्बी जाना पड़ा था।

महावीर और बुद्ध लगभग एक ही काल और एक ही प्रदेश में आविर्भूत हुए, तथा दोनों का उद्देश्य वर्ण-व्यवस्था, और हिंसामय यज्ञ-याग आदि को अस्वीकार कर सर्वसामान्य के लिए निवृत्तिप्रधान श्रमण सम्प्रदाय का प्रचार करना ही था। ऐसी हालत में दोनों सम्प्रदायों में समानता का पाया जाना स्वाभाविक है। यह समानता केवल विषय-वस्तु के वर्णन तक ही सीमित नहीं, बल्कि कितनी ही गाथायें और शब्दावलि भी दोनों धर्मों में एक-जैसी है। इस दृष्टि से प्राचीन जैन और बौद्ध धर्म का तुलनात्मक वैज्ञानिक अध्ययन बहुत ही मनोरंजक और उपयोगी सिद्ध होगा, इसमें सन्देह नहीं।

जैन और बौद्ध ग्रन्थों में भौगोलिक सामग्री भी कुछ कम बिखरी नहीं पड़ी है। इनके अध्ययन से अनेक महत्त्वपूर्ण स्थानों का पता लगता है और ये ऐसे स्थान हैं जिनके सम्बन्ध में हमें अन्यत्र जानकारी नहीं मिलती। उदाहरण के लिए, जैन सूत्रों में पुण्ड्रवर्धन और कयंगल (कंकजोल) का उल्लेख आता है। इनकी पहचान के लिए हमें अपने देश की पैदावार की ओर ध्यान देना आवश्यक है। बंगाल में दो प्रकार के गन्ने होते थे, एक पीले रंग के (पुण्ड्र = पौंडे) और दूसरे काले रंग के (काजलि अथवा कजोलि)। यहां यह उल्लेखनीय है कि 'पुण्ड्र' से गंगा के पूर्व में स्थित पुण्ड्र देश और 'कजोलि' से गङ्गा के पश्चिम

में स्थित कजोलक नाम पड़ा। इसी प्रकार दढभूमि (दृढभूमि = कठिन भूमि) का उल्लेख प्राचीन जैन सूत्रों में आता है; भगवान महावीर ने यहां विहार किया था। इसकी पहचान आधुनिक धालभूम से की जा सकती है। लोहग्गला राजधानी का उल्लेख भी महावीरचर्या के प्रसंग में आता है। इसकी पहचान छोटा नागपुर डिवीजन के लोहरडग्गा (मुण्डा भाषा में रोहोर = सूखा, ड = पानी; अर्थात् यहां पानी का एक झरना था जो बाद में सूख गया) स्थान से की जा सकती है। सन् १८४३ तक लोहरडग्गा एक स्वतंत्र जिला था जिसमें रांची और पलामू जिले सम्मिलित थे। दो नदियों के संगम पर बसा होने के कारण यह व्यापारिक नगर रहा है; आजकल यह बंगाल राज्य में चला गया है। उच्चानागरी जैन श्रमणों की एक प्राचीन शाखा थी। उच्चानगर की पहचान बुलन्दशहर (उच्चा = बुलंद, नगर = शहर) से की जा सकती है। चौदहवीं शताब्दी के जैन विद्वान् जिनप्रभसूरि के समय से ही श्रावस्ती महेठि नाम से कही जाने लगी थी, जबकि कनिंघम ने बाद में चलकर उसकी पहचान सहेट-महेट से की। इनमें सहेट गोंडा जिले में और महेट बहराइच जिले में पड़ता है। इसके अतिरिक्त, भूगोल और इतिहास विषयक और भी महत्वपूर्ण सामग्री यहां उपलब्ध होती है। उदाहरण के लिए, व्यवहारभाष्य में देश-देश के लोगों की चर्चा के प्रसंग में कहा है—"मगध के निवासी किसी बात को इशारे-मात्र से समझ लेते हैं, जबकि कोसल देशवासी उसे देखकर, पांचालवासी आधा सुन लेने पर और दक्षिणापथ के वासी साफ-साफ कह देने पर ही समझ पाते हैं।" इसी ग्रन्थ में अन्यत्र उल्लेख है कि "आन्ध्र के निवासियों में अक्रूर, महाराष्ट्र के निवासियों में अवाचाल और कोसल के निवासियों में निष्पाप, सौ में से एकाध ही मिलेगा।" लाट और महाराष्ट्र के वासियों में अक्सर झगड़े-झंझट हो जाया करते थे; लाट वासियों को मायावी कहा गया है।

बौद्ध सूत्रों की अट्ठकथाओं के कर्ता बुद्धघोष ने भी अपनी टीकाओं में अनेक ग्राम, नगर आदि की व्युत्पत्ति देते हुए उनका उल्लेख किया है। राजगृह में स्थित गृध्रकूट के सम्बन्ध में कहा है कि इस पहाड़ी की चोटी का आकार गीध की चोंच के समान था, अथवा इस पर गीध निवास करते थे, इसलिए इसका यह नाम पड़ा। नालन्दा में भिक्षा देने वाले दानी उपासक भिक्षा देकर कभी तृप्त न होते थे (न अलं ददाति), इसलिए इसका नालंदा नाम पड़ा। श्रावस्ती नगरी में सब कुछ मिलता था (सावत्थि = सब्बं अत्थि) इसलिए यह श्रावस्ति कही जाने लगी। इसी प्रकार इसिपतन मिगदाय (ऋषिपतन मृगदाव) के सम्बन्ध में कहा है कि यहां ऋषिगण हिमालय से उतर कर आते थे, इसलिए

इसे ऋषिपतन, और यहाँ के सुन्दर उद्यान (दाव) में मृग स्वच्छन्द विचरण करते थे, इसलिए इसे मृगदाव कहने लगे। यह स्थान आजकल बनारस के पास सारनाथ के रूप में प्रसिद्ध है।

भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी *जैन आगम साहित्य का अध्ययन अत्यन्त* उपयोगी है, विशेषकर चूर्णी और टीका साहित्य में कितने ही शब्दों की सुस्पष्ट व्याख्यायें दी हैं, जो अन्यत्र नहीं मिलतीं। उदाहरण के लिए 'सुयण' (निद्दावसगमन = निद्रा के वश होना = सोना), 'हत्थ' (हसति अनेन मुखं आवृत्य = जिससे मुँह को ढँककर हँसा जाये = हाथ), 'जुग' (बलिद्दाणखंधे आरोविज्जइ = जो बैलों के कंधों पर रक्खा जाये = जूआ), 'पलास' (कोमलवडादिपत्तं = वड़ आदि का कोमल पत्ता = ढाक का पत्ता), 'खल्लग' (*वटादिपत्रकृतानि भाजनानि दूतानि=वड़ इत्यादि पत्तों के बने दौने*), 'छिन्नाल' (छिन्ना नाम येऽगम्यगमनाद्यपराधकारित्वेन च्छिन्नहस्तपादनासादयः कृताः = अगम्यगमन आदि के अपराध के कारण जिसके हाथ, पैर और नाक आदि छिन्न कर दिये गये हों = छिनाल), 'उज्जल्ल' (उत् प्राबल्येन मलिन शरीर = जिसका शरीर अत्यन्त मलिन हो; तुलना कीजिए हिन्दी के 'उज्वल' शब्द के साथ) आदि शब्दों की व्युत्पत्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं। इसी प्रकार 'तुप्प' (मृत शरीर की चर्बी, लेकिन मराठी में तूप का अर्थ घी होता है), 'चुल्ली' (चूल्हा), सुप्प (सूप), मुइंग (चींटी, मराठी में मुंगी), तक्क (मराठी में ताक), छासी (छाछ), गोणय (प्रशस्त गाय, बंगाली में गोरू), खुरप्पग (खुरपा), खलहाण (खलिहान), बप्प (बाप), थालिय (थाली), बइल्ल (बैल), पोडग (पोढ़ा), गेंदुग (गेंद), डगल (साधुओं के टट्टी पोछने के पाषाण आदि के ढेले), चिक्कण (चिकना), कुहाड़ (कुहाड़ा), चालिणि (छलनी), बद्दल (बादल), जक्ख (यक्ष = श्वान), अक्खाड (अखाड़ा), कहकह (कहकहा लगाना), जुन्न (जीर्ण, गुजराती में जूना), पाहुण (पाहुना), छप्पइ (छह पैर वाली = जूं), गड्ड (हाथी), कयल (केला), गोब्बर (गोबर), उव्वट्टण (उबटन), उक्कुरड (कूरड़ी या कूड़ी), गड्डा (गड्ढा), विंटय (अंगूठी, वींटी गुजराती में), फेल्लसण (फिसलना), सुगेहिया (जिसका अच्छा घर हो = बया पक्षी), दुस्सिय (दूष्य वस्त्र के व्यापारी, महाराष्ट्र और गुजरात के दोशी), सोट्टा (सोटा), कोल्हुक (कोल्हू), चाउल (चावलों का धोवन), चेट्टिया (राजकुमारी; बेटी), वेस्सा (द्वेष्या = अनिष्टा; वेश्या) आदि प्राकृत के शब्द उल्लेखनीय हैं जिनका संस्कृत से बहुत कम सम्बन्ध है। दुर्भाग्य से प्राकृत शब्दों के संस्कृतीकरण की प्रवृत्ति विद्वत्समाज में आज भी कम नहीं है।

"लाइफ इन ऐंशियेंट इंडिया ऐज डिपिक्टेड इन जैन कैनन्स" नाम की मेरी पी-एच० डी० की थीसिस सन् १९४७ में न्यू बुक कम्पनी लिमिटेड, बम्बई की ओर से प्रकाशित हुई थी। तभी से हितैषी मित्रों का आग्रह रहा है कि इस पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाये। कई मित्रों ने इसका हिन्दीकरण करने की अनुमति भी चाही। लेकिन मैं यही सोचता रहा कि यदि कभी अपने बहुधंधी जीवन से अवकाश के क्षण मिल सकें तो मैं स्वयं इस कार्य को हाथ में लूँ। उसका एक मुख्य कारण यह था कि अपनी थीसिस को अंग्रेजी में लिखते समय, मेरे बहुत कुछ नोट्स रह गये थे जिनका मनचाहा उपयोग न हो सका था। इसके अतिरिक्त, सांस्कृतिक सामग्री से भरपूर निशीथ-चूर्णी की साइक्लोस्टाइल की हुई प्रति का ही उपयोग मैं कर सका था, लेकिन अब वह उपाध्याय कवि अमर मुनि और मुनि कन्हैयालाल जी के परिश्रम से प्रकाशित हो गयी है। अन्य छेदसूत्रों और आवश्यकचूर्णी आदि जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थों का भी मैंने फिर से स्वाध्याय किया और प्राप्त सामग्री को प्रस्तुत पुस्तक में जोड दिया। अन्य स्थलों में भी कुछ आवश्यक परिवर्तन कर दिये गये हैं। वस्तुतः प्रस्तुत पुस्तक मेरी अंग्रेजी की उक्त पुस्तक का अविकल अनुवाद न समझी जाये; इसे एक स्वतंत्र पुस्तक का रूप देने का मैंने प्रयत्न किया है। इस पुस्तक में दिये उद्धरण मैंने फिर से उद्धृत पुस्तकों से मिलाये हैं, इससे बौद्ध सूत्रों आदि से तुलनात्मक उद्धरणों की संख्या में पहले की अपेक्षा वृद्धि ही हुई है।

न्यू बुक कम्पनी के अधिकारियों ने मुझे अपनी पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित करने की अनुज्ञा दी, इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। चौखम्बा संस्थान के सर्वेसर्वा श्री कृष्णदासजी गुप्त की असीम प्रेरणा और असाधारण ममत्व का यह मधुर फल है कि यह पुस्तक उनके द्वारा प्रकाशित की जा रही है। बन्धुद्वय मोहनदास और विट्ठलदास के सम्बन्ध में क्या कहा जाये। उनके उत्साह और कार्यतत्परता के कारण ही इतना बड़ा प्रकाशन संस्थान दिनों-दिन उन्नति कर रहा है।

आशा है इस पुस्तक के प्रकाशन से हिन्दी पाठकों का ध्यान अब तक उपेक्षित पड़े हुए प्राकृत साहित्य की ओर आकर्षित होगा।

१ जनवरी, १९६५
२८ शिवाजी पार्क, बंबई २८

जगदीशचन्द्र जैन

विषय-सूची

तृतीय खण्ड : आर्थिक स्थिति

चौथा खण्ड : सामाजिक व्यवस्था

पाँचवाँ खण्ड : धार्मिक व्यवस्था

परिशिष्ट १

परिशिष्ट २

परिशिष्ट ३

—❧—

जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज

प्रथम खण्ड

पहला अध्याय

जैन संघ का इतिहास

आदि तीर्थंकर

जैन परम्परा में जैनधर्म को शाश्वत माना गया है, अतएव समय-समय पर जैनधर्म का लोप हो जाने पर भी वह कभी नाश नहीं होता। यहाँ अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नाम के दो कल्प माने गये हैं जो सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा और दुषमा-दुषमा इन छः कालों में विभक्त हैं। सुषमा-दुषमा नाम के तीसरे काल में १५ कुलकरों का जन्म हुआ जिनमें नाभि कुलकर की महारानी मरुदेवी के गर्भ से आदि तीर्थंकर ऋषभदेव, वृषभदेव अथवा आदिनाथ उत्पन्न हुए।[1] ऋषभदेव प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर, प्रथम धर्मचक्रवर्ती और नीति के प्रथम प्रकाशक कहे जाते थे। उन्होंने सुमङ्गला और सुनन्दा नाम की अपनी बहनों से विवाह किया।[2] सुमङ्गला से भरत और ब्राह्मी तथा सुनन्दा से बाहुबलि और सुन्दरी का जन्म हुआ। राजसिंहासन पर बैठने के पश्चात् उन्होंने गणों की स्थापना की। ऋषभदेव ने ७२ कलाओं और स्त्रियों की ६४ कलाओं का उपदेश दिया, अग्नि जलाना सिखाया,[3] तथा भोजन बनाने, बर्तन तैयार करने, वस्त्र बुनने और बाल बनाने आदि की

---

१. इनकी आयु ८४ हजार पूर्व और इनके शरीर की ऊँचाई ५०० धनुष बतायी गयी है।

२. शाक्यों में भी भगिनी-विवाह प्रचलित था। महावंस में उल्लेख है कि लाट देश के राजा सीहबाहु ने अपनी भगिनी को पट्टरानी बनाया। देखिये बी० सी० लाहा, वीमेन इन बुद्धिस्ट लिटरेचर। ऋग्वेद का यम-यमी संवाद भी देखिये।

३. पहले लोग कन्दमूल-फलों का भक्षण करते थे। लेकिन कालांतर में उनका पचना बन्द हो गया। ऋषभदेव ने उन्हें हाथ से मलकर और उनका छिलका उतार कर खाने का आदेश दिया, आवश्यकचूर्णी, पृ० १५४।

विधियाँ बतायीं। ब्राह्मी को उन्होंने दाहिने हाथ से लिखना, सुन्दरी को बायें हाथ से गणित करना तथा भरत को रूपकर्म (स्थापत्यविद्या) और बाहुबलि को चित्रकर्म सिखाया। नागयज्ञ, इन्द्रमह तथा दण्डनीति का इस समय से प्रचार हुआ। विवाह-संस्था की स्थापना हुई, मृतक का दाहकर्म किया जाने लगा तथा स्तूप-निर्माण की परम्परा प्रचलित हो गयी।

भारतवर्ष की प्रथम राजधानी इक्ष्वाकुभूमि (अयोध्या) में ऋषभदेव का जन्म हुआ। अनेक वर्षों तक उन्होंने राज्य किया, फिर भरत का राज्याभिषेक कर श्रमण-धर्म में दीक्षा ग्रहण की। पहले वे एक वर्ष से अधिक समय तक सचेल और बाद में अचेलव्रती रहे। तपस्वी जीवन में उन्होंने अनेक उपसर्ग सहन किये, पुरिमताल (अयोध्या का उपनगर) में केवलज्ञान प्राप्त किया और अन्त में अष्टापद (कैलाश) पर्वत पर निर्वाण पाया। यहाँ बड़ी धूमधाम से उनकी अस्थियों और चैत्यों पर स्तूपों का निर्माण किया गया।[1]

तत्पश्चात् जैन ग्रन्थों में २३ तीर्थंकरों की परम्परागत सूची दी गई है।[2] इनमें से अधिकांश तीर्थंकरों का जन्म इक्ष्वाकु वंश में अयोध्या, हस्तिनापुर, मिथिला या चम्पा में हुआ और उन्होंने प्रायः सम्मेदशिखर (समाधिशिखर; पारसनाथ हिल, हजारीबाग) पर सिद्धि पाई। अभी तक प्रथम बाईस तीर्थंकरों की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में यथेष्ट प्रमाण नहीं मिल सके, उल्टे उनके अति दीर्घकालीन जीवन, उनके शरीर की ऊँचाई तथा एक दूसरे तीर्थंकर के मध्य के

---

१. कल्पसूत्र ७, २०६-२२८; जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति २, १८-४०; आवश्यकनिर्युक्ति १५० आदि; आवश्यकचूर्णी, पृ० १३५-१८२; वसुदेवहिण्डी, पृ० १५७-१६५, १८५; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पृ० १०० आदि। ब्राह्मणों के भागवतपुराण (ईसवी सन् की ८ वीं शताब्दी) में ऋषभदेव का चरित मिलता है। पण्डित सुखलालजी के अनुसार, ऋषभ समस्त आर्यजाति द्वारा पूज्य थे, तथा ऋषभपञ्चमी को ही ऋषिपञ्चमी कहा जा सकता है, देखिये, चार तीर्थंकर, पृ० ४ आदि।

२. सर्वप्रथम २४ तीर्थंकरों का उल्लेख समवायाङ्ग २४; कल्पसूत्र ६, ७; आवश्यकनिर्युक्ति ३६९ आदि में मिलता है।

अन्तर आदि को देखने से उनकी पौराणिकता प्रायः अधिक सिद्ध होती है।[1]

बाइसवें तीर्थंकर—नेमिनाथ

नेमि अथवा अरिष्टनेमि बाइसवें तीर्थंकर हैं जो परम्परा के अनुसार यादवों के अत्यन्त प्रिय और कृष्ण भगवान् के चचेरे भाई थे। अरिष्टनेमि सोरियपुर (सूर्यपुर, आगरा जिले में वटेश्वर के पास) में राजा समुद्रविजय के घर महारानी शिवा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। उनका विवाह मथुरा के राजा उग्रसेन की कन्या राजीमती के साथ होना निश्चित हुआ। लेकिन जब वे बारात लेकर ब्याहने पहुँचे तो उन्हें बाड़ों में बँधे हुए पशुओं की चीत्कार सुनाई दी। ज्ञात हुआ कि उन पशुओं को मारकर बारातियों के लिए भोजन तैयार किया जायेगा। यह सुनकर अरिष्टनेमि के कोमल हृदय को बहुत आघात पहुँचा। वे उल्टे पैर लौट गये और घर पहुँचकर उन्होंने श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली।[2]

दीक्षा धारण करने के पूर्व अरिष्टनेमि और कृष्ण के बीच बाहुयुद्ध होने का उल्लेख जैन ग्रन्थों में मिलता है। कहते हैं कि युद्ध में हार जाने के कारण कृष्ण अपने चचेरे भाई से ईर्ष्या करने लगे थे।[3]

अरिष्टनेमि रैवतक (गिरनार) पर्वत के सहस्राम्रवन उद्यान में पहुँच कर तप करने लगे। कालान्तर में राजीमती ने उनका अनुगमन किया; वह भी उसी पर्वत पर पहुँचकर तप में लीन हो गयी, और उसने मोक्ष प्राप्त किया। यदुकुल के अनेक राजकुमार और राजकुमारियों तथा कृष्ण की रानियों ने अरिष्टनेमि के पादमूल में बैठकर श्रमण-दीक्षा स्वीकार की। गिरनार पर्वत पर उन्होंने सिद्धि पाई।

पार्श्वनाथ—एक ऐतिहासिक व्यक्ति

पार्श्वनाथ जैनधर्म के २३ वें तीर्थंकर हैं जो अन्तिम तीर्थंकर

---

१. बौद्ध शास्त्रों में ७ अथवा २४ बुद्धों का उल्लेख है, देखिये दीघनिकाय २, महापदानसुत्त पृ० ४; यहाँ बुद्धों के नाम, कुल, जन्मस्थान, बोधिवृक्ष और उनके दो प्रधान श्रावकों आदि का वर्णन है; बुद्धवंस। आजीविक मत में मक्खलि गोशाल को २४ वाँ तीर्थंकर माना गया है।

२. उत्तराध्ययन सूत्र २२।

३. उत्तराध्ययन टीका २२, पृ० २७८ आदि।

वर्धमान महावीर के लगभग २५० वर्ष पूर्व (ई० पू० ८ वीं शताब्दी) वाराणसी में, इक्ष्वाकुवंशीय राजा अश्वसेन के घर महारानी वामा की कोख से पैदा हुए थे। पार्श्वनाथ ३० वर्ष गृहस्थावस्था में रहे, ७० वर्ष उन्होंने साधु जीवन व्यतीत किया और ८४ दिन घोर तप करने के बाद केवलज्ञान प्राप्त किया। अपने साधु जीवन में पार्श्वनाथ ने अहिच्छत्रा, श्रावस्ती, साकेत, राजगृह, हस्तिनापुर और कौशाम्बी आदि नगरों में परिभ्रमण किया तथा अनार्य जातियों में उपदेश का प्रचार कर सम्मेदशिखर पर सिद्धि प्राप्त की।[1] पार्श्वनाथ को पुरिसादानीय,[2] लोकपूजित, सम्बुद्ध, सर्वज्ञ, धर्मतीर्थंकर और जिन कहा गया है।[3]

पार्श्वनाथ ने जैनसङ्घ को सङ्गठित करने के लिए उसे श्रमण, श्रमणी और श्रावक, श्राविका इन चार भागों में विभक्त किया, तथा सङ्घ की देखभाल के लिए अपने गणधरों को नियुक्त कर दिया। पुष्पचूला उनके भिक्षुणी-सङ्घ की प्रमुख गणिनी थी। पार्श्वनाथ ने बिना किसी जाति-पाँति[4] या लिङ्ग के भेदभाव के, मनुष्यमात्र के लिए अपने निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश दिया। चारों वर्णों और स्त्रियों[5]

---

१. कल्पसूत्र ६.१४६–१६६।

२. कल्पसूत्र ६.१४६। पाली में पुरिसाजानीय, अंगुत्तरनिकाय १, ३, पृ० २७०; २, ४, पृ० १२१।

३. उत्तराध्ययन सूत्र २३.१।

४. आपस्तंब (१.३) सूत्र में कहा है कि जिस गाँव में कोई चाण्डाल रहता हो वहाँ वेद पाठ नहीं करना चाहिए तथा यदि जान-बूझकर कभी वह वेदपाठ का श्रवण कर ले तो उसके कानों में पिघलता हुआ गर्म-गर्म टीन अथवा गर्म लाख भर दी जाय, और यदि कभी वह वेदमन्त्रों का उच्चारण करे, तो उसकी जिह्वा काट ली जाय, यदि वह उन्हें याद करने का प्रयत्न करे तो उसके शरीर के टुकड़े कर दिये जायँ, (गौतम १२.४–६)। बौद्धों के मातंग जातक (नं० ४९७, पृ० ५८८) में, मातंग को देखकर किसी वैश्य कन्या द्वारा सुगन्धित जल से अपनी आँखें धोने का उल्लेख है।

५. आपस्तम्ब (१.२.७.१०, पृ० ४१) में किसी स्त्री को स्पर्श करने का निषेध है। यज्ञ-याग में सम्मिलित होना स्त्रियों के लिए निषिद्ध है (२.६.१५.१७, पृ० २८७); तथा देखिये बौधायन (१.५.११.७); शतपथ (१४.१.१.३१); मनुस्मृति (११. ३७)। भगवान बुद्ध ने भी अपनी मौसी महाप्रजापति गौतमी के आग्रह पर ही स्त्रियों को भिक्षुणी संघ में प्रवेश करने की अनुज्ञा दी थी (चुल्लवग्ग १०.१ पृ० ३७३)।

के लिए उन्होंने धर्म का मार्ग खोल दिया। तप[1], त्याग और इन्द्रिय-निग्रह पर उन्होंने जोर दिया, तथा वेद-विहित हिंसा के विरुद्ध अहिंसा[2] को मुख्य बताते हुए चातुर्याम धर्म (पाणातिपातवेरमण = अहिंसा; मुसावायाओ वेरमण = सत्य; अदिन्नादानाओ वेरमण = अस्तेय; बहिद्धाओ वेरमण = अपरिग्रह)[3] का उपदेश दिया। महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ के श्रमणधर्म के अनुयायी थे,[4] इससे महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ का अस्तित्व सिद्ध होता है।

पार्श्वनाथ के अनेक शिष्य-प्रशिष्यों (पासावच्चिज्ज = पार्श्वापत्य) के उल्लेख प्राचीन आगमों में मिलते हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति (९. ३२) में भगवान् महावीर और पार्श्वनाथ के अनुयायी गांगेय श्रमण के बीच होने वाले संवाद का उल्लेख है। गांगेय की शंकाओं का समाधान करते हुए महावीर ने पार्श्वनाथ को पुरुषश्रेष्ठ (पुरिसादानीय) कहकर उनके प्रति आदर व्यक्त किया। अन्त में गांगेय ने पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म को त्यागकर महावीर के पांच महाव्रतों को अंगीकार कर लिया। आर्य कालासवेसियपुत्त भी महावीर के

---

१. आपस्तंब (१,२,५,११, पृ० ३१); तथा छान्दोग्य (३.१७.४); महाभारत शान्तिपर्व (१५६; २५१; २६४) में तप को प्रशस्त कहा है।

२. वाजसनेयी संहिता (३०) के अनुसार पुरुषमेध-यज्ञ में १८४ पुरुषों का वध किया जाता था। तथा देखिये ऋग्वेद १०.६०; १.२४.३०; ६.३। विष्णुस्मृति (सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट, जिल्द ७; ५१, ६१-६३) में कहा है कि यज्ञयाग के लिए की हुई पशु-हिंसा को हिंसा नहीं समझना चाहिए, इससे तो पशुओं को सुगति ही प्राप्त होती है; तथा देखिये शतपथ-ब्राह्मण (६.२.१.१६),; आश्वलायन गृह्यसूत्र; गौतम (१७.३७); वशिष्ठ (११.४६); मनुस्मृति (५.३६)। किन्तु शतपथब्राह्मण (१.२.३.६-६; १.२.५.१६); वशिष्ठ (१०.२); तथा केन उपनिषद् (१.३); छान्दोग्य (३.१७.४); महाभारत शान्तिपर्व (१४३-१४८; १७४; २६८-२७१; २७४) में अहिंसा को प्रशस्त कहा गया है।

३. बौद्धों के दीघनिकाय (सामञ्ञफलसुत्त) और मज्झिमनिकाय (चूलसकुलुदायिसुत्त) में चातुर्याम संवर का उल्लेख है। यहाँ संवर को पालन करने के कारण निर्ग्रन्थ श्रमणों को निर्ग्रन्थ, गतत्व (उद्देश्य सिद्धि में संलग्न), यतत्व (यत्नशील) और स्थितत्व (ध्यान में स्थित) कहा गया है।

४. आचारांग २, ३.४०१, पृ० ३८६।

अनुयायी बन गये। सूत्रकृतांग (२,७) में पार्श्वनाथ के शिष्य मेदार्य-गोत्रीय उदक पेढालपुत्र का उल्लेख है जिन्होंने महावीर के प्रथम गणधर गौतम इन्द्रभूति का उपदेश सुनकर पांच महाव्रत स्वीकार किये। उत्तराध्ययन (२३) में पार्श्वनाथ के अनुयायी चतुर्दश पूर्वधारी कुमार-श्रमण केशी और गौतम इन्द्रभूति का महत्वपूर्ण ऐतिहासिक संवाद उल्लिखित है।

"पार्श्वनाथ ने चातुर्याम का उपदेश दिया है और महावीर ने पांच महाव्रतों का,[1] पार्श्वनाथ ने सचेल धर्म का प्ररूपण किया है और महावीर ने अचेल धर्म का—इस मतभेद का क्या कारण हो सकता है?" इसके उत्तर में गौतम गणधर ने बताया कि कुछ लोगों के लिए धर्म का समझना कठिन होता है, कुछ के लिए पालना, और कुछ के लिए धर्म का समझना और पालना दोनों सरल होते हैं, अतएव भिन्न रुचिवाले शिष्यों के लिए भिन्न-भिन्न रूप से धर्म का प्रतिपादन किया गया है। ऐसी हालत में पार्श्व और महावीर दोनों महा-तपस्वियों का उद्देश्य एक ही समझना चाहिए, क्योंकि दोनों ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र से मोक्ष की सिद्धि स्वीकार करते हैं; अन्तर इतना ही है कि पार्श्वनाथ चातुर्याम धर्म और महावीर पांच महाव्रतों को अंगीकार करते हैं। सचेल और अचेल धर्म के प्रतिपादन का तात्पर्य है कि बाह्य वेष साधन मात्र है, वास्तव में चित्त की शुद्धि मोक्ष का कारण है।[2]

अपने साधु-जीवन में महावीर की अनेक पार्श्वापत्यों से भेंट हुई। ये साधु अष्टांग-महानिमित्त के पंडित थे। मुनिचन्द्र नामक पार्श्वापत्य सारंभ और सपरिग्रह थे, और किसी कुम्भकार की शाला में रहा करते थे। नंदिषेण स्थविर पार्श्वनाथ के दूसरे शिष्य थे। पार्श्वनाथ की अनेक शिष्याओं का उल्लेख भी मिलता है। पार्श्वनाथ के स्थविरों के आचार-विचारों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि वे लोग

---

१. दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार, पार्श्वनाथ के समय छेदोपस्थापना का उपदेश नहीं था, महावीर के समय से हुआ।

२. देवसेनसूरि के दर्शनसार के अनुसार पार्श्वनाथ के तीर्थ में पिहिताश्रव के शिष्य बुद्धकीर्ति मुनि को बौद्धधर्म का प्रवर्तक कहा है। यहाँ मस्करीपूरन (बौद्ध ग्रन्थों में मक्खलि गोशाल और पूरणकस्सप) को भी पार्श्वनाथ के संघ के किसी मुनी का शिष्य माना गया है।

मरणान्त के समय जिनकल्प धारण करते, तथा तप, सत्व, सूत्र, एकत्व और बल नामक पांच भावनाओं से संयुक्त हो उपाश्रय में, उपाश्रय के बाहर, चौराहों पर, शून्य गृहों में और श्मशानों में ध्यानावस्थित हो तप किया करते थे।

पश्चिम बंगाल की अनार्य जातियों में पार्श्वनाथ ने निर्ग्रन्थ धर्म का प्रचार किया था। बंगाल के मानभूम, सिंहभूम, लोहर्दगा (आजकल बिहार के अन्तर्गत रांची जिले में) आदि जिलों में सराक (श्रावक) जाति अब भी पार्श्वनाथ की उपासक है। ये लोग जल छान कर पीते हैं और रात्रिभोजन नहीं करते। इनके जन्म-मरण सम्बन्धी कार्य उनके आचार्यों द्वारा किये जाते हैं। वीरभूम और बांकुडा जिलों की आदिवासी और अर्ध-आदिवासी जातियों में मनसा नामक सर्प-देवता की पूजा प्रचलित है। बहुत संभव है कि अनार्य जाति की यह नागपूजा धरणेन्द्र के रूप में पार्श्वनाथ के मस्तक का आभूषण बन गयी हो। पार्श्वनाथ की निर्वाणभूमि पारसनाथ पहाड़ी को यहाँ की संथाल जातियां मारंगबुरु (पहाड़ का देवता) मानकर उसपर भैंसे की बलि चढ़ाती हैं। बंगाल में आजिमगज, देउलभीरा (बांकुडा) और कांटाबेनिया (चौबीस परगना) सुइसा, तथा बिहार के रांची जिले में अगासिया आदि स्थानों में पार्श्वनाथ की अनेक प्रतिमाएं उपलब्ध हुई हैं, इससे इस क्षेत्र में पार्श्वनाथ की लोकप्रियता का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

वर्धमान महावीर

पार्श्वनाथ के लगभग २५० वर्ष बाद वज्जी-विदेह की राजधानी वैशाली (बसाढ़, मुजफ्फरपुर) के उपनगर क्षत्रियकुण्डग्राम (कुंडग्राम अथवा कुण्डपुर, आधुनिक वसुकुण्ड) में चैत्र सुदी १३ के दिन वर्धमान का जन्म हुआ। वर्धमान ज्ञातृकुल में उत्पन्न होने के कारण ज्ञातृपुत्र और वीर होने के कारण महावीर कहे जाते थे। लिच्छवी वंश में पैदा होने के कारण वे प्रियदर्शी और सुडौल शरीर के थे। उनके पिता काश्यपगोत्रीय सिद्धार्थ (जो सिज्जंस=श्रेयांस अथवा जसंस=यशस्वी नाम से भी कहे जाते थे) गण राजा थे, और उनकी माता वसिष्ठगोत्रीय त्रिशला (जो विदेहदत्ता अथवा प्रियकारिणी भी कही जाती थीं) थीं।[१]

१. आचारांग २,३ ३९९-४००; कल्पसूत्र ५ के अनुसार महावीर ब्राह्मण-

सुपार्श्व उनके चाचा और नन्दिवर्धन बड़े भाई थे; उनकी बहन का नाम सुदर्शना था, तथा कौंडिन्यगोत्रीय यशोदा से उनका विवाह[1] हुआ था। प्रियदर्शना (अथवा अनवद्या) उनकी कन्या थी जिसका विवाह महावीर की बहन सुदर्शना के पुत्र क्षत्रियकुण्डग्रामवासी जमाली के साथ हुआ था। प्रियदर्शना की पुत्री का नाम शेषवती अथवा यशोमती था।

बौद्धों के प्राचीन ग्रन्थों में महावीर को दीर्घतपस्वी निगंठ नाटपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) के नाम से उल्लिखित किया है। यहाँ अभयराजकुमार,[2] सीह,[3] उपालि,[4] असिबंधकपुत्र,[5] दीघतपस्सी,[6] सच्चक,[7] सिरिगुत्त[8] आदि उनके अनुयायियों का उल्लेख है। जैन

कुण्डग्राम के ऋषभदत्त की पत्नी देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में अवतरित हुए, लेकिन क्योंकि अर्हंत, चक्रवर्ती, बलदेव तथा वासुदेव भिक्षुक और ब्राह्मण आदि कुलों में जन्म धारण नहीं करते, इसलिए इन्द्र ने उन्हें क्षत्रियकुण्डग्राम के गणराजा सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला के गर्भ में परिवर्तित कर दिया। तथा देखिये व्याख्याप्रज्ञप्ति ९.६.८३७-८४१। दिगम्बर सम्प्रदाय में गर्भ परिवर्तन की मान्यता स्वीकार नहीं की गयी है।

१. श्वेताम्बर परम्परा में महावीर, नेमिनाथ, पार्श्व, मल्लि और वासुपूज्य इन पाँच तीर्थंकरों को 'कुमारप्रव्रजित', 'कुमारसिंह', अथवा 'गृहस्थप्रव्रजित' कहकर उल्लिखित किया है, जिन्होंने राज्याभिषेक को अनिच्छापूर्वक कुमार अवस्था में गृह त्यागकर दीक्षा धारण की। दिगम्बरीय यतिवृषभ आचार्य की तिलोयपण्णत्ति में भी यही मान्यता स्वीकृत है। जबकि श्वेताम्बरीय कल्पसूत्र में तथा दिगम्बरीय जिनसेन आचार्य की हरिवंशपुराण (६६.८) में 'विवाहमंगल' शब्द का प्रयोग कर यशोदा के साथ महावीर के विवाह की ओर लक्ष्य किया गया है। साधारणतया दिगम्बर सम्प्रदाय में महावीर को अविवाहित ही माना है।

२. मज्झिमनिकाय २, अभयराजकुमारसुत्त।

३. महावग्ग ६.१६.६१, पृ० २४८; अंगुत्तरनिकाय २,५, पृ० ३०४ आदि; ३, ७, पृ० २१२।

४. मज्झिमनिकाय २, उपालिसुत्त।

५. संयुत्तनिकाय ४.४२.८.८, पृ. २८१

६. मज्झिमनिकाय २, उपालिसुत्त।

७. वही १, चूलसच्चक और महासच्चकसुत्त।

८. धम्मपद अट्ठकथा १, पृ० ४३४ आदि।

सूत्रों में महावीर को धर्मतीर्थंकर, जिन, सर्व लोक में विश्रुत और लोकप्रदीप कहा है।[1]

महावीर ३० वर्ष की अवस्था तक गृहवास में रहे, और माता-पिता के कालगत हो जाने पर अपने बड़े भाई नंदिवर्धन की अनुज्ञा ले,[2] ज्ञातृखण्ड नामक उद्यान में अगहन बदी १० के दिन उन्होंने श्रमण-दीक्षा स्वीकार की। एक वर्ष से कुछ अधिक समय तक वे सचेल रहे, उसके बाद अचेल (नग्न) विहार करने लगे। बारह वर्ष तक उन्होंने घोर तप किया और इस बीच में उन्हें भयंकर उपसर्ग सहने पड़े। सबसे अधिक कष्ट लाढ़ (राढ, पश्चिमी बंगाल) देश में हुआ। इस देश की गणना अनार्य देशों में की जाती थी। रूक्ष भोजन करने के कारण यहाँ के निवासी स्वभाव से बड़े क्रोधी थे। महावीर पर वे कुत्तों को छोड़ते और दंड आदि से उनपर प्रहार करते। महावीर जब किसी गांव में पहुँचते तो लोग उन्हें निकाल बाहर करते, उनके शरीर में से मांस नोच लेते, उन्हें ऊपर उछाल कर नीचे गिरा देते, उन्हें गुप्तचर या चोर समझकर पकड़ लेते और रस्सी से बांधकर गड्ढे में लटका देते। इन उपसर्गों को सहन करने के कारण महावीर को 'हस्तियों में ऐरावण', 'मृगों में सिंह', 'नदियों में गंगा' और 'पक्षियों में गरुड़' कहकर सर्व श्रेष्ठ कहा गया है।[3]

तपस्वी जीवन में श्रमण भगवान् महावीर ने बिहार में राजगृह, चम्पा, भद्दिया (मुंगेर), वैशाली, मिथिला आदि प्रदेशों में; पूर्वीय उत्तरप्रदेश में बनारस, कौशाम्बी, अयोध्या, श्रावस्ती आदि स्थलों में; तथा पश्चिमी बंगाल में लाढ़ आदि स्थानों में भ्रमण किया। इस समय मंखलिपुत्र गोशाल भी कुछ समय तक उनके साथ रहे। तत्पश्चात् जंभियग्राम के बाहर ऋजुवालिका नदी के किनारे, श्यामाक गृहपति के खेत में, शाल वृक्ष के नीचे, वैशाख सुदी १० के दिन उन्हें केवल-

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र २३.५.६। बुद्ध को अरहत्, सम्यक् सम्बुद्ध, विद्याचरणसम्पन्न, सुगत, लोकविद्, अनुत्तर, शास्ता आदि विशेषणों से सम्बोधित किया है, महावग्ग १.१६.५५, पृ० ३५।

२. दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार महावीर की दीक्षा के समय उनके माता-पिता मौजूद थे।

३. सूत्रकृतांग, वीरस्तुति अध्ययन।

ज्ञान की प्राप्ति हुई। अब वे जिन, अर्हत् और तीर्थंकर कहे जाने लगे। अस्थिकग्राम, चम्पा, पृष्ठचम्पा, वैशाली, वाणियग्राम, नालन्दा, मिथिला, आलंभिया, श्रावस्ती, पणियभूमि और मज्झिमपावा आदि में चातुर्मास व्यतीत करते हुए ३० वर्ष तक वे विहार करते रहे। इस दीर्घ काल में जन-सामान्य की भाषा अर्धमागधी में उपदेश देकर जन-समुदाय का उन्होंने कल्याण किया। अन्तिम चातुर्मास व्यतीत करने के लिए वे मज्झिमपावा (पावापुरी) में हस्तिपाल नामक गण-राजा के पटवारी के दफ्तर (रज्जुगसभा) में ठहरे। एक-एक करके वर्षा ऋतु के तीन महीने बीत गये। तत्पश्चात् कार्तिकी अमावस के प्रातःकाल, ७२ वर्ष की अवस्था में (ई० पू० ५२७ के लगभग) उन्होंने निर्वाण लाभ किया। इस समय काशी-कोशल के नौ मल्लकि और नौ लिच्छवी गणराजा, मौजूद थे, उन्होंने सर्वत्र दीप जलाकर महान् उत्सव मनाया।[1]

महावीर और मंखलिपुत्र गोशाल

मंखलिपुत्र गोशाल आजीविक मत के २४ वें तीर्थंकर हो गये हैं जिनकी गणना बौद्ध ग्रंथों में पूरणकस्सप, अजितकेसकंबली, पकुध-कच्चायन, संजयबेलट्ठिपुत्त तथा निगंठनाटपुत्त (महावीर) नाम के संघाधिपति, गणाधिपति और जनसम्मत यशस्वी तीर्थंकरों में की गयी है।[2]

गोशाल के पिता का नाम मंखलि और माता का नाम भद्रा था। मंखविद्या (चित्रपट विद्या) में वे निपुण थे, और चित्रपट दिखाकर अपनी आजीविका चलाते थे (मंखः केदारिको यः पटमुपदर्श्य लोकम् आवर्जयति), इसलिए मंखलि कहे जाते थे।[3] गोशाला में जन्म लेने

---

१. आचारांग (२, चूलिका ३, ३९८-४०२); कल्पसूत्र ५. ११२-१२८; आवश्यकनिर्युक्ति ४६२-५२७; आवश्यकचूर्णी पृ० २३६-३२१। निगण्ठ नाटपुत्त के पावा में कालगत होने और उनके अनुयायियों में कलह होने के उल्लेख के लिये देखिये दीघनिकाय ३, ६, पृ० ९१।

२. दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त, पृ. ४१-४२।

३. मंख चार प्रकार के बताये गये हैं—(१) कुछ लोग केवल चित्रपट दिखाकर भिक्षा माँगते हैं, अपनी वाणी से वे कुछ भी नहीं कहते, (२) चित्रपट नहीं दिखाते, केवल गाथा ही पढ़ते हैं, (३) न चित्रपट दिखाते हैं, न

के कारण मंखलिपुत्र गोशाल नाम से कहा जाने लगा।[1]

एक बार महावीर नालंदा में जुलाहों की तंतुशाला में ठहरे हुए थे। गोशाल उनसे मिला और दोनों साथ-साथ विहार करने लगे। एक बार दोनों सिद्धार्थग्राम से कूर्मग्राम जा रहे थे। मार्ग में एक तिल के पौधे को देखकर गोशाल ने महावीर से प्रश्न किया कि क्या वह पौधा नष्ट हो जायेगा? महावीर ने उत्तर दिया—नहीं। यह सुनकर इस कथन की परीक्षा के लिए गोशाल ने पौधे को तोड़कर फेंक दिया। लेकिन कूर्मग्राम से सिद्धार्थपुर लौटते समय गोशाल ने पौधे की ओर लक्ष्य किया तो वह हरा-भरा हो गया था। इसपर से गोशाल ने निर्णय किया कि मनुष्य का बल-पराक्रम तथा बुद्धि और कर्म सब निष्फल हैं, तथा समस्त सत्व, प्राणी, भूत और जीव नियति के वश होकर प्रवृत्ति करते हैं। गोशाल का यह नियतिवाद का सिद्धान्त था।

२४ वर्ष की कठिन साधना के पश्चात् गोशाल को ज्ञान की प्राप्ति हुई। उसने महावीर का संग छोड़ दिया और अपना अलग संघ स्थापित कर अपने शिष्य समुदाय के साथ विहार करने लगा।

एक बार की बात है, गोशाल श्रावस्ती में आजीविक धर्म की परम उपासिका हालाहला नाम की कुम्हारी की कुंभकार-शाला में ठहरा हुआ था। उस समय उसके पास शान, कलंद, कर्णिकार, अछिद्र, अग्नि-वेश्यायन और गोमायुपुत्र अर्जुन नाम के छः दिशाचर[2] आये, उनके

गाथा पढ़ते हैं, केवल अपनी वाणी से ही कुछ कहते हैं, (४) चित्रपट दिखाते हैं और साथ में गाथाएँ पढ़ते हुए उनका अर्थ भी समझाते जाते हैं, बृहत्कल्पभाष्य पीठिका २००; आवश्यकचूर्णी पृ. ६२,२८२।

१. अंगुत्तरनिकाय १, १, पृ. ३४ में गोशाल को 'मोघपुरुष' कहा है। बौद्ध टीकाकार बुद्धघोष ने मक्खलि शब्द की बड़ी विचित्र व्युत्पत्ति दी है। गोशाल किसी सेठ के घर नौकरी करता था। एक बार वह तेल का बर्तन लिए आ रहा था। सेठ ने उसे पहले ही सावधान कर दिया था कि गिरना मत (मा खलि)। परन्तु मार्ग में कीचड़ थी, इसलिए वह रपट गया और तेल का बर्तन फूट जाने से डर के मारे भाग गया। सेठ ने भागते हुए का वस्त्र पकड़ लिया, लेकिन वह वस्त्र छोड़ नग्न होकर भागा।

२. टीकाकार अभयदेव ने दिशाचर का अर्थ 'भगवच्छिष्याः पार्श्वस्थी-

सामने गोशाल ने अपने आपको जिन घोषित किया। उन दिनों महावीर भी श्रावस्ती में विहार कर रहे थे। उन्होंने गोशाल के जिन होने का विरोध किया और उसे जिनापलापी बताया। यह सुनकर गोशाल को बहुत क्रोध आया। उसने महावीर के शिष्य आनन्द को बुलाकर धमकी दी कि वह उसके गुरु को अपने तेजोबल से नष्ट कर देगा। जब यह समाचार आनन्द ने महावीर को सुनाया तो महावीर ने उत्तर दिया कि अवश्य ही गोशाल अत्यन्त तेजस्वी है और उसमें इतनी शक्ति विद्यमान है कि वह अपने तेजोबल से अंग, बंग, मगध, मलय, मालव, वत्स, लाढ़, काशी, कोशल आदि १६ जनपदों को भस्म कर सकता है, किन्तु उसका (महावीर का) वह कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

उधर महावीर का कोई उत्तर न पा गोशाल स्वयं कोष्ठक चैत्य की ओर चला जहाँ महावीर ठहरे हुए थे। उन्हें सम्बोधित कर वह कहने लगा—"हे काश्यप! तू मुझे अपना शिष्य कहता है, परन्तु तेरा शिष्य मंखलिपुत्र गोशाल कभी का मर चुका है, मैं तो कौंडिन्यायनगोत्रीय उदायी हूँ।" महावीर ने उत्तर दिया—"गोशाल! यह तेरा मिथ्या अपलाप है।" यह सुनते ही गोशाल आग-बबूला हो गया। अपनी तेजोलेश्या से उसने महावीर के ऊपर प्रहार किया, और कहने लगा—"जा, तू मेरे तेज से अभिभूत हो, पित्त ज्वर से पीड़ित होकर, छः मास के भीतर मृत्यु को प्राप्त होगा।" महावीर ने चुनौती स्वीकार करते हुए उत्तर दिया—"तू मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता, मैं अभी १६ वर्ष और जीवित रहूँगा, किन्तु तेरा अवश्य ही सात दिन में प्राणान्त हो जायेगा।"

महावीर की भविष्यवाणी सच उतरी। गोशाल का अन्तिम समय आ पहुँचा। अपने स्थविरों को बुलाकर उसने आदेश दिया—"हे स्थविरो! मेरे मरने के पश्चात् तुम लोग सुगंधित जल से मुझे स्नान कराकर, गोशीर्ष चन्दन का मेरे शरीर पर लेप कर, बहुमूल्य वस्त्रालङ्कारों से मुझे विभूषित कर, शिविका में लिटा, श्रावस्ती में घुमाते हुए

भूताः' अर्थात् पतित हुए महावीर के शिष्य किया है। चूर्णीकार ने इन्हें 'पासावच्चिज्ज' अर्थात् पार्श्वनाथ के शिष्य कहा है। यहाँ यदि पार्श्वस्थ निर्ग्रन्थों को 'पासावच्चिज्ज' कहा है तो गोशाल के उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध होने की सूचना मिलती है।

घोषणा करना कि २४ वें तीर्थंकर गोशाल ने समस्त दुखों का नाश कर सिद्धि प्राप्त की है।"

महावीर श्रावस्ती से मेंढियग्राम पहुँचे। उनके शरीर में तीव्र दाह होने लगी और दाह-ज्वर के कारण खून के दस्त लग गये। लोग कहने लगे कि गोशाल के तपतेज का महावीर के शरीर पर असर हो रहा है, और अब वे शीघ्र ही कालधर्म को प्राप्त होंगे। यह सुनकर उनका शिष्य सिंह रुदन करने लगा। महावीर ने उसे सान्त्वना दी। महावीर ने सिंह को रेवती श्राविका के घर से 'मार्जारकृत कुक्कुटमांस'[1] लाने को कहा, जिसका सेवन कर महावीर ने आरोग्य लाभ लिया।[2]

जैसे जैनधर्म ज्ञातृपुत्र महावीर के पूर्व विद्यमान था, वैसे ही आजीविक धर्म मंखलिपुत्र गोशाल के पूर्व विद्यमान था। गोशाल अष्ट महानिमित्तों का महान् पंडित था और अपने शिष्यों को उसने निमित्तशास्त्र की शिक्षा दी थी। स्वयं कालकाचार्य ने अपने शिष्यों को धर्म में स्थिर रखने के लिए आजीविक श्रमणों के पास जाकर निमित्त शास्त्र का अध्ययन किया था।[3]

जैन आगमों में त्रिराशिवाद नाम का छठा निह्नव स्वीकार किया गया है। इस मत के अनुयायी त्रैराशिकों को गोशाल मत का अनुकर्ता कहा गया है; और कल्पसूत्र के अनुसार, आर्य महागिरि के शिष्य रोहगुप्त त्रैराशिक मत के प्रतिष्ठाता थे। नन्दीसूत्र से ज्ञात होता है कि दृष्टिवाद में जो ८८ सूत्रों का प्ररूपण था, उनमें से २२ सूत्र त्रैराशिक (गोशाल मतानुसारी) परम्परा के अनुसार प्ररूपित किये गये थे।[4] इससे यही सिद्ध होता है कि जैन धर्म और गोशाल मत के सिद्धान्त और आचार-विचार एक-दूसरे के बहुत निकट थे। उदाहरण के लिए,

---

१. अभयदेव सूरि ने इसके निम्नलिखित अर्थ किये हैं:—(१) बिल्ली (मार्जार) द्वारा मारे हुए कबूतर का मांस (कुक्कुटमांस), (२) मार्जार (वायुविशेष) के उपशमन के लिए तैयार किया हुआ बिजौरा (कुक्कुटमांस), (३) मार्जार (विरालिका नाम की वनस्पति) से भावित बिजौरा (कुक्कुटमांस)। देखिये आगे, जैन साधु और मांसभक्षण नामक प्रकरण।

२. व्याख्याप्रज्ञप्ति १५।

३. पञ्चकल्पचूर्णी, मुनिकल्याणविजय, श्रमण भगवान् महावीर पृ० २६० से।

४. नन्दीसूत्र ५७; समवायांग २२।

आजीविक समस्त जीवों को एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि पाँच भागों में विभक्त करते हैं, छः लेश्याएँ (अभिजाति) स्वीकार करते हैं, और जीवहिंसा से विरक्त रहने का उपदेश देते हैं, इस मत के साधु कठोर तप[1] करते हैं, नग्न विहार करते हैं, पाणिपात्र में भिक्षा[2] ग्रहण करते हैं, मद्य, मांस, कंदमूल, लहसुन, प्याज, उदुंबर, वट, पीपल तथा उद्दिष्ट भोजन के त्यागी होते हैं। आजीविक धर्म के उपासक बिना बधिया किये हुए और बिना नाक-बिंधे बैलों द्वारा हिंसा-विवर्जित व्यापार से अपनी आजीविका करते हैं। ये लोग अग्निकर्म, वनकर्म, शकटकर्म, भाटकर्म, स्फोटककर्म, दंतवाणिज्य, लाक्षावाणिज्य, केशवाणिज्य, रसवाणिज्य, विषवाणिज्य, यंत्रपीड़न कर्म, निर्लांछन कर्म, दवाग्निदापन, सरःशोष (तालाब सुखाना) और असतीपोषण—इन पंद्रह कर्मादानों से विरक्त रहते हैं। इन सब आचार-विचारों का प्रतिपादन जैन शास्त्रों में विस्तार से किया गया है। जैन आगमों में गोशाल के अनुयायियों द्वारा देवगति पाये जाने का उल्लेख है, और स्वयं गोशाल को दूरभव्य अर्थात् भविष्य में मोक्ष का अधिकारी बताया है।[3]

निशीथचूर्णी (लगभग छठी शताब्दी) में निर्ग्रंथ, शाक्य, तापस, गैरिक और आजीविकों की गणना पाँच प्रकार के श्रमणों में की गयी है, इससे भी आजीविक सम्प्रदाय का महत्व सिद्ध होता है। अशोक के शिलालेखों में आजीविक सम्प्रदाय का नाम तीन बार उल्लिखित है। सम्राट् अशोक के प्रपौत्र दशरथ ने इस सम्प्रदाय के श्रमणों के लिए गुफाओं का निर्माण कराया था। लेकिन जान पड़ता है कि जब आजीविक सम्प्रदाय का जोर घटने लगा और उसका प्रचार कम होता गया तो लोगों को इस धर्म के सिद्धान्तों का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं रहा। उदाहरण के लिए, जैन टीकाकार शीलांक (८७६ ई०) आजीविक और दिगम्बर मतानुयायियों[4] को, जैन विद्वान् मणिभद्र आजीविकों और

---

१. स्थानांग सूत्र ४ में आजीविकों के चार प्रकार के कठोर तप का उल्लेख है—उग्र तप, घोर तप, घृतादिरसपरित्याग और जिह्वेन्द्रियप्रतिसंलीनता।

२. भिक्षा के नियमों के लिए देखिये औपपातिक सूत्र ४१, पृ० १६६।

३. व्याख्याप्रज्ञप्ति १५; उपासकदशा ६–७।

४. आजीविक मत की विशेष जानकारी के लिए देखिये होर्नले,

बौद्धों को, तथा बृहज्जातक के टीकाकार महोत्पल आजीविक और एकदण्डी सम्प्रदाय को पर्यायवाची मानने लगे।

उपर्युक्त कथन से यही सिद्ध होता है कि मंखलिपुत्र गोशाल अवश्य ही एक प्रभावशाली तीर्थंकर रहे होंगे। वर्षों तक उनका और महावीर का साथ रहा है, इसलिए यदि दोनों एक-दूसरे के सिद्धांतों से प्रभावित हुए हों तो आश्चर्य नहीं। बहुत संभव है कि महावीर और गोशाल नग्नत्व, देहदमन और सामान्य आचार-विचार के पालन में एकमत रहे हों, परन्तु जब गोशाल ने नियतिवाद का प्रतिपादन किया हो तो दोनों अलग हो गये हों।[1]

महावीर के गणधर

महावीर के उपदेशामृत से प्रभावित होकर ब्राह्मण विद्वानों ने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। उन दिनों पावा नगरी के महासेन वन में सोमिल नाम के एक श्रीमंत ब्राह्मण ने किसी महान् यज्ञ का आयोजन किया था, जिसमें मगध के सैकड़ों विद्वान् आमंत्रित थे। इनमें गोब्बर ग्रामवासी गौतमगोत्रीय इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति नाम के तीन भ्राता, कोल्लाक संनिवेशवासी भारद्वाजगोत्रीय व्यक्त, अग्निवैश्यायनगोत्रीय सुधर्मा, मोरिय संनिवेशवासी वाशिष्ठगोत्रीय मंडित, काश्यपगोत्रीय मौर्यपुत्र, मिथिलावासी गौतमगोत्रीय अकंपित, कोशलवासी हारितगोत्रीय अचलभ्राता, तुंगिय संनिवेशवासी कौंडिन्यगोत्रीय मेतार्य, तथा राजगृहवासी कौंडिन्यगोत्रीय प्रभास मुख्य थे। ये सब विद्वान् ब्राह्मण १४ विद्याओं में पारंगत थे, जो अपने शिष्यपरिवार के साथ महावीर भगवान् को शास्त्रार्थ में पराजित करने के लिए उनके समवशरण में आये थे; लेकिन अपनी-अपनी शंकाओं का समाधान पा, उल्टे वे उनके शिष्य बन गये। महावीर ने इन्हें

ऐनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड एथिक्स (जिल्द १, पृ० २५९–६८) में आजीविकाज़ नामक लेख; डाक्टर बी० एम० बरुआ, द आजीविकाज़; प्री-बुद्धिस्ट इण्डियन फिलासाफी, पृ० २९७–३१८; डाक्टर बी० सी० लाहा, हिस्टोरिकल ग्लीनिंग्ज, पृ० ३७ आदि; ए० एल० बाशम, हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रीन्स ऑव द आजीविकाज़; जगदीशचन्द्र जैन, .संपूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रंथ, मंखलिपुत्र गोशाल और ज्ञातृपुत्र महावीर नामक लेख।

१. सूत्रकृतांगटीका ३.३.८, पृ० ९०–अ।

श्रमणधर्म में दीक्षित कर गणधर (प्रमुख शिष्य) पद से सुशोभित किया। आगे चलकर ये द्वादशांग, चतुर्दश पूर्व और समस्त गणिपिटक के ज्ञाता बने। गौतम इन्द्रभूति और सुधर्मा को छोड़कर शेष गणधरों का निर्वाण महावीर भगवान् की मौजूदगी में राजगृह में हुआ।

महावीर के निर्वाण होने के समय गौतम इन्द्रभूति किसी निकटवर्ती गाँव में उपदेशार्थ गये हुए थे। जब वे लौटकर आये और उन्होंने भगवान् के निर्वाण का समाचार सुना तो उनके संताप का पारावार न रहा। उसी रात को उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। गौतम इन्द्रभूति १२ वर्ष तक अपने उपदेशामृत से जन-समाज का कल्याण करते रहे तत्पश्चात् एक मास का अनशन कर ९२ वर्ष की अवस्था में राजगृह में उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।[1]

आर्य सुधर्मा का नाम आगमों में अनेक जगह आता है। महावीर-निर्वाण के पश्चात्, केवलज्ञान प्राप्त करने तक, १२ वर्ष तक उन्होंने जैन संघ का नेतृत्व किया। उत्तर काल के निर्ग्रन्थ श्रमणों को आर्य सुधर्मा का ही उत्तराधिकारी समझना चाहिए, शेष गणधरों के उत्तराधिकारी नहीं थे। जैन संघ का भार अपने शिष्य जम्बूस्वामी को सौंपकर आर्य सुधर्मा ने १०० वर्ष की अवस्था में निर्वाण लाभ किया।

जम्बूस्वामी के पश्चात् प्रभव, फिर शय्यंभव, फिर यशोभद्र, फिर संभूत और उनके पश्चात् स्थूलभद्र हुए।[2]

सात निह्नव

महावीर निर्वाण के पश्चात्, बौद्ध श्रमण-संघ की भाँति, जैन श्रमण-संघ में भी अनेक मत-मतान्तर प्रचलित हो गये। इनमें सात निह्नव मुख्य हैं। सर्वप्रथम बहुरत सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वयं महावीर भगवान् के जामाता जमालि हुए। इस सम्प्रदाय के अनुसार, किसी कार्य के पूर्ण होने में अनेक समय लगते हैं, एक समय में वह पूर्ण नहीं होता। महावीर को केवलज्ञान प्राप्त होने के १४ वर्ष पश्चात् श्रावस्ती में इस निह्नव की उत्पत्ति हुई। जैन शास्त्रों में जमालि को स्वर्गगामी बताया गया है, और कालक्रम से उसे मोक्षगामी कहा है। इसके दो वर्ष बाद,

१. कल्पसूत्र ८.१-४; ५.१२७; आवश्यकनिर्युक्ति ६४४ आदि; ६५६ आदि; आवश्यकचूर्णी पृ० ३३४ आदि; नन्दीटीका पृ० ११-२०।

२. निशीथचूर्णी ५.२१५४ की चूर्णी।

चतुर्दश पूर्वधारी आचार्य वसु के शिष्य तिष्यगुप्त हुए। इनके अनुसार, जीव में एक भी प्रदेश कम होने पर उसे जीव नहीं कहा जा सकता। अतएव जिस प्रदेश के पूर्ण होने पर जीव कहा जाता है, उसी एक प्रदेश को जीव कहना चाहिए। राजगृह में इस निह्नव की उत्पत्ति हुई। महावीर-निर्वाण के २१४ वर्ष पश्चात्, सेतव्या नगरी में अव्यक्तवादी आषाढ़ाचार्य ने तीसरे निह्नव की स्थापना की। इस मत के अनुयायी समस्त जगत् को अव्यक्त स्वीकार करते हैं। महावीर-निर्वाण के २२० वर्ष पश्चात्, महागिरि के प्रशिष्य और कौडिन्य के शिष्य अश्वमित्र ने मिथिला में चौथे निह्नव को प्रवर्तित किया। नरक आदि भावों को प्रत्येक क्षण में विनाशशील मानने के कारण ये लोग समुच्छेदवादी कहे जाते हैं। महावीर-निर्वाण के २२८ वर्ष पश्चात्, द्वैक्रियवादी महागिरि के प्रशिष्य और धनगुप्त के शिष्य गंगाचार्य उल्लुकातीर नगर में पांचवें निह्नव के संस्थापक माने जाते हैं। इस मत के अनुयायियों का कहना है कि जीव एक समय में शीत और उष्ण दोनों भावों का अनुभव करता है। महावीर-निर्वाण के ५४४ वर्ष पश्चात्, श्रीगुप्त के शिष्य रोहगुप्त अथवा षडुलुक ने अन्तरंजिया नगरी में त्रिराशिवाद नामक छठे निह्नव की स्थापना की। षडुलुक वैशेषिक सूत्रों के कर्ता माने गये हैं। इस मत के अनुयायी जीव, अजीव और नोजीव रूप त्रिराशि को स्वीकार करते हैं।[1] गोष्ठामहिल अबद्धवाद नामक सातवें निह्नव के प्रतिष्ठाता हैं। इस निह्नव की उत्पत्ति महावीर-निर्वाण के ५८४ वर्ष बाद दशपुर में हुई। इस मत में जीव को कर्मों के साथ अबद्ध स्वीकार किया गया है।[2]

श्वेताम्बर और दिगम्बर मतभेद

आर्य सुधर्मा के शिष्य जम्बूस्वामी अन्तिम केवली थे। उनके बाद से निर्वाण और केवलज्ञान के द्वार बन्द हो गये। महावीर के पश्चात् गौतम इन्द्रभूति, सुधर्मा और जंबूस्वामी को श्वेताम्बर और दिगम्बर

---

१. ये लोग गोशाल मत के अनुयायी कहे जाते हैं, समवायांगटीका २२, पृ० ३६-अ। कल्पसूत्र पृ० २२८-अ के अनुसार आर्य महागिरि के किसी शिष्य ने इस मत की स्थापना की थी।

२. स्थानांग ५८७; आवश्यकनिर्युक्ति ७७६ आदि; आवश्यकभाष्य १२५ आदि; आवश्यकचूर्णी पृ० ४१२ आदि; उत्तराध्ययन टीका ३, पृ० ६८अ-७५; औपपातिक ४१, पृ० १६७; व्याख्याप्रज्ञप्ति ६.३३; समवायांग २२।

दोनों ही सम्प्रदाय मानते हैं, इससे मालूम होता है कि इस समय तक श्वेताम्बर और दिगम्बर का भेद विद्यमान नहीं था। दिगम्बर सम्प्रदाय में विष्णु, नन्दी, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु नामके, तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र, संभूतिविजय और भद्रबाहु नाम के पांच श्रुतकेवली माने गये हैं। स्पष्ट है कि भद्रबाहु को दोनों ही सम्प्रदाय श्रुतकेवली मानते हैं, इससे पता लगता है कि इस समय तक भी जैनसंघ में श्वेताम्बर-दिगंबर भेद पैदा नहीं हुआ था। ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी में मथुरा में पाये जाने वाले जैन शिलालेखों से भी इस कथन का समर्थन होता है। दोनों सम्प्रदायों के प्राचीन साहित्य में उपलब्ध प्राचीन परम्परागत विषय और गाथाओं की समानता आदि से भी यही प्रमाणित होता है कि दोनों का सामान्य स्रोत एक था।[1] आगे चलकर ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी के अन्तिम चरण में, विशेषतया अचेलत्व के प्रश्न को लेकर,[2] दोनों में मतभेद हो गया और कालान्तर में आगमों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में दोनों की मान्यताएँ जुदी पड़ गयीं।[3]

---

१. दिगम्बरीय भगवतीआराधना की विजयोदया टीका ४२१, पृ. ६११-५ में अचेलत्व का समर्थन करने के लिए दशवैकालिक, आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन और बृहत्कल्प के उद्धरण दिये गये हैं।

२. आचारांग सूत्र (६.३.१८२) में कहा है कि जो भिक्षु अचेल रहता हुआ संयम में स्थिर रहता है उसके मन में यह भाव नहीं पैदा होता कि उसके वस्त्र फट गये हैं, उसे दूसरे वस्त्र माँगने पड़ेंगे, उसे सुई-धागे की आवश्यकता होगी, या कपड़ों को सीना पड़ेगा। इसका मतलब यही है कि उन दिनों जिनकल्प और स्थविरकल्प दोनों प्रकार के साधु मौजूद थे। जो साधु अचेल रहना चाहते वे अचेल रहते, और जो अचेल व्रत का पालन करने में असमर्थ होते वे वस्त्र धारण करते। महावीर ने स्वयं अचेल व्रत ग्रहण किया था, जब कि पार्श्वनाथ के साधु वस्त्र धारण करते थे। इससे भी यही प्रतीत होता है कि जैन साधुओं में दोनों मान्यताएँ प्रचलित थीं। भद्रबाहु अचेलव्रती थे, तथा आर्य महागिरि और आर्यरक्षित ने भी जिनकल्प धारण किया था। दिगम्बर मान्यता के अनुसार जिनकल्पी और स्थविरकल्पी दोनों ही प्रकार के साधुओं का अचेल रहना आवश्यक है (भावसंग्रह ११९-१३३)।

३. मेघविजयगणि के युक्तिप्रबोध में दिगम्बर और श्वेताम्बरों के ८४ मतभेदों का वर्णन है। १७ वीं शताब्दी के श्वेताम्बर विद्वान् पण्डित धर्मसागर

दिगम्बर और श्वेताम्बर उत्पत्ति

श्वेताम्बर परम्परा में महावीर-निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात्, शिवभूति को बोटिक (दिगम्बर) मत का संस्थापक बताया है। इसे आठवां निह्नव कहा है; इसकी उत्पत्ति रथवीरपुर में हुई। शिवभूति रथवीरपुर के राजा के यहां नौकरी करता था। उसे रात को घर लौटने में देर हो जाती। एक दिन उसकी स्त्री ने घर का दरवाज़ा खोलने से मना कर दिया, इस पर शिवभूति नाराज होकर दीक्षा ग्रहण करने के लिए साधुओं के उपाश्रय में जा पहुँचा। लेकिन साधुओं ने उसे दीक्षा देने से इन्कार कर दिया। इसपर स्वयं अपने केशों का लोच करके उसने जिनकल्प धारण किया। बाद में शिवभूति की बहन ने अपने भाई के पास दीक्षा ग्रहण की।[1]

दिगम्बर आचार्य देवसेन के मतानुसार राजा विक्रमादित्य की मृत्यु के १३६ वर्ष बाद वलभी में श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुई। इस सम्बन्ध में एक दूसरी मान्यता भी प्रचलित है। उज्जैनी में चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में भद्रबाहु के शिष्य विशाखाचार्य अपना संघ लेकर पुन्नाट चले गये, तथा रामिल्ल स्थूलभद्र और भद्राचार्य सिंधु देश में विहार कर गये। जब लोग उज्जैनी लौटकर आये तो वहां दुष्काल पड़ा हुआ था। संघ के आचार्य ने नग्नत्व ढांकने के लिए अर्धफालक धारण करने का आदेश दिया। लेकिन दुष्काल समाप्त होने के पश्चात् इसकी कोई आवश्यकता न समझी गयी। फिर भी कुछ लोगों ने अर्धफालक का त्याग नहीं किया। तभी से जैन साधु वस्त्र धारण करने लगे।[2]

दोनों ही सम्प्रदायों के अनुसार यह समय ईसा की प्रथम शताब्दी का अंतिम चरण बैठता है।

उपाध्याय के काल में गिरनार और शत्रुंजय तीर्थों पर जब दिगम्बर और श्वेताम्बरों में परस्पर वाद-विवाद हुआ तो उस समय से श्वेताम्बर संघ की ओर से जैन प्रतिमाओं के पादमूल में वस्त्र का चिह्न बना देने का निश्चय किया गया।

१. आवश्यक भाष्य १४५ आदि; आवश्यकचूर्णी पृ० ४२७ आदि।

२. देवसेन, दर्शनसार, हरिषेण, बृहत्कथाकोष १३१; भट्टारक रत्ननन्दि, भद्रबाहुचरित।

जैन आचार्यों की परम्परा

जैनश्रुत के अन्तिम आचार्य भद्रबाहु के समय चन्द्रगुप्त मौर्य (३२५–३०२ ई० पू०) के काल में मगध में भयंकर दुष्काल पड़ने की बात जैन आगमों में प्रसिद्ध है। भद्रबाहु के पश्चात् आचार्य स्थूलभद्र हुए। जैन परम्परा के अनुसार, ये नौवें नन्द के प्रधान मंत्री शकटार के पुत्र थे और भद्रबाहु के निकट बैठकर इन्होंने १० पूर्वों का अध्ययन किया था। स्थूलभद्र के समय तक सभी जैन श्रमणों का आहार-विहार एकत्र होता था, अर्थात् सभी श्रमण सांभोगिक थे। तत्पश्चात् आचार्य महागिरि ने जैनसंघ का नेतृत्व किया। आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ति स्थूलभद्र के शिष्य थे; दोनों के गण अलग-अलग थे, फिर भी दोनों प्रीति के कारण एक साथ विहार करते थे। जैन संघ का भार आचार्य सुहस्ति को सौंप आर्य महागिरि दशार्णपुर में तप करने चले गये। आचार्य सुहस्ति और उनके शिष्य राजपिंड ग्रहण करते रहे। आर्य महागिरि ने उन्हें सचेत भी किया; फलतः उन्होंने सुहस्ती के साथ आहार-विहार करना छोड़ दिया, अर्थात् वे असांभोगिक बन गये। आचार्य सुहस्ति ने अशोक के पौत्र अवंतीपति मौर्यवंशी राजा संप्रति (२२०–२११ ई० पू०) को जैनधर्म में दीक्षित कर जैनसंघ की विशेष प्रभावना की। भगवान् महावीर के श्रमणों को प्रायः मगध के आसपास साकेत के पूर्व में अंग-मगध तक, दक्षिण में कौशांबी तक, पश्चिम में स्थूणा तक तथा उत्तर में उत्तर कोसल तक ही विहार करने की अनुज्ञा थी, लेकिन सम्प्रति ने साढ़े २५ देशों[1] को आर्य घोषित कर उन्हें जैन श्रमणों के विहार के योग्य बना दिया। नगर के चारों

---

१. मगध (राजगृह), अङ्ग (चम्पा), बंग (ताम्रलिप्ति), कलिंग (कांचनपुर), काशी (वाराणसी), कोशल (साकेत), कुरु (गजपुर), कुशावर्त (शौरिपुर), पांचाल (कांपिल्यपुर), जांगल (अहिच्छत्रा), सौराष्ट्र (द्वारका), विदेह (मिथिला), वत्स (कौशाम्बी), शांडिल्य (नन्दिपुर), मलय (भद्दिलपुर), मत्स्य (वैराट), वरणा (अच्छा), दशार्ण (मृत्तिकावती), चेदि (शुक्तिमती), सिन्धु-सौवीर (वीतिभय), शूरसेन (मथुरा), भंगि (पावा), वट्टा (मासपुरी), कुणाल (श्रावस्ती), लाट (कोटिवर्ष), केकयी अर्ध (श्वेतिका); बृहत्कल्पभाष्य १.३२६३ वृत्ति। विशेष के लिए देखिये परिशिष्ट १।

दरवाजों पर दानशालाएँ खुलवाकर उन्होंने जैन श्रमणों को भोजन-वस्त्र देने की व्यवस्था की। रथयात्रा के समय अपने सुभट आदि के साथ वह रथ के साथ-साथ चलता और रथ के समक्ष फल-फूल चढ़ाता। चैत्यगृह में स्थित भगवान् महावीर की वह पूजा करता, तथा अन्य राजाओं से श्रमणों की भक्ति कराता। सुहस्ति के बाद आचार्य सुस्थित, आचार्य सुप्रतिबुद्ध और आचार्य इन्द्रदत्त जैन संघ के नेता कहलाये। इनके बाद प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन (ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी) के समकालीन कालकाचार्य ने संघ का अधिपतित्व किया। श्रावक-राजा माने जाने वाले सातवाहन के आग्रह पर, भाद्रपद सुदी पंचमी के दिन इन्द्रमह दिवस होने के कारण, उन्होंने भाद्रपद सुदी चतुर्थी को पर्यूषण पर्व मनाने की घोषणा की।[1] ईरान के शाहों की सहायता से उज्जैनी के राजा गर्दभिल्ल को युद्ध में पराजित कर उन्होंने शकों का राज्य स्थापित किया।[2] कालकाचार्य के सुवर्णभूमि (बर्मा) जाने का भी उल्लेख मिलता है।[3]

तत्पश्चात्, जैनधर्म के महान् प्रभावक युगप्रधान वज्रस्वामी हुए जो पदानुसारी थे और क्षीराश्रवलब्धि उन्हें प्राप्त थी। वज्रस्वामी भृगुकच्छ के राजा नहवाहण (नहपान) के समकालीन थे। वे बड़े कुरूप और कृश थे, लेकिन साथ ही महाकवि थे। उनके काव्य राजा के अन्तःपुर में गाये जाते थे। महारानी पद्मावती उनकी कविता सुनकर उनपर मोहित हो गयी, लेकिन उनके रूप को देखकर उसे वैराग्य हो आया। दश पूर्वों के वे ज्ञाता थे और दृष्टिवाद को उन्होंने अपने शिष्यों को पढ़ाया था। नवकारमंत्र का उद्धार करके उन्होंने उसे मूलसूत्र में स्थान दिया, और उज्जयिनी, वेन्यातट, मथुरा, पाटलिपुत्र, पुरिम, माहेश्वरी आदि नगरों में विहार किया। अन्त में विदिशास्थित रथावर्त पर्वत पर उन्होंने निर्वाण पाया।[4] आर्यरक्षित वज्रस्वामी के प्रधान शिष्यों में से थे। वे दशपुर के निवासी थे और

---

१. निशीथचूर्णी १० २८६० की चूर्णी; ५.२१५३-५४।

२. वही।

३. बृहत्कल्पभाष्य पीठिका २३९। देखिये डा० उमाकान्त शाह, सुवर्णभूमि में कालकाचार्य।

४. आवश्यकचूर्णी पृ० ३९०-९६; ४०४ आदि।

उज्जयिनी में वज्रस्वामी के पादमूल में बैठकर उन्होंने नौ पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया था।[1]

इसके सिवाय, जैनधर्म के पुरस्कर्ताओं में आर्य श्याम, आर्य समुद्र,[2] आर्य मंगु,[3] नागहस्ति, पादलिप्त, स्कंदिल, नागार्जुन, भूतदत्त, देवर्धिगणि क्षमाश्रमण आदि आचार्यों के नाम उल्लेखनीय हैं। उत्तरवर्ती आचार्यों में उमास्वाति, कुंदकुंद, मल्लवादी, सिद्धसेन दिवाकर, समंतभद्र, पूज्यपाद, हरिभद्र, अकलंक, विद्यानन्द, नेमिचन्द्र सिद्धांत-चक्रवर्ती और कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्र मुख्य हैं। हेमचन्द्र १२ वीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध आचार्य थे जिनका उपदेशामृत सुनकर गुजरात के चालुक्य राजा कुमारपाल ने जैन धर्म अंगीकार किया था।

राजघरानों में महावीर का प्रभाव

जैन ग्रंथों में १८ गणराजाओं में प्रमुख वैशाली के राजा चेटक, राजगृह के राजसिंह श्रेणिक (बिंबसार), चंपा के राजा कूणिक (अजातशत्रु), कौशांबी के राजा उदयन, चंपा के राजा दधिवाहन, उज्जैनी के राजा प्रद्योत, वीतिभय के राजा उद्रायण, पाटलिपुत्र के सम्राट् चन्द्रगुप्त और उज्जैनी के सम्राट् संप्रति आदि का उल्लेख आता है, जो निर्ग्रन्थ श्रमणों के परम उपासक माने गये हैं; इनमें से उद्रायण आदि राजाओं को महावीर ने श्रमण-धर्म में दीक्षित किया था। महावीर भगवान् के नाना चेटक की सात कन्याओं में से प्रभावती का विवाह राजा उद्रायण के साथ, पद्मावती का शतानीक के साथ, शिवा का प्रद्योत के साथ, ज्येष्ठा का महावीर के भ्राता नन्दि-वर्धन के साथ और चेलना का श्रेणिक बिंबसार के साथ हुआ था (यद्यपि इन राजाओं की ऐतिहासिकता के संबंध में बहुत कम

---

१. वही।

२. आर्यसमुद्र और आर्यमंगु ने शूर्पारक में विहार किया था, व्यवहारभाष्य ६.२४१, पृ० ४३।

३. मथुरा में सुभिक्षा प्राप्त होने पर भी आर्यमंगु आहार का कोई प्रतिबंध नहीं रखते थे, इसलिए आवश्यकनिर्युक्ति में उन्हें पार्श्वस्थ कहा गया है, जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० २०७। आर्य मंगु और नागहस्ति का नाम दिगंबर आचार्यों की परम्परा में भी आता है, इन्होंने कषायप्राभृत का व्याख्यान किया।

जानकारी मिलती है)। इससे भी राजघरानों में महावीर का प्रभाव सिद्ध होता है। उन्होंने उग्र, भोग, राजन्य, ज्ञातृ और कौरव कुल के अनेक क्षत्रियों को अपने श्रमणधर्म में दीक्षित किया था।

स्त्रियों में राजा दधिवाहन की पुत्री चंदनबाला का नाम प्रमुख है जो महावीर भगवान् की प्रथम शिष्या और भिक्षुणी संघ की गणिनी कहलाई। महारानियों में जयन्ती, मृगावती, अंगारवती और काली, तथा राजकुमारों में मेघकुमार, नंदिषेण, अभयकुमार आदि के नाम मुख्य हैं; श्रावक-श्राविकाओं में शंख, शतक तथा सुलसा और रेवती आदि उल्लेखनीय हैं।

महावीर का निर्ग्रन्थ धर्म

महावीर ने पार्श्वनाथ के निर्ग्रन्थ धर्म की परम्परा को आगे बढ़ाया। चतुर्विध संघ की व्यवस्था उन्होंने सुदृढ़ की, अहिंसा पर जोर दिया, और पार्श्वनाथ के चातुर्याम में ब्रह्मचर्य नाम का पांचवां व्रत जोड़ा। संयम, तप और त्याग का अधिक दृढ़ता से पालन करने का उपदेश देते हुए उन्होंने अचेलत्व को मुख्य बताया। उन्होंने अनेकांत-वाद का उपदेश दिया, चारों वर्णों की समानता को मुख्य माना, तथा निर्ग्रन्थ प्रवचन को साधारण जनता तक पहुँचाने के लिए अर्धमागधी में उपदेश दिया।

जैनधर्म बिहार में फूला-फला, वहाँ से उत्तर भारत में फैला, फिर राजपूताना, गुजरात और काठियावाड़ होते हुए उसने दक्षिण भारत में प्रवेश किया। इस बीच में जैनसंघ में अनेक उत्थान-पतन हुए, अनेक संकटापन्न परिस्थितियों से इसे गुजरना पड़ा। लेकिन बौद्धसंघ की भांति अपनी जन्मभूमि से कभी यह दूर नहीं हुआ। इसका प्रमुख कारण यही है कि इस धर्म के अनुयायी अपने नियम और सिद्धान्तों से दृढ़ता के साथ जकड़े रहे। प्रोफेसर जैकोबी के शब्दों में "यद्यपि साधु और गृहस्थ जीवन से सम्बन्ध रखने वाले कितने ही कम महत्वपूर्ण नियम खंडित होकर अनुपयोगी बन गये, फिर भी, आज भी जैन धर्मावलंबियों का जीवन वस्तुतः वही है जो आज से २००० वर्ष पहले था।[1]"

---

१. जार्ल शार्पेन्टियर, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० १६६।

दूसरा अध्याय

जैन आगम और उनकी टीकाएँ

आगम-सिद्धांत

जो स्थान ब्राह्मण परम्परा में वेद और बौद्ध परम्परा में त्रिपिटिक का है, वही स्थान जैन परम्परा में आगम-सिद्धांत का है। आगमों को श्रुत, सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धांत, शासन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापना, अथवा प्रवचन भी कहा गया है।[1] जैनों के इस प्राचीन साहित्य में संस्कृति और इतिहास आदि से सम्बन्ध रखने वाली अनेक महत्वपूर्ण परम्पराएँ सुरक्षित हैं। जैन मान्यता के अनुसार अर्हत् भगवान् ने पूर्वों में निबद्ध आगम-सिद्धांत का अपने गणधरों को निरूपण किया और उन्होंने उसे सूत्ररूप में निबद्ध किया।

आगमों की संख्या ४६ (जिनमें ४५ उपलब्ध हैं)

१२ अंग (द्वादशांग अथवा गणिपिटक, अथवा प्रवचनवेद):—आयारंग (आचारांग), सूयगडंग (सूत्रकृतांग), ठाणांग (स्थानांग), समवायांग, वियाहपण्णत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति, अथवा भगवती), नायाधम्मकहाओ (ज्ञातृधर्मकथा), उवासगदसाओ (उपासकदशा), अन्तगडदसाओ (अन्तःकृद्दशा), अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरोपपातिकदशा), पण्हवागरणाइं (प्रश्नव्याकरण), विवागसुय (विपाकसूत्र), दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद[2] नष्ट हो जाने के कारण अनुपलब्ध है। इसमें चौदह पूर्वों का समावेश है)।

१२ उपांग[3]:—ओववाइय (औपपातिक), रायपसेणइय (राज-

---

१. वृहत्कल्पभाष्य पीठिका १७४; आवश्यकचूर्णी, पृ० १०८।

२. दृष्टिवाद के पांच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। इसे भूतवाद भी कहा गया है। दिगंबर सम्प्रदाय के अनुसार आगमों में केवल दृष्टिवाद सूत्र का कुछ अंश बाकी बचा है। पुष्पदंत का षट्खंडागम और भूतबलि का कषायप्राभृत नामक ग्रंथ शेष हैं जो पूर्वों के आधार से लिखे गये हैं।

३. अंग और उपांग में कोई साक्षात् संबंध नहीं है। नंदी में कालिक और उत्कालिक रूप में उपांगों का उल्लेख है, उपांग के रूप में नहीं।

प्रश्नीय), जीवाभिगम, पन्नवणा (प्रज्ञापना)[1], सूरियपण्णत्ति[2] (सूर्य-प्रज्ञप्ति), जम्बुद्दीवपण्णत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति), चन्दपण्णत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति), निरयावलियाओ (निरयावलिका), कप्पवडंसियाओ (कल्पावतंसिका), पुप्फियाओ (पुष्पिक) पुप्फचूलियाओ (पुष्पचूलिका), वण्हिदसाओ (वृष्णिदशा)।

१० पइन्ना :—चउसरण (चतुःशरण)[3], आउरपच्चक्खाण (आतुर-प्रत्याख्यान), महापच्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान), भत्तपरिण्णा (भक्त-परिज्ञा), तन्दुलवेयालिय (तन्दुलवैचारिक), संथारग (संस्तारक), गच्छायार (गच्छाचार), गणिविज्जा (गणिविद्या), देविन्दत्थय (देवेन्द्रस्तव), मरणसमाही (मरणसमाधि)।

६ छेयसुत्त (छेदसूत्र)[4] :—निसीह (निशीथ), महानिसीह (महा-निशीथ), ववहार (व्यवहार) दसासुयक्खन्ध (दशाश्रुतस्कन्ध, अथवा आचारदशा), कप्प (कल्प, अथवा बृहत्कल्प), पञ्चकप्प (पञ्चकल्प, कहीं पर जीयकल्प = जीतकल्प)।

४ मूलसुत्त (मूलसूत्र) :—उत्तरज्झयण (उत्तराध्ययन), दसवेयालिय (दशवैकालिक)[5], आवस्सय (आवश्यक), पिण्डनिज्जुत्ति (पिण्ड-निर्युक्ति, कहीं पर ओहनिज्जुत्ति = ओघनिर्युक्ति)[6]।

---

१. इसके लेखक आर्य श्याम माने गये हैं।

२. जैनमान्यता के अनुसार भद्रबाहु और वराहमिहिर दोनों प्रतिष्ठान के रहनेवाले ब्राह्मण थे। वराहमिहिर ने चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति आदि आगम ग्रंथों के आधार से वाराहीसंहिता की रचना की, गच्छाचारवृत्ति, ६३-६।

३. लेखक वीरभद्र।

४. छेदसूत्र को उत्तम श्रुत माना गया है और इसे गोपनीय कहा है—

तम्हा ण कहेयव्वं, आयरियेणं तु पवयणरहस्सं।
खेत्तं कालं पुरिसं, नाऊण पगासए गुज्झं॥

—निशीथचूर्णी १६.६१८४, ६२२७, ६२४३।

५. लेखक शय्यंभव।

६. कोई पिण्डनिज्जुत्ति और ओहनिज्जुत्ति के स्थान पर क्रमशः ओहनिज्जुत्ति और पक्खियसुत्त (पाक्षिकसूत्र) की मूलसूत्रों में गणना करते हैं। कहीं पर पिंडनिज्जुत्ति और ओहनिज्जुत्ति का छेदसूत्रों में अन्तर्भाव किया गया है।

नन्दी[1] तथा अणुयोगदार[2] (अनुयोगद्वार)[3]।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदाय आगमों को स्वीकार करते हैं। अन्तर यही है कि दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार कालदोष से ये आगम नष्ट हो गये हैं,[4] जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में समय-

---

१. लेखक देववाचक।

२. लेखक आर्यरक्षित।

३. नन्दीसूत्र ४३ टीका, पृष्ठ ९०-९५ में श्रुत के दो भेद किये हैं—अंगबाह्य (स्थविरकृत) और अंगप्रविष्ट (गणधरकृत)। अंगबाह्य के दो भेद हैं:—आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त। आवश्यक के छः, और आवश्यकव्यतिरिक्त के दो भेद हैं:—कालिक और उत्कालिक। कालिक को उत्तराध्ययन आदि ३१ और उत्कालिक को दशवैकालिक आदि २८ भेदों में विभक्त किया गया है (इन सूत्रों में अनेक सूत्र उपलब्ध नहीं हैं)। अंगप्रविष्ट के आचारांग आदि १२ भेद हैं, जिन्हें द्वादशांग कहा जाता है।

कोई आगमों की संख्या ८४ मानते हैं:—११ अंग, १२ उपांग, ५ छेदसूत्र (पंचकल्प को घटाकर), ५ मूलसूत्र (उत्तरज्झयण, दसवेयालिय. आवस्सय, नन्दी, अणुयोगदार), ३० पइण्णा, पक्खियसुत्त, खमणासुत्त, वंदित्तुसुत्त, इसिभासिय, पज्जोसवणाकप्प (कल्पसूत्र), जीयकप्प, जइजीयकप्प, सड्ढजीयकप्प, १२ निर्युक्ति, विसेसावस्सयभास।

चरणकरणानुयोग (कालिकश्रुत), धर्मानुयोग (ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन आदि), गणितानुयोग (सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि) तथा द्रव्यानुयोग (दृष्टिवाद) के भेद से आगम के चार भेद बताये गये हैं।

श्वेताम्बर स्थानकवासी आगमों की संख्या ३२ मानते हैं।

४. दिगम्बरों के अनुसार आगमों के दो भेद हैं:—अंग और अंगबाह्य। अंगों में १२ अंगों के वही नाम हैं जो श्वेताम्बर परम्परा में मान्य हैं। दृष्टिवाद के जो पाँच भेद माने गये हैं, उनमें दिगम्बर मान्यता के अनुसार परिकर्म के चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति, तथा चूलिका के जलगतचूलिका, स्थलगतचूलिका, मायागतचूलिका, रूपगतचूलिका, और आकाशगतचूलिका नामक पाँच भेद हैं। अंगबाह्य के निम्नलिखित १४ प्रकीर्णक हैं:—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, विनय, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिधिक।

समय पर विषय और भाषा आदि में परिवर्तन और संशोधन होते रहने पर भी वर्तमान में उपलब्ध आगम मान्य हैं।

आगमों की वाचनायें

महावीर-निर्वाण (ईसवी सन् के पूर्व ५२७) के लगभग १६० वर्ष पश्चात् (ईसवी सन् के पूर्व ३६७) चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में, मगध देश में भयंकर दुष्काल पड़ने पर अनेक जैन भिक्षु भद्रबाहु के नेतृत्व में समुद्रतट की ओर प्रस्थान कर गये, शेष स्थूलभद्र (महावीर-निर्वाण के २१९ वर्ष पश्चात् स्वर्गगमन) के नेतृत्व में वहीं रहे। दुष्काल समाप्त हो जाने पर स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र में जैन श्रमणों का एक सम्मेलन बुलाया जिसमें श्रुतज्ञान का ११ अंगों में संकलन किया गया। दृष्टिवाद किसी को स्मरण नहीं था, अतएव पूर्व-ग्रन्थों का संकलन न हो सका। चतुर्दश पूर्वों के धारी केवल भद्रबाहु थे, जो इस समय महाप्राणव्रत का पालन करने के लिए नेपाल चले गये थे। पूर्वों का ज्ञान सम्पादन करने के लिए जैनसंघ की ओर से कतिपय साधुओं को नेपाल भेजा गया। इनमें से केवल स्थूलभद्र ही पूर्वों का ज्ञान प्राप्त कर सके। शनैः-शनैः, पूर्वों का ज्ञान नष्ट हो गया। जो कुछ सिद्धान्त शेष रहे उन्हें पाटलिपुत्र के सम्मेलन में संकलित कर लिया गया। इसे पाटलिपुत्र-वाचना के नाम से कहा जाता है।[1]

कुछ समय पश्चात्, महावीर-निर्वाण के लगभग ८२७ या ८४० वर्ष बाद (ईसवी सन् ३००-३१३) आगमों को पुनः व्यवस्थित रूप देने के लिए, आर्य स्कंदिल के नेतृत्व में मथुरा में दूसरा सम्मेलन हुआ। दुष्काल के कारण इस समय भी आगमों को बहुत क्षति पहुँची। दुष्काल समाप्त होने पर, इस सम्मेलन में जिसे जो कुछ स्मरण था उसे कालिक श्रुत के रूप में संकलित कर लिया गया। जैन आगमों की यह दूसरी वाचना थी जिसे माथुरी वाचना के नाम से कहा जाता है।

लगभग इसी समय नागार्जुनसूरि के नेतृत्व में वलभी (वाळा, सौराष्ट्र) में एक और सम्मेलन भरा। इसमें जो सूत्र विस्मृत हो गये थे उनकी संघटनापूर्वक सिद्धांत का उद्धार किया गया।[3]

---

१. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १८७।

२. नन्दीचूर्णी पृ० ८।

३. कहावली २९८, मुनि कल्याणविजय, वीरनिर्वाण और जैनकाल गणना, पृ० ११० आदि से।

ज्योतिष्करंडक की टीका के कर्ता आचार्य मलयगिरि के अनुसार, अनुयोगद्वार आदि सूत्र माथुरी वाचना, और ज्योतिष्करंडक वलभी वाचना के आधार से संकलित किये गये हैं। इन दोनों वाचनाओं के पश्चात् आर्यस्कंदिल और नागार्जुन सूरि परस्पर मिल नहीं सके, अतएव जैन आगमों का वाचना-भेद स्थायी बना रहा।

तत्पश्चात्, महावीर-निर्वाण के लगभग ९८० या ९९३ वर्ष बाद (ईसवी सन् ४५३-४६६) वलभी में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में अंतिम सम्मेलन बुलाया गया जिसमें विविध पाठान्तर और वाचना-भेद आदि को व्यवस्थित कर, माथुरी वाचना के आधार से आगमों को संकलित कर उन्हें लिपिबद्ध किया गया।[१] दृष्टिवाद फिर भी उपलब्ध न हो सका, अतएव उसे व्युच्छिन्न घोषित कर दिया गया। श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य वर्तमान आगम इसी अंतिम संकलना का परिणाम है।

आगमों का महत्व

ये आगम महावीर भगवान् के साक्षात् उपदेश माने जाते हैं जो सुधर्मा गणधर द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं। इनके प्राचीन अंश क महावीर जितना ही प्राचीन समझना चाहिए। ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दी में, वलभी में, आगमों का रूप सुनिश्चित करके उन्हें पुस्तक रूप में निबद्ध किया गया, अतएव इनका अन्तिम समय ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दी मानना चाहिए। इस तरह हम देखते हैं कि इस विपुल साहित्य में लगभग १००० वर्ष की परम्परागत सामग्री संगृहीत है जो अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

आगम-साहित्य में जैन श्रमणों के आचार-विचार, व्रत-संयम, तप-त्याग, गमनागमन, रोग-चिकित्सा, विद्या-मन्त्र, उपसर्ग-दुर्भिक्ष

---

१. सम्भवतः इस समय आगम-साहित्य को पुस्तकबद्ध करने के सम्बन्ध में ही विचार किया गया। परन्तु हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में लिखा है कि नागार्जुन और स्कंदिल आदि आचार्यों ने आगमों को पुस्तकरूप में निबद्ध किया। फिर भी साधारणतया देवर्धिगणि ही 'पुत्थे आगमलिहिओ' के रूप में प्रसिद्ध हैं। मुनि पुण्यविजय, भारतीय जैन श्रमण, पृ० १७।

२. बौद्ध त्रिपिटक की तीन संगीतियों का उल्लेख बौद्ध ग्रंथों में मिलता है। पहली संगीति राजगृह में, दूसरी वैशाली में और अन्तिम संगीति सम्राट् अशोक के राज्यकाल में, ईसवी सन् के पूर्व तीसरी शताब्दी में, पाटलिपुत्र में हुई थी।

तथा उपवास-प्रायश्चित आदि का वर्णन करने वाली अनेक परम्पराओं, जनश्रुतियों, लोक-कथाओं और धर्मोपदेश की पद्धतियों का वर्णन है। महावीर भगवान् का जन्म, उनकी कठोर साधना, साधु-जीवन, उनके मूल उपदेश, उनकी विहार-चर्या, शिष्य-परम्परा, आर्य-क्षेत्रोंकी सीमा, तत्कालीन राजे-महाराजे, अन्य तीर्थिक तथा मतमतान्तर और उनकी विवेचना सम्बन्धी जानकारी हमें यहाँ मिलती है। वास्तुशास्त्र, वैशिक-शास्त्र, ज्योतिपविद्या, भूगोल-खगोल, संगीत, नाट्य, विविध कलाएँ, प्राणिविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान आदि अनेकानेक विपयों का यहाँ विवेचन किया गया है। इन सब विपयों के अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है जिससे हमारे प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास की अनेक त्रुटित शृङ्खलाएँ जोड़ी जा सकती हैं।

आगमों की भापा

भापाशास्त्र की दृष्टि से भी आगम-साहित्य अत्यन्त उपयोगी है। जैन सूत्रों के अनुसार महावीर भगवान् ने अर्धमागधी में अपना उपदेश दिया, और इस उपदेश के आधार पर उनके गणधरों ने आगमों की रचना की। परम्परा के अनुसार बौद्धों की मागधी की भाँति अर्ध-मागधी भी आर्य, अनार्य, और पशु-पक्षियों द्वारा समझी जा सकती थी, तथा बाल, वृद्ध, स्त्री और अनपढ़ लोगों को यह बोधगम्य थी।[1] आचार्य हेमचन्द्र ने इसे आर्पप्राकृत कहकर व्याकरण के नियमों से बाह्य बताया है। त्रिविक्रम ने भी अपने प्राकृतशब्दानुशासन में देश्य भापाओं की भाँति आर्पप्राकृत की स्वतन्त्र उत्पत्ति मानते हुए उसके लिए व्याकरण के नियमों की आवश्यकता नहीं बतायी। मतलब यह कि आर्प भापा का आधार संस्कृत न होने से वह अपने स्वतन्त्र नियमों का पालन करती है। इसे प्राचीन प्राकृत भी कहा है।

साधारणतया मगध के आधे हिस्से में बोली जाने वाली भापा को अर्धमागधी कहा गया है। अभयदेवसूरि के अनुसार, इस भापा में कुछ लक्षण मागधी के और कुछ प्राकृत के पाये जाते हैं, अतएव इसे अर्धमागधी कहा है। इससे मागधी और अर्धमागधी भापाओं की

---

१. जैसे पात्रविशेप के आधार से वर्षा के जल में परिवर्तन हो जाता है, वैसे ही जिन भगवान् की भापा भी पात्रों के अनुरूप होती जाती है। बृहत्कल्पभाष्य १. १२०४।

निकटता पर प्रकाश पड़ता है। मार्कण्डेय ने शौरसेनी के समीप होने से मागधी को ही अर्धमागधी बताया है। मतलब यह कि पश्चिम में शौरसेनी और पूर्व में मागधी के बीच के क्षेत्र में बोली जाने के कारण यह भाषा अर्धमागधी कही जाती थी, मागधी का शुद्ध रूप इसमें नहीं था। क्रमदीश्वर ने अपने संक्षिप्तसार में इसे महाराष्ट्री और मागधी का मिश्रण बताया है। कहीं इसमें मगध, मालव, महाराष्ट्र, लाट, विदर्भ आदि देशी भाषाओं का संमिश्रण बताया गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि आजकल की हिन्दुस्तानी की भाँति अर्धमागधी जन-सामान्य की भाषा थी जिसमें महावीर ने सर्वसाधारण को प्रवचन सुनाया था। शनैः-शनैः इसमें अनेक देशी भाषाएँ मिश्रित होती गयीं और जैन श्रमणों के लिए देशी भाषाओं का ज्ञान अनिवार्य कर दिया गया।

परिवर्तन और संशोधन

महावीर के गणधरों द्वारा संकलित वर्तमान रूप में उपलब्ध आगमों की भाषा का यह रूप जैन श्रमणों के अथक प्रयत्नों से ही सुरक्षित रह सका। फिर भी, १००० वर्ष के दीर्घकालीन व्यवधान में आगमों के मूल पाठों में अनेक परिवर्तन और संशोधन होते रहे। आगमों के भाष्यकारों और टीकाकारों ने जगह-जगह इस परिवर्तन की ओर लक्ष्य किया है। सूत्रादर्शों में अनेक प्रकार के सूत्र उपलब्ध होने के कारण उन्होंने किसी एक आदर्श को स्वीकार कर लिया है[1], और फिर भी सूत्रों में विसंवाद रह जाने पर किसी वृद्ध सम्प्रदाय आदि का उल्लेख करते हुए अपनी अज्ञातासूचक दशा का प्रदर्शन किया है।[2] सूत्रों का अर्थ स्पष्ट करने के लिए कहीं पर उन्हें आमूल संशोधन और परिवर्तन करना पड़ा है। आगमों के टीकाकारों ने आगमों के वाचना-भेद के साथ-साथ उनके गलित हो जाने और उनकी दुर्लक्ष्यता की

---

१. इह च प्रायः सूत्रादर्शेषु नानाविधानि सूत्राणि दृश्यन्ते न च टीकासंवादेको ऽप्यस्माभिरादर्शः समुपलब्धो ऽतः एकमादर्शमंगीकृत्यास्माभिर्विवरणं क्रियते, सूत्रकृतांगटीका, २ श्रुत, २, पृ० ३३५ अ।

२. अज्ञा वयं शास्त्रमिदं गभीरं, प्रायोऽस्य कूटानि च पुस्तकानि।
- अभयदेव, प्रश्नव्याकरणटीका, प्रस्तावना।

ओर इङ्गित किया है।[1] व्याकरण के रूपों की एकरूपता भी आगमों में दृष्टिगोचर नहीं होती। उदाहरण के लिए, कहीं यश्रुति मिलती है, कहीं उसका अभाव है, कहीं यश्रुति के स्थान में 'इ' का प्रयोग है; एक ही शब्द में कहीं ह्रस्व स्वर का प्रयोग देखा जाता है (जैसे गुत्त), कहीं दीर्घ का (जैसे गोत्त), कहीं महावीरे का प्रयोग हुआ है, कहीं मधावीरे का, तृतीया के बहुवचन में कहीं देवेहिं का प्रयोग है, और कहीं देवेभि का। इसी प्रकार व्याकरण के अन्य नियमों का पालन भी आगम-ग्रन्थों की रचना में देखने में नहीं आता। उत्तरकालीन आचार्यों ने, प्राचीन प्राकृत से सम्बन्ध विच्छेद हो जाने पर, कितने ही शब्दों के प्रयोगों में मनमाने परिवर्तन कर डाले, तथा सम्प्रदाय विच्छेद हो जाने के कारण वज्जी (वृज्जि जाति; लेकिन अभयदेव ने अर्थ किया है इन्द्र-वज्रं अस्य अस्ति), काश्यप (महावीर का गोत्र; अभयदेव ने अर्थ किया है इक्षुरस का पान करने वाला—काशं इक्षुः तस्य विकारः काश्यः रसः स यस्य पानं स काश्यपः), अन्धकवृष्णि, लिच्छिवि, आजीविक, कुत्तियावण (कुत्रिकापण) आदि कितने ही शब्दों के अर्थ विस्मृत हो गये।

आगम-साहित्य में गड़बड़ी हो जाने से दृष्टिवाद आदि जैसे महत्त्वपूर्ण आगम सदा के लिए व्युच्छिन्न हो गये, अनेक आगमों के खण्ड, उनके अध्ययन[2] और प्रकरण आदि विस्मृत कर दिये गये,

---

१. सत्संप्रदायहीनत्वात् , सदूहस्य वियोगतः।
सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥
वाचनानामनेकत्वात् , पुस्तकानामशुद्धितः।
सूत्राणामतिगांभीर्यान्मतभेदाच्च कुत्रचित् ॥
क्षुण्णानि संभवंतीह, केवलं सुविवेकिभिः।
सिद्धांतानुगतो योऽर्थः सो स्याद् ग्राह्यो न चेतरः ॥
अभयदेव, स्थानांगटीका, पृ० ४९९–५०० ।

२. उदाहरण के लिए, अन्तःकृद्दशांग के प्रथम वर्ग में णमि, मातंग, सोमिल, रामगुत्त, सुदंसण, जमाली, भगाली, किंकम, पल्लतेतिय, फाल और अंबडपुत्त नाम के दस अध्ययन होने चाहिये, लेकिन ये अध्ययन अनुपलब्ध हैं; स्थानांगटीका १०, पृ० ४८२–अ। अनुत्तरोपपातिक सूत्र के तृतीय वर्ग में भी इसी तरह की गड़बड़ी हुई है। प्रश्नव्याकरण, बंधदशा, द्विगृद्धिदशा, दीर्घदशा, संक्षेपिकदशा के अध्ययनों के सम्बन्ध में भी यही बात है।

अनेक स्थानों पर आमूल परिवर्तन हो गया, उनकी विषयवस्तु[1] और उनके परिमाण में ह्रास हो गया। कितनों के तो नाम ही संदेहास्पद बन गये और आगमों की संख्या बढ़ते-बढ़ते ८४ तक पहुँच गयी।

आगमों की प्रामाणिकता

ऐसी हालत में यह निर्विवाद है कि वर्तमान रूप में उपलब्ध जैन आगमों को सर्वथा प्रामाणिक रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता; लेकिन उन्हें अप्रामाणिक भी नहीं माना जा सकता। इस विपुल साहित्य में अनेक ऐतिहासिक और अर्ध-ऐतिहासिक परम्पराएँ सङ्कलित हैं जिनसे जैन सङ्घ के ऐतिहासिक विकासक्रम पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। जैन आचार्यों ने इन सब परम्पराओं को ज्यों की त्यों सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया, इनमें इच्छानुसार परिवर्तन नहीं कर डाला, इससे भी आगम-साहित्य की प्रामाणिकता पर प्रकाश पड़ता है। कनिष्क राजा के समकालीन मथुरा में पाये गये जैन शिलालेख इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन शिलालेखों में कल्पसूत्र में उल्लिखित जैन श्रमणों की स्थविरावलि के भिन्न-भिन्न गण, कुल और शाखाओं का उल्लेख मिलता है, इससे निस्सन्देह जैन आगमों की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। वस्तुतः आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्पसूत्र आदि आगमों में जो भाषा और विषयवस्तु का स्वरूप दिखाई पड़ता है वह काफी प्राचीन है, जिसकी तुलना डाक्टर विण्टरनीज के शब्दों में, भारत के प्राचीन 'श्रमण काव्य' से की जा सकती है। दुर्भाग्य से आगमों के जैसे चाहिये वैसे प्रामाणिक संस्करण अभी तक प्रकाशित नहीं हुए, ऐसी हालत में जैन भण्डारों की हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ

---

१. आचारांग आदि आगमों की विषयवस्तु के लिए देखिये समवायांग-टीका १३६, पृ० ६६–१२३; नन्दीसूत्रटीका पृ० ९६-१०८। नन्दी (पृ० १०४) में ज्ञातृधर्मकथा के सम्बन्ध में कहा है—प्रकटार्थम् इत्येवं गुरवो व्याचक्षते, अन्ये पुनरन्यथा, तदभिप्रायं पुनर्वयं अतिगम्भीरत्वात् नावगच्छामः, परमार्थं तु अत्र विशिष्टश्रुतविदो विदंति, इत्यलं प्रसंगेन। आगमसूत्रों की पदसंख्या में भी बहुत हानि-वृद्धि हो गयी है। व्याख्याप्रज्ञप्ति की पदसंख्या समवायांग के अनुसार ८४,०००, नन्दी के अनुसार २८८,०००, और अभयदेव के अनुसार ४००,००० होनी चाहिये।

(उदाहरण के लिए पाटण के भण्डार में बृहत्कल्पभाष्य की विक्रम की १२ वीं शताब्दी की लिखी हुई प्रति मौजूद है) में भाषा का जो रूप उपलब्ध होता है, उसे आगमों की प्राचीनतम भाषा का रूप समझना चाहिए।

आगमों की टीकाएँ

पालि त्रिपिटक पर आचार्य बुद्धघोष की अट्ठकथाओं की भाँति आगम-साहित्य पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी, टीका, विवरण, विवृति, वृत्ति, दीपिका, अवचूरि, अवचूर्णी, व्याख्या, आख्यान, पञ्जिका आदि विपुल व्याख्यात्मक साहित्य लिखा गया है। आगमों का विषय अनेक स्थलों पर इतना सूक्ष्म और गम्भीर है कि बिना व्याख्याओं के उसे समझना कठिन है। इस व्याख्यात्मक साहित्य में 'पूर्वप्रबन्ध', 'वृद्ध-सम्प्रदाय', 'वृद्धव्याख्या', 'केवलिगम्य' आदि के उल्लेखपूर्वक व्याख्याकारों ने पूर्वप्रचलित परम्पराओं को प्रतिपादित किया है। भाषाशास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से भी यह साहित्य बहुत उपयोगी है। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी और कतिपय टीकाएँ प्राकृत में लिखी गयी हैं जिससे प्राकृत भाषा और साहित्य के विकास पर प्रकाश पड़ता है। इन चारों व्याख्याओं के साथ मूल आगमों को मिला देने से यह साहित्य पञ्चाङ्गी साहित्य कहा जाता है।

व्याख्यात्मक साहित्य में निर्युक्तियों (निश्चिता उक्तिः निरुक्तिः)[1] का स्थान सर्वोपरि है। सूत्र में निश्चय किया हुआ अर्थ जिसमें निबद्ध हो उसे निर्युक्ति कहते हैं। निर्युक्ति आगमों पर आर्या छन्द में प्राकृत गाथाओं में लिखा हुआ संक्षिप्त विवेचन है। आगमों के विषय का प्रतिपादन करने के लिए इसमें अनेक कथानक, उदाहरण और दृष्टान्तों का संक्षिप्त उल्लेख किया है। इस साहित्य पर टीकाएँ लिखी गयी हैं। संक्षिप्त और पद्यबद्ध होने के कारण इसे आसानी से कण्ठस्थ किया जा सकता है। आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, सूर्यप्रज्ञप्ति, व्यवहार, कल्प, दशाश्रुतस्कन्ध, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक और ऋषिभाषित इन दस सूत्रों पर निर्युक्तियाँ लिखी गयी हैं। इनमें विषयवस्तु की दृष्टि से आवश्यकनिर्युक्ति का स्थान विशेष महत्व का है। पिंडनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति मूल सूत्रों में गिनी गयी हैं, इससे निर्युक्ति-साहित्य

१. आवश्यकचूर्णी पृ० ४६१।

की प्राचीनता का पता चलता है कि वलभी-वाचना के समय, ईसवी सन् की पांचवीं-छठी शताब्दी के पूर्व ही संभवतः यह साहित्य लिखा जाने लगा था। अन्य स्वतंत्र निर्युक्तियों में पंचमंगलश्रुतस्कंधनिर्युक्ति, संसक्तनिर्युक्ति, गोविंदनिर्युक्ति और आराधनानिर्युक्ति मुख्य हैं। निर्युक्तियों के लेखक परम्परा के अनुसार भद्रबाहु माने जाते हैं, जो छेदसूत्र के कर्ता अंतिम श्रुतकेवलि से भिन्न हैं।

निर्युक्तियों की भांति, भाष्य-साहित्य भी प्राकृत गाथाओं में, संक्षिप्त शैली में, आर्या छंद में लिखा गया है। कितने ही स्थलों पर निर्युक्ति और भाष्य की गाथाएँ परस्पर मिश्रित हो गयी हैं, इसलिए अलग से उनका अध्ययन करना कठिन है। निर्युक्तियों की भाषा के समान भाष्यों की भाषा भी मुख्यरूप से प्राचीन प्राकृत अथवा अर्धमागधी ही है। अनेक स्थलों पर मागधी और शौरसेनी के प्रयोग देखने में आते हैं। सामान्य तौर पर भाष्यों का समय ईसवी सन् की चौथी-पांचवीं शताब्दी माना जाता है। निशीथ, व्यवहार, कल्प, पंचकल्प, जीतकल्प, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, पिंडनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति इन सूत्रों पर भाष्य लिखे गये हैं। इनमें निशीथ, व्यवहार और कल्पभाष्य खासकर जैन संघ का प्राचीन इतिहास अध्ययन करने की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी हैं। इन तीनों भाष्यों के कर्ता संघदासगणि क्षमाश्रमण हैं जो हरिभद्रसूरि के समकालीन थे और वसुदेवहिण्डी के कर्ता संघदासगणि वाचक से भिन्न हैं। आगमेतर ग्रन्थों में चैत्यवंदन, देववंदनादि और नवतत्त्वगाथाप्रकरण आदि पर भी भाष्यों की रचना हुई।

आगमों के ऊपर लिखे हुए व्याख्या-साहित्य में चूर्णियों का स्थान अत्यन्त महत्व का है। यह साहित्य गद्य में है। संभवतः जैन तत्वज्ञान और उससे सम्बन्ध रखने वाले कथा-साहित्य का विस्तारपूर्वक विवेचन करने के लिए पद्य-साहित्य पर्याप्त न समझा गया। इसके अतिरिक्त जान पड़ता है कि संस्कृत की प्रतिष्ठा बढ़ जाने से शुद्ध प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत-मिश्रित प्राकृत में साहित्य का लिखना आवश्यक समझा जाने लगा। इस कारण इस साहित्य की भाषा को मिश्र प्राकृत भाषा कहा जा सकता है। आचारांग, सूत्रकृतांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, कल्प, व्यवहार, निशीथ, पंचकल्प, दशाश्रुतस्कंध, जीतकल्प, जीवाभिगम, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी और

अनुयोगद्वार इन सोलह आगमों पर चूर्णियां लिखी गयी हैं। इनमें पुरातत्व के अध्ययन की दृष्टि से निशीथविशेषचूर्णी (अथवा निशीथ-चूर्णी) और आवश्यकचूर्णी का स्थान सर्वोपरि है। इस साहित्य में देश-देश के रीति-रिवाज, मेले-त्यौहार, दुष्काल, चोर-लुटेरे, सार्थवाह, व्यापार के मार्ग आदि का बड़ा रोचक वर्णन है। वाणिज्यकुलीन कोटिकगणीय वज्रशाखीय जिनदासगणि महत्तर अधिकांश चूर्णियों के कर्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनका समय ईसवी सन् की छठी शताब्दी के आसपास माना जाता है। कुछ आगमेतर ग्रन्थों पर भी चूर्णियां लिखी गयी हैं।

आगमों पर अन्य अनेक विस्तृत टीकाएं और व्याख्याएं भी लिखी गयी हैं। अधिकांश टीकाएं संस्कृत में हैं, यद्यपि कतिपय टीकाओं का कथा सम्बन्धी अंश प्राकृत में उद्धृत किया गया है। निर्युक्तियों की भांति आगमों की अन्तिम वलभी-वाचना के पूर्व ही टीका-साहित्य लिखा जाने लगा था। आगमों के प्रमुख टीकाकारों में याकिनीसूनु हरिभद्र, शीलांक, शांतिसूरि, नेमिचन्द्र, अभयदेवसूरि और मलयगिरि आदि आचार्यों के नाम उल्लेखनीय हैं। टीकाओं में आवश्यकटीका, उत्तराध्ययन की पाइय (प्राकृत) टीका आदि मुख्य हैं। इन टीकाओं में अनेक लौकिक और धार्मिक कथाएं, प्राचीन जनश्रुतियां, अर्ध-ऐतिहासिक और पौराणिक परम्पराएं, तथा निर्ग्रन्थ मुनियों के परम्परागत आचार-विचार आदि महत्वपूर्ण विषय प्रतिपादित किये गये हैं।

वास्तव में आगम-सिद्धांतों पर व्याख्यात्मक साहित्य का इतनी प्रचुरता से निर्माण हुआ कि वह एक अलग साहित्य ही बन गया। इस साहित्य ने उत्तरकालीन कथा-साहित्य, चरित-साहित्य और धार्मिक साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित किया, इसलिए यह साहित्य विशेष उपयोगी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आगम-साहित्य और उस पर लिखे गये व्याख्या-साहित्य के आधार से तत्कालीन जनजीवन को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

द्वितीय खण्ड

शासन-व्यवस्था

पहला अध्याय

केन्द्रीय शासन-व्यवस्था

. जैन आगमों में चाणक्य के अर्थशास्त्र अथवा ब्राह्मणों के धर्म-सूत्रों की भाँति शासन-व्यवस्था सम्बन्धी विधि-विधानों का व्यवस्थित उल्लेख नहीं मिलता। जो कुछ संक्षिप्त उल्लेख यहाँ उपलब्ध है वह केवल कथा-कहानियों के रूप में ही है, और ये कथा-कहानियाँ साधारणतया तत्कालीन सामान्य जीवन का चित्रण करती हैं। श्रमण धर्म के अनुयायी होने के कारण जैन विद्वानों ने तप, त्याग और वैराग्य के ऊपर ही जोर दिया है, इहलौकिक जीवन के प्रति रुचि उन्होंने नहीं दिखाई। ऐसी हालत में, जैन आगमों में इधर-उधर बिखरी हुई संक्षिप्त सूचनाओं के आधार पर ही तत्कालीन शासन-व्यवस्था का चित्र उपस्थित किया जा सकता है।

राजा और राजपद

जैन परम्परा के अनुसार, ऋषभदेव प्रथम राजा हो गये हैं जिन्होंने भारत की प्रथम राजधानी इक्ष्वाकुभूमि (अयोध्या) में राज्य किया। इसके पूर्व न कोई राज्य था, न राजा, न दण्ड और न दण्ड-विधान का कर्त्ता। यह एक ऐसा राज्य था जहाँ सभी लोग अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए सदाचार और आनन्दपूर्वक जीवन-यापन करते थे। इसलिए उनमें किसी प्रकार का वैमनस्य अथवा लड़ाई-झगड़ा नहीं था, और लड़ाई-झगड़ा न होने से दण्ड की कोई आवश्यकता नहीं थी। लेकिन तीसरे काल के अन्त में, जब यतिगण धर्म से भ्रष्ट हुए और कल्पवृक्षों का प्रभाव घटा तथा युगल-सन्तान की उत्पत्ति होने पर सन्तान को लेकर प्रजा में वाद-विवाद होने लगा और समाज में अव्यवस्था फैलने लगी, तो लोग एकत्रित हो ऋषभदेव के पिता नाभि के पास पहुँचे और उनके अनुरोध पर ऋषभ का राजपद पर अभिषेक किया गया। ऋषभ ने ही पहली बार शिल्प

आदि विविध कलाओं का उपदेश दिया और दण्ड-व्यवस्था का विधान किया।[1]

जैन आगमों में सात प्रकार की दण्डनीति बतायी गयी है। पहले और दूसरे कुलकर के समय हक्कार नीति प्रचलित थी, अर्थात् किसी अपराधी को 'हा' कह देने मात्र से वह दण्ड का भागी हो जाता था। तीसरे और चौथे कुलकर के काल में 'मा' (मत) कह देने से वह दण्डित समझा जाता था, इसे मक्कार नीति कहा गया है। पाँचवें और छठे कुलकर के समय धिक्कार नीति का चलन हुआ। तत्पश्चात्, ऋषभदेव के काल में परिभाषण (क्रोधप्रदर्शन द्वारा ताड़ना) और परिमण्डलबंध (स्थानबद्ध कर देना), तथा उनके पुत्र भरत के काल में चारक (जेल) और छविच्छेद (हाथ, पैर, नाक आदि का छेदन) नामक दण्डनीतियों का प्रचार हुआ।[2]

प्राचीन भारत में प्रजा का पालन करने के लिए राजा का होना अत्यन्त आवश्यक बताया गया है।[3] राजा को सर्वगुण-सम्पन्न होना चाहिए। यदि वह स्त्रियों में आसक्त रहता है, द्यूत रमण करता है, मद्यपान करता है, शिकार में समय व्यतीत कर देता है, कठोर वचन बोलता है, कठोर दण्ड देता है और धन सञ्चय के लिए प्रयत्नशील नहीं रहता तो वह नष्ट हो जाता है।[4] उसका मातृ और पितृ पक्ष शुद्ध होना चाहिये, प्रजा से दसवां हिस्सा टैक्स लेकर उसे संतुष्ट रहना चाहिए; लोकाचार, वेद और राजनीति में उसे कुशल तथा धर्म में

---

१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति २.२९; आवश्यकचूर्णी, पृ० १५३-५७। महाभारत (शान्तिपर्व ५८) में कहा है कि समाज में अराजकता फैल जाने पर देवगण विष्णु के पास पहुँचे और विष्णु ने पृथु को राजपद पर बैठाया। सर्वप्रथम राजा पृथु ने जमीन में हल चलवा कर १७ प्रकार के धान्यों की खेती कराई। इस अवसर पर ब्रह्मा ने समाज के कल्याण के लिए शत-सहस्र अध्याय वाले एक ग्रन्थ की रचना की जिसमें धर्म, अर्थ और काम का निरूपण किया गया। दण्डनीति का निरूपण भी इसी समय हुआ।

२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, वही; स्थानांगसूत्र ७.५५७।

३. तस्मात्स्वधर्मं भूतानां राजा न व्यभिचारयेत्; कौटिल्य, अर्थशास्त्र १.१३.१६, पृ० ११।

४. निशीथभाष्य १५.४७६६।

श्रद्धावान् होना चाहिए।[1] चम्पा का राजा कूणिक (अजातशत्रु) एक प्रतापशाली क्षत्रिय राजा था। उसे अत्यन्त विशुद्ध, चिरकालीन राजवंश में प्रसूत, राजलक्षणों से युक्त, बहुजनसम्मानित, सर्वगुण-समृद्ध, राज्याभिषिक्त और दयालु बताया गया है। वह सीमा का प्रतिष्ठाता, क्षेमकारक और जनपद का पालक था, दान-मान आदि से वह लोगों को सम्मानित करता तथा धन, धान्य, सुवर्ण, रूप्य, भवन, शयन, आसन, यान, वाहन, दास, दासी, गाय, भैंस, माल-खजाना, कोठार और शस्त्रागार आदि से सम्पन्न था।[2] मतलब यह है कि शासन की सुव्यवस्था के लिए राजा का सुयोग्य होना आवश्यक था। यदि राज्य में किसी प्रकार की गड़बड़ी होती या उपद्रव हो जाता जिससे अराजकता फैल जाती तो प्रजा को बहुत कष्ट होता, और विरुद्धराज्य की ऐसी दशा में जैन साधुओं का गमनागमन रुक जाता।[3] श्वेत तुरग पर आरूढ़, मुकुटबद्ध, चन्दन से उपलिप्त शरीरवाले तथा अनेक हाथी, घोड़े और रथों से परिवृत, जयजयकार के साथ गमन करते हुए राजा का उल्लेख आता है।[4] राजा उद्रायण ने उज्जैनी के राजा प्रद्योत को श्रमणोपासक जान, उसके मस्तक पर बने हुए श्वान के पदचिह्न को ढँकने के लिये उसे सुवर्णपट्ट से भूषित किया, तब से पट्टबद्ध राजाओं के राज का आरम्भ हुआ माना जाता है। उससे पहले मुकुटबद्ध राजा होते थे।[5]

युवराज और उसका उत्तराधिकार

राजा का पद साधारणतया वंश-परम्परागत माना गया है। यदि राजपुत्र अपने पिता का इकलौता बेटा होता तो राजा की मृत्यु के पश्चात् प्रायः वही राजसिंहासन का अधिकारी होता। लेकिन यदि उसके कोई सगा या सौतेला भाई होता तो उनमें परस्पर ईर्ष्या-द्वेष होने लगता और राजा की मृत्यु के पश्चात् यह द्वेष भ्रातृघातक युद्धों में परिणत हो जाता। साधारणतया यदि कोई अनहोनी घटना न घटती

---

१. व्यवहारभाष्य १, पृ० १२८-अ आदि।

२. औपपातिक सूत्र ६, पृ० २०।

३. बृहत्कल्पसूत्र १.३७; निशीथसूत्र ११-७१ का भाष्य।

४. निशीथचूर्णी, पृ० ५२।

५. वही १०.३१८५ चूर्णी, पृ० १४७।

तो पिता की मृत्यु के बाद ज्येष्ठ राजपुत्र ही राजपद को शोभित करता और उसके कनिष्ठ भ्राता को युवराज[1] पद मिलता।

जैन आगमों में सापेक्ष और निरपेक्ष नामक दो प्रकार के राजा बताये गये हैं। सापेक्ष राजा अपने जीवनकाल में ही अपने पुत्र को युवराज पद दे देता जिससे राज्य की गृहयुद्ध आदि संकटों से रक्षा हो जाती। निरपेक्ष राजा के सम्बन्ध में यह बात नहीं थी। उसकी मृत्यु के बाद ही उसके पुत्र को राजा बनाया जाता।[2]

यदि राजा के एक से अधिक पुत्र होते तो उनकी परीक्षा की जाती, और जो राजपुत्र परीक्षा में सफल होता, उसे युवराज बनाया जाता। किसी राजा ने अपने तीन पुत्रों की परीक्षा के लिए उनके सामने खीर की थालियां परोसकर रक्खीं और जंजीर में बंधे हुए भयंकर कुत्तों को उन पर छोड़ दिया। पहला राजकुमार कुत्तों को देखते ही खीर की थाली छोड़कर भाग गया। दूसरा उन्हें लकड़ी से मार-मारकर स्वयं खीर खाता रहा। तीसरा स्वयं भी खीर खाता रहा और कुत्तों को भी उसने खिलाई। राजा तीसरे राजकुमार से अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने उसे युवराज बना दिया।[3]

कभी राजा की मृत्यु हो जाने पर जिस राजपुत्र को राजसिंहासन पर बैठने का अधिकार मिलता, वह दीक्षा ग्रहण कर लेता, और इस हालत में उसके कनिष्ठ भ्राता को राजा के पद पर बैठाया जाता। कभी दीक्षित राजपुत्र संयम धारण करने में अपने आपको असमर्थ पा, दीक्षा त्यागकर वापिस लौट आता, और उसका कनिष्ठ भ्राता उसे अपने आसन पर बैठा, स्वयं उसका स्थान ग्रहण करता। साकेत नगरी में कुंडरीक और पुण्डरीक नाम के दो राजकुमार रहा करते थे। कुंडरीक ज्येष्ठ था और पुंडरीक कनिष्ठ। कुंडरीक ने श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली, लेकिन कुछ समय बाद संयम पालन में असमर्थ हो,

---

१. अभिषेक होने के पूर्व की अवस्था को यौवराज्य कहा है—दोच्चं जुवरायाणं णाभिसिंचति ताव जुवरज्जं भण्णति, निशीथचूर्णी ११.३३६३ की चूर्णी।

२. व्यवहारभाष्य २.३२७।

३. वही ४.२०८ आदि; तथा ४.२६७; तुलना कीजिये पादंजलि जातक (२४७) के साथ।

४. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २४६।

दीक्षा छोड़ वह वापिस लौट आया। यह देखकर उसका कनिष्ठ भ्राता उसे अपने पद पर बैठा, स्वयं श्रमणधर्म में दीक्षित हो गया।[1] कभी राजा युवराज का राज्याभिषेक करने के पश्चात् स्वयं संसार-त्याग करने की इच्छा व्यक्त करता, लेकिन युवराज राजा बनने से इन्कार कर देता और वह भी अपने पिता के साथ दीक्षा ग्रहण कर लेता। पृष्ठ-चम्पा में शाल नाम का राजा राज्य करता था, उसका पुत्र महाशाल युवराज था। जब शाल ने अपने पुत्र को राजसिंहासन पर बैठाकर स्वयं दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की तो महाशाल ने राजपद अस्वीकार कर दिया और अपने पिता के साथ वह भी दीक्षित हो गया।[2]

यदि राजा और युवराज दोनों ही राजपाट छोड़कर दीक्षा ग्रहण कर लेते और उनकी कोई बहन होती और उसका पुत्र इस योग्य होता तो उसे राजा के पद पर अभिषिक्त किया जाता। उपर्युक्त कथा में शाल और महाशाल के दीक्षा ग्रहण कर लेने पर, उनकी बहन के पुत्र गग्गलि को राजसिंहासन पर बैठाया गया।[3] सोलह जनपदों, तीन सौ तिरसठ नगरों और दस मुकुटबद्ध राजाओं के स्वामी वीतिभय के राजा उद्रायण ने अपने पुत्र के होते हुए भी केशी नाम के अपने भानजे को राजपद सौंपकर महावीर के पादमूल में जैन दीक्षा स्वीकार की।[4]

राज्य-शासन की व्यवस्थापिका स्त्रियों के उल्लेख, एकाध को छोड़कर, प्रायः नहीं मिलते। महानिशीथ (पृ० ३०) में किसी राजा की एक विधवा कन्या की कथा आती है, जो अपने परिवार की कलंक से रक्षा करने के लिए सती होना चाहती थी। लेकिन राजकुल में सती होने की प्रथा नहीं थी, इसलिए राजा ने उसे रोक दिया। इसके बाद राजा की मृत्यु हो जाने पर जब कोई उत्तराधिकारी न मिला तो उस विधवा कन्या को राजपद (इत्थिनरिंद) दिया गया।[5]

---

१. ज्ञातृधर्मकथा १६।

२. उत्तराध्ययनटीका १०, पृ० १५३-अ।

३. वही।

४. व्याख्याप्रज्ञप्ति १३.६।

५. कंडिन जातक (१३, पृ० २०२) में कहा है कि वह देश निन्दनीय है जहाँ स्त्रियाँ न्यायाधीश हैं, और जहाँ उनकी शासन-व्यवस्था चलती है। इसी तरह से वे पुरुष भी निन्दा के योग्य हैं जो स्त्रियों के वशीभूत रहकर कार्य

राजा और राजपुत्रों के सम्बन्ध

राजपुत्रों के उत्तराधिकार प्राप्त करने की लोलुपता के कारण, राजा उनसे शंकित और भयभीत[१] रहता, तथा उन पर कठोर नियंत्रण रखता। फिर भी महत्वाकांक्षी राजपुत्र मौका लगने पर अपने कुचक्रों में सफल हो ही जाते। मथुरा का नंदिवर्धन नाम का राजकुमार अपने पिता की हत्या कर राजसिंहासन को हथियाना चाहता था। उसने एक नाई को रिश्वत देकर क्षौरकर्म करते समय राजा की हत्या कर देने का षड्यंत्र रचा, लेकिन डर के मारे नाई ने सब भेद खोल दिया। राजा ने फौरन ही नंदिवर्धन को फांसी पर चढ़ाने का हुक्म दिया।[२] कितनी ही बार राजपुत्र अपनी कारस्तानी में सफल हो जाते और राजा का वध कर स्वयं सिंहासन पर बैठ राज करने लगते। राजगृह के राजा कूणिक ने अपने सौतेले भाइयों की सहायता पाकर अपने पिता श्रेणिक (बिम्बसार) को पकड़वा, बेड़ी में बांध जेल में डलवा दिया, और अपने-आप राजसिंहासन पर बैठ गया। तत्पश्चात् अपनी माता के कहने-सुनने पर वह परशु लेकर राजा की बेड़ियां काटने चला, लेकिन राजा ने समझा कि कूणिक उसे मारने आ रहा है, इसलिए कूणिक के आने के पहले ही तालपुट विष खाकर उसने अपना प्राणान्त कर लिया।[३] किसी राजपुत्र द्वारा, एक गड़रिए की सहायता से, राजपद पर आसीन अपने ज्येष्ठ भ्राता की आँखें फुड़वाकर स्वयं राजगद्दी पर बैठने का उल्लेख उत्तराध्ययन की टीका में मिलता है।[४]

करते हैं। लेकिन कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ स्त्रियों के राज्य का उल्लेख किया गया है। उदय जातक (४५८, पृ० ३०७) के अनुसार राजा उदय की मृत्यु हो जाने पर, उसकी विधवा रानी ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ली।

१. कौटिल्य के अर्थशास्त्र (१.१७.१३.१) में राजा को अपनी रानियों और पुत्रों से सदा सावधान रहने के लिए कहा है।

२. विपाकसूत्र ६, पृ० ३९।

३. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १७१। बौद्ध परम्परा के अनुसार अजातशत्रु ने बिम्बसार को कैद करके तापनगेह में रक्खा था, देखिए दीघनिकाय टीका १, पृ० १३५ इत्यादि।

४. १३, पृ० १८७।

इन्हीं सब कारणों से कौटिल्य का विधान है कि राजा को केकड़े के समान अपने पुत्रों से सदा सावधान रहना चाहिए, और उच्छृङ्खल राजकुमारों को किसी निश्चित स्थान अथवा दुर्ग आदि में बन्द करके रखना चाहिए।[1] ऐसी दशा में राजकुमार राजा के भय से पहले से ही किसी सुरक्षित स्थान में जाकर रहने लगते। राजा श्रेणिक अपने पिता के डर से वेन्यातट के किसी व्यापारी के घर जाकर रहने लगा था।[2] उज्जैनी का राजपुत्र मूलदेव समस्त कलाओं में निष्णात था; वह उदारचित्त, शूरवीर और गुणानुरागी था, लेकिन जूआ खेलने का उसे व्यसन था। राजा को उसकी यह आदत पसन्द न थी। इसलिए उसने मूलदेव को अपमानित करके घर से निकाल दिया।[3] शंखपुर के राजकुमार अगड़दत्त को भी राजा ने उसके दुर्व्यसनों के कारण देश-निकाला दे दिया था।[4]

उत्तराधिकार का प्रश्न

उत्तराधिकार का प्रश्न बड़ा जटिल और गम्भीर था। यथासंभव राजा के पुत्र को ही राजगद्दी का उत्तराधिकारी बनाया जाता। लेकिन दुर्भाग्य से यदि पुत्रविहीन राजा की मृत्यु हो जाय तो क्या किया जाये? ऐसी दशा में कोई उपायान्तर न होने पर मन्त्रियों की सलाह से, धर्मश्रवण आदि के बहाने साधुओं को राजप्रासाद में आमन्त्रित कर, उनके द्वारा सन्तानोत्पत्ति करायी जाती।[5]

उत्तराधिकारी खोज निकालने के लिए यथासम्भव सभी प्रकार के उपाय काम में लिए जाते। इस सम्बन्ध में बृहत्कल्पभाष्य में एक मनोरंजक कथा आती है। किसी राजा के तीन पुत्र थे। तीनों ही ने

---

१. अर्थशास्त्र १.१७.१३।

२. आवश्यकचूर्णी, पृ० ५४६।

३. उत्तराध्ययनटीका ३. पृ० ५६ इत्यादि। सुच्चज जातक (३२०, पृ० २३४-३५) में राजा अपने पुत्र से शंकित होने के कारण उसे बनारस छोड़ कर अन्यत्र जाकर रहने की आज्ञा देता है। राजकुमार आज्ञा का पालन करता है।

४. उत्तराध्ययनटीका ४, पृ० ८३-अ इत्यादि।

५. बृहत्कल्पभाष्य ४.४९५८। तुलना कीजिए कुस जातक (५३१) के साथ।

दीक्षा ग्रहण कर ली। संयोगवश कुछ समय बाद राजा की मृत्यु हो गयी। मन्त्रियों ने राजलक्षणों से युक्त किसी पुरुष की खोज करना आरम्भ किया, लेकिन सफलता न मिली। इतने में पता चला कि उक्त तीनों राजकुमार मुनिवेष में विहार करते हुए नगर के उद्यान में ठहरे हुए हैं। मन्त्रीगण छत्र, चमर और खड्ग आदि उपकरणों के साथ उद्यान में पहुँचे। राजपद स्वीकार करने के लिए तीनों से निवेदन किया गया। पहले ने दीक्षा त्याग कर संसार में पुनः प्रवेश करने से मना कर दिया, दूसरे को आचार्य ने साध्वियों के किसी उपाश्रय में छिपा दिया। लेकिन तीसरे ने संयम के पालन करने में असमर्थता व्यक्त की। मन्त्रियों ने उसे नगर में ले जाकर उसका राज-तिलक कर दिया।[1]

उत्तराधिकारी चुनने का एक और भी तरीका था। नगर में एक दिव्य घोड़ा घुमाया जाता और यह घोड़ा जिसके पास जाकर ठहर जाता उसे राजपद पर अभिषिक्त कर दिया जाता। पुत्रविहीन बेन्यातट के राजा की मृत्यु होने पर उसके मन्त्रियों को चिन्ता हुई। वे हाथी, घोड़ा, कलश, चमर और दण्ड इन पाँच दिव्य पदार्थों को लेकर किसी योग्य पुरुष की खोज में निकले। कुछ दूर जाने पर उन्होंने देखा कि मूलदेव एक वृक्ष की शाखा के नीचे बैठा हुआ है। उसे देखते ही हाथी[2] ने चिंघाड़ मारी, घोड़ा हिनहिनाने लगा, कलश जल के द्वारा उसका अभिषेक करने लगा, चमर उसके सिर पर डोलने लगा और दण्ड उसके पास जाकर ठहर गया। यह देखकर राजकर्मचारी जय-जयकार करने लगे। मूलदेव को हाथी पर बैठाकर धूमधाम से नगर में लाया गया तथा मन्त्रियों और सामन्त राजाओं ने उसे राजा घोषित किया।[3] राजकुमार करकण्डु के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की

---

१. बृहत्कल्पभाष्य ३.३७६०–७१; तथा व्यवहारभाष्य ३.१६२, पृ० ४०।

२. कथाकोश (टौनी का अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ४ का नोट) में जल का कलश लिए हाथी सात दिन तक इधर-उधर घूमता-फिरता है, उसके बाद वह जिस पुरुष के सामने जाकर खड़ा हो जाता है, उसे राजा बना दिया जाता है।

३. उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० ६३–अ। औपपातिक सूत्र २, पृ० ४४ में खड्ग, छत्र, उप्फेस (मुकुट), वाहण (पादुका) और वालव्यजन, ये पाँच दिव्य पदार्थ बताये गये हैं। जातक के अन्तर्गत अविदूरेनिदान में खड्ग, छत्र, पगड़ी, पादुका तथा व्यजन इन पाँच ककुधभाण्डों का उल्लेख है, जातक प्रथम-खण्ड, पृ० ६६।

कथा है। घोड़ा राजकुमार की प्रदक्षिणा करने के बाद उसके सामने आकर खड़ा हो गया। तत्पश्चात् नागरिकों ने उसके शरीर पर राज-लक्षणों को देख जय-जयकार किया, फिर नन्दिघोष सुनाई देने लगा। घोष सुनकर करकण्डु नींद से उठ बैठा। गाजे-बाजे के साथ उसने नगर में प्रवेश किया और उसे कांचनपुर का राजा घोषित कर दिया गया।[1] इसी तरह नापित-दास नन्द की ओर घोड़ा पीठ करके खड़ा हो गया और उसे पाटलिपुत्र का राजा बना दिया गया।[2] चोरी के अपराध में मूलदेव को गिरफ्तार कर उसे फांसी पर चढ़ाने के लिए ले जा रहे थे। इसी समय कोई पुत्रहीन राजा मर गया। रिवाज के अनुसार घोड़े को नगर में छोड़ा गया, घोड़ा मूलदेव की ओर पीठ करके खड़ा हो गया और मूलदेव को फांसी पर न चढ़ाकर उसे राजगद्दी पर बैठा दिया गया।[3]

राज्याभिषेक समारोह

अभिषेक-समारोह बहुत धूमधाम से किया जाता था। जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति में भरत चक्रवर्ती के अभिषेक का विस्तृत वर्णन किया गया है। अनेक राजा-महाराजा, सेनापति, पुरोहित, अठारह श्रेणी-प्रश्रेणी और वणिक् आदि से परिवृत जब भरत ने अभिषेक-भवन में प्रवेश किया तो सबने सुगंधित जल से उनका अभिषेक किया और जय-जयकार की घोषणा सर्वत्र सुनायी देने लगी। उपस्थित जनसमूह की ओर से उन्हें राजमुकुट पहनाया गया, रोंयेदार, कोमल और सुगंधित तौलियों से उनका शरीर पोंछा गया, मालाएं पहनायीं गयीं और विविध आभूषणों

---

१. उत्तराध्ययनटीका ९, पृ० १३४।

२. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १८०।

३. व्यवहारभाष्य ४, १६८–१६९, पृ० ३२। दरीमुह जातक (३७८, पृ० २६८) में इसे फुस्सरथ समारोह कहा गया है। राजा की मृत्यु होने के सात दिन बाद, यदि वह सन्तानविहीन हो, तो पुरोहित चतुरंगिणी सेना लेकर बाजे-गाजे के साथ फुस्सरथ को नगर में घुमाता है। जिस किसी के पास पहुँच कर रथ ठहर जाये, उसे राजा बना दिया जाता है। तथा देखिये महाजनक जातक (५३९, पृ० ३९); कथासरित्सागर, भाग ५, अध्याय ६५, पृ० १७५–७७, 'पंच दिव्याधिवास' नोट; जर्नल ऑव ओरिंटिएल सोसायटी, जिल्द ३३, पृ० १५८–६६।

से उन्हें सजाया गया। इस मंगल अवसर पर नागरिकों का कर माफ कर दिया गया और बड़ी धूमधाम से बहुत दिनों तक नगर-भर में उत्सव मनाया जाता रहा।[1] राजा भरत को मूर्धाभिषिक्त कहा गया है।[2] सनत्कुमार चक्रवर्ती के राज्याभिषेक के अवसर पर उन्हें हार, वनमाल, छत्र, मुकुट, चामरयुग्म, दूष्ययुग्म, कुण्डलयुगम, सिंहासन, पादुकायुग्म और पादपीठ भेंट किये गये।[3] ज्ञातृधर्मकथा में मेघकुमार के अभिषेक का सरस वर्णन है। मेघकुमार ने संसार से वैराग्य धारण कर दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया था, लेकिन अपने माता-पिता की आज्ञा से केवल एक दिन के लिए राज-सम्पदा का उपभोग करने के लिए वे राजी हुए। अनेक गणनायक, दण्डनायक आदि से परिवृत हो, उन्हें सोने, चांदी, मणि-मुक्ता आदि के आठ-आठ सौ कलशों के सुगंधित जल से स्नान कराया गया। मृत्तिका, पुष्प, गंध, माल्य, औषधि और सरसों आदि उनके मस्तक पर फेंकी गयी, तथा दुंदुभि बाजों और जय-जयकार का घोष सुनाई देने लगा।[4] राज्याभिषेक हो जाने पर समस्त प्रजा राजा को बधाई देने आती, तथा साधु-सन्त दर्शन के लिये उपस्थित होते।[5] चंपा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ती, साकेत, कांपिल्य, कौशांबी, मिथिला, हस्तिनापुर और राजगृह—इन दस नागरियों को अभिषेक-राजधानी कहा गया है।[6]

राजभवन : राजप्रासाद

राजा राजभवनों या प्रासादों में निवास करते थे। देवों के निवास-स्थान को प्रासाद और राजाओं के निवास-स्थान को भवन कहा है।[7] प्रासाद ऊंचे होते हैं; उनकी ऊंचाई, चौड़ाई की अपेक्षा

---

१. ३.६८, पृ० २६७-अ-२७०; आवश्यकचूर्णी, पृ० २०५।

२. निशीथभाष्य ९.२४९८।

३. उत्तराध्ययनटीका ८, पृ० २४०।

४. १, पृ० २८ इत्यादि। तथा देखिए महाभारत (शान्तिपर्व ३९); रामायण (२. ३; ६; १४, १५; ४. २६, २० इत्यादि); अयोघर जातक (५१० पृ० ८१-८२)।

५. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २४८-अ।

६. निशीथसूत्र ९.१९।

७. अभयदेव, व्याख्याप्रज्ञप्तिटीका ५. ७, पृ० २२८ (बेचरदास, अनुवाद)।

दुगुनी, और भवन की ऊंचाई चौड़ाई की अपेक्षा कम होती है। भवन ईंट के बने होते हैं।[1] प्राचीन सूत्रों में आठ तलवाले प्रासादों का उल्लेख है; ये प्रासाद सुन्दर शिखरों से युक्त तथा ध्वजा, पताका, छत्र और मालाओं से सुशोभित रहते और इनके फर्शों में भांति-भांति के मणि-मुक्ता जड़े रहते।[3] विविध प्रकार के नृत्य और गान यहां होते रहते और वादित्रों की मधुर ध्वनि गूंजती रहती। चम्पा नगरी अपने धवल और श्रेष्ठ भवनों के कारण विख्यात थी।[4] शीतगृह शीतकाल में उष्ण और उष्णकाल में शीत रहते थे।[5] चक्रवर्ती, वासुदेव, मांडलिक राजा तथा साधारण जनों के लिए अलग-अलग प्रकार के भवन बनाये जाते थे।[6] निशीथचूर्णी में एक खंभेवाले प्रासाद का उल्लेख है। इस प्रासाद के निर्माण के लिये राजा श्रेणिक ने बढ़ई बुलवाये। लकड़ी काटने वालों ने जंगल की ओर प्रस्थान किया। लक्षणों से युक्त एक महावृक्ष पर उनकी नज़र पड़ी। उन्होंने उसे धूप दी और तत्पश्चात् घोषणा की यदि यह वृक्ष किसी भूत आदि से परिग्रहीत हो तो दर्शन दे। भूत ने रात्रि के समय अभयकुमार को दर्शन दिये। अभयकुमार ने रक्षकों को नियुक्त कर दिया जिससे उस वृक्ष को कोई न काट सके।[7]

राजा का अन्तःपुर

राजप्रासाद में अन्तःपुर (ओरोह = अवरोध) का स्थान महत्त्वपूर्ण था। देश की आन्तरिक और बाह्य राजनीतिक उथल-पुथल में अन्तःपुर

---

१. अभिधानराजेन्द्र कोष में 'पासाय' शब्द।

२. राजप्रश्नीय, पृ० ३२८।

३. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० २२; उत्तराध्ययनसूत्र १९.४; उत्तराध्ययन-टीका १३, पृ० १८९ में सप्तभूमिक प्रासाद का उल्लेख है। जातकों में वर्णित विषय के लिए देखिए रतिलाल मेहता की प्री-बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १०७ इत्यादि।

४. औपपातिकसूत्र १।

५. बृहत्कल्पभाष्य १. २७१६।

६. चक्रवर्तियों के १०८, वासुदेवों के ६४, मांडलिकों के ३२ और साधारण-जनों के १२ हाथ ऊँचे भवन होते थे, व्यवहारभाष्य ६.६, गाथा ४६।

७. निशीथचूर्णी पीठिका, पृ० ६।

का विशेष हाथ रहा करता। अन्तःपुर अनेक प्रकार के होते थे। जीर्ण-अन्तःपुर में, जिनका यौवन ढल गया है, ऐसी अपरिभोग्य स्त्रियां रहती थीं, नव-अन्तःपुर यौवनवती परिभोग्य स्त्रियों का निवास-स्थान था, तथा कन्या-अन्तःपुर में यौवन को अप्राप्त कन्याएं रहती थीं।[1] राजा के अन्तःपुर में एक से एक बढ़कर सैकड़ों स्त्रियां निवास करती थीं और राजा उनके पास क्रम से जाता[2] था। अन्तःपुर को अधिकाधिक समृद्ध और आधुनिक बनाने के लिए राजा सदा यत्नशील रहता, और बिना किसी जातीय भेदभाव के सुन्दर कन्याओं और स्त्रियों से उसे सम्पन्न करता रहता। कहते हैं भरत चक्रवर्ती का अन्तःपुर ६४ हजार स्त्रियों से शोभित था।[3] कांचनपुर के राजा विक्रमयश के अन्तःपुर में ५०० रानियां थीं। उसी नगर में नागदत्त नाम का एक सार्थवाह रहा करता था। राजा उसकी रूपवती पत्नी को देखकर मुग्ध हो गया और उसे अपने अन्तःपुर में रख लिया। नागदत्त ने राजा से बहुत प्रार्थना की कि वह उसकी पत्नी लौटा दे, लेकिन राजा ने एक न सुनी। अन्त में शोक से पागल होकर नागदत्त ने प्राण त्याग दिये।[4] अवरकंका के राजा पद्मनाभ का अन्तःपुर ७०० सुन्दर महिषियों से शोभित था। उसे इस बात का गर्व था कि उसके अन्तःपुर से बढ़कर और कोई अन्तःपुर नहीं है। एक दिन घूमते-घामते नारदजी (कच्छुल्ल नारद) वहाँ आ पहुँचे। राजा ने पूछा—"महाराज! क्या आपने मेरे अन्तःपुर जैसा अन्तःपुर और कहीं देखा है?" नारद ने हंसकर उत्तर दिया—"तुम कूपमण्डूक हो; राजा द्रुपद की कन्या द्रौपदी

---

१. निशीथचूर्णी ६. २५१३ की चूर्णी।

२. उत्तराध्ययनटीका ६, पृ० १४२।

३. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २३२-अ। बंधनमोक्ख जातक (१२०, पृ० ४०) में अन्तःपुर में १६,००० नर्तकियों का उल्लेख है। तथा देखिए अर्थशास्त्र १.२०.१७; रामायण २.१०.१२ इत्यादि; ४.३३.१६ इत्यादि।

४. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २३६। तथा देखिये दशवैकालिकचूर्णी ३, पृ० १०५। मणिचोर जातक (१९४) में एक राजा की कहानी है जो बोधिसत्व की पत्नी को देखकर उस पर आसक्त हो गया। राजा ने किसी आदमी को भेजकर बोधिसत्व की गाड़ी में चुपके से एक मणि रखवा दी। फिर राजपुरुषों ने उसे चोर घोषित कर शूली पर चढ़वा दिया; तथा धम्मपद-अट्ठकथा २.२ इत्यादि।

के पैर के अंगूठे के बराबर भी तुम्हारा अन्तःपुर नहीं।" यह सुनकर राजा सोच विचार में पड़ गया, और किसी विद्या के बल से सोती हुई द्रौपदी का अपहरण कर उसे अपने यहां मंगवा लिया[1]। कालकाचार्य की रूपवती साध्वी भगिनी सरस्वती की कथा जैन साहित्य में सुप्रसिद्ध है। उज्जैनी के राजा गर्दभिल्ल ने उसके सुन्दर रूप पर मोहित हो उसे अपने अन्तःपुर में रख लिया था। कालकाचार्य के बहुत कहने-सुनने पर भी जब गर्दभिल्ल ने सरस्वती को नहीं लौटाया तो पारसकूल (पर्शिया) के ९६ शाहों की सहायता से उसने गर्दभिल्ल को पराजित कर, सरस्वती को पुनः श्रमणधर्म में दीक्षित किया।[2]

एक बार कृष्ण वासुदेव गजसुकुमार के साथ हाथी पर सवार हो नेमिनाथ की वन्दना के लिए जा रहे थे। उन्होंने सोमिल ब्राह्मण की रूपवती कन्या को राजमार्ग पर गेंद खेलते हुए देखा। उसके रूप-सौंदर्य से विस्मित हो, कृष्ण वासुदेव ने गजसुकुमार के साथ उसका विवाह करने के लिए उसे अन्तःपुर में रखवा दिया।[3] हेमपुर नगर में हेमकूट नाम का राजा हेम नामक राजकुमार के साथ राज्य करता था। एक बार की बात है, इन्द्रमह के अवसर पर कुल-बालिकाएं दीप, धूप, पुष्प आदि ग्रहण कर इन्द्र की पूजा करने जा रही थीं। राजकुमार उन्हें देखकर मोहित हो गया और उसने उन सबको राजा के अन्तःपुर में रखवा दिया। नागरिकों को जब इस बात का पता चला तो वे राजा के पास पहुँचे और हाथ जोड़कर उन्होंने अपनी कन्याओं को वापिस लौटा देने की प्रार्थना की। लेकिन राजा ने यह कहकर उन्हें संतोष दिलाया कि क्या तुम लोग राजपुत्र को अपना जामाता नहीं बनाना चाहते।[4]

इन्द्रपुर के इन्द्रदत्त नाम के राजा के यद्यपि बाईस पुत्र थे, फिर भी उसने अमात्य की कन्या से सन्तान पैदा की, और यह बात अमात्य को भी ज्ञात थी।[5]

---

१. ज्ञातृधर्मकथा १६।
२. निशीथचूर्णी १०.२८६० की चूर्णी, पृ० ५९।
३. अन्तःकृद्दशा ३, पृ० १६ इत्यादि।
४. बृहत्कल्पभाष्य ४.५१५३.
५ आवश्यकचूर्णी, पृ० ४४८-४९।

अन्तःपुर के रक्षक

अन्तःपुर से सदा खतरा बना रहता, इसलिए राजा को बड़ी सावधानीपूर्वक उसकी रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहना पड़ता था। नपुंसक और वृद्ध पुरुष अन्तःपुर की रक्षा के लिए तैनात रहते।[1] वात्स्यायन के अनुसार सगे-सम्बन्धियों और नौकर-चाकरों के सिवाय, अन्य किसी व्यक्ति को अन्तःपुर में प्रवेश करने की अनुमति नहीं थी। पुष्प आदि देने के लिए ब्राह्मण अन्तःपुर में जाते थे, लेकिन पर्दे के भीतर से ही वे रानियों से बातचीत करते थे।[2]

जैन ग्रन्थों में नपुंसक को दीक्षा के अयोग्य बताया गया है। नपुंसकों का स्वभाव महिलाओं जैसा होता है, उनका स्वर और वर्ण भिन्न रहता है, लिंग उनका बड़ा, वाणी कोमल, तथा मूत्र सशब्द और फेनरहित होता है। चाल उनकी स्त्रियों जैसी होती है, त्वचा कोमल और शरीर छूने में शीतल लगता है।[3] नपुंसक बनाने की विधियों का उल्लेख भी मिलता है। बालक के पैदा होते ही अंगूठे, प्रदेशिनी और बीच की उंगली से उसके दोनों अण्डकोषों को मलकर तथा औषधि आदि के प्रयोग से उसे नपुंसक बनाया जाता, और नपुंसक कर्म की शिक्षा दी जाती।[4] इसे वर्षधर कहा गया है।

कंचुकी को राजा के महल में आने-जाने की छूट थी। वह विनीत वेष धारण करता, तथा राजा की आज्ञापूर्वक अन्तःपुर की रानियों के पास राजा का संदेश लेकर, और रानियों का संदेश राजा के पास

---

१. कौटिल्य ने वृद्धा स्त्रियों और नपुंसकों से अन्तःपुर की रक्षा करने का विधान किया है, अर्थशास्त्र १.२१.१७.२१।

२. चकलदार, स्टडीज इन द कामसूत्र, पृ० १७६।

३. बृहत्कल्पसूत्र ४.४; भाष्य ४.५१४४। यहाँ चौदह प्रकार के नपुंसकों का उल्लेख है—पण्डक, वातिक, क्लीब, कुम्भी, ईर्ष्यालु, शकुनी, तत्कर्मसेवी, पाक्षिकापाक्षिक, सौगन्धिक, आसिक्त; तथा देखिए वही ५१६६; निशीथभाष्य ११.३५६७ इत्यादि; तथा नारद १२.११ इत्यादि; कथासरित्सागर, जिल्द ८, परिशिष्ट 'इण्डियन यूनक्स', पृ० ३१६-३२६।

४. बृहत्कल्पभाष्य ४.५१६६–६७ वृत्ति; विपाकसूत्र २, पृ० १६; निशीथ-भाष्य ११.३६००।

लेकर जाता।[1] महत्तर अन्तःपुर का एक अन्य अधिकारी था। रानियों को राजा के पास लाना, ऋतु-स्नान के पश्चात् उन्हें कहानी सुनाना, उनके कोप को शान्त करना तथा कोप का कारण ज्ञात होने पर राजा से निवेदन करना—यह उसका मुख्य कार्य था। दण्डधर हाथ में दण्ड धारण कर अन्तःपुर का पहरा देते रहते,[3] दण्डारक्षिक राजा की आज्ञा से किसी स्त्री अथवा पुरुष को अन्तःपुर में ले जाते,[4] तथा दौवारिक द्वार पर बैठकर अन्तःपुर की रक्षा करते।[5]

इतनी सावधानी रखते हुए भी, अन्तःपुर की रानियाँ किसी अन्य व्यक्ति के साथ सम्प्रलग्न होकर अनैतिक आचरण करती हुई पाई जातीं,[6] जिसका परिणाम अनर्थकारी होता। सतत आवागमन के कारण राजा के मन्त्री[7] और पुरोहित का अन्तःपुर की रानियों से

---

१. निशीथचूर्णी ६. २५१५-१६, पृ० ४५२। वाचस्पति ने अपने कोष में कंचुकी के लक्षण बताते हुए कहा है—

अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः।
सर्वकार्यार्थकुशलो कंचुकीत्यभिधीयते॥

२. निशीथचूर्णी ६, पृ० ४५२। वात्स्यायन ने कंचुकी और महत्तर का उल्लेख किया है।

३. अभिधानराजेन्द्रकोष में देखिए 'दण्डधर' शब्द।

४. वही, देखिए 'दण्डारक्खिय' शब्द।

५. औपपातिकसूत्र ६, पृ० २५। मातंग जातक (नं० ४९७, पृ० ५६०) में दौवारिक के सम्बन्ध में कहा है कि वह चांडालों या महल के अन्दर झांककर देखने वाले बदमाश लोगों को किसी लकड़ी या बांस से फटकारता, उनकी गर्दन पकड़ लेता और उन्हें जमीन पर पटक देता।

६. तुलना कीजिए—अहो असूर्यंपश्यानामपि यद्राजयोषिताम्।
शीलभंगो भवत्येवमन्यनारीषु का कथा॥
—शृङ्गारमंजरी ५६१, पृ० ६६।

७. सेयविया के राजा प्रदेशी का कथन था कि यदि कोई उसकी रानी से विषयभोग करे तो उसके हाथ-पैर काटकर उसे शूलों पर चढ़ा दिया जायेगा, राजप्रश्नीयसूत्र भाग २, पएसिकहाणय ४०। घत जातक (३५५, पृ० ३३०) में एक मन्त्री की कथा दी है जिसे राजा के अन्तःपुर को दूषित करने के कारण नगर से निकाल दिया गया था। वह कोशल देश में पहुँचकर कोशल के राजा का मन्त्री बन गया, और कोशल के राजा को उकसाकर, उसने अपने पहले राजा के ऊपर चढ़ाई करवा दी। तथा देखिए महासीलव जातक (५१)।

सम्बन्ध हो जाता, तथा नौकरों-चाकरों को घूस देकर व्यापारी लोग अन्तःपुर में घुस जाते। कौशांबी के राजा उदयन के पुरोहित बृहस्पतिदत्त का अन्तःपुर की रानी पद्मावती के साथ सम्बन्ध हो गया। एक दिन राजा ने दोनों को देख लिया, और उसने फौरन ही बृहस्पतिदत्त को फांसी का हुकुम सुना दिया।[1] श्रीनिलयनगर में गुणचन्द्र नामक राजा राज्य करता था। किसी वणिक् ने उसके अन्तःपुर की रानियों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लिया। पता लगने पर राजा ने वणिक् को नगर के चौराहे पर खड़ा करके फांसी दिलवा दी।[2] किसी कुलपुत्र के अन्तःपुर में अनाचार करने के कारण, उसका अन्तःपुर में प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया।[3]

राजा श्रेणिक चेटक की पुत्री सुज्येष्ठा को प्राप्त करने में असफल रहा तो उसने अपने मंत्री अभयकुमार को वैशाली रवाना किया। अभयकुमार ने वणिक् का वेष धारण किया, तथा अपना स्वर और वर्ण बदलकर वह राजा के कन्या-अन्तःपुर के पास एक दुकान लेकर रहने लगा। दान, मान आदि द्वारा अन्तःपुर की दासियों को उसने अपने वश में कर लिया। फिर एक दिन चुपके से उसने श्रेणिक के चित्रपट को अन्तःपुर में भिजवा दिया जिसे देखकर सुज्येष्ठा और चेल्लणा दोनों बहनें श्रेणिक पर मुग्ध हो गयीं। तत्पश्चात् अभयकुमार ने अन्तःपुर तक एक सुरंग खुदवाई और चेल्लणा को प्राप्त करने में वह सफल हुआ।[4]

बृहत्कल्पभाष्य में उल्लेख है कि अन्तःपुर की कन्याएं वातायन में बैठकर विटपुत्रों के साथ वार्तालाप किया करती थीं। उनपर कोई अंकुश न रहने के कारण वे उनके साथ चली जातीं।[5] बन्दर आदि कंदर्पबहुल मायावी पशु-पक्षियों का प्रवेश भी अन्तःपुर में निषिद्ध था, इससे भी यही सिद्ध होता है कि अन्तःपुर की रक्षा के लिए राजा को अत्यन्त सावधानी रखनी पड़ती थी।[6]

---

१. विपाकसूत्र ५, पृ० ३४-३५।
२. पिण्डनिर्युक्ति १२७ टीका।
३. निशीथभाष्य ५. २१५२ की चूर्णी।
४. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १६५ इत्यादि।
५. १.६६१ इत्यादि।
६. वही ५.५६२३।

सौतिया डाह

सौतें अपनी डाह के कारण सदा से प्रसिद्ध रही हैं। अन्तःपुर की सपत्नियों में लड़ाई-झगड़े प्रायः होते रहते जिनका परिणाम अत्यन्त भयंकर होता। कोई अरुचिकर बात होने पर रानियाँ कोपगृह में जाकर बैठ जातीं।[1] सुप्रतिष्ठ नगर के राजा सिंहसेन के अन्तःपुर में एक-से-एक बढ़कर रानियाँ थीं, लेकिन राजा को श्यामा सबसे अधिक प्रिय थी। यह देख कर शेष रानियों को बड़ी डाह होती। अपनी माताओं की सलाह से वे विष, शस्त्र आदि द्वारा श्यामा की हत्या का षड्यंत्र रचने लगीं, लेकिन सफलता न मिली। यह खबर श्यामा के कानों तक पहुँची तो उसने राजा से कहकर एक कूटागारशाला बनवायी और उसमें अपनी सपत्नियों की माताओं को भोजन-पान के लिए निमंत्रित किया। आधी रात के समय कूटागारशाला में आकर जब वे आराम से सोई पड़ी थीं तो श्यामा ने आग लगवा दी, जिससे आग में जलकर उनकी मृत्यु हो गयी।[2] क्षितिप्रतिष्ठित नगर के राजा जितशत्रु के एक-से-एक सुन्दर अनेक रानियां थीं, फिर भी उसने चित्रकार की कन्या कनकमंजरी की बुद्धिमत्ता से प्रभावित हो उससे विवाह कर लिया। राजा बारी-बारी से अन्तःपुर की रानियों के साथ समय यापन किया करता था। कनकमंजरी को भी बारी आई। मनोरंजक आख्यान सुनाकर राजा को उसने इतना मुग्ध कर लिया कि वह छः महीने तक उसी के पास रहा। यह देखकर कनकमंजरी की सपत्नियों को बड़ी ईर्ष्या हुई; वे उसका छिद्रान्वेषण करने लगीं। एक दिन सबने मिलकर राजा से कनकमंजरी की शिकायत की कि महाराज, आपकी वह लाड़ली आपके ही विरुद्ध जादू-टोना कर रही है। पूछताछ करने पर यह बात झूठी सिद्ध हुई। उस दिन से राजा ने कनकमंजरी के मस्तक को पट्ट से विभूषित कर उसे पट्टरानी बना दिया।[3] उपासकदशा में राजगृह नगर के महाशतक गृहपति की रेवती आदि तेरह पत्नियों का उल्लेख मिलता है। रेवती अपने पति की सर्वप्रिय बनना चाहती थी, अतएव उसने विष आदि के प्रयोग से अपनी सपत्नियों को मरवा डाला।

---

१. आवश्यकचूर्णी पृ० २३०।

२. विपाकसूत्र ९, पृ० ५१-५२।

३. उत्तराध्ययनटीका ९, पृ० १४१-अ आदि।

४. ८, पृ० ६२।

सपत्नियां अपने सौतेले पुत्रों से ईर्ष्या करती थीं। राजकुमार गुणचन्द्र अपने पिता के मर जाने पर जब साकेत का राजा हो गया तो उसकी सौतेली मां उससे बहुत ईर्ष्या करने लगी। उसने गुणचन्द्र के खाने के लिए एक विपैला लड्डू भिजवाया। उस समय वहाँ गुणचन्द्र के दो सौतेले भाई भी मौजूद थे। उनके लड्डू माँगने पर गुणचन्द्र ने उन्हें आधा-आधा दे दिया। लड्डू खाते ही उनके सारे शरीर में विष फैल गया और उनकी मृत्यु हो गयी।[1] कुणाल जब आठ वर्ष से कुछ अधिक का हुआ तो सम्राट् अशोक ने उसे पाठशाला भेजने के लिए पत्र लिखा—शीघ्रं अधीयतां कुमारः (कुमार को शीघ्र ही विद्याध्ययन के लिए भेजा जाय)। लेकिन कुणाल की सौतेली माँ कुणाल से ईर्ष्या करती थी। उसने चुपचाप पत्र खोलकर 'अ' के ऊपर अनुस्वार लगा, उसे बन्द कर दिया। राजकर्मचारियों द्वारा पत्र खोला गया तो उसमें लिखा था—अंधीयतां कुमारः—अर्थात् कुमार को अंधा कर दिया जाये। मौर्यवंश की आज्ञा का पालन करना अनिवार्य था, इसलिए स्वयं कुणाल ने गर्म-गर्म शलाका से अपनी आँखें आँज लीं।[3]

कभी रानी भी राजा की अवगणना कर उससे ईर्ष्या करने लगती थी। सेतव्या का राजा प्रदेशी श्रमणोपासक बनकर जब राजकाज की ओर से उदास रहने लगा तो उसकी रानी सूर्यकान्ता ने विष-प्रयोग[4] से उसे मरवा डाला।[5]

---

१. आवश्यकचूर्णी, पृ० ४६२ इत्यादि।

२. राजकीय पत्रों के ऊपर मोहर (दण्डिका) लगायी जाती थी, देखिए, बृहत्कल्पभाष्य पीठिका १६५।

३. बृहत्कल्पभाष्य १.३२७५ वृत्ति।

४. विषयुक्त भोजन से अपनी रक्षा करने के लिए राजा भोजन को पहले अग्नि और पक्षियों को खिलाकर बाद में स्वयं खाता था, कौटिल्य, अर्थशास्त्र १.२१.१८.६।

५. राजप्रश्नीयसूत्र २०३ इत्यादि। कौटिल्य ने परम्परागत ऐसी अनेक स्त्रियों का नामोल्लेख किया है जिन्होंने अपने पतियों के विरुद्ध षड्यन्त्र रचकर उन्हें मरवा डाला। प्रायः शस्त्रधारी स्त्रियाँ राजप्रासाद की रक्षा के लिए तैनात रहती थीं और रानी की निर्दोषता से अच्छी तरह सन्तुष्ट हो जाने पर ही राजा प्रासाद में प्रवेश करता था। अतएव रानियों को मुंडों, जटी, वंचक पुरुष और

राजा के प्रधान पुरुष

जैन ग्रन्थों में राजा, युवराज, अमात्य, श्रेष्ठि और पुरोहित—ये पाँच प्रधान पुरुष बताये गये हैं। पहले कहा जा चुका है, राजा की मृत्यु के पश्चात् युवराज को राजपद पर अभिषिक्त किया जाता; वह राजा का भाई, पुत्र अथवा अन्य कोई सगा-सम्बन्धी होता। युवराज अणिमा, महिमा आदि आठ प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त होता, बहत्तर कलाओं, अठारह देशी भाषाओं, गीत, नृत्य तथा हस्तियुद्ध, अश्वयुद्ध, मुष्टियुद्ध, बाहुयुद्ध, लतायुद्ध, रथयुद्ध, धनुर्वेद आदि में वह निपुण होता।[1] समस्त आवश्यक कार्यों को करने के पश्चात् वह सभामण्डप में पहुँच राजकाज की देखभाल करता।[2] राजकुमार को युद्ध-नीति की आरम्भ से ही शिक्षा दी जाती, और यदि कोई पड़ोसी राजा उपद्रव करता तो उसे शान्त करना राजकुमार का कर्तव्य होता।[3]

राज्याधिष्ठान में अमात्य अथवा मन्त्री का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण था। वह अपने जनपद, नगर और राजा के सम्बन्ध में सदा चिन्तित रहता, तथा व्यवहार और नीति में निपुण होता।[4] राजा श्रेणिक का प्रधान मन्त्री अभयकुमार शाम, दाम, दण्ड और भेद में कुशल,

---

वश्याओं आदि के अवांछनीय सम्पर्क से मुक्त रखा जाता था, अर्थशास्त्र १.२०.१७।

१. औपपातिकसूत्र ४०, पृ० १८५ इत्यादि। हिन्दुओं के प्राचीन शास्त्रों में युवराज की गणना १८ तीर्थों में की गयी है। उसे राजा का दाहिना हाथ, दाहिनी आँख और दाहिना कान कहा गया है, वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार, हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टिट्यूशन्स, पृ० १०६ इत्यादि। तथा तुलना कीजिए कुरुधम्म जातक (२७६ पृ० ६६) के साथ। यहां पर युवराज सन्ध्या के समय राजा की सेवा में उपस्थित हो, प्रजा की शुभकामनाएं स्वीकार करता है।

२. आवस्सयाइं काउं सो पुव्वाइं तु निरवसेसाइं।
अत्थाणीमज्झगतो पेच्छइ कज्जाइं जुवराया॥—व्यवहारभाष्य १, पृ० १२६।

३. पच्चंते खुभंते दुद्दन्ते सव्वतो दवेमाणो।
संगामनीतिकुसलो कुमारो एयारिसो होई॥—वही, पृ० १३१—अ।

४. सजणवयं पुरवरं चिंततो अत्थइ नरवतिं च।
ववहारनीतिकुसलो, अमच्चो एयारिसो अहवा॥—वही। तथा देखिए कौटिल्य, अर्थशास्त्र १. ८-६. ४-५।

नीतिशास्त्र में पण्डित, गवेषणा आदि में चतुर, अर्थशास्त्र में विशारद तथा औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कार्मिक और पारिणामिकी नामक चार प्रकार की बुद्धियों में निष्णात था। राजा श्रेणिक उससे अपने अनेक कार्यों और गुप्त रहस्यों के बारे में मन्त्रणा किया करता था।[1] मन्त्री राजा को शिक्षा देता तथा खास परिस्थितियों में अयोग्य राजा को हटाकर उसके स्थान में दूसरे राजा को गद्दी पर बैठाता। वसन्तपुर का राजा जितशत्रु अपनी रानी सुकुमालिया के प्रेम में इतना पागल था कि जब राज-काज की ओर से वह उदासीन रहने लगा तो उसके मन्त्रियों ने उसे निर्वासित कर राजकुमार को सिंहासन पर बैठा दिया।[2]

केंद्रीय शासन की व्यवस्था में परिषदों का महत्वपूर्ण स्थान था। जैन आगमों में पाँच प्रकार की परिषदों का उल्लेख है। राजा जब यात्रा के लिए बाहर जाता और जब तक वापस लौट कर न आ जाता, तब तक राज-कर्मचारी उसकी सेवा में उपस्थित रहते। इस परिषद् को पूर्यंती परिषद् कहा गया है। छत्रवती परिषद् के सदस्य राजा के सिर पर छत्र धारण करते और राजा की बाह्य शाला तक वे प्रवेश कर सकते, उसके आगे नहीं। बुद्धि परिषद् के सदस्य लोक, वेद और शास्त्र के पण्डित होते, लोक-प्रचलित अनेक प्रवाद उनके पास लाये जाते, जिनकी वे छानबीन करते। चौथी परिषद् मन्त्री-परिषद् कही जाती थी। इस परिषद् के सदस्य कौटिल्य आदि राजशास्त्रों के पण्डित होते, और उनके पैतृक वंश का राजकुल से सम्बन्ध न होता। ये हित चाहने वाले, वयोवृद्ध तथा स्वतन्त्र विचारों के होते और राजा के साथ एकान्त में बैठकर मन्त्रणा करते। पाँचवीं परिषद् का नाम है राहस्यिकी परिषद्। यदि कभी रानी राजा से रूठ जाती, रजस्वला होने के बाद स्नान करती, या कोई राजकुमारी विवाह के योग्य होती, तो इन सब बातों की सूचना राहस्यिकी परिषद् के सदस्य राजा के पास पहुँचाते। रानियों के गुप्त प्रेम तथा रतिकर्म आदि की सूचना भी ये लोग राजा को देते रहते।[3]

---

१. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ ३।

२. आवश्यकचूर्णी, पृ० ५३४; निशीथचूर्णी ११.३७६५ चूर्णी। तथा देखिए सच्चंकिर जातक (७३)।

३. बृहत्कल्पभाष्य पीठिका ३७८–३८१।

आन्तरिक उपद्रवों और बाह्य आक्रमणों से राज्य की रक्षा करने के लिए मंत्रीगण गुप्तचरों को धन आदि देकर नियुक्त करते। सूचक अन्तःपुर के रक्षकों साथ मैत्री करके अन्तःपुर के रहस्यों का पता लगाते, अनुसूचक नगर के परदेशी गुप्तचरों की तलाश में रहते, प्रतिसूचक नगर के द्वार पर बैठकर दर्जी आदि का छोटा-मोटा काम करते हुए दुश्मन की घात में रहते, तथा सर्वसूचक, सूचक, अनुसूचक और प्रतिसूचक से सब समाचार प्राप्त कर अमात्य से निवेदन करते। ये गुप्तचर कभी पुरुषों और कभी महिलाओं के रूप में सामन्त राज्यों और सामन्त नगरों तथा अपने राज्य, अपने नगरों और राजा के अन्तःपुर में गुप्त रहस्यों का पता लगाने के लिए घूमते रहते।[1]

राजा के प्रधान पुरुषों में मंत्री का स्थान सबसे महत्व का है। वह जैसे भी हो, शत्रु को पराजित कर, राज्य की रक्षा के लिए सतत प्रयत्नशील रहता। कभी कूटनीति से राजा मंत्री को झूठ-मूठ ही सभासदों के सामने अपमानित कर राज्य से निकाल देता। यह मंत्री विपक्षी राजा से जा मिलता, फिर वहां शनैः-शनैः उसका विश्वास प्राप्त कर, उसे पराजित करके ही लौटता। भृगुकच्छ के राजा नहपान और प्रतिष्ठान के राजा शालिवाहन दोनों में नोंक-झोंक चला करती थी। नहपान के पास माल-खजाना बहुत था और शालिवाहन के पास सेना। एक बार, शालिवाहन ने नहपान की नगरी पर आक्रमण कर उसे चारों ओर से घेर लिया। लेकिन नहपान ने ऐसे अवसर पर अपने खजाने के द्वार खोल दिये। जो सिपाही शत्रु के सैनिकों का सिर काट कर लाता, उसे वह मालामाल कर देता। इससे शालिवाहन के सैनिकों को बहुत क्षति उठानी पड़ी; और वह हार कर लौट गया। इस तरह कई वर्ष तक होता रहा। एक दिन शालिवाहन ने अपने मंत्री से लड़-भिड़कर उसे देश से निकाल दिया।' मंत्री भृगुकच्छ पहुँच कर नहपान से मिल गया। धीरे-धीरे राजा का विश्वास प्राप्त कर वह मंत्री के पद पर आसीन हो गया। वहां रहते हुए उसने स्तूप, तालाब, वापी, देवकुल 'आदि के निर्माण में नहपान का अधिकांश धन लगवा दिया, और जो

---

१. व्यवहारभाष्य १, पृ० १३०-अ इत्यादि। महाभारत (शान्तिपर्व ६८०. १२) में गुप्तचरों की नियुक्ति राजा का प्रमुख कर्त्तव्य माना गया है। उन्हें नगरों, प्रान्तों और सामन्त-प्रदेशों में नियुक्त करने का विधान है। तथा देखिए अर्थशास्त्र, १. ११-१२. ७-८।

बचा उससे रानियों के आभूषण बनवा दिये। इस प्रकार सारा माल-खजाना खाली हो जाने के बाद उसने शालिवाहन के पास खबर भिजवा दी। शालिवाहन सेना लेकर चढ़ आया और नहपान हार गया।[1]

व्यवहार और नीति के कार्मों में सलाह-मशविरा लेने के लिए जैसे राजा को मंत्री की आवश्यकता होती, वैसे ही धार्मिक कार्यों में पुरोहित[2] की होती। विपाकसूत्र में जितशत्रु राजा के महेश्वरदत्त नामक पुरोहित का उल्लेख है जो राज्योपद्रव शान्त करने, राज्य और बल का विस्तार करने और युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए अष्टमी और चतुर्दशी आदि तिथियों में नवजात शिशुओं के हृदयपिण्ड से शान्ति-होम किया करता था।[3]

श्रेष्ठी (णिगमारक्खिअ = नगरसेठ) अठारह प्रकार की प्रजा का रक्षक कहलाता। राजा द्वारा मान्य होने के कारण उसका मस्तक देव-मुद्रा से भूषित सुवर्णपट्ट से शोभित रहता।[4]

इसके अतिरिक्त ग्राममहत्तर, राष्ट्रमहत्तर (रट्ठउड = राठौड़);[5] गणनायक, दण्डनायक, तलवर[6], कोट्टपाल (णगररक्खिअ), कौटुम्बिक, गणक (ज्योतिषी), वैद्य, इभ्य (श्रीमंत), ईश्वर, सेनापति, सार्थवाह, संधिपाल, पीठमर्द, महामात्र (महावत), यान-

---

१. आवश्यकचूर्णी २, पृ० २०० इत्यादि। तुलना कीजिए बौद्ध साहित्य के महामात्य वर्षकार के साथ जिसकी कूटनीति के कारण वज्जि लोगों की एकता भङ्ग हो गयी. दीघनिकाय अट्ठकथा २, पृ० ५२२ इत्यादि।

२. स्थानांग सूत्र (७.५५८) में पंचेन्द्रिय रत्नों में सेनापति, गृहपति, वर्धकी, पुरोहित, स्त्री, अश्व और हस्ति की गणना की गयी है।

३. ५, पृ० ३३। तुलना कीजिए धोनसाख जातक (३५३, पृ २२२-२३) के साथ। यहाँ एक महत्वाकांक्षी पुरोहित का उल्लेख है जो राजा को किसी अजेय नगर को जीतने में सहायता करने के लिए यज्ञ-याग का अनुष्ठान करता है। पराजित राजाओं की आँखें और उनकी अंतड़ियाँ निकाल कर उन्हें देवता की बलि चढ़ाने के लिए वह राजा से निवेदन करता है। तथा देखिए रिचर्ड फिक, द सोशल ऑर्गनाइज़ेशन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज़ टाइम, अध्याय ७, 'द हाउस प्रीस्ट ऑफ द किंग।'

४. बृहत्कल्पभाष्य ३.३७५७ वृत्ति; राजप्रश्नीयटीका, पृ० ४०।

५. निशीथभाष्य, ४.१७३५।

६. रायसरिसो चामरविरहिओ तलवरो भण्णति, निशीथभाष्य ९.२५०२।

शालिक, विदूषक, दूत, चेट, वार्तानिवेदक, किंकर, कर्मकर, असि-ग्राही, धनुग्राही, कोंतग्राही, छत्रग्राही, चामरग्राही, वीणाग्राही, भाण्ड, अभ्यंग लगाने वाले, उबटन मलने वाले, स्नान कराने वाले, वेष-भूषा से मंडित करने वाले, पैर दबाने वाले आदि कितने ही कर्मचारी राजा की सेवा में उपस्थित रहा करते।[1]

---

१. मिलिन्दप्रश्न (पृ० ११४) में राजपुरुषों में सेनापति, पुरोहित, अक्खदस्स, भण्डागारिक, छत्तगाहक और खग्गगाहकों का उल्लेख है।

दूसरा अध्याय

न्याय-व्यवस्था

न्यायाधीश

न्याय-व्यवस्था चलाने के लिए न्यायाधीश की आवश्यकता होती है। प्राचीन जैन ग्रंथों में न्यायाधीश के लिए कारणिक अथवा रूपयक्ष (पालि में रूपदक्ख) शब्द का प्रयोग हुआ है। रूपयक्ष को भंभीय (? अथवा अंभीय; 'ललितविस्तर' में आंभीर्य कहा गया है), आसुरुक्ख (? 'ललितविस्तर' में आसुर्य), माठर के नीतिशास्त्र और कौडिन्य की दण्डनीति में कुशल होना चाहिए, उसे लांच नहीं लेनी चाहिए और निर्णय देते समय निष्पक्ष रहना चाहिए।[1] लेकिन न्याय-

---

१. व्यवहार भाष्य १. भाग ३, पृ० १३२। रूपेण मूर्त्या यक्षा इव रूपयक्षाः, मूर्तिमन्तो धर्मैकनिष्ठा देवा इत्यर्थः, अभिधानराजेन्द्र कोष 'रूपयक्ष'। न्यायकर्ता के सम्बन्ध में मृच्छकटिक ९, पृ० २५६ में कहा है—

> शास्त्रज्ञः कपटानुसारकुशलो वक्ता न च कोपन-
> स्तुल्यो मित्रपरस्वकेषु चरितं दृष्ट्वैव दत्तोत्तरः।
> क्लीबान्पालयिता शठान्व्यथयिता धर्म्यो न लोभान्वितो
> द्वार्भावे परतत्त्वबद्धहृदयो राज्ञश्च कोपापहः॥

—न्यायकर्ता को शास्त्रों का पण्डित, कपट को समझने में कुशल, वक्ता, क्रोध न करने वाला, अपने मित्र और अमित्र में समान भाव रखने वाला, चरित्र देखते ही उत्तर दे देने वाला, कायरों का रक्षक, मूर्खों को कष्टदायक, धार्मिक और लोभशून्य होना चाहिये।

दीघनिकाय की अट्ठकथा (२, पृ० ५१९) में वैशाली की न्याय-व्यवस्था का उल्लेख है। जब वैशाली के शासक वज्जियों के पास अपराधी को उपस्थित किया जाता, तब सबसे पहले उसे विनिश्चय-महामात्य के पास भेजा जाता। यदि वह निर्दोष होता तो उसे छोड़ दिया जाता, नहीं तो व्यावहारिक के पास भेजा जाता। व्यावहारिक उसे सूत्रधार के पास, सूत्रधार अट्ठकुल के पास, अट्ठकुल सेनापति के पास, सेनापति उपराजा के पास और उपराजा राजा के पास भेज देता। तत्पश्चात् 'प्रवेणीपुस्तक' के आधार पर उसके लिए दण्ड की व्यवस्था की जाती।

व्यवस्था के कठोर नियम रहते हुए भी, न्यायकर्त्ता राजा बड़े निरंकुश होते और उनके निर्णय निर्दोष न होते। साधारण-सा अपराध हो जाने पर भी अपराधी को कठोर से कठोर दण्ड दिया जाता। अनेक बार तो निरपराधियों को दण्ड दिया जाता और अपराधी छूट जाते।[1]

मुकदमे

चोरी, डकैती, परदार-गमन, हत्या और राजा की आज्ञा का उल्लंघन आदि अपराध करने वालों को राजकुल (राउल) में उपस्थित किया जाता।[2] कोई मुकदमा (व्यवहार) लेकर न्यायालय में जाता, तो उससे तीन बार वही बात पूछी जाती; यदि वह तीनों बार एक ही जैसा उत्तर देता तो उसकी सच्ची बात मान ली जाती।[3]

एक बार दो सौतों के बीच झगड़ा हो गया। एक सौत पुत्रवती थी, दूसरी के पुत्र नहीं था। जिसके पुत्र नहीं था, वह पुत्रवाली सौत के लड़के को बड़े लाड़-चाव से रखती। धीरे-धीरे वह लड़का अपनी सौतेली मां से इतना हिल गया कि वह उसी के पास रहने लगा। एक दिन लड़के को लेकर दोनों में लड़ाई हो गयी। दोनों ही लड़के को अपना बताने लगी। जब कोई फैसला न हो सका तो वे न्यायाधीश के पास गयीं। न्यायाधीश ने लड़के के दो टुकड़े कर दोनों सौतों को

---

१. उत्तराध्ययन ६.३०। जातक (४, पृ० २८) में किसी निरपराध संन्यासी को शूली पर लटकाने का उल्लेख मिलता है। मृच्छकटिक के चारुदत्त को भी बिना अपराध के ही दण्ड दिया गया था। इसीलिए कौटिल्य ने कहा है कि राजा को उचित दण्ड देनेवाला (यथार्हदण्डः) होना चाहिए, अर्थशास्त्र १.४.१३।

२. मनुस्मृति (८.४–७) में निम्नलिखित मुकदमों का उल्लेख है:— ऋण का मांगना, अपना धन दूसरे के पास रखना, बिना मालिक के माल बिक्री कर देना, साझे में व्यापार करना, दान दिये हुए धन को वापिस लेना, वेतन का न देना, इकरारनामे को न मानना, किसी वस्तु का क्रय अथवा विक्रय कर उसे रद्द कर देना, पशुओं के मालिक और पशुओं के पालक में विवाद होना, सीमा सम्बन्धी विवाद, दण्ड द्वारा ताडन, वचन की कठोरता, धन की चोरी, जबर्दस्ती धन का अपहरण, किसी स्त्री के साथ परपुरुष का सम्बन्ध, स्त्री-पुरुष के कर्तव्य, पैतृक धन का विभाग, द्यूतक्रीड़ा में दांव।

३. निशीथचूर्णी २०, पृ० ३०५।

आधा-आधा बांट देने का हुक्म दिया। यह सुनते ही लड़के की मां बहुत घबड़ायी। न्यायाधीश से उसने निवेदन किया—"महाराज, मुझे पुत्र नहीं चाहिए, यह मेरी सौत के ही पास रहे।" न्यायाधीश समझ गया कि लड़का किसका है। लड़के की मां को उसका लड़का मिल गया।[1] एक बार, दो सेठों की कन्यायें स्नान करने गई हुई थीं। उनमें से एक दूसरी के कीमती आभूषण लेकर चंपत हुई। मामला राजा के दरबार में पहुँचा। लेकिन कोई गवाह नहीं था। अन्त में दास-चेटियों को बुलाकर मुकदमे का फैसला किया गया।[2]

एक बार की बात है, कोई किसान अपने एक मित्र से हल में जोतने के लिए बैल मांगकर ले गया। शाम को जुताई का काम समाप्त हो जाने पर वह बैलों को अपने मित्र के बाड़े में छोड़कर चला गया। उस समय किसान का मित्र भोजन कर रहा था। उसने बैल देख लिए थे, लेकिन वह बोला कुछ नहीं। थोड़ी देर बाद, बैल बाड़े से निकलकर कहीं चले गये और उनका पता न लगा। किसान का मित्र किसान से अपने बैल मांगने गया, और जब उसने कहा कि बैल उसने लौटा दिये हैं तो वह उसे राजकुल में ले गया।[3]

रास्ते में जाते-जाते उन्हें एक घुड़सवार मिला। अचानक ही घोड़ा घुड़सवार को गिराकर भाग गया। घुड़सवार की 'मारो-मारो' की आवाज सुनकर किसान ने इतनी जोर से लाठी फेंककर मारी कि वह घोड़े के मर्मस्थान में लगी और घोड़ा मर गया। किसान का यह दूसरा अपराध था। घुड़सवार भी उसे पकड़कर राजा के पास ले चला। आगे चलकर जब तीनों नगर के बाहर पहुँचे तो वहाँ नटों ने पड़ाव डाल रक्खा था। किसान ने सोचा कि अब तो उसे अवश्य ही आजन्म कारावास की सजा मिलेगी, तो वह क्यों न फांसी लटकाकर मर जाये। यह सोचकर किसान गले फंदा में डालकर बरगद के पेड़ पर लटक गया। दुर्भाग्य से फंदा टूट गया और वह नटों के ऊपर आकर गिरा जिससे नटों का मुखिया मर गया। नटों ने किसान को अपराधी ठहराया और वे भी उसे राजा के पास ले चले।

---

१. दशवैकालिकचूर्णी, पृ० १०४।

२. आवश्यकचूर्णी, पृ० ११६।

३. तुलना कीजिये गामणीचंड जातक (२५७), १ पृ०, २८ इत्यादि।

न्यायालय में पहुँचकर तीनों अभियोक्ताओं ने अपने-अपने बयान दिये और राजा से प्रार्थना की कि अभियुक्त को उचित दण्ड दिया जाये। अभियुक्त ने राजा को सब बातें सच-सच कह दीं। अभियुक्त की वात सुनकर राजा ने अपना फैसला सुनाया।

बैलों के मालिक से उसने कहा कि अभियुक्त उसके बैल वापिस देगा, लेकिन पहले वह उसे अपनी आँखें निकाल कर दे।

घुड़सवार से कहा कि अभियुक्त उसे घोड़ा वापिस देगा, लेकिन पहले वह उसे अपनी जीभ काट कर दे।

नटों से उसने कहा कि अभियुक्त को प्राणदण्ड दिया जायेगा, लेकिन इसके पहले वह बरगद के पेड़ के नीचे सो जाये और उन लोगों में से कोई अपने गले में फंदा लगाकर पेड़ पर से गिरने के लिए तैयार हो।[1]

कोई किसान अपनी गाड़ी में अनाज भरकर शहर में बेचने जा रहा था। उसकी गाड़ी में तीतर का एक पिंजड़ा बँधा था। शहर पहुँचने पर गंधी के पुत्रों ने किसान से पूछा—"यह गाड़ी-तीतर (गाड़ी में लटके हुए पिंजड़े का तीतर, अथवा गाड़ी और तीतर) कैसे बेचते हो?" उसने कहा—"एक कार्षापण में।" गंधी के पुत्र एक कार्षापण देकर उसकी गाड़ी और तीतर दोनों लेकर चलते बने।

किसान को बड़ा दुख हुआ कि केवल एक कार्षापण में उसकी अनाज से भरी गाड़ी और तीतर दोनों ही चल दिये। उसने राजकुल में मुकदमा किया, लेकिन वह हार गया।

जब किसान राजकुल से लौट रहा था तो रास्ते में उसे एक कुल-पुत्र मिला। किसान ने कुलपुत्र से अपने ठगे जाने का सब हाल कहा। कुलपुत्र ने कहा—"चिन्ता न करो। देखो, तुम अपने बैल लेकर गंधी के पुत्रों के पास जाओ और उनसे कहो कि गाड़ी तो मेरी अब चली ही गई, ये बैल भी तुम्हीं ले लो। इनके बदले केवल दो पायली सत्तु दे दो तो मैं खुश हो जाऊँगा। लेकिन यह सत्तु मैं अलंकार-विभूषित तुम्हारी मातेश्वरी से स्वीकार करूँगा, किसी दूसरे से नहीं।"

किसान से वैसा ही कया। गंधीपुत्र किसान को सत्तु देने को तैयार हो गया। लेकिन गंधी की मातेश्वरी ने ज्योंही किसान को सत्तु देने के

---

१. आवश्यकचूर्णी, पृ० ५५५–५६।

लिए हाथ बढ़ाया, किसान उसका हाथ पकड़कर ले चला। गंधीपुत्र चिल्लाए—"यह क्या कर रहे हो?" किसान ने उत्तर दिया—"कुछ नहीं, दो पायली सत्तु ले जा रहा हूँ।" लोग इकट्ठे हो गये। बड़ी मुश्किल से बीच-बचाव किया गया। किसान को अपनी गाड़ी वापिस मिल गयी।[1]

कभी साधारण-सी बात पर भी लोग मुकदमा लेकर राजकुल में पहुँच जाते। करकंडु और किसी ब्राह्मण में एक बांस के डंडे के ऊपर झगड़ा हो गया। दोनों कारणिक (न्यायाधीश) के पास गये। बांस करकंडु के श्मशान में उगा था, इसलिए वह उसे दे दिया गया।[2] एक बार किसी लाट देशनिवासी (गुजराती) और महाराष्ट्र-निवासी में छाते को लेकर झगड़ा हो गया। दोनों ने न्यायालय की शरण ली।[3]

कभी जैन श्रमणों को भी राजकुल में उपस्थित होना पड़ जाता। जब वज्रस्वामी छः महीने के थे, तभी जैन श्रमण उन्हें दीक्षा के लिए ले गये। वज्रस्वामी की माता सुनन्दा ने जैन श्रमणों के विरुद्ध राजकुल में मुकदमा कर दिया। राजा पूर्व दिशा में, जैनसंघ के सदस्य दक्षिण दिशा में तथा वज्रस्वामी के सगे-सम्बन्धी राजा की बाईं तरफ बैठे। सारा नगर सुनन्दा की तरफ था। सुनन्दा ने अपने बालक को खिलौना आदि दिखाकर तरह-तरह से आकर्षित करना चाहा, लेकिन बालक उसके पास न आया। इस समय पहले से ही श्रमण-धर्म में दीक्षित वज्रस्वामी के पिता ने—जो जैन श्रमणों की ओर से मुकदमे की पैरवी कर रहे थे—बालक को बुलाया और उसे रजोहरण ले लेने को कहा। बालक ने अपने पिता की आज्ञा का पालन किया। यह देखकर राजा ने वज्रस्वामी को उसके पिता के सुपुर्द कर दिया।[4]

कभी रात्रि के समय वेश्याएँ जैन-श्रमणों के उपाश्रय में प्रवेश कर उपद्रव मचातीं। ऐसे समय उसे वहां से निकाल भगाने के सारे प्रयत्न

---

१. दशवैकालिकचूर्णी, पृ० ५८; वसुदेवहिंडी, पृ० ५७; तथा देखिए आवश्यकचूर्णी पृ० ११६।

२. उत्तराध्ययनटीका ६, पृ० २३४।

३. व्यवहारभाष्य ३.३४५ आदि, पृ० ६६।

४. आवश्यकचूर्णी, पृ० ३६१ इत्यादि।

निष्फल हो जाने पर, साधु उसे बंधन में बांध, राजकुल में ले जाते और राजा से उसे दण्ड देने का अनुरोध करते।[1]

मुकदमों में झूठी गवाही (कूडसक्ख) और झूठे दस्तावेजों (कूडलेहकरण) को काम में लाया जाता।[2]

---

१. बृहत्कल्पभाष्य ४.४६२३-२५; तथा उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० ७२-अ।

२. उपासकदशा, पृ० १०, तथा नोट्स, पृ० २१५; आवश्यकटीका (हरिभद्र) पृ० ८२०।

तीसरा अध्याय

अपराध और दण्ड

चौरकर्म

चौरकर्म एक महत्वपूर्ण विद्या थी। इसे तस्करमार्ग भी कहा गया है। चोरशास्त्र, स्तेयशास्त्र अथवा स्तेयसूत्र इस विषय के प्रमुख ग्रंथ थे, जिनमें अवश्य ही चोरी करने की विधि का उल्लेख रहा होगा। मूलदेव जिसे मूलभद्र, मूलश्री, कलांकुर, कर्णिसुत, गोणिपुत्रक अथवा गोणिकसुत आदि नामों से उल्लिखित किया गया है, स्तेयशास्त्र का प्रवर्तक था[1] मूलदेव लोकविख्यात, वैभवशाली, अत्यन्त मायावी, समस्त कलाओं में पारंगत, वंचक, प्रतारक और धूर्तशिरोमणि के रूप में चित्रित किया गया है। कन्डरीक (कंदलि), एलापाढ़, शश और खण्डपाणा आदि उसकी मण्डली के मुख्य सदस्य थे जो बैठकर गप्पाष्टकें लड़ाया करते थे।[2]

---

१. देखिए कथासरित्सागर (जिल्द २, पृ० १८३-४) में 'नोट ऑन स्टीलिंग।'

२. संघदासगणि के निशीथभाष्य और हरिभद्रसूरि के धूर्ताख्यान में मूलदेव, कण्डरीक, एलापाढ़, शश और खण्डपाणा नाम के पाँच धूर्तों का उल्लेख है। हरिभद्र के उपदेशपद में मूलदेव और कण्डरीक, और बैलगाड़ी में अपनी पत्नी के साथ बैठकर जाते हुए एक तरुण की मनोरंजक कथा आती है। क्षेमेन्द्र के कलाविलास में मूलदेव को अत्यन्त मायावी और समस्त कलाओं में पारंगत धूर्तराज कहा है। एक बार कोई सार्थवाह अपने पुत्र को धूर्तविद्या की शिक्षा देने के लिए मूलदेव के घर लाया। मूलदेव उस समय कंडरीक आदि अपने शिष्यों के साथ बैठा हुआ था। सार्थवाह का पुत्र भी वहीं बैठ गया। मूलदेव ने दम्भ का विवेचन करते हुए कहा—"दम्भ निधान का कुम्भ है। हरिणरूपी भोले-भाले प्राणी इसमें फँस जाते हैं। जैसे जल में मछलियों की गति जानना कठिन है, वैसे ही दम्भ की गति भी नहीं जानी जाती। जैसे मन्त्र के बल से सर्प, कूटयन्त्र से हरिण और जाल से पक्षी पकड़ लिये जाते हैं, वैसे ही दंभ से मनुष्य पकड़े जाते हैं। माया दंभ का स्तम्भ है।"

ब्राह्मणों ग्रन्थों में स्कन्द (कुमार कार्तिकेय) को चोरों का देवता और चोरों को स्कन्दपुत्र कहा गया है। मृच्छकटिक (३, पृ० ७३) में शर्विलक ने अपने आपको कनकशक्ति, भास्करनन्दि और योगाचार्य का प्रथम शिष्य माना है। इन आचार्यों की कृपा से ही शर्विलक ने योगरोचना नामक सिद्ध-अंजन प्राप्त किया था जिससे वह अदृश्य हो सकता था। रात्रि के समय जब चोर चोरी के लिये प्रस्थान करते तो वे अपने इष्टदेवता खरपट,[1] प्रजापति, सर्वसिद्ध, बलि, शंबर, महाकाल और कत्यायनी (कुमार कार्तिकेय की माता) का स्मरण करते।[2]

चोरों के प्रकार

उत्तराध्ययन सूत्र में आमोष, लोमहर (जान से मारकर सर्वस्व

भोजदेव की शृङ्गारमंजरी में कहा है कि मूलदेव अत्यन्त लम्पट और मायाचारी था तथा बड़े-बड़े चतुर पुरुषों और धूर्तों को ठगता हुआ वह उज्जैनी में निवास करता था। स्त्रियों के प्रति अत्यन्त शंकाशील होने के कारण वह विवाह नहीं करता था। एक दिन राजा विक्रमादित्य ने विवाह करने के लिए उससे बहुत आग्रह किया। मूलदेव ने उत्तर में कहा—"महाराज! स्त्रियाँ अत्यन्त कठिनता से प्रसन्न होती हैं, उनका आशय स्पष्ट नहीं जाना जा सकता, उनका स्वभाव चंचल होता है, कठिनाई से उनकी रक्षा की जा सकती है, क्षणभर में उन्हें वैराग्य हो जाता है और नीच पुरुषों का वे अनुगमन करती हैं।" लेकिन राजा ने स्त्रियों की प्रशंसा करते हुए उन्हें यश, धन और संतान आदि का साधन बताया। अंत में राजा के अत्यंत आग्रह करने पर मूलदेव ने विवाह कर लिया। लेकिन कुछ समय बाद मूलदेव की स्त्री किसी दूसरे से प्रेम करने लगी। इतना ही नहीं, स्वयं राजा विक्रमादित्य की रानी का राजा के महावत से प्रेम हो गया। तथा देखिये क्षेमेन्द्र, बृहत्कथामंजरी (विषमशील में मूलदेव की कथा, पृ० ४३२); दण्डी, दशकुमारचरित, दूसरा उच्छ्वास; बाण, कादम्बरी; दीघनिकाय अट्ठकथा, १. ८६।

१. मत्तविलासप्रहसन (पृ० १५) में खरपट को चोरशास्त्र का प्रणेता कहा गया है (खरपटायेति वक्तव्यं येन चौरशास्त्रं प्रणीतं)। इसकी ग्रीस के देवता मर्करी और इंगलैण्ड के सेण्ट निकोलस के साथ तुलना कीजिए, राधागोविंद बसक, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, ५, १९२९, पृ० ३१२ इत्यादि।

२. देखिए भास, चारुदत्त (३, पृ० ५६); अविमारक (३, पृ० ४६); ब्लूमफील्ड, द आर्ट ऑव स्टीलिंग, अमेरिकन जर्नल ऑव फाइलोलोजी, जिल्द ४४, पृ० ९८-९।

अपहरण करने वाले), ग्रन्थिभेदक और तस्कर नाम के चोरों का उल्लेख है।[1] अन्यत्र आक्रान्त, प्राकृतिक, ग्रामस्तेन, देशस्तेन, अन्तरस्तेन, अध्वानस्तेन और खेतों को खनन करनेवाले चोरों का उल्लेख किया गया है।[2] चोर बड़े साहसी और निर्भीक होते, तथा जो भी सामने आता, उसे मार डालते। वे राजा के अपकारी, जङ्गल, गांव, नगर, पथ और गृह आदि के विध्वंस-कर्ता, जहाजों को लूट लेने वाले, यात्रियों का धन अपहरण करने वाले, जुआरी, जबर्दस्ती कर वसूल करने वाले, स्त्री के वेष में चोरी करने वाले, सेंध लगाने वाले, गंठकतरे, गाय-घोड़ा, दास-दासी, बालक और साध्वियों का अपहरण करने वाले तथा सार्थ को मार डालने वाले हुआ करते थे। चोर विकाल में गमन करते, किंचित् दग्ध मृत कलेवर, अथवा जङ्गली जानवरों का मांस या कन्दमूल भक्षण किया करते।[3] चोरी करने वाले को ही नहीं; बल्कि चोरी की सलाह देनेवाले, चोरी का भेद जानने वाले, चुराई हुई वस्तु को कम मूल्य में खरीदने वाले, चोर को अन्न-पान या और किसी प्रकार का आश्रय देनेवाले को भी चोर कहा है।[4] चोर में विश्वास की

---

१. ६.२८। अंगुत्तरनिकाय २. ४, पृ० १२७ में अग्नि, उदक, राज और चोरभय का उल्लेख है।

२. निशीथभाष्य २१.३६५०।

३. ज्ञातृधर्मकथा, १८, पृ० २०९। बृहत्कल्पभाष्य ३.३६०३ इत्यादि। बौद्ध जातकों में ऐसे चोरों का उल्लेख है जो चोरी का धन गरीबों में बांट देते और लोगों का कर्ज चुका देते। पेसनक (प्रेषणक = संदेशा भेजने वाले) चोर पिता-पुत्र दोनों को बन्दी बनाकर रखते, तथा पिता से धन प्राप्त होने के पश्चात् ही पुत्र को छोड़ते (पानीय जातक ४५९, पृ० ३१५)। उद्यान-चोरक चोर श्रावस्ती के उद्यान में घूमते-फिरते थे। उद्यान में किसी सोते हुए व्यक्ति को देखकर वे उसे ठोकर मारते। यदि ठोकर लगने पर वह सोया रहता तो वे उसे लूट लेते; दिव्यावदान, पृ० १७५; महावग्ग १.३९.९१, पृ० ७८ में ध्वजाबद्ध चोरों का उल्लेख है। तथा देखिए बी० सी० लाहा, इण्डिया डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टैक्स्ट्स ऑव बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म, पृ० १७२ इत्यादि।

४. चौरः चौरापको मन्त्री भेदज्ञः काणकक्रयी।
अन्नदः स्थानदश्चैव चौरः सप्तविधः स्मृतः॥
—प्रश्नव्याकरणटीका ३,१२ पृ० ५३।

भावना पैदा कर, उसकी कुशल-क्षेम पूछकर, उसे संकेत देकर, न पकड़वाने में उसकी मदद कर, जिस मार्ग से चोर गया हो उस मार्ग का उलटा पता बताकर, तथा उसे स्थान, आसन, भोजन, तेल, जल, अग्नि और रस्सी आदि प्रदान कर चोर का हौसला बढ़ाया जाता था, और ऐसा करनेवालों को अच्छी नजर से नहीं देखा जाता था।[1]

सेंध लगाना

प्राचीन ग्रन्थों में सेंध लगाने के विविध प्रकार बताये गये हैं। कपिशीर्ष (कंगूरा), कलश, नन्दावर्त,[2] कमल, मनुष्य और श्रीवत्स के आकार की सेंध लगाई जाती थी। एक बार किसी चोर ने सेंध लगाकर उसमें से घर के अन्दर प्रवेश करना चाहा। वह पांवों के बल अन्दर घुसा ही था कि मकान-मालिक ने उसके पांव पकड़कर खींच लिए। इधर से चोर के साथियों ने उसका सिर पकड़कर खींचना आरम्भ किया। इतने में कपिशीर्ष के आकार की सेंध टूट कर गिर पड़ी, और चोर उसी में दबकर मर गया।[3] चोर पानी की मशक (दकवत्थि)

१. वही।

२. अंगुत्तरनिकाय की अट्ठकथा (१, पृ० २६५) में नन्दियावत्त का अर्थ एक बड़ा मत्स्य किया गया है, मलालसेकर, डिक्शनरी ऑव पाली प्रोपर नेम्स २, पृ० २६।

३. उत्तराध्ययन ४, पृ० ८० इत्यादि, पृ० ८७। मृच्छकटिक (३.१४) में पद्मव्याकोश, भास्कर, बालचन्द्र, वापी, विस्तीर्ण, स्वस्तिक और पूर्णकुम्भ नामक सेंधों का उल्लेख है। भगवान् कनकशक्ति के आदेशानुसार यदि पक्की ईंटों का मकान हो तो ईंटों को खींचकर, कच्ची ईंटों का हो तो ईंटों को तोड़कर, मिट्टी की ईंटों का हो तो ईंटों को गीला कर तथा लकड़ी का मकान हो तो लकड़ी को चीरकर सेंध लगानी चाहिये (वही, पृ० ७२-७३)। भास के चारुदत्त नाटक (३.६, पृ० ५६) में सिंहाक्रान्त, पूर्णचन्द्र, झषास्य, चन्द्रार्ध, व्याघ्रवक्त्र और त्रिकोण आकार की सेंधें बतायी गयी हैं। जातक ग्रन्थोंमें कहा है कि सेंध इस प्रकार लगानी चाहिए जिससे बिना किसी रुकावट के घर में प्रवेश किया जा सके। चोर को चोरी करते समय यथासम्भव निर्दयता से काम लेना चाहिए तथा चोरी का माल ले जाते समय घर का कोई आदमी पकड़ न ले इसलिए ऐसे आदमियों को पहले से ही खत्म कर देना चाहिए (महिलामुख जातक २६)। दशकुमारचरित (२, पृ० ७७, १३४) में उल्लेख है कि फणिमुख और उरगास्य नामक औजारों से सेंध लगाई जाती थी।

और तालोद्घाटिनी विद्या आदि उपकरणों से सज्जित हो प्रायः रात्रि के समय अपने दलबल के साथ निकलते।[1]

चोरों के गांव

चोर अपने साथियों के साथ चोरपल्लियों में रहा करते। पुरिमताल नगर के उत्तर-पूर्व में एक गहन अटवी थी; यहाँ विषम पर्वत की गुफा में सन्निविष्ट, बांसों की बाड़ और गड्ढों की खाई से घिरी हुई एक चोरपल्ली थी। इसके आसपास पानी मिलना दुर्लभ था, और बाहर जाने के यहां अनेक गुप्त मार्ग थे। विजय नाम का चोर-सेनापति ५०० चोरों के साथ यहाँ निवास करता था। वह अधार्मिक, शूरवीर, दृढ़प्रहारी, शब्दवेधी और तलवार के हाथ दिखाने में निपुण था तथा उसके हाथ खून से रंगे रहते थे। वह ग्राम और नगरों का नाश कर, गायों को पकड़कर, लोगों को बन्दी बनाकर और उन्हें मार्गभ्रष्ट कर कष्ट पहुँचाता था। अनेक चोर-उचक्के, परदारगामी, गंठकतरे, सेंध लगाने वाले तथा जुआरी और शराबी उसके यहाँ आकर शरण लेते।[2]

राजगृह के पास सिंहगुहा नामक एक दूसरी चोरपल्ली थी, इसके चोर-सेनापति का नाम भी विजय था। वह बड़ा निर्दयी और रौद्र स्वभाव का था। आँखें उसकी लाल और दाढ़ें बीभत्स थीं, दांत बड़े होने से ओठ खुले रहते थे, लम्बे केश हवा में इधर-उधर उड़ते थे, और रंग उसका काला स्याह था। सर्प के समान वह एकांत-दृष्टि, छुरे के समान एकांत-धार, गृध्र के समान मांस-लोलुप, अग्नि के समान सर्वभक्षी और जल के समान सर्वग्राही था। वंचना, माया और

१—ज्ञातृधर्मकथा १८, पृ० २१०। घर के अन्दर प्रवेश करने के पहले चोर काकली (एक प्रकार का नाद) बजाकर देखते कि कोई आदमी जाग तो नहीं रहा है। ये लोग संडसी, लकड़ी का बना पुरुष-शिर, नापने की रस्सी, कर्कट-रज्जु, दीपक का ढक्कन, दीपक बुझाने की थाली की डिबिया (भ्रमर-करंडक—इसे ज्ञानेश्वरी में भी कहा गया है, देखिए रामगोविंद चन्द्र, इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, जिल्द ५, १९२९, पृ० २१३); तथा अदृश्य होने के लिए, गुटिका और अंजन आदि मार्ग-सामान लेकर चलते, दशकुमारचरित, २, पृ०, ७ ०; भास, चारुदत्त ३, पृ० ५८।

२. विपाकसूत्र ३, पृ० २०-२१; प्रश्नव्याकरण ११, पृ० ४५-४६।

कूट-कपट में कुशल तथा द्यूत, मद्य और मांस-भक्षण में वह आसक्त रहता था। वह राजगृह के प्रवेशमार्ग, निर्गमन-मार्ग, गोपुर, द्यूतगृह, पानागार, वेश्यालय, चौराहे, देवकुल, प्याऊ, हाट-बाजार और शून्यगृह आदि स्थानों में चक्कर लगाता रहता। राज्योपद्रव होने पर, अथवा किसी उत्सव या पर्व आदि के अवसर पर प्रमत्त दशा में, लोगों के छिद्रान्वेषण करता हुआ, नगर के उद्यान, पुष्करिणी, बावड़ी आदि सार्वजनिक स्थानों में भ्रमण करता हुआ, वह सदा लूट-खसोट की ताक में रहा करता।

राजगृह नगर में धन्य नाम का एक सार्थवाह रहता था। उसके देवदत्त नामक शिशु को एक दासचेट खिलाया करता था। एक दिन विजय ने सर्वालंकार-विभूषित देवदत्त को उद्यान में खेलते देख उसे उठा लिया, और अपने उत्तरीय वस्त्र से उसे ढँक, नगर के पिछले द्वार से निकल भागा।[1] जीर्णोद्यान के किसी भग्न कूप के पास पहुँचकर उसने शिशु को मार डाला और उसके आभूषण उतार लिए। फिर वह मालुकाकक्ष में छिपकर रहने लगा।[2]

उधर दासचेट ने शिशु को वहाँ न देख चीखना-चिल्लाना शुरू किया। बहुत तलाश करने पर भी जब शिशु कहीं नहीं मिला तो वह खाली हाथ घर लौटा। घर पहुँचकर वह अपने मालिक के पैरों में गिर पड़ा और रोते-बिलखते उसने सब हाल सुनाया। पुत्र-हरण का समाचार सुनकर धन्य सार्थवाह शोक से अभिभूत हो पृथ्वी पर पछाड़ खाकर गिर पड़ा। होश आने पर उसने इधर-उधर पुत्र की खोज की। जब कहीं पता न लगा तो वह बहुत-सी भेंट लेकर नगर-रक्षकों के पास पहुँचा और उनसे पुत्र के पता लगाने का अनुरोध किया।

नगर-रक्षक कवच धारण कर, अपनी बाहुओं में चमड़े की पट्टियाँ बाँध और अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हो, धन्य को साथ लेकर, चोर को ढूँढ़ते-ढाँढ़ते जीर्णोद्यान के भग्न कूप के पास पहुँचे। इस कूप में से बालक की लाश निकालकर उन्होंने धन्य के सुपुर्द कर दी। इसके बाद

---

१. मृच्छकटिक (४.६) में धाइयों के गोद में खेलते हुए बच्चों के चुराये जाने का उल्लेख है।

२. अंगुत्तरनिकाय १, ३, पृ० १४१ में नदी-पर्वत आदि विषम स्थानों में रहने वाले, वृक्ष-महावन आदि में छिप कर रहने वाले तथा राजा-महामात्य आदि बलवान् पुरुषों के आश्रय में रहने वाले चोरों का उल्लेख है।

और तालोद्घाटिनी विद्या आदि उपकरणों से सज्जित हो प्रायः रात्रि के समय अपने दलबल के साथ निकलते।[1]

चोरों के गांव

चोर अपने साथियों के साथ चोरपल्लियों में रहा करते। पुरिमताल नगर के उत्तर-पूर्व में एक गहन अटवी थी; यहाँ विषम पर्वत की गुफा में सन्निविष्ट, बांसों की बाड़ और गड्ढों की खाई से घिरी हुई एक चोरपल्ली थी। इसके आसपास पानी मिलना दुर्लभ था, और बाहर जाने के यहां अनेक गुप्त मार्ग थे। विजय नाम का चोर-सेनापति ५०० चोरों के साथ यहां निवास करता था। वह अधार्मिक, शूरवीर, दृढ़प्रहारी, शब्दवेधी और तलवार के हाथ दिखाने में निपुण था तथा उसके हाथ खून से रंगे रहते थे। वह ग्राम और नगरों का नाश कर, गायों को पकड़कर, लोगों को बन्दी बनाकर और उन्हें मार्गभ्रष्ट कर कष्ट पहुँचाता था। अनेक चोर-उचक्के, परदारगामी, गंठकतरे, सेंध लगाने वाले तथा जुआरी और शराबी उसके यहाँ आकर शरण लेते।[2]

राजगृह के पास सिंहगुहा नामक एक दूसरी चोरपल्ली थी, इसके चोर-सेनापति का नाम भी विजय था। वह बड़ा निर्दयी और रौद्र स्वभाव का था। आँखें उसकी लाल और दाढ़ें बीभत्स थीं, दांत बड़े होने से ओठ खुले रहते थे, लम्बे केश हवा में इधर-उधर उड़ते थे, और रंग उसका काला स्याह था। सर्प के समान वह एकांत-दृष्टि, छुरे के समान एकांत-धार, गृध्र के समान मांस-लोलुप, अग्नि के समान सर्वभक्षी और जल के समान सर्वग्राही था। वंचना, माया और

१—ज्ञातृधर्मकथा १८, पृ० २१०। घर के अन्दर प्रवेश करने के पहले चोर काकली (एक प्रकार का वाद्य) बजाकर देखते कि कोई आदमी जाग तो नहीं रहा है। वे लोग संडसी, लकड़ी का बना पुरुष-शिर, मापने की रस्सी, कर्कट-रज्जु, दीपक का ढक्कन, दीपक बुझाने की पतंगों की डिबिया (भ्रमरकरंडक—इसे आग्नेयकीट भी कहा गया है, देखिए राधागोविंद बसक, इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, जिल्द ५, १६२६, पृ० ३१३); तथा अदृश्य होने के लिए, गुटिका और अंजन, आदि साज-सामान लेकर चलते, दशकुमारचरित, २, पृ०, ७७; भास, चारुदत्त ३, पृ० ५८।

२. विपाकसूत्र ३, पृ० २०-२१; प्रश्नव्याकरण ११, पृ० ४६-४६।

कूट-कपट में कुशल तथा द्यूत, मद्य और मांस-भक्षण में वह आसक्त रहता था। वह राजगृह के प्रवेशमार्ग, निर्गमन-मार्ग, गोपुर, द्यूतगृह, पानागार, वेश्यालय, चौराहे, देवकुल, प्याऊ, हाट-बाजार और शून्यगृह आदि स्थानों में चक्कर लगाता रहता। राज्योपद्रव होने पर, अथवा किसी उत्सव या पर्व आदि के अवसर पर प्रमत्त दशा में, लोगों के छिद्रान्वेषण करता हुआ, नगर के उद्यान, पुष्करिणी, बावड़ी आदि सार्वजनिक स्थानों में भ्रमण करता हुआ, वह सदा लूट-खसोट की ताक में रहा करता।

राजगृह नगर में धन्य नाम का एक सार्थवाह रहता था। उसके देवदत्त नामक शिशु को एक दासचेट खिलाया करता था। एक दिन विजय ने सर्वालंकार-विभूषित देवदत्त को उद्यान में खेलते देख उसे उठा लिया, और अपने उत्तरीय वस्त्र से उसे ढँक, नगर के पिछले द्वार से निकल भागा।[1] जीर्णोद्यान के किसी भग्न कूप के पास पहुँचकर, उसने शिशु को मार डाला और उसके आभूषण उतार लिए। फिर वह मालुकाकक्ष में छिपकर रहने लगा।[2]

उधर दासचेट ने शिशु को वहाँ न देख चीखना-चिल्लाना शुरू किया। बहुत तलाश करने पर भी जब शिशु कहीं नहीं मिला तो वह खाली हाथ घर लौटा। घर पहुँचकर वह अपने मालिक के पैरों में गिर पड़ा और रोते-बिलखते उसने सब हाल सुनाया। पुत्र-हरण का समाचार सुनकर धन्य सार्थवाह शोक से अभिभूत हो पृथ्वी पर पछाड़ खाकर गिर पड़ा। होश आने पर उसने इधर-उधर पुत्र की खोज की। जब कहीं पता न लगा तो वह बहुत-सी भेंट लेकर नगर-रक्षकों के पास पहुँचा और उनसे पुत्र के पता लगाने का अनुरोध किया।

नगर-रक्षक कवच धारण कर, अपनी बाहुओं में चमड़े की पट्टियाँ बाँध और अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हो, धन्य को साथ लेकर, चोर को ढूँढ़ते-ढाँढ़ते जीर्णोद्यान के भग्न कूप के पास पहुँचे। इस कूप में से बालक की लाश निकालकर उन्होंने धन्य के सुपुर्द कर दी। इसके बाद

---

१. मृच्छकटिक (४.६) में धाइयों के गोद में खेलते हुए बच्चों के चुराये जाने का उल्लेख है।

२. अंगुत्तरनिकाय १, ३, पृ० १४१ में नदी-पर्वत आदि विषम स्थानों में रहने वाले, वृक्ष-महावन आदि में छिप कर रहने वाले तथा राजा-महामात्य आदि बलवान् पुरुषों के आश्रय में रहने वाले चोरों का उल्लेख है।

चोर के पदचिह्नों का अनुगमन करते हुए जंगल में आये जहाँ चोर-सेनापति छिपा हुआ बैठा था। उन्होंने उसे ग्रीवा-बन्धन से पकड़ लिया तथा हड्डी, घूँसों और लातों से उसकी खूब मरम्मत की और उसको मुश्कें बाँध लीं।

चोर-सेनापति को वे नगर में ले आये तथा चौराहों और महापथों पर उसे कोड़ों आदि से मारते-पीटते और उसके ऊपर खार, धूल और और कूड़ा-कचरा फेंकते हुए, जोर-जोर से घोषणा करने लगे—"यह चोर गृध्र की भाँति मांसभक्षी और बालघातक है। यदि कोई राजा, राजपुत्र या राजमन्त्री इस तरह का अपराध करेगा तो उसे अपने किये का फल भोगना होगा।" इसके बाद चोर को कारागृह में डाल दिया गया, जहाँ वह कष्टमय जीवन बिताने लगा।[1]

कुछ दिनों बाद धन्य सार्थवाह का दासचेट चिलात अपने मालिक को छोड़कर चला गया और राजगृह की सिंहगुहा नामक चोरपल्ली में पहुँच, विजय चोर-सेनापति का अंगरक्षक बन गया। चिलात हाथ में तलवार लिए विजय की रक्षा किया करता, तथा जब वह लूटपाट के लिए बाहर जाता, तो वह चोरपल्ली की देखभाल करता। विजय ने चिलात से प्रसन्न हो उसे चोरमंत्र, चोरविद्या और चोरमाया आदि की शिक्षा देकर चोरकर्म में निष्णात कर दिया था। कालान्तर में विजय की मृत्यु हो जाने पर सब चोरों ने एकत्रित हो बड़ी धूमधाम से चिलात को सेनापति के पद पर अभिषिक्त किया।

चिलात राजगृह के दक्षिण-पूर्व में स्थित जनपदों को लूटता-पाटता समय यापन करने लगा। एक दिन उसने चोरपल्ली के ५०० चोरों का विपुल अशन, पान और सुरा आदि द्वारा सत्कार कर, उनके समक्ष धन्य के घर डाका डालने का प्रस्ताव रक्खा। सेनापति की आज्ञा पाकर चोर गोमुखी, तलवार धनुष-बाण और तूणीर आदि से सज्जित हो, आर्द्र चर्म पहन, अपनी जंघाओं में घंटियां बांध, बाजे-गाजे के साथ चोरपल्ली से रवाना हुए। कुछ दूर चलकर वे एक जंगल में छिपकर बैठ गये। फिर आधी रात होने पर उन्होंने राजगृह में स्थित धन्य के घर धावा बोल दिया। पानी की मशक (उदकवस्ति) में से पानी लेकर उन्होंने किवाड़ों पर छींटे दिये, फिर तालोद्घाटिनी

---

१. ज्ञातृधर्मकथा २, पृ० ४७–५४।

विद्या का आह्वान कर किवाड़ खोले। चिलात ने घोषणा की कि वह धन्य के घर डाका डालने आया है, जो कोई माई का लाल नयी माँ का दूध पीने की इच्छा रखता हो वह सामने आये। डाकुओं की यह घोषणा सुनकर धन्य अपने पांचों पुत्रों को साथ ले, घर से निकल भागा; केवल उसकी कन्या सुंसुमा वहीं छूट गयी। डाकू प्रचुर धन और सुंसुमा को लेकर भाग गये।

धन्य ने नगर-रक्षकों के पास पहुँच उनसे चोरों का पता लगाने का अनुरोध किया। नगर-रक्षक अपने दल-बल और अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हो चोरपल्ली की ओर रवाना हुए। चोरपल्ली को उन्होंने चारों ओर से घेर लिया। यह देख चोर सब धन-सम्पत्ति वहीं छोड़कर भाग गये, और चिलात सुंसुमा को लेकर जंगल की ओर चला। धन्य और उसके पुत्रों ने चिलात का पीछा किया और उसके पद-चिह्नों का अनुगमन कर वे उसके पीछे-पीछे चले। चिलात जब सुंसुमा को लेकर अधिक दूर न जा सका तो उसने अपनी तलवार से उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। तत्पश्चात् तृषा से व्याकुल हो वह मार्ग भ्रष्ट हो गया, और चोरपल्ली पहुँचने के पूर्व ही उसके प्राणों का अन्त हो गया।[1]

चोर आसानी से पकड़ में नहीं आते थे, और राजा की सेना तक उनसे हार कर भाग जाती थी। पुरिमताल नगर के उत्तर-पूर्व में अभग्गसेण नाम का एक चोर-सेनापति रहता था।[2] वह आसपास के जनपदों में लूटमार कर लोगों को बहुत कष्ट पहुँचाता। एक दिन पुरिमताल की प्रजा राजा महाबल की सेवा में योग्य भेंट लेकर उपस्थित हुई, और उसने शालाटवी के चोर-सेनापति अभग्गसेण के लोमहर्षक अत्याचारों का वर्णन किया। राजा ने तुरन्त ही अपने दण्डनायक को बुलाया और अभग्गसेण को जीवित पकड़ लाने का हुक्म दिया।

राजा की आज्ञा पाकर दण्डनायक अपने दल-बल सहित शालाटवी की ओर रवाना हुआ। लेकिन अभग्गसेण को अपने गुप्तचरों द्वारा इस अभियान का पता पहले ही लग चुका था। चोर-सेनापति अशन-पान आदि विपुल सामग्री के साथ अपने चोरों को लेकर एक घने

---

१. वही. १८, पृ० २०८–२१२।

२. महावीर भगवान् के पुरिमताल में रहते समय ही विपाकसूत्र में वर्णित अभग्गसेण चोर-सेनापति की घटना घटित हुई, तन्दुलवैचारिक टीका, पृ० २।

जंगल में छिपकर बैठ गया और राज्य-सैन्य के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा। दोनों ओर से डटकर मुकाबला हुआ और अन्त में राजा की सेना हारकर भाग गयी।

दण्डनायक ने नगर में लौटकर राजा से निवेदन किया कि महाराज, चोर-सेनापति को चतुरंग सैन्य-बल से नहीं जीता जा सकता, उसे तो शाम, दाम अथवा भेद के द्वारा किसी भी तरह विश्वास में लेकर पराजित करना होगा।

यह बात राजा की समझ में आ गयी। उसने एक बड़ी कूटागारशाला का निर्माण कराया, और दस दिन तक राज्य भर में आमोद-प्रमोद मनाने की घोषणा की। इस अवसर पर अभग्गसेण को भी आमंत्रित किया गया। अभग्गसेण राजा के लिए बहुमूल्य भेंट लेकर उपस्थित हुआ। राजा ने उसे सम्मानपूर्वक अपनी कूटागारशाला में ठहराया तथा उसके लिए विपुल अशन, पान, सुरा आदि का प्रबन्ध किया। चोर-सेनापति मद्य-मांस आदि का सेवन करता हुआ जब प्रमत्त भाव से समय यापन कर रहा था तो राजा ने उसे धोखे से गिरफ्तार कराकर शूली पर चढ़ा दिया।[1]

चोर अपनी निर्दयता और क्रूरता के लिए प्रसिद्ध थे। चोरों के भय से लोग रास्ता चलना बन्द कर देते और मुख्य-मुख्य रास्तों पर पुलिस का पहरा लग जाता।[2] एक बार, किसी ब्राह्मणी के घर चोर आये। ब्राह्मणी अपने हाथों और पैरों में आभूषण पहने हुए थी। जब चोर आभूषणों को न निकाल सके तो वे ब्राह्मणी के हाथ-पैर काटकर चलते बने।[3] चोरी के माल का पता लग जाने के भय से अपने प्रिय कुटुम्बीजनों तक को मौत के घाट उतारने में वे नहीं हिचकते थे। कोई चोर अपने घर में कूप खोदकर उसमें चोरी का धन भर दिया करता था। लेकिन उसे इस बात की सदा आशंका बनी रहती कि कहीं उसकी स्त्री और उसका पुत्र कूप का भेद न खोल दें। इस आशंका से उसने अपनी स्त्री को मारकर कूप में डाल दिया। यह देखकर उसके पुत्र ने शोर मचा दिया और चोर पकड़ लिया गया।[4]

---

१. विपाकसूत्र ३, पृ० २४–२८।

२. बृहत्कल्पभाष्य १.२७७५।

३. उत्तराध्ययनचूर्णी, पृ० १२४।

४. उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० ८०-अ।

चोर जैन-साधुओं के उपाश्रय में घुस जाते और रत्नकम्बल (बहुमूल्य कम्बल) आदि के लोभ से उन्हें जान से मार डालने की धमकी देते। संघ के आचार्य को पकड़कर वे परेशान करते।[1] आर्यिकाओं और क्षुल्लकों को उठाकर भी वे ले जाते।[2]

स्त्री-पुरुषों का अपहरण वे कर लेते। एक बार उज्जैनी के किसी सागर के पुत्र का हरण कर चोरों ने उसे एक रसोइये के हाथ बेच दिया।[3] मालवा के बोधिक चोर प्रसिद्ध थे; वे मालव पर्वत पर रहते थे।[4]

चोरों के आख्यान

बेन्यातट नगर में मण्डित नाम का कोई चोर रहा करता था। रात को वह चोरी करता और दिन में दर्जी (तुन्नाग) का काम करके अपनी आजीविका चलाता। मण्डित अपनी बहन के साथ किसी उद्यान के भूमिगृह में रहा करता। इस भूमिगृह में एक कुआँ था। जो कोई व्यक्ति चोरी का माल ढोकर यहाँ लाता, उसे पहले तो मंडित की बहन आसन पर बैठाकर उसका पाद-प्रक्षालन करती और फिर उसे कुएँ में ढकेल देती।

मूलदेव जब राजा बन गया तो उसने मण्डित चोर को पकड़ने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु उसका पता न चला। एक दिन मूलदेव नीलवस्त्र धारण कर चोर की खोज में निकला। वह एक स्थान पर छिप कर बैठ गया। थोड़ी देर बाद जब वहाँ मण्डित आया तो पूछे जाने पर मूलदेव ने अपने आपको कापालिक भिक्षु बताया। मण्डित ने कहा, चल मैं तुझे आदमी बना दूँ। मूलदेव उसके पीछे-पीछे चल दिया। मण्डित ने किसी घर में सेंध लगाकर चोरी की और चोरी का माल मूलदेव के सिर पर रख कर वह उसे अपने घर लिवा लाया। मण्डित ने अपनी बहन को बुलाकर अतिथि के पाद-प्रक्षालन करने को कहा। लेकिन मण्डित की बहन को मूलदेव के ऊपर दया आ गयी

---

१. बृहत्कल्पभाष्य ४. ३९०४, १.८५०-३; निशीथचूर्णी २.९७१ की चूर्णी।

२. व्यवहारभाष्य ७, पृ० ७१-अ।

३. उत्तराध्ययनचूर्णी, पृ० १७४।

४. निशीथभाष्य २.१३३५।

और उसने उसे कुएँ में न ढकेल, भाग जाने का इशारा कर दिया।

मूलदेव भाग कर एक शिवलिंग के पीछे छिप गया। मण्डित ने अँधेरे में शिवलिंग को चोर समझकर तलवार से उसके दो टुकड़े कर डाले। प्रातःकाल होने पर मण्डित रोज की भाँति राजमार्ग पर बैठकर दर्जी का काम करने लगा। मूलदेव ने मण्डित को राजदरबार में बुलवाया। मंडित समझ गया कि रात वाला भिक्षु और कोई नहीं; राजा मूलदेव था। मूलदेव ने मण्डित की बहन से शादी करके बहुत-सा धन प्राप्त किया और फिर मण्डित को शूली पर चढ़वा कर मार डाला।[1]

भुजंगम बनारस का रहनेवाला एक शक्तिशाली चोर था। एक बार बनारस की प्रजा ने राजा से शिकायत की कि चोरों ने नगरवासियों को बहुत परेशान कर रक्खा है। यह सुनकर राजा ने नगररक्षकों को बुलाकर बहुत डांटा। उस समय वहाँ शंखपुर का राजकुमार अगडदत्त मौजूद था। उसने सात दिन के अन्दर-अन्दर चोर का पता लगाने का प्रण किया।

अगडदत्त वेश्यालयों, पानागारों, द्यूतगृहों, बाजारों, उद्यानों, मठों, मन्दिरों और चौराहों पर चोर की खोज करता फिरने लगा। एक दिन अगडदत्त अत्यन्त निराशभाव से बैठा हुआ था कि इतने में उसे कोई परिव्राजक दिखाई दिया। परिव्राजक ने गेरुए वस्त्र पहन रक्खे थे, सिर उसका मुण्डा हुआ था तथा त्रिदण्ड, कुण्डी, चमर और माला उसके हाथ में थी। उसका रूप-रंग देखकर अगडदत्त को उस पर सन्देह हुआ। परिव्राजक के पूछने पर राजकुमार ने उत्तर दिया कि वह एक दरिद्र पुरुष है और धन की खोज में इधर-उधर घूम रहा है। परिव्राजक ने कहा—चल मैं तेरा दारिद्र्य दूर करूँ।[2]

रात के समय परिव्राजक अपनी तलवार खींचकर चोरी के लिए चल दिया। किसी धनी वणिक् के घर उसने सेंध लगायी, फिर टोकरियों में भर-भर कर धन इकट्ठा किया। परिव्राजक अगडदत्त से धन की टोकरियां उठवाकर अपने घर की ओर चला। इस बीच में

---

१. उत्तराध्ययनटीका ४, पृ० ६५।
२. वही, ४, पृ० ८६।

अवसर पाकर अगडदत्त ने उसे अपनी तलवार से मार डाला।[1]

दुर्योधन नाम का चोर शंखपुर के रास्ते में पड़नेवाले एक महान् जङ्गल में निवास करता था।[2] कंटक और सुकंटक नाम के चोर सेनापतियों का उल्लेख मिलता है।[3]

दण्डविधान

चोरी करनेपर भयंकर दण्ड दिया जाता था। राजा चोरों को जीते जी लोहे के कुंभ में बंद कर देते, उनके हाथ कटवा देते और शूली पर चढ़ा देना तो साधारण बात थी। एक बार की बात है, किसी ब्राह्मण ने एक बनिये की रुपयों की थैली चुरा ली। राजा ने हुकुम दिया कि अपराधी को सौ कोड़े लगाये जायें, नहीं तो विष्ठा खिलाई जाये। ब्राह्मण ने कोड़े खाना मंजूर कर लिया, लेकिन कोड़ों की मार न सह सकने के कारण उसने बीच में ही विष्ठा भक्षण करने की इच्छा व्यक्त की।[4]

राज-कर्मचारी चोरों को वस्त्रयुगल पहनाते, गले में कनेर के पुष्पों की माला डालते, और उनके शरीर को तेल से सिक्त कर उस पर भस्म लगाते। फिर उन्हें नगर के चौराहों पर घुमाया जाता, घूंसों, लातों, डंडों और कोड़ों से पीटा जाता, उनके ओंठ, नाक और कान काट

---

१. मूलदेव और रोहिणेय आदि चोरों को कथाएँ भी जैन-ग्रंथों में आती हैं। जब रोहिणेय के पिता का देहान्त हो गया तो रोहिणेय की माँ ने अपने पुत्र को पीढ़ी-दर-पीढ़ी से चले आते हुए चोरी के पेशे को स्वीकार करने के लिए कहा। सबसे पहली चोरी के अवसर पर रोहिणेय की माँ ने अपने बेटे के सिर पर हाथ फेरकर सात बत्तियों का दीपक जलाया और मस्तक पर तिलक कर के उसे आशीर्वाद दिया। आगे चलकर, बौद्ध-ग्रंथों के अंगुलिमाल की भाँति, रोहिणेय भी श्रमणधर्म में दीक्षित हो गया। देखिए व्यवहारभाष्य २.३०४; हेमचन्द्र, योगशास्त्रटीका, पृ० ११६-अ आदि; एच० एम० जॉनसन का लेख, जर्नल ऑव ओरिएन्टियल सोसाइटी, जिल्द ४४, पृ० १-१०; याज्ञवल्क्यस्मृति, २.२३.२७३।

२. उत्तराध्ययनटीका, ४, पृ० ८६-अ।

३. वही, १३, पृ० १९२-अ।

४. आचारांगचूर्णी २, पृ० ६५।

लिए जाते, रक्त से लिप्त मांस को उनके मुंह में डाला जाता और फिर खण्ड-पटह से अपराधों की घोषणा की जाती ।[1]

इसके सिवाय, लोहे या लकड़ी में अपराधियों के हाथ-पैर बांध दिये जाते (अंडुगवद्ध), खोड़ में पैर बांधकर ताला लगा दिया जाता (हडिवद्धग), हाथ, पैर, जीभ, सिर, गले की घंटी अथवा उदर को छिन्न कर दिया जाता, कलेजा, आंख, दांत और अण्डकोश आदि मर्म स्थानों को खींचकर निकाल लिया जाता, शरीर के छोटे-छोटे टुकड़े कर दिये जाते, रस्सी में बांधकर गड्ढे में और हाथ बाँधकर वृक्ष की शाखा में लटका देते, हाथी के पैर के नीचे डालकर रौंदवा देते, चंदन की भांति पत्थर पर रगड़ते, दही की भांति मथते, कपड़े की भांति पछाड़ते, गन्ने की भांति पेरते, मस्तक को भेद देते, खार में फेंक देते, खाल उधेड़ देते, लिंग को मरोड़ देते, आग में जला देते, कीचड़ में धंसा देते, गर्म शलाका शरीर में घुसेड़ देते, क्षार, कटु और तिक्त पदार्थ जबर्दस्ती पिलाते, छाती पर पत्थर रखकर तोड़ते, लोहे के डंडों से वक्षस्थल, उदर और गुह्य अङ्गों का छेदन करते, लोहे की मुग्दर से कूटते, चांडालों के मुहल्ले में रख देते, देश से निर्वासित कर देते, लोहे के पिंजरे में बन्द कर देते, भूमिगृह, अंधकूप या जेल में डाल देते, और शूली पर चढ़ाकर मार डालते ।[2]

स्त्रियाँ भी दण्ड की भागी होती थीं, यद्यपि गर्भवती स्त्रियों को क्षमा कर दिया जाता। किसी पुरोहित ने अपनी गर्भवती कन्या को घर से निकाल दिया, वह किसी गंधी के यहाँ नौकरी करने लगी। मौका पाकर उसने अपने मालिक के बहुमूल्य बर्तन और कपड़े चुरा लिये। गिरफ्तार कर लिये जाने पर, प्रसव के बाद, राजा ने उसे मृत्यु-दण्ड की आज्ञा दी ।[3]

---

१. विपाकसूत्र २, १३; ३, २१; प्रश्नव्याकरण १२, पृ० ५०-अ-५४। तथा देखिये अंगुत्तरनिकाय २, ४, पृ० १२८।

२. प्रश्नव्याकरण १२, पृ० ५० अ-५१अ; ५४-५४ अ; विपाकसूत्र २, पृ० १३; ३, पृ० २१; औपपातिक सूत्र ३८, पृ० १६२ आदि; उत्तराध्ययनटीका पृ० १६० अ; तथा देखिए अर्थशास्त्र ४.८-१३, ८३-८८, ९८; मिलिन्द-प्रश्न, पृ० १९७।

३. गच्छाचारवृत्ति ३६।

चोरों की भांति दुराचारियों को भी शिरोमुंडन, तर्जन, ताडन, लिंगच्छेदन, निर्वासन और मृत्यु आदि दण्ड दिये जाते थे।[1] वाणिय-ग्राम-वासी उज्झित नाम का कोई युवक कामध्वजा वेश्या के घर नित्य नियम से जाया करता था। राजा भी वेश्या से प्रेम करता था। एक दिन उज्झित कामध्वजा के घर पकड़ा गया। राजकर्मचारियों ने उसकी खूब मरम्मत की। उसके दोनों हाथ उसकी पीठ पीछे बांध, नाक-कान काट, उसके शरीर को तेल से सिंचित कर, मैले-कुचैले वस्त्र पहना, कनेर के फूलों की माला गले में डाल, उसे अपने ही शरीर का मांस खिलाते हुए, खोखरे बांस से ताड़ना करते हुए, उसे वध्यस्थान को ले गये।[2] सगड और सुदर्शना वेश्या को भी कठोर दण्ड का भागी होना पड़ा। सुदर्शना राजा के मंत्री की रखैल थी, और सगड छिपकर उसके घर जाया करता था। पकड़े जाने पर राजा ने दोनों को मृत्युदण्ड का हुकुम सुनाया। सगड़ ने आग से तपती हुई एक स्त्री की मूर्ति का आलिंगन करते हुए प्राणों का त्याग किया।[3] पोदनपुर के कमठ का अपने भ्राता की पत्नी के साथ अनुचित सम्बन्ध हो जाने के कारण उसे मिट्टी के कसोरों की माला पहना, गधे पर बैठा, सारे नगर में घुमाकर निर्वासित कर दिया गया।[4] कौशांबी के राजा उदयन के पुरोहित बृहस्पतिदत्त, तथा श्रीनिलयनगर के वणिक् को दण्ड दिये जाने का उल्लेख पहले किया जा चुका है। हाँ, ब्राह्मणों को दण्ड देते समय सोच-विचार से काम लिया जाता था। व्यवहारभाष्य में एक ब्राह्मण की कथा आती है जिसे अपनी पतोहू या किसी चांडाली के साथ व्यभिचार करने पर, केवल वेदों का स्पर्श कराकर छोड़ दिया गया।[5]

---

१. सूत्रकृतांग ४.१.२२; निशीथचूर्णी १५, ५०६० की चूर्णी; मनुस्मृति ८.३७४; याज्ञवल्क्यस्मृति ३.५. २३२ में आचार्यपत्नी और अपनी कन्या के साथ विषयभोग करने पर लिङ्गच्छेद का विधान है।

२. विपाकसूत्र २, पृ० १३; देखिए कणवीरजातक (३१८); सुलसा जातक (४१९; पृ० ६५); तथा याज्ञवल्क्यस्मृति (३.५. २३२ आदि); मनुस्मृति (८.३७२ आदि)।

३. विपाकसूत्र ४, पृ० ३१; १०, पृ० ५६।

४. उत्तराध्ययनटीका २३, पृ० २८५ आदि; देखिए गहपतिजातक (१९९)। स्त्रियों को भी इस प्रकार का दण्ड दिया जाता था, मनुस्मृति ८.३७०।

५. पीठिका, गाथा १७, पृ० १०। तुलना कीजिए गौतमधर्मसूत्र.१२.१;

चोरी और व्यभिचार की भांति हत्या भी महान् अपराध गिना जाता था। हत्या करनेवाले अर्थदण्ड (जुर्माना) और मृत्युदण्ड के भागी होते थे।[1] मथुरा के नंदिषेण नामक राजकुमार की कथा पहले आ चुकी है। राजा के नाई के साथ मिलकर उसने राजा की हत्या का षड्यंत्र रचा, लेकिन जब षड्यंत्र का भेद खुल गया तो राजकुमार को गर्म लोहे के सिंहासन पर बैठाकर, तप्त लोहे के कलशों में भरे हुए खारे तेल से तपते हुए लोहे का हार और मुकुट उसे पहना दिये गये, और इस प्रकार नंदिषेण मृत्युदण्ड का भागी हुआ।[2] हत्या करने वाली स्त्रियों को भी दण्ड दिया जाता था। राजा पुष्पनंदि की रानी देवदत्ता अपनी सास से बहुत ईर्ष्या करती थी। उसने अपनी सास को तपे हुए लोहे के डण्डे से दागकर मरवा डाला। पता लगने पर राजा ने देवदत्ता को पकड़वाकर, उसके हाथों को पीठ पीछे बंधवा, और उसके नाक-कान कटवा उसे शूली पर चढ़वा दिया।[3]

राजा का एकच्छत्र राज्य

प्राचीन भारत में राजा का एकच्छत्र राज्य था। विविध प्रकार से वे प्रजा को कष्ट पहुँचाते। राजाज्ञा का उल्लंघन करने वाले उसके दारुण कोप से नहीं बच पाते। परिषदों का अपमान करने वालों को भिन्न-भिन्न दण्ड-व्यवस्था का विधान किया गया है। यदि कोई ऋषि-परिषद् का अपमान करे तो उसे केवल अमनोज्ञ वचन कहकर छोड़ देना चाहिए, यदि कोई ब्राह्मण-परिषद् का अपमान करे तो उसके मस्तक पर कुण्डी या कुत्ते का चिह्न बनाकर निर्वासित कर

यहाँ कहा गया है कि यदि कोई शूद्र किसी ब्राह्मण को अपशब्द कहे या उसके साथ मारपीट करे तो उसके उसी अङ्ग को छेद देना चाहिए, तथा ८.१२ आदि; तथा कौटिल्य, अर्थशास्त्र ४.८.८३.३२ (सर्वापराधेष्वपीडनीयो ब्राह्मणः)।

१. पुरुषवध के लिए तलवार उठाने पर ८० हजार जुर्माना किया जाता, प्रहार करने पर मृत्यु न हो तो भिन्न-भिन्न देशों की प्रथा के अनुसार जुर्माना देना पड़ता, तथा यदि मृत्यु हो जाय तो भी हत्यारे को ८० हजार दण्ड भरना पड़ता, बृहत्कल्पभाष्य ४, ५१०४।

२. विपाकसूत्र ६, पृ० ३८-३६।

३. वही, पृ० ४६, ५५।

देना[1] चाहिए, यदि कोई गृहपति-परिषद् का अपमान करे तो उसे घास-फूस में लपेटकर जला देना चाहिए, लेकिन यदि कोई क्षत्रिय-परिषद् का अपमान करे तो उसके हाथ, और पैर काटकर उसे शूली पर चढ़ाकर, एक झटके से मार डालना चाहिए।[2] राजाज्ञा की अवहेलना करने वालों को तेज खार में डाल दिया जाता, तथा जितनी देर गाय के दुहने में लगती है, उतनी देर में उनका कंकाल-मात्र शेष रह जाता।[3] ईरान के शाहंशाहों (साहाणुसाहि) द्वारा अपने अधीन रहने वाले शाहों के पास स्वनाममुद्रित कटार भेजने का उल्लेख मिलता है, जिसका अर्थ है कि उनका सिर काट लिया जाये।[4]

राजा बड़े शक्की होते थे, और किसी पर जरा-सा भी शक हो जाने पर उसके प्राण लेकर ही छोड़ते थे। नन्द राजाओं को दास समझकर जो लोग उनके प्रति आदर न जताते उन्हें कठोर दण्ड दिया जाता। एक बार नन्द राजा का मन्त्री कल्पक अपने पुत्र के विवाह का उत्सव मना रहा था। नन्द का भूतपूर्व मंत्री कल्पक से द्वेष रखता था। उसने राजा के पास दासी भेजकर झूठमूठ कहला दिया कि कल्पक अपने पुत्र को राजगद्दी पर बैठाने की तैयारी कर रहा है। इतना सुनना था कि नन्द ने कल्पक को बुलाकर, कुटुम्ब-परिवार सहित उसे कुएं में डलवा दिया।[5] नौवें नन्द के मन्त्री कल्पकवंशोत्पन्न शकटार के विषय में भी यही हुआ। अपने पुत्र के विवाह के अवसर पर जब उसने राजा के नौकरों-चाकरों को एकत्रित किया तो शकटार के प्रतिस्पर्धी वररुचि ने राजा के पास जाकर चुगली लगायी कि शकटार राजा का वध कर अपने पुत्र का राजतिलक कर रहा है। यह सुनकर नन्द को बहुत क्रोध आया। सारे परिवार पर संकट आया

---

१. अर्थशास्त्र ४.८.८३.३३.३४ और याज्ञवल्क्यस्मृति, २, २३,२७० में भी इसका उल्लेख है।

२. राजप्रश्नीय १८४, पृ० ३२२। अंगुत्तरनिकाय २,४, पृ. १३६-४० में भी चार परिषदों का उल्लेख है।

३. खारंतके पक्खित्ता गोदोहमित्तेणं कालेणं अट्ठिसंकलिया सेसा, आचारांगचूर्णी ७, पृ० ३८।

४. निशीथचूर्णी १०,२८६० चूर्णी पृ० ५६।

५. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १८२।

देख, शकटार ने अपने पुत्र को समझा-बुझाकर उसे अपनी (शकटार की) हत्या करने के लिए बाध्य किया जिससे मन्त्रीकुल की रक्षा हो सके।[1] महामन्त्री चाणक्य को भी नन्द का कोपभाजन होना पड़ा। नन्द का मन्त्री सुबन्धु चाणक्य से मन-ही-मन बहुत द्वेष रखता था। एक बार उसने राजा के पास जाकर झूठमूठ कह दिया कि चाणक्य ने राजमाता का वध कर दिया है। राजा ने धाई से पूछा; धाई ने सुबन्धु की बात का समर्थन किया। अगले दिन चाणक्य जब राजा के पादवंदन के लिए आया तो राजा ने उसकी ओर देखा भी नहीं। चाणक्य समझ गया कि अब जीवित रहना कठिन है। इसलिये अपने पुत्र-पौत्रों में धन का बंटवारा कर वह जंगल में गया और अग्नि में जलकर इङ्गिनीमरण द्वारा उसने प्राण त्याग दिये।[2]

नन्द राजाओं की भांति मौर्यवंश की आज्ञा भी अप्रतिहत समझी जाती थी। चन्द्रगुप्त जब पाटलिपुत्र के राज्य पर अभिषिक्त हुआ तो कतिपय क्षत्रिय लोग उसे मयूरपोषकों की सन्तान समझकर उसकी अवहेलना करने लगे। इस पर चाणक्य ने क्रोध में आकर क्षत्रियों के गाँवों में आग लगवा दी।[3]

बृहत्कल्पभाष्य में प्रतिष्ठान के राजा शालिवाहन की कथा आती है। एक बार उसने अपने दण्डनायक को मथुरा जीतकर लाने का आदेश दिया। लेकिन मथुरा नाम के दो नगर थे, एक उत्तर मथुरा और दूसरा दक्षिण मथुरा (आधुनिक मदुरा)। दण्डनायक समझ न सका कि राजा का अभिप्राय कौन-से नगर से है। दुविधा-दुविधा में

---

१. वही, पृ० १८४।

२. दशवैकालिकचूर्णी, पृ० ८१ आदि। हेमचन्द्र के स्थविरावलिचरित (८ ३७७-४१४) में चन्द्रगुप्त की रानी दुर्धरा की कथा आती है। वह गर्भवती थी और राजा के साथ बैठकर भोजन कर रही थी। चाणक्य के आदेशानुसार राजा के भोजन में किंचित् मात्रा में विष मिश्रित किया जाता था जिससे राजा के शरीर पर विष का असर न हो लेकिन विष का प्रभाव दुर्धरा के शरीर में फैलते देर न लगी। चाणक्य ने फौरन ही रानी का पेट चाक कर उसमें से बालक को निकाल लिया। तथा तुलना कीजिए बिन्दुसार के सम्बन्ध में बौद्धपरम्परा, मललसेकर, डिक्शनरी ऑव पालि प्रोपर नेम्स, भाग २, 'बिन्दुसार'।

३. बृहत्कल्पभाष्य १.२४८९; तथा निशीथभाष्य १६.५१३९ की चूर्णी।

ही अपनी सेना लेकर उसने प्रस्थान किया और सौभाग्य से उसने दोनों ही मथुराओं को जीत लिया। विजय का समाचार जब राजा के पास पहुँचा तो उसके हर्ष का पारावार न रहा। इसी समय पुत्र-जन्म और निधि के लाभ के शुभ समाचार भी राजा को मिले। इससे राजा हर्ष से उन्मत्त हो उठा और अपने शयन, स्तम्भ और प्रासाद की वस्तुओं को कूटने-पीटने लगा। मंत्री ने देखा कि यह अच्छी बात नहीं, उसने राजा को बोध प्राप्त कराने के लिए प्रासाद के खम्भे आदि को तोड़ना शुरू कर दिया। यह देखकर राजा को बड़ा क्रोध आया, और उसने मन्त्री को प्राणदण्ड की आज्ञा दी।[1] इसी प्रकार वाराणसी के राजा शंख ने, कुछ साधारण-सा अपराध हो जाने पर नमुचि नामक अपने मंत्री का प्रच्छन्न रूप से वध करने का आदेश दिया।[2]

एक बार इन्द्र-महोत्सव पर राजा ने घोषणा करायी कि सब लोग नगर के बाहर जाकर महोत्सव मनायें। लेकिन किसी पुरोहित के पुत्र ने इस आदेश की परवा न की, और वह वेश्या के घर में छिप गया। पता लगने पर राजपुरुषों ने उसे गिरफ्तार कर लिया। पुरोहित अपने पुत्र की रक्षा के लिए अपना सारा धन अर्पण करने को तैयार हो गया, लेकिन राजा ने एक न सुनी और उसे शूली पर चढ़वा दिया।[3] रत्नकूट नगर के राजा रत्नशेखर ने नागरिकों को आज्ञा दी कि वे अपनी-अपनी स्त्रियों सहित नगर के बाहर जाकर कौमुदी-उत्सव मनायें। किसी गृहस्थ के पुत्रों ने राजा की आज्ञा का पालन न किया, और वे अपने घर में बैठे रहे। पता लगने पर राजा ने उन्हें प्राणदण्ड की आज्ञा दी। बहुत अनुनय-विनय करने पर छः में से केवल एक पुत्र की रक्षा हो सकी।[4]

मिथिला के राजा कुम्भक ने राजकुमारी मल्ली के टूटे हुए कुण्डल जोड़ने के लिए नगर की सुवर्णकार-श्रेणी को बुलाया, और जब वे यह

---

१. बृहत्कल्पभाष्य ६.६२४४-४६।

२. उत्तराध्ययनटीका १३, पृ० १८५-अ; राजा द्वारा अपने मंत्रियों को दण्ड दिये जाने के सम्बन्ध में देखिए महाबोधिजातक (५२८)।

३. उत्तराध्ययनटीका ४, पृ० ८२-अ।

४. सूत्रकृताङ्गटीका २.७, पृ० ४१३।

काम न कर सके तो उन्हें निर्वासित कर दिया।[1] राजकुमार मल्लदिन्न ने किसी चित्रकार को प्राणदण्ड की आज्ञा सुनाई।[2] कोई वैद्य किसी राजपुत्र को निरोग न कर सका, अतएव उसे प्राणों से हाथ धोना पड़ा।[3] अपराधियों को अपना निवास-स्थान छोड़कर, चाण्डालों के मुहल्ले में रहने का भी दण्ड दिया जाता था।[4]

चोरी का पता लगाने के लिए विविध उपायों को काम में लिया जाता। साधु दो प्रकार के चावल बांटते, एक खालिस चावल और दूसरे मोरपंख मिश्रित चावल। कोई साधु सब गृहस्थों को एक पंक्ति में बैठाकर उनकी अंजलि में पानी डालता। फिर जिस साधु ने चोर को चोरी करते हुए देखा है उसे खालिस चावल देता, और जिसने चोरी की है उसे मोरपंख मिश्रित चावल देता।[5]

कितनी ही बार जैन-साधुओं को भी दण्ड का भागी होना पड़ता। यदि उन्हें कभी कोई वृक्ष के फल आदि तोड़ते हुए देख लेता तो हाथ, पांव, या डण्डे आदि से उनकी ताड़ना की जाती, अथवा उनके उपकरण छीन लिये जाते, या उन्हें पकड़कर राजकुल के कारणिकों के पास ले जाया जाता, और अपराध सिद्ध हो जाने पर घोषणापूर्वक उनके हाथ-पैर आदि का छेदन कर दण्ड दिया जाता।[6]

जेलखाने (चारग)

जेलखानों की अत्यन्त शोचनीय दशा थी और उनमें कैदियों को दारुण कष्ट दिये जाते थे। कैदियों का सर्वस्व अपहरण कर उन्हें जेलखाने में डाल दिया जाता, और क्षुधा, तृषा और शीत-उष्ण से व्याकुल हो उन्हें कष्टमय जीवन व्यतीत करना पड़ता। उनके मुख की छवि काली पड़ जाती, खांसी, कोढ़ आदि रोगों से वे पीड़ित रहते, नख, केश और रोम उनके बढ़ जाते तथा अपने ही मल-मूत्र में पड़े वे जेल में सड़ते रहते। उनके शरीर में कीड़े पड़ जाते, और उनका प्राणान्त होने

---

१. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० १०५।
२. वही पृ० १०७।
३. बृहत्कल्पभाष्य ३.३२५६ आदि।
४. उत्तराध्ययनटीका, पृ० १६०-अ।
५. बृहत्कल्पभाष्य ३.४६३८।
६. वही १.९००; ९०४-५।

पर उनके पैर में रस्सी बांध उन्हें खाई में फेंक दिया जाता। भेड़िए, कुत्ते, गीदड़ और मार्जार वगैरह उन्हें भक्षण कर जाते।[1]

जेलखाने में तांबे, जस्ते, शीशे, चूने और क्षार के तेल से भरी हुई लोहे की कुंडियां गर्म करने के लिए आग पर रक्खी रहतीं, और बहुत से मटके हाथी, घोड़े, गाय, भैंस, ऊँट, भेड़ और बकरी के मूत्रों से भरे रहते। हाथ-पैर बांधने के लिए यहाँ अनेक काष्ठमय बंधन खोड़, बेड़ी, शृंखला; मारने पीटने के लिए बांस, बेंत, वल्कल और चमड़े के कोड़े; कूटने-पीटने के लिए पत्थर की शिलाएँ, पाषाण और मुद्गर; बांधने के लिए रस्से; चीरने और काटने के लिए तलवार, आरियां और छुरे; ठोकने के लिए लोहे की कीलें, बांस की खपच्चें; चुभाने के लिए सूई और लोहे की शलाकाएँ; तथा काटने के लिए छुरी, कुठार, नखच्छेद और दर्भतृणों आदि का उपयोग किया जाता था।

सिंहपुर नगर में दुर्योधन नाम का एक दुष्ट जेलर रहा करता था। वह जेल में पकड़कर लाए हुए चोरों, परस्त्री-गामियों, गँठकतरों, राजद्रोहियों, ऋण-ग्रस्तों, बालघातकों, विश्वासघातकों, जुआरियों, और धूर्तों को अपने कर्मचारियों से पकड़वा, उन्हें सीधा लिटवाता और लोहदण्ड से उनके मुंह खुलवाकर उनमें गर्म-गर्म तांबा, खारा तेल, तथा हाथी-घोड़ों का मूत्र डालता। अनेक कैदियों को उलटा लिटवाकर, उन्हें खूब पिटवाता, किसी के हाथ-पैर काष्ठ और शृंखला में बँधवा देता, हाथ, पैर, नाक, ओंठ, जीभ आदि कटवा लेता, किसी को वेणु लता से पिटवाता, उनकी छाती पर शिला रखवा और दोनों ओर से दो पुरुषों से लाठी पकड़वाकर जोर-जोर से हिलवाता। उनका सिर नीचे और पैर ऊपर करके गड्ढे में से पानी पिलवाता, असिपत्र आदि से उनका विदारण करवाता, क्षार तेल को उनके शरीर पर चुपड़वाता, उनके मस्तक, गले की घण्टी, हथेली, घुटने और पैरों के जोड़ में लोहे की कीलें ठुकवाता, बिच्छू जैसे काँटों को शरीर में घुसाता, सूई आदि को हाथों-पैरों की उँगलियों में ठुकवाता, नखों से भूमि खुदवाता, नखच्छेदक आदि द्वारा शरीर को पीड़ा पहुँचवाता, घावों पर गीले दर्भकुश बँधवाता और उनके सूख जाने पर तड़तड़ की आवाज से उन्हें उखड़वाता।[2]

---

१. प्रश्नव्याकरण १२, पृ० ५५ आदि।

२. विपाकसूत्र ६, पृ० ३६-३८।

राजगृह का कारागार

राजगृह में धन्य नाम का एक सार्थवाह रहता था। एक बार कोई अपराध हो जाने पर नगर-रक्षकों ने उसे पकड़कर जेल में डाल दिया। उसी कारागार में धन्य के पुत्र का हत्यारा विजय चोर भी सजा काट रहा था। दोनों को एक खोड़ में बाँध दिया जाता, इससे दोनों को सदा साथ-साथ रहना पड़ता था। धन्य की स्त्री प्रातःकाल भोजन तैयार कर उसे भोजन-पिटक (टिफिन) में भर दासचेट के हाथ अपने पति के लिए भेजा करती। एक दिन विजय चोर ने धन्य के पिटक में से भोजन माँगा, लेकिन धन्य ने देने से मना कर दिया। एक दिन भोजन के उपरान्त धन्य को शौच की हाजत हुई; धन्य ने विजय से एकान्त स्थान में चलने को कहा। विजय ने उत्तर दिया कि तुम तो खूब खाते-पीते और मौज करते हो, इसलिए तुम्हारा शौच जाना स्वाभाविक है, लेकिन मुझे तो रोज कोड़े खाने पड़ते हैं, और मैं सदा भूख-प्यास से पीड़ित रहता हूँ। यह कहकर विजय ने धन्य के साथ जाने से इन्कार कर दिया। थोड़ी देर बाद धन्य ने फिर से विजय से चलने को कहा। अन्त में इस बात पर फैसला हुआ कि धन्य उसे भी अपने भोजन में से खाने को दिया करेगा। कुछ दिनों बाद अपने इष्ट-मित्रों के प्रभाव से बहुत-सा धन खर्च करके धन्य कारागार से छूट गया। सर्वप्रथम क्षौरकर्म कराने के लिए वह अलंकारिक-सभा[1] (सैलून) में गया। वहाँ से पुष्करिणी में स्नान कर उसने नगर में प्रवेश किया। उसे देख कर उसके सगे-सम्बन्धी बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसका आदर-सत्कार किया।[2]

राजा श्रेणिक को भी राजगृह के कारागार में कुछ समय तक कैदी बनाकर रक्खा गया था। प्रातःकाल और सायंकाल उसे कोड़ों से पीटा जाता, भोजन-पान उसका बन्द कर दिया गया था और किसी को उससे मिलने की आज्ञा नहीं थी। कुछ समय बाद उसकी रानी

---

१. अलंकारिक-सभा में वेतन देकर अनेक नाई रक्खे जाते थे। ये श्रमण, अनाथ, ग्लान, रोगी और दुर्बलों का अलंकार-कर्म करते थे, ज्ञातृधर्मकथा १३, पृ० १४३।

२. ज्ञातृधर्मकथा २, पृ० ५४–५७; जातकों में कैदियों के कठोर जीवन के लिए देखिए रतिलाल मेहता, प्री-बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १५६।

चेल्लणा को उससे मिलने की अनुमति दी गयी। वह अपने बालों में कोई पेय छिपाकर ले जाती, और इसका पान कर श्रेणिक जीवित रहता।[1]

पुत्रोत्पत्ति, राज्याभिषेक आदि उत्सवों के अवसर पर प्रजा का शुल्क माफ कर दिया जाता, और कैदियों को जेल से छोड़ दिया जाता।[2]

---

१. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १७१।

२. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० २०; तुलना कीजिए, अर्थशास्त्र २.३६.५६.६०।

चौथा अध्याय

सैन्य-व्यवस्था

युद्ध के कारण

उस युग में सामन्त लोग अपने साम्राज्य को विस्तृत करने के लिए युद्ध किया करते थे। क्षत्रिय राजा अवसर पाकर अपने शौर्य का प्रदर्शन करने में न चूकते। अधिकांश युद्ध स्त्रियों के कारण लड़े जाते। संकट अवस्था को प्राप्त स्त्रियों की रक्षा करने के लिए, उनके रूप-सौन्दर्य से आकृष्ट हो, उन्हें प्राप्त करने के लिए अथवा स्वयंवरों के अवसरों पर प्रायः युद्ध हुआ करते। प्राचीन जैनग्रन्थों में सीता[1], द्रौपदी[2], रुक्मिणी[3], पद्मावती[3], तारा[4], कांचना[5], रक्तसुभद्रा[6], अहिन्निका[5], सुवर्णगुलिका[7], किन्नरी[5], सुरूपा[5], विद्युन्मती[5] और

---

१. सीता की कथा विमलसूरि के पउमचरिय में मिलती है। रावण सीता को हरण करके ले गया, उसे प्राप्त करने के लिए राम ने रावण के साथ युद्ध किया।

२. द्रौपदी की कथा ज्ञातृधर्मकथा (१६) में आती है। कौरव और पाण्डवों का युद्ध महाभारत के नाम से प्रसिद्ध है।

३. रुक्मिणी और पद्मावती कृष्णवासुदेव की आठ अग्रमहिषियों में गिनी गयी हैं। रुक्मिणी कुण्डिनीनगर के भीष्मक राजा के पुत्र रुक्मिण की बहन और पद्मावती अरिष्टनगर के राम के मामा हिरण्यनाभि की कन्या थी। कृष्ण द्वारा इनके अपहरण करने का उल्लेख हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (८.६) में मिलता है। तारा सुग्रीव की पत्नी थी। वाली और सुग्रीव किष्किन्धापुर के राजा आदित्यरथ के पुत्र थे। सुग्रीव को राज्य सौंप कर वाली ने दीक्षा ग्रहण की थी।

४. तारासम्बन्धी युद्ध का वर्णन त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (७.६) में मिलता है। तथा देखिए वाल्मीकिरामायण ४.१६।

५. टीकाकार अभयदेव के अनुसार कांचना, अहिन्निका, किन्नरी, सुरूपा और विद्युन्मती की कथाएँ अज्ञात हैं। कुछ लोग राजा श्रेणिक की अग्र-महिषी चेल्लणा को ही कांचना कहते हैं। प्रोफेसर वेबर ने इन्द्र की उपपत्नी अहल्या को अहिन्निका बताया है।

६. सुभद्रा कृष्णवासुदेव की बहन थी। अर्जुन द्वारा सुभद्रा के अपहरण की कथा, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (८.६) में मिलती है।

७. सुवर्णगुलिका का असली नाम देवदत्ता था। वह सिंधुसौवीर के राजा

रोहिणी[1] नामक महिलाओं के उल्लेख हैं, जिनके कारण संहारकारी युद्ध लड़े गये। मिथिला की राजकुमारी मल्ली[2] और कौशाम्बी की महारानी मृगावती[3] भी युद्ध का कारण बनी। कालकाचार्य की साध्वी भगिनी सरस्वती[4] को उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल द्वारा अपहरण करके अपने अन्तःपुर में रख लिये जाने के कारण, कालकाचार्य ने ईरान के शाहों के साथ मिलकर, गर्दभिल्ल के विरुद्ध युद्ध किया।

एक राजा दूसरे राजा पर आक्रमण करने की ताक में रहता, और यदि कोई बहुमूल्य वस्तु उसके पास होती तो उसे प्राप्त करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देता। उज्जयिनी के राजा प्रद्योत और कांपिल्य-पुर के राजा दुर्मुख के बीच एक बहुमूल्य दीप्तिवान महामुकुट को लेकर युद्ध छिड़ गया। कहते हैं कि इस मुकुट में ऐसी शक्ति थी कि उसे पहनने से दुर्मुख दो मुँह वाला दिखाई देने लगता। प्रद्योत ने इस मुकुट की माँग की, लेकिन दुर्मुख ने कहा कि यदि प्रद्योत अपना नलगिरि हाथी, अग्निभीरु रथ, शिवा महारानी और लोहजंघ पत्र-वाहक[5] देने को तैयार हो तो ही वह उसे मुकुट दे सकता है। इस पर

उद्रायण की रानी प्रभावती की दासी थी। गुटिका के प्रभाव से वह सुवर्ण के रंग की हो गयी थी। उज्जैन का राजा प्रद्योत हाथी पर चढ़ाकर उसे अपनी राजधानी ले गया। इस पर उद्रायण और प्रद्योत में युद्ध हुआ।

१. रोहिणी बलराम की माता और वसुदेव की पत्नी थी। रोहिणी-युद्ध की कथा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (८.४), तथा वसुदेवहिण्डी में मिलती है।

२. काशी, कोसल, अङ्ग, कुणाल, कुरु और पाञ्चाल के राजाओं ने मिथिला की राजकुमारी मल्ली के रूपगुण की प्रशंसा सुनकर मिथिला पर आक्रमण कर दिया। मिथिला के राजा कुम्भ का इन छहों राजाओं के साथ युद्ध हुआ, ज्ञातृधर्मकथा ८।

३. मृगावती कौशाम्बी के राजा शतानीक की महारानी थी। कोई चित्र-कार उसका चित्र बनाकर उज्जयिनी के राजा प्रद्योत के पास ले गया। चित्र को देखकर प्रद्योत रानी पर मोहित हो गया। उसने शतानीक के पास दूत भेजा कि या तो वह मृगावती को भेज दे, नहीं तो युद्ध के लिए तैयार हो जाय, आवश्यकचूर्णी, पृ० ८८ आदि।

४. देखिये निशीथचूर्णी १०.२८६० की चूर्णी।

५. राजा के धावनक जरूरी पत्र लेकर पवनवेग के समान दौड़ कर जाते थे, बृहत्कल्पभाष्य ६.६३२८।

दोनों में युद्ध हुआ। युद्ध में प्रद्योत की जय हुई और दुर्मुख को उसके पैर में कड़ा डालकर बन्दी बना लिया गया।[1]

चम्पा के राजा कूणिक का वैशाली के गणराजा चेटक के साथ सेचनक गंधहस्ति और अठारह लड़ी के कीमती हार को लेकर भीषण युद्ध हुआ, जिसमें विध्वंसक अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग किया गया। सकल राज्य-प्रधान धवल हस्ती को लेकर नमिराजा का अपने भाई चन्द्रयश के साथ युद्ध छिड़ गया। नमिराजा का हस्ती खम्भा तुड़ाकर भाग गया था, चन्द्रयश ने उसे पकड़ लिया और माँगने पर भी नहीं दिया। चन्द्रयश ने कहा कि किसी के रत्नों पर नाम नहीं लिखा रहता, जो उन्हें बाहुबल से प्राप्त कर ले वे उसी के हो जाते हैं।[2]

प्रायः सीमाप्रान्त को लेकर प्रत्यन्त राजाओं में युद्ध ठन जाया करते। कभी विदेशी राजाओं का भी आक्रमण हो जाता। क्षितिप्रतिष्ठित नगर में म्लेच्छ राजा का आक्रमण होने पर वहाँ के राजा ने घोषणा कराई कि सब लोग दुर्ग में घुसकर बैठ जायें।[3] चक्रवर्ती राजा अपने दल-बल सहित दिग्विजय करने के लिए प्रस्थान करते और समस्त प्रदेशों पर अपना अधिकार जमा लेते। ऋषभदेव के पुत्र प्रथम भरत चक्रवर्ती की कथा जैनसूत्रों में आती है। अपनी आयुधशाला के चक्ररत्न की सहायता से उन्होंने जम्बूद्वीप के मगध, वरदाम और प्रभास नाम के पवित्र तीर्थों और सिंधुदेवी पर विजय प्राप्त की। चर्मरत्न की सहायता से उन्होंने सिंहल, बब्बर, अंग, किरात, यवनद्वीप, आरबक, रोमक, अलसंड (एलेक्जेंड्रिया), तथा पिक्खुर, कालमुह और जोणक नामक म्लेच्छों, वैताढ्य पर्वत के दक्षिणवासी म्लेच्छों, तथा दक्षिण-पश्चिम प्रदेश से लगाकर सिंध सागर तक के प्रदेशों और रमणीय कच्छ को अपने अधिकार में कर लिया। तत्पश्चात् तिमिसगुहा में प्रवेश किया और इसका दक्षिण द्वार खोलने के लिए अपने सेनापति को आदेश दिया। वहाँ पर उन्होंने उम्मग्गजला और निम्मग्गजला नाम की नदियाँ पार कीं, तथा अवाड नाम के वीर और लड़ाकू किरातों पर विजय प्राप्त की, जो अर्धभरत के उत्तरी खण्ड में निवास करते थे। फिर क्षुद्र हिमवत को जीत कर वे ऋषभकूट पर्वत

१. उत्तराध्ययनटीका ६, पृ० १३५ आदि।

२. वही पृ० १४० आदि।

३. निशीथभाष्य १६.६०७६।

की ओर बढ़े और यहाँ शिलापट्ट पर काकणी रत्न से उन्होंने अपने प्रथम चक्रवर्ती होने की लिखित घोषणा की। वैताढ्य के उत्तरखण्ड में निवास करने वाले नमि और विनमि नाम के विद्याधर राजाओं ने सुभद्रा नामक स्त्रीरत्न भेंट कर उन्हें सम्मानित किया। उसके बाद गंगा नदी पार करते हुए वे गंगा के पश्चिमी किनारे पर अवस्थित खण्डप्रपात गुफा में आये और अपने सेनापति को उन्होंने इस गुफा का उत्तरी द्वार खोलने का आदेश दिया। यहाँ उन्हें नवनिधियों की प्राप्ति हुई। अन्त में चतुर्दश रत्नों से विभूषित हो भरत चक्रवर्ती विनीता (अयोध्या) राजधानी को लौट गये जहाँ बड़ी धूमधाम से उनका राज्याभिषेक किया गया।[1]

चतुरंगिणी सेना

युद्ध में सफलता प्राप्त करने के लिए रथ, अश्व, हस्ति और पदाति अत्यन्त उपयोगी होते थे। कन्या के विवाह में ये वस्तुयें दहेज में दी जाती थीं।[2] इनमें रथ का सबसे अधिक महत्त्व था। यह छत्र, ध्वजा, पताका, घण्टे, तोरण, नन्दिघोष और क्षुद्र घण्टिकाओं से मण्डित किया जाता। हिमालय में पैदा होनेवाले सुन्दर तिनिस काष्ठ द्वारा निर्मित होता और इसपर सोने की सुन्दर चित्रकारी बनी रहती। इसके चक्के और धुरे मजबूत होते तथा चक्कों का घेरा मजबूत लोहे का बना होता। इसमें जातवंत सुन्दर घोड़े जोते जाते और सारथि रथ को हांकता। धनुष, बाण, तूणीर, खड्ग, शिरस्त्राण आदि अस्त्र-शस्त्रों से यह सुसज्जित रहता।[3] रथ अनेक प्रकार के बताये गये हैं। संग्रामरथ कटीप्रमाण फलकमय वेदिका से सज्जित होता, जब कि यानरथ पर यह वेदिका न होती।[4] कर्णीरथ एक विशिष्ट प्रकार का रथ था जिसपर

---

१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ३.४१–७१; आवश्यकचूर्णी, पृ० १८२–२२८; उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २३२–अ आदि; वसुदेवहिण्डी पृ० १८६ आदि; तथा देखिए महाभारत १.१०१।

२. उत्तराध्ययनटीका ४ पृ० ८८।

३. औपपातिक सूत्र ३१, पृ० १३२; आवश्यकचूर्णी पृ० १८८; बृहत्कल्पभाष्य पीठिका २१६; तथा देखिए रामायण ३.२२.१३ आदि; महाभारत ५.६४.१८ आदि।

४. मलधारि हेमचन्द्र, अनुयोगद्वारटीका, पृ० १४६।

बैठने का सौभाग्य किसी श्रेष्ठी या वेश्या आदि को ही प्राप्त होता।[1] राजाओं के रथ सबसे बढ़कर होते, उनकी गणना रत्नों में की जाती। उज्जयिनी के राजा प्रद्योत के अग्निभीरु रथ पर अग्नि का कोई असर नहीं होता था।

प्राचीन जैनग्रन्थों में सेनापति, गृहपति, वर्धकी, पुरोहित और स्त्री के साथ-साथ हस्ति और अश्व को भी रत्नों में गिना गया है।[2] मौर्यकाल में हाथी का वध करने का निषेध था, और जो कोई उसका वध करता उसे फांसी की सजा दी जाती।[3]

हाथियों की अनेक जातियाँ होती थीं। गंधहस्ति को सर्वोत्तम बताया गया है।[4] ऐरावण इन्द्र के हाथी का नाम था। उत्तम हाथी के सम्बन्ध में कहा है कि वह सात हाथ ऊँचा, नौ हाथ चौड़ा, मध्य भाग में दस हाथ, पाद-पुच्छ आदि सात अङ्गों से सुप्रतिष्ठित, सौम्य, प्रमाणयुक्त, सिर उसका उठा हुआ, सुख-आसन से युक्त, पृष्ठ भाग शूकर के समान, उन्नत और मांसल कुक्षि, प्रलम्बमान उदर, लम्बी सूँड, लम्बे ओंठ, धनुष के पृष्ठभाग के समान आकृति, सुश्लिष्ट प्रमाण-युक्त दृढ़ शरीर, सटी हुई प्रमाणयुक्त पुच्छ, पूर्ण और सुन्दर कछुए के समान चरण, शुक्ल वर्ण, निर्मल और स्निग्ध त्वचा तथा स्फोट आदि

---

१. ज्ञातृधर्मकथा ३, पृ० ५६; आवश्यकचूर्णी पृ० १८८। हेमचन्द्र आचार्य ने अभिधानचिन्तामणि (पृ० ३००) में मरुद्रथ, योग्यारथ, अध्वरथ और कर्णीरथ का उल्लेख किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र २.३३.४६-५१.५ में देवरथ (देवी-देवताओं की सवारी के लिए काम में आनेवाला), पुष्परथ (विवाह आदि उत्सवों के अवसर पर काम में आनेवाला), सांग्रामिक (युद्ध में काम में आनेवाला), पारियानिक (साधारण यात्रा के काम में आनेवाला) तथा परपुराभियानिक (शत्रु के दुर्ग को तोड़ने में उपयोगी) और वैनयिक (घोड़े आदि को शिक्षित करने में उपयोगी) रथों का उल्लेख मिलता है।

२. स्थानांग ५५८।

३. अर्थशास्त्र २.२.२०.६।

४. श्रेणिक के सेचनक हस्ति और कृष्ण के विजय हस्ति को गंधहस्ति कहा गया है। यह हस्ति अपने यूथ का अधिपति होता था और अपनी गंध से अन्य हस्तियों को आकृष्ट करता था, आवश्यकचूर्णी २, पृ. १७०; ज्ञातृधर्मकथा पृ० १०० अ। बृहत्कल्पभाष्य १.२०१० में श्रमणसंघ के आचार्य को 'भद्दग गंधहत्थी' कहकर उल्लिखित किया है।

दोषरहित नखों वाला होता है।[1] भद्र, मन्द, मृग और संकीर्ण, ये हाथी के चार भेद बताये गये हैं। इनमें भद्र हाथी सर्वोत्तम माना जाता था। वह मधु-गुटिका की भाँति पिंगल नेत्र वाला, सुन्दर और दीर्घ पूँछ वाला, अग्रभाग में उन्नत तथा सर्वांग-परिपूर्ण होता था। सरोवर में वह क्रीड़ा[2] करता और दाँतों से प्रहार करता।[3] मन्द हाथी शिथिल, स्थूल, विषम त्वचा से युक्त, स्थूल शिर, पूँछ, नख और दन्त वाला तथा हरित् और पिंगल नेत्रों वाला होता था। धैर्य और वेग आदि में मन्द होने के कारण उसे मन्द कहा गया है। वसन्त ऋतु में वह जलक्रीड़ा करता और सूँड से प्रहार करता। मृग हाथी कृश होता, उसकी ग्रीवा, त्वचा, दाँत और नख कृश होते, तथा वह भीरु और उद्विग्न होता। हेमन्त ऋतु में वह जलक्रीड़ा करता, और अधरों से प्रहार करता। संकीर्ण हाथी इन सबकी अपेक्षा निकृष्ट माना जाता था। वह रूप और स्वभाव से संकीर्ण होता तथा अपने समस्त अंगों से प्रहार करता।[4] शशि, शंख और कुन्दपुष्प के समान धवल हाथी का उल्लेख किया गया है। गंडस्थल से उसके मद प्रवाहित होता रहता और बड़े-बड़े वृक्षों को वह उखाड़ता हुआ चला आता।[5] हस्तियूथ का उल्लेख मिलता है। ये हाथी जंगल के अगाध जल से पूर्ण तालाबों का जलपान कर विचरण किया करते थे।[6]

हाथी की आयु साठ वर्ष (सट्ठिहायन) की बतायी है। राजा अपने हाथियों के विशिष्ट नाम रखते थे। राजा श्रेणिक के हाथी का

---

१. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० ३५।

२. सरोवर में स्नान करने के बाद अपने शरीर पर धूल डालने वाले हाथियों का उल्लेख है, बृहत्कल्पभाष्य १.११४७।

३. अर्थशास्त्र २.३१.४८.६ में सात हाथ ऊँचे, नौ हाथ लम्बे और दस हाथ मोटे चालीस वर्ष की उम्र वाले हाथी को सर्वोत्तम कहा है।

४. स्थानांग ४.२८१; तथा ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० ३६। तथा देखिये बृहत्संहिता का हस्तिलक्षण (६६) नामक अध्याय; अर्थशास्त्र २.३१.४८। सम्मोहविनोदिनी (पृ० ३६७) में दस प्रकार के हाथी बताये गये हैं:— कालावक, गंगेय्य, पंडर, तंब, पिंगल, गंध, मंगल, हेम, उपोसथ, छद्दन्त। तथा देखिये रामायण १.६.२५।

५. उत्तराध्ययनटीका, ४, पृ० ६० अ; ९, पृ० १०४।

६. निशीथचूर्णी १०.२७८४ चूर्णी, पृ० ४१।

जंगली हाथियों को पकड़ कर शिक्षा दी जाती थी। विन्ध्याचल के जंगलों में हाथियों के झुण्ड घूमते-फिरते थे। उन्हें नल के वनों में पकड़ा जाता था।[1] पहले वे अपनी सूण्ड से काष्ठ, फिर छोटे पत्थर, फिर गोली, फिर बेर और फिर सरसों उठाने का अभ्यास करते।[2] हाथियों को शिक्षा देने वाले दमग उन्हें वश में करते; मेंठ हरे गन्ने, टहनी (यवस) आदि खिलाकर उन्हें सवारी के काम में लेते; और आरोह युद्धकाल में उन पर सवारी करते।[3] कौशाम्बी का राजा उदयन अपने मधुर संगीत द्वारा हाथियों को वश में करने की कला में निष्णात माना जाता था।[4] मूलदेव ने भी वीणा बजाकर एक हथिनी को वश में किया था।[5] कभी हाथी सांकल तुड़ाकर भाग जाते और नगरी में उपद्रव करने लगते जिससे सर्वत्र कोलाहल मच जाता। ऐसे समय कोई राजकुमार या साहसी पुरुष हाथी की सूंड के सामने गोलाकार लिपटा हुआ उत्तरीय वस्त्र फेंककर उसके क्रोध को शान्त करता।[6] महावत (महामात्र; हत्थियाउअ) हस्तिशाला (जड्डशाला)[7] की देखभाल करते। अंकुश की सहायता से वे हाथी को वश में रखते, तथा झूल (उच्चूल)[8], वैजयन्ती (ध्वजा), माला और विविध अलंकारों से उन्हें विभूषित करते। हाथियों की पीठ पर अम्बारी (गिल्लि[10]) रक्खी जाती, जिस पर बैठा हुआ मनुष्य दिखाई न पड़ता। उन्हें स्तम्भ (आलाण) में बांधा जाता और उनके पांवों में मोटे-मोटे रस्से पड़े रहते।[11]

हाथियों की भाँति घोड़ों का भी बहुत महत्व था। वे तेज

---

१. पिंडनिर्युक्ति ८३। कौटिल्य ने ग्रीष्म ऋतु में २० वर्ष या इससे अधिक आयु वाले हाथियों को पकड़ने का विधान किया है, अर्थशास्त्र २.३१.४८.७।

२. बृहत्कल्पभाष्य पीठिका २२१।

३. निशीथचूर्णी ६.२३–२५ तथा चूर्णी।

४. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १६१।

५. उत्तराध्ययनटीका, ३, पृ० ६०।

६. वही, १३, पृ० १८६, १६५; ४, पृ० ८१।

७. व्यवहारभाष्य १०.४८४।

८. दशवैकालिक २.१०; उत्तराध्ययनटीका ४, पृ० ८१।

९. औपपातिक ३०, पृ० ११७।

१०. प्रश्नव्याकरण ३, पृ० १७।

११. उत्तराध्ययनटीका ४, पृ० ८९।

दौड़ते, शत्रु-सेना पर पहले से ही आक्रमण कर देते, शत्रु की सेना में घुसकर उसे विचलित कर देते, अपनी सेना को तसल्ली देते, और शत्रु द्वारा पकड़े हुए अपने योद्धाओं को छुड़ाते, शत्र के कोप और राजकुमार का अपहरण करते, जिनके घोड़े मर गये हैं ऐसे सैनिकों का पीछा करते तथा भागी हुई शत्रु-सेना के पीछे भागते।[1]

घोड़े कई किस्म के होते और वे विविध देशों से लाये जाते थे। कंबोज देश के आकीर्ण और कन्थक घोड़े प्रसिद्ध थे। दोनों ही दौड़ने में तेज थे। आकीर्ण[2] ऊँची नस्ल के होते, तथा कंथक पत्थर आदि की आवाज से न डरते थे।[3] दशवैकालिक चूर्णी में अश्वतर और घोटक का उल्लेख मिलता है। वाह्लीक देश में पाये जाने वाले ऊँची नस्ल के घोड़े अश्व कहे जाते, इनका शरीर मूत्र आदि से लिप्त न होता था।[4] विजाति से उत्पन्न खचरों को अश्वतर कहा गया है; ये दीलवालिया (?) से लाये जाते थे। सबसे निकृष्ट (अजचजातिजाया) घोटक कहे जाते थे।[5] गलिया अश्व का उल्लेख मिलता है। उसे बार-बार चाबुक मार कर और आरी से चलाने की जरूरत होती थी। वह गायों को देखकर उनके पीछे दौड़ने लगता और रस्सा तुड़ाकर भाग जाता।[6] प्रति वर्ष व्याने वाली घोड़ियों को थाइणी कहा जाता था।[7] पांच स्थानों में श्वेत

---

१. अर्थशास्त्र १०.४.१५३-१५.४.१४। बृहत्कल्पभाष्य ३.३७४७ में घोड़े को बट्टखुर (वृत्तखुर=गोल खुरवाला) कहा है। इन्हें प्रधान तुरंग माना जाता था।

२. ज्ञातृधर्मकथा की टीका में आकीर्ण घोड़ों को 'समुद्रमध्यवर्ती' बताया है।

३. उत्तराध्ययन ११.१६ और टीका; स्थानांग ४.३२७; यहाँ कंथक घोड़ों के चार भेद बताये हैं। धम्मपद अट्ठकथा १, पृ० ८५ में कंथक का उल्लेख है। तथा देखिये बृहत्कल्पभाष्यटीका ३.३९५९-६०। स्थानांगसूत्र में खलुंक (अविनीत) घोड़े का उल्लेख है। घोड़ों के आठ प्रकार के दोषों के लिए देखिए अंगुत्तरनिकाय का अस्सखलुंकसुत्त १,३, पृ० २६७ आदि; ३,८, पृ० ३०१।

४. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका २, पृ० ११०-अ; उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० ५७ अ; तथा देखिए रामायण १.६.२२।

५. ६, पृ० २१३।

६. उत्तराध्ययनसूत्र १.१२; २७ वाँ खलुंकीय अध्ययन।

७. बृहत्कल्पभाष्य ३.३९५६ आदि। मराठी में घोड़ी को ठाणी कहते हैं।

(पुंड्र) वर्ण वाले घोड़ों के बच्चे को पंचपुंड कहते थे ।[1]

घोड़े कवच से सज्जित रहते, उत्तरकंचुक धारण किये रहते, आँखें उनकी फूल की कली के समान शुक्ल वर्ण की होतीं, मुँह पर आभरण लटका रहता, और उनका कटिभाग चामरदण्ड से मंडित रहता ।[2] घोड़ों की जीन थिल्ली[3] कही जाती थी। घुड़सवार (आसवार) आयुधों से लैस रहते ।

घोड़ों को शिक्षा दी जाती थी ।[4] वहलि (वाह्लीक) के घोड़ों को शिक्षा देने का उल्लेख मिलता है । शिक्षा देने के स्थान को वाहियालि कहा जाता था। अश्वदमग, अश्वमेंठ और अश्वारोह शिक्षा देने का काम करते[5], तथा सोलग घोड़ों की देखभाल किया करते थे ।[6] कालिय द्वीप के घोड़े प्रसिद्ध थे। व्यापारी लोग अपने दल-बल सहित घोड़े पकड़ने के लिए यहाँ आया करते। ये लोग वीणा आदि बजाकर, अनेक काष्ठ और गुंथी हुई आकर्षक वस्तुएँ दिखाकर, कोष्ठ, तमालपत्र, चुवा, तगर, चंदन, कुंकुम, आदि सुंघाकर, खाण्ड, गुड़, शर्करा, मिश्री, आदि खिलाकर, कंबल, प्रावरण, जीन, पुस्त आदि छुआकर उन्हें आकृष्ट करते । फिर अश्वमर्दक लगाम (अहिलाण), जीन (पडियाण) आदि द्वारा उनके मुँह, कान, नाक, बाल, खुर और टांग बांधकर, कोड़ों से उन्हें वश में करते और लोहे की गर्म सलाई से उन्हें दागते (अंकणा)[8] ।

---

१. निशीथभाष्य १२.४४०८ ।

२. विपाकसूत्र २, पृ० १२; औपपातिक ३१, पृ० १३२ ।

३. कहीं पर दो घोड़ों की गाड़ी को थिल्ली कहा गया है, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-टीका २, पृ० १२३ ।

४. आवश्यकचूर्णी पृ० ४८१ ।

५. हरिभद्र ने वहलि से लाये हुए घोड़ों को शिक्षा देने का उल्लेख किया है; आवश्यकटीका, पृ० २६१; आवश्यकचूर्णी, पृ० ३४३-४४; तथा राजप्रश्नीयसूत्र १६१ ।

६. निशीथचूर्णी ६.२२-२४ । अर्थशास्त्र २.३०.४७.५० में भी इसकी चर्चा है ।

७. बृहत्कल्पभाष्य १.२०६६ ।

८. ज्ञातृधर्मकथा १७, पृ० २०५ ।

घोड़े पर चढ़कर लोग अश्ववाहनिका[1] के लिए जाते। लंघन (कूदना), वलगन (गोलाकार घूमना), उत्प्लवन, धावन, धोरण (दुलकी, सरपट आदि चाल से चलना), त्रिपदी (जमीन पर तीन पैर रखना), जविनी (वेगवती) और शिक्षिता गतियों से घोड़े चलते।[2] सर्व लक्षणों से सम्पन्न घोड़ों के उल्लेख मिलते हैं। सामंत राजाओं की इन घोड़ों पर आँखें लगी रहती थीं।[3] घोड़ों को अश्वशाला[4] में रक्खा जाता, तथा यवस और तुष आदि उन्हें खाने के लिए दिये जाते। सनत्कुमार चक्रवर्ती अपने जलधिकल्लोल नामक घोड़े पर सवार होकर भ्रमण किया करता था। वह पंचमधारा गति से इतना शीघ्र भागता कि क्षण भर में अदृश्य हो जाता[5]। भरत चक्रवर्ती के अश्वरत्न का नाम कमलामेला था[6]।

पदाति चतुरंगिणी सेना का मुख्य अङ्ग था। कौटिल्य ने मौल (स्थानीय), भृत (वेतनभोगी), श्रेणि (प्रान्त में भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहने वाले), मित्रबल, अमित्रबल (शत्रु-सेना) और अटवीबल नाम के पदातियों का उल्लेख किया है।[8] वे लोग हाथ में तलवार, भाला, धनुष, बाण आदि लेकर चलते तथा बाण आदि के प्रहार से रक्षा के लिए सन्नद्ध-बद्ध होकर, वर्म और कवच धारण किये रहते, भुजाओं पर चर्मपट्ट बांधे रहते तथा उनकी ग्रीवा आभरण और मस्तक वीरतासूचक पट्ट से शोभित रहता।[9] योद्धा लोग धनुष-बाण चलाते समय आलीढ, प्रत्यालीढ, वैशाख, मंडल और समपाद नाम के आसन स्वीकार करते थे।[10]

१. उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० १०३।

२. औपपातिक सूत्र ३१, पृ० १३२; उत्तराध्ययन ४.८ की टीका, पृ० ६६; तथा देखिए अर्थशास्त्र, २.३०.४७.३७–४३।

३. निशीथभाष्य २०.६३९६ की चूर्णी।

४. व्यवहारभाष्य १०.४८४। अश्वशाला के लिए देखिए कौटिल्य, अर्थशास्त्र २.३०.४७.४–५।

५. उत्तराध्ययनटीका ४, पृ० ९६।

६. वही, १८, पृ० २३६ अ।

७. आवश्यकचूर्णी, पृ० १९६।

८. अर्थशास्त्र, २.३३.४९–५१.९।

९. औपपातिक ३१, पृ० १३२; विपाकसूत्र २, पृ० १३।

१०. निशीथभाष्य २०.६३००।

कौशांबी के राजा शतानीक ने जब चंपा पर आक्रमण किया तो, राजा दधिवाहन के भाग जाने पर शतानीक का ऊँटसवार दधिवाहन की रानी धारिणी और उसकी कन्या वसुमती को लेकर चलता बना।[1]

समस्त सेना सेनापति (बलवाउय) के नियंत्रण में रहती तथा सेना में व्यवस्था और अनुशासन कायम रखने के लिए सेनापति सचेष्ट रहता। युद्ध के अवसर पर राजा की आज्ञा पाकर वह चतुरंगिणी सेना को सज्जित करता और कूच के लिए तैयार रहता। भरत चक्रवर्ती के सुषेण सेनापति को विश्रुतयश, म्लेच्छ भाषा में विशारद, मधुरभाषी, और अर्थशास्त्र के पंडित के रूप में उल्लिखित किया है।[2]

युद्धनीति

आजकल की भांति उन दिनों भी लोग युद्धों से भयभीत रहते थे। पहले यथासंभव शाम, दाम, दण्ड और भेद की नीति काम में ली जाती; इसमें सफलता न मिलने पर ही युद्ध लड़े जाते। युद्ध के पहले समझौता करने के लिये दूत भेजे जाते। फिर भी यदि विपक्षी कोई परवा न करता तो राजदूत राजा के पादपीठ का अपने बांये पैर से अतिक्रमण कर, भाले की नोक पर पत्र रखकर उसे समर्पित करता। तत्पश्चात् युद्ध आरम्भ होता।

लोग युद्ध के कला-कौशल से भली भांति परिचित थे। चतुरंगिणी सेना तथा आवरण और प्रहरण के साथ-साथ कौशल, नीति, व्यवस्था और शरीर की सामर्थ्यको भी युद्ध के लिए आवश्यक समझा जाता था।[3] स्कन्धावार-निवेश[4] युद्ध का एक आवश्यक अङ्ग था। स्कंधावार को दूर से आता हुआ देख साधु लोग अन्यत्र गमन कर जाते।[5] नगरों को ईंटों से दृढ़ बनाकर और कोठारों को अनाज से भरकर युद्ध की तैयारियाँ की जातीं।[6]

---

१. आवश्यकचूर्णी, पृ० ३१८।

२. औपपातिकसूत्र २६।

३. आवश्यकचूर्णी, पृ० १४०।

४. उत्तराध्ययनचूर्णी ३, पृ० ९३; आवश्यकचूर्णी, पृ० ४५२।

५. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० १११; १६, पृ० १६०। तथा देखिए अर्थशास्त्र १०.१.१४७; महाभारत ५.१५२।

६. बृहत्कल्पभाष्य पीठिका ४५६।

७. आवश्यकचूर्णी, पृ० ८६।

युद्ध अनेक प्रकार से लड़े जाते थे। जैनसूत्रों में युद्ध[1], नियुद्ध, महायुद्ध, महासंग्राम आदि अनेक युद्ध बताये गये हैं।[2] राजा भरत और बाहुबलि के बीच दृष्टियुद्ध, वाक्युद्ध, बाहुयुद्ध, मुष्टियुद्ध और दण्डयुद्ध[3] होने का उल्लेख मिलता है। कूणिक और चेटक के बीच होनेवाले युद्ध के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है। इस महासंग्राम में कूणिक की ओर से गरुड़व्यूह और चेटक की ओर से शकटव्यूह रचा गया। फिर दोनों में महाशिलाकंटक और रथमुशल नामक युद्ध हुए। कहते हैं इस महासंग्राम में लाखों सैनिकों का विध्वंस हुआ।[4] व्यूहरचना में चक्रव्यूह, दण्डव्यूह और सूचिव्यूह का प्रयोग किया जाता था।[5]

युद्ध आरम्भ करने के पूर्व आक्रमणकारी राजा शत्रु के नगर को चारों ओर से घेर लेता था। फिर भी यदि शत्रु आत्मसमर्पण के लिए तैयार न हो तो दोनों पक्षों में युद्ध होने लगता। राजा कूणिक द्वारा बार-बार दूत भेजने पर भी जब चेटक हल्ल और वेहल्ल को वापस भेजने को तैयार न हुआ तो विदेह जनपद के देशप्रान्त पर स्कंधावार-निवेशन

---

१. निशीथचूर्णी १२.४१३३ की चूर्णी में युद्ध और नियुद्ध का निम्नलिखित लक्षण किया है—अड्डियपच्चड्डियादिकारणेहिं जुद्धं। सव्वसन्धिविक्खोहणं णिजुद्धं। पुव्वं जुद्धेण जुज्झिउं पच्छा संधीओ विक्खोभिज्जंति जत्थ तं जुद्धं णिजुद्धं।

२. निशीथसूत्र १२.२७ में डिंब, डमर, खार, वेर, महायुद्ध, महासंग्राम, कलह और बोल का उल्लेख है। अर्थशास्त्र २.३३.४९–५१.११ में आठ प्रकार के युद्धों का उल्लेख है—निम्नयुद्ध, स्थलयुद्ध, प्रकाशयुद्ध, कूटयुद्ध, खनकयुद्ध, आकाशयुद्ध, दिवायुद्ध और रात्रियुद्ध।

३. आवश्यकचूर्णी, पृ० २१०। कल्पसूत्र ७, पृ० २०९-अ टीका।

४. निरयावलियाओ १, पृ० २८। कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र १०.६.१५८–१५९.१२,२४ में शकटव्यूह और गरुडव्यूह का उल्लेख किया है। तथा देखिए मनुस्मृति ७.१८७ आदि; महाभारत ६.५६, ७५; दाते, द आर्ट ऑव वार इन ऐंशियेंट इण्डिया, पृ० ७२ आदि।

५. औपपातिक ४०, पृ० १८६; तथा देखिए प्रश्नव्याकरण ३, पृ० ४४। राजा प्रद्योत और दुर्मुख के युद्ध में गरुड़व्यूह और सागरव्यूह रचे जाने का उल्लेख है, उत्तराध्ययनटीका ९, पृ० १३५–६।

कर, कूणिक चेटक के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा।[1] भृगुकच्छ के राजा नहपान को पराजित करने के लिए प्रतिष्ठान का राजा शालिवाहन प्रतिवर्ष भृगुकच्छ को घेर लेता था।[2] काशी-कोसल आदि के छह राजाओं के दूतों को मिथिला के राजा कुम्भक ने जब अपमानित करके लौटा दिया तो उन्होंने मिथिला को चारों ओर से घेर लिया, जिससे नगरवासी इधर-उधर भाग कर न जा सकें।[3] इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए राजा अपने नगर की किलेबन्दी बड़ी मजबूती से किया करते थे। नगर के चारों ओर परकोटा (प्राकार)[4], परिखा, तथा गोपुर (किले का दरवाजा) और अट्टालिकाएं आदि बनायी जातीं, तथा चक्र, गदा, मुसुंढी, अवरोध, शतघ्नी और कपाट आदि लगाकर नगर की रक्षा की जाती।[5]

युद्धों में कूटनीति का बड़ा महत्व था। युद्धनीति में निष्णात मन्त्री अपनी चतुराई, बुद्धिमत्ता और कला-कौशल द्वारा ऐसे अनेक प्रयत्न करते जिससे शत्रुपक्ष को आत्मसमर्पण के लिए बाध्य किया जा सके। उज्जैनी के राजा प्रद्योत ने जब राजगृह पर आक्रमण करने का इरादा किया तो राजा श्रेणिक के कुशल मन्त्री अभयकुमार ने प्रद्योत की सेना के पड़ाव के स्थान पर पहले से ही लोहे के कलशों में दीनारें भरवा कर गड़वा दीं। प्रद्योत जब अपने आक्रमण में सफल हो गया तो अभयकुमार ने प्रद्योत के पास दूत भेजकर कहलवाया—"तुम नहीं जानते श्रेणिक ने पहले ही तुम्हारे सैनिकों को रिश्वत देकर अपने पक्ष में कर लिया है।"[6] चारकर्म कूटनीति का मुख्य अङ्ग था। शत्रुसेना के

१. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १७२।

२. आवश्यकनिर्युक्ति १२९९; आवश्यकचूर्णी २, पृ० २०० आदि।

३. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० ११२-११२।

४. प्राकार कई प्रकार के बताये गये हैं। द्वारिका नगरी का प्राकार पाषाण का, नन्दपुर का ईंटों का और सुमनोमुख नगर का प्राकार मृत्तिका का बना हुआ था। बहुत से नगरों के प्राकार काठ के बने रहते थे। गाँवों की रक्षा के लिए उसके चारों ओर बाड़ अथवा बबूल के कांटे लगा देते थे। बृहत्कल्पभाष्य १.११२३।

५. उत्तराध्ययन ९.१८; औपपातिक १, पृ० ४।

६. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १५९।

गुप्त बातों का पता लगाने के लिए गुप्तचर काम में लिये जाते।[1] ये लोग शत्रुसेना में भर्ती होकर उनकी सब बातों का पता लगाते रहते थे। कूलवालय ऋषि की सहायता से राजा कूणिक वैशाली के स्तूप को नष्ट कराकर, राजा चेटक को पराजित करने में सफल हुआ था।[2]

अस्त्र-शस्त्र

युद्ध में अनेक अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। इनमें मुग्दर,[3] मुसंढि (एक प्रकार की मुग्दर), करकय (क्रकच=आरी), शक्ति (त्रिशूल), हल, गदा, मूसल, चक्र, कुन्त (भाला), तोमर (एक प्रकार का बाण), शूल, लकुट, भिंडिपाल (मुग्दर अथवा मोटे फलवाला कुन्त), शब्वल (लोहे का भाला), पट्टिश (जिसके दोनों किनारों पर त्रिशूल हों), चर्मेष्ट[5] (चर्म से आवेष्टित पाषाण), असिखेटक (ढाल सहित तलवार), खड्ग, चाप (धनुप), नाराच (लोहबाण), कणक (बाण), कर्तरिका, वासी (लकड़ी छीलने का औजार=बसोला), परशु (फरसा) और शतघ्नी[6] मुख्य हैं।[7] युद्ध

---

१. गुप्तचर पुरुषों की स्थापना के लिए देखिए कौटिल्य, अर्थशास्त्र १.११.८।

२. *आवश्यकचूर्णी* २, पृ० १७४। जैन साधुओं को गुप्तचर समझ कर गिरफ्तार कर लिया जाता था; देखिए उत्तराध्ययनटीका २, पृ० ४७; अर्थशास्त्र २.३५.५४–५५.१५–१६।

३. मुग्दर लोहे की भी बनी होती थी, उत्तराध्ययनटीका २, पृ० ३४ अ।

४. महाभारत २.७०.३४ में इसका उल्लेख है।

५. चर्मेष्टकाः इष्टका शकलादिभृतचर्मकुतपरूपाः, यदा कर्षणेन धनुर्धराः *व्यायामं कुर्वन्ति*, उपासकदशाटीका ७, पृ० ८५।

६. उत्तराध्ययन ६.१८ में भी उल्लेख है। तथा देखिए रामायण १.५.११। कौटिल्य के अर्थशास्त्र २.१८.३६.७ के अनुसार शतघ्नी स्थूल और दीर्घ कीलों से युक्त एक महास्तम्भ होता था जिसे प्राकार के ऊपर लगाया जाता था। महाभारत ३.२६१.२४ में इसका उल्लेख है। यह एक चमकदार और अन्दर से खोखला यन्त्र होता था जिसमें घण्टियाँ लगी रहती थीं। तलवार या भाले की भाँति इसे हाथ से चलाया जाता था; हॉपकिन्स, जर्नल ऑव अमेरिकन ओरिंटियल सोसायटी, जिल्द १३, पृ० ३००।

७. प्रश्नव्याकरण, पृ० १७-अ, ४४; उत्तराध्ययन १९.५१, ५५, ५८, ६१ आदि। तथा देखिए हेमचन्द्र, अभिधानचिंतामणि ३.४४६–४५१;

कर, कूणिक चेटक के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा।[1] भृगुकच्छ के राजा नहपान को पराजित करने के लिए प्रतिष्ठान का राजा शालिवाहन प्रतिवर्ष भृगुकच्छ को घेर लेता था।[2] काशी-कोसल आदि के छह राजाओं के दूतों को मिथिला के राजा कुम्भक ने जब अपमानित करके लौटा दिया तो उन्होंने मिथिला को चारों ओर से घेर लिया, जिससे नगरवासी इधर-उधर भाग कर न जा सकें।[3] इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए राजा अपने नगर की किलेबन्दी बड़ी मजबूती से किया करते थे। नगर के चारों ओर परकोटा (प्राकार)[4], परिखा, तथा गोपुर (किले का दरवाजा) और अट्टालिकाएं आदि बनायी जातीं, तथा चक्र, गदा, मुसुंढी, अवरोध, शतघ्नी और कपाट आदि लगाकर नगर की रक्षा की जाती।[5]

युद्धों में कूटनीति का बड़ा महत्व था। युद्धनीति में निष्णात मन्त्री अपनी चतुराई, बुद्धिमत्ता और कला-कौशल द्वारा ऐसे अनेक प्रयत्न करते जिससे शत्रुपक्ष को आत्मसमर्पण के लिए बाध्य किया जा सके। उज्जैनी के राजा प्रद्योत ने जब राजगृह पर आक्रमण करने का इरादा किया तो राजा श्रेणिक के कुशल मन्त्री अभयकुमार ने प्रद्योत की सेना के पड़ाव के स्थान पर पहले से ही लोहे के कलशों में दीनारें भरवा कर गड़वा दीं। प्रद्योत जब अपने आक्रमण में सफल हो गया तो अभयकुमार ने प्रद्योत के पास दूत भेजकर कहलवाया—"तुम नहीं जानते श्रेणिक ने पहले ही तुम्हारे सैनिकों को रिश्वत देकर अपने पक्ष में कर लिया है।"[6] चारकर्म कूटनीति का मुख्य अङ्ग था। शत्रुसेना की

---

१. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १७२।

२. आवश्यकनिर्युक्ति १२९६; आवश्यकचूर्णी २, पृ० २००, आदि।

३. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० १११–११२।

४. प्राकार कई प्रकार के बताये गये हैं। द्वारिका नगरी का प्राकार पाषाण का, नन्दपुर का ईंटों का और सुमनोमुख नगर का प्राकार मृत्तिका का बना हुआ था। बहुत से नगरों के प्राकार काष्ठ के बने रहते थे। गाँवों की रक्षा के लिए उसके चारों ओर बांस अथवा बबूल के कांटे लगा देते थे। बृहत्कल्पभाष्य १.११२३।

५. उत्तराध्ययन ९.१८; औपपातिक १, पृ० ५।

६. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १५९।

गुप्त बातों का पता लगाने के लिए गुप्तचर काम में लिये जाते।[1] ये लोग शत्रुसेना में भर्ती होकर उनकी सब बातों का पता लगाते रहते थे। कूलबालय ऋषि की सहायता से राजा कूणिक वैशाली के स्तूप को नष्ट कराकर, राजा चेटक को पराजित करने में सफल हुआ था।[2]

अस्त्र-शस्त्र

युद्ध में अनेक अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। इनमें मुग्दर,[3] मुसंढि (एक प्रकार की मुग्दर), करकय (क्रकच=आरी), शक्ति (त्रिशूल), हल, गदा, मूसल, चक्र, कुन्त (भाला), तोमर (एक प्रकार का बाण), शूल, लकुट, भिंडिपाल (मुग्दर अथवा मोटे फलवाला कुन्त), शव्वल (लोहे का भाला), पट्टिश (जिसके दोनों किनारों पर त्रिशूल हों), चर्मेष्ट[4] (चर्म से आवेष्टित पाषाण), असिखेटक (ढाल सहित तलवार), खड्ग, चाप (धनुष), नाराच (लोहबाण), कणक (बाण), कर्तरिका, वासी (लकड़ी छीलने का औजार=बसोला), परशु (फरसा) और शतघ्नी[5] मुख्य हैं।[6] युद्ध

---

१. गुप्तचर पुरुषों की स्थापना के लिए देखिए कौटिल्य, अर्थशास्त्र १.११.८।

२. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १७४। जैन साधुओं को गुप्तचर समझ कर गिरफ्तार कर लिया जाता था; देखिए उत्तराध्ययनटीका २, पृ० ४७; अर्थशास्त्र २.३५.५४-५५.१५-१६।

३. मुग्दर लोहे की भी बनी होती थी, उत्तराध्ययनटीका २, पृ० ३४ अ।

४. महाभारत २.७०.३४ में इसका उल्लेख है।

५. चर्मेष्टकाः इष्टका शकलाविभृतचर्मकुतपरूपाः, यदा कर्षणेन धनुर्धराः व्यायामं कुर्वन्ति, उपासकदशाटीका ७, पृ० ८५।

६. उत्तराध्ययन ६.१८ में भी उल्लेख है। तथा देखिए रामायण १.५.११। कौटिल्य के अर्थशास्त्र २.१८.३६.७ के अनुसार शतघ्नी स्थूल और दीर्घ कीलों से युक्त एक महास्तम्भ होता था जिसे प्राकार के ऊपर लगाया जाता था। महाभारत ३.२६१.२४ में इसका उल्लेख है। यह एक चमकदार और अन्दर से खोखला यन्त्र होता था जिसमें घण्टियाँ लगी रहती थीं। तलवार या भाले की भाँति इसे हाथ से चलाया जाता था; हॉपकिन्स, जर्नल ऑव अमेरिकन ओरिंटियल सोसायटी, जिल्द १३, पृ० ३००।

७. प्रश्नव्याकरण, पृ० १७-अ, ४४; उत्तराध्ययन १६.५१, ५५, ५८, ६१ आदि। तथा देखिए हेमचन्द्र, अभिधानचिंतामणि ३.४४६-४५१;

के लिए कवच अत्यन्त उपयोगी होता था। वज्रप्रतिरूपक अभेद्य कवच धारण कर कूणिक ने चेटक के साथ युद्ध किया था।[1]

बाणों में नाग-बाण, तामस-बाण, पद्म-बाण, वह्नि-बाण, महापुरुष-बाण और महारुधिर-बाण आदि मुख्य हैं।[2] इन बाणों को अद्भुत और विचित्र शक्तिधारी कहा गया गया है। नाग बाण को जब धनुष पर चढ़ाकर छोड़ा जाता तो वह जलती हुई उल्का के दण्डरूप में शत्रु के शरीर में प्रवेश कर, नाग बनकर उसे चारों ओर से लपेट लेता। तामस-बाण छोड़ने पर रणभूमि में अन्धकार ही अन्धकार फैल जाता।[3] महायुद्ध में महोरग, गरुड, आग्नेय, वायव्य और शैल आदि अस्त्रों का प्रयोग किया जाता था।[4]

ध्वजा और पताका भी रणभूमि में उपयोगी होती थी। पटह और भेरियों का शब्द योद्धाओं को प्रोत्साहित करता। सैनिक अपने बाणों द्वारा ध्वजा को छिन्न-भिन्न कर देते और शत्रु के हाथ में ध्वजा पड़ जाने पर युद्ध का अन्त हो जाता।[5] कृष्णवासुदेव की कौमुदिकी[6],

अर्थशास्त्र २.१८.३६; रामायण ३.२२.२० आदि; पुसालकर, भास—ए स्टडी, अध्याय १६, पृ० ४१४; बनर्जी पी० एन०, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन ऐंशियेंट इण्डिया, पृ० २०४ आदि; रतिलाल मेहता, प्री-बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १७१; दाते जी० जी०, द आर्ट ऑव वार इन ऐंशियेंट इण्डिया; ओपर्ट गुस्ताव, वेपेंस एण्ड आर्मरी आर्गनाइजेशन।

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति ७.६।

२. जीवाभिगम ३, पृ० १५३, २८३; जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति २, पृ० १२४-अ; तथा रामायण १.२७.१६ आदि।

३. चित्रं श्रेणिक ! ते बाणा भवन्ति धनुराश्रिताः।
उल्कारूपाश्च गच्छन्तः शरीरे नागमूर्तयः॥
क्षणं बाणा क्षणं दण्डाः क्षणं पाशत्वमागताः।
आकरा ह्यस्त्रभेदास्ते यथाचिंतितमूर्तयः॥ जीवाभिगम, ३, पृ० २८३।

४. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २३८ अ।

५. तुलना कीजिए व्याख्याप्रज्ञप्ति ७.६। ध्वजा के वर्णन के लिए देखिए कल्पसूत्र ३.४०। तुलना कीजिए रामायण ३.२७.१५; महाभारत ५.८३.४६ आदि।

६. महाभारत १.२५१.२८ में कौमुदिकी को कृष्ण की एक गदा बताया है, जिससे दैत्यों का नाश हो जाता था।

संग्रामिकी, दुर्भूतिका और अशिवोपशमिनी नामक भेरियों का उल्लेख प्राचीन सूत्रों में मिलता है। ये चारों ही गोशीर्ष चन्दन की बनी हुई थीं। कहते हैं कि जब अशिवोपशामिनी भेरी बजायी जाती तो छह महीने के लिए समस्त रोग शान्त हो जाते।[1] कृष्ण की दूसरी भेरी का नाम सन्नाहिका[2] था। इस भेरी का शब्द सुनकर उनके सब सैनिकों ने एकत्रित हो राजा पद्मनाभ के विरुद्ध कूच किया था।[3] भेरीपाल भेरी बजाने काम करता था। कृष्ण के पास पांचजन्य शंख[4] था जिसका शब्द सुनकर शत्रु सेना भाग जाती थी। अरिष्टनेमि द्वारा इस शंख के फूंके जाने पर समस्त भुवन बधिर हो जाता तथा देव, असुर और मनुष्य काँपने लगते थे।[5]

---

१. बृहत्कल्पभाष्य पीठिका ३५६।
२. महाभारत १.२४४.३८ में इसका उल्लेख है।
३. ज्ञातृधर्मकथा १६, पृ० १६०।
४. वही, पृ० १६२।
५. उत्तराध्ययनटीका, १६, पृ० २७७ अ।

पांचवां अध्याय

राजकर-व्यवस्था

कानूनी टैक्स

लगान और कर के द्वारा राज्य का खर्च चलता था। व्यवहार-भाष्य में साधारणतया पैदावार के दसवें हिस्से को कानूनी टैक्स स्वीकार किया गया है। वैसे पैदावार की राशि, फसल की कीमत, बाजार-भाव और खेती की जमीन आदि के कारण टैक्स की दर में अन्तर होता रहता था।[1] खेत और गाय आदि के अतिरिक्त प्रत्येक घर से भी टैक्स वसूल किया जाता था। राजगृह में किसी वणिक् ने पक्की ईंटों का घर बनवाया, लेकिन गृहनिर्माण पूरा होते ही वणिक् की मृत्यु हो गयी। वणिक् के पुत्र बड़ी मुश्किल से अपनी आजीविका चला पाते थे। लेकिन नियमानुसार उन्हें राजा को एक रुपया कर देना आवश्यक था। ऐसी हालत में कर देने के भय से वे अपने घर के पास एक झोंपड़ी बनाकर रहने लगे; अपना घर उन्होंने जैन-श्रमणों को रहने के लिए दे दिया[2]। जान पड़ता है, शूर्पारक नगर के वणिक् लोगों में कर देने की प्रथा नहीं थी। यहाँ वणिकों के ५०० परिवार रहते थे। एक बार राजा ने प्रत्येक परिवार के ऊपर एक-एक रुपया कर लगा दिया। वणिकों ने सोचा कि यदि यह कर चल पड़ा तो उन की पीढ़ी दर पीढ़ी को इसे देते रहना पड़ेगा। यह सोचकर वे अग्नि में प्रवेश कर गये।[3]

व्यापारियों के माल-असबाब पर भी कर लगाया जाता था। बिक्री

---

१. व्यवहारभाष्य १, पृ० १२८-अ। गौतमधर्मसूत्र १०,२४ में खेती से वसूल किये जानेवाले तीन प्रकार के करों का उल्लेख है:—दसवां, आठवाँ और छठा हिस्सा; तथा देखिए मनुस्मृति ७.१३० आदि।

२. बृहत्कल्पभाष्य ३,४७७०; पिंडनिर्युक्तिटीका ८७, पृ० ३२-अ में प्रत्येक घर से प्रतिवर्ष दो द्रम्म लिए जाने का उल्लेख है।

३. निशीथभाष्य १६.५१५६।

के माल पर लगाये जानेवाले टैक्स को शुल्क कहते थे। किसी व्यापारी के पास बीस कीमती बर्तन थे, उनमें से एक बर्तन राजा को देकर वह कर से मुक्त हो गया।[1] चम्पा नगरी के पोतवणिक् बाहर से धन कमाकर लौटे और गंभीरपोतपट्टन में उतर मिथिला नगरी में आये। राजा के लिए बहुमूल्य कुण्डलयुगल का उपहार लेकर वे उससे भेंट करने चले। राजा कुण्डलयुगल देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने उन लोगों का विपुल अशन, पान आदि द्वारा सत्कार किया और उनका शुल्क माफ कर दिया।[2] आजकल की भांति उन दिनों भी व्यापारी लोग माल को छिपा लेते और टैक्स से बचने की कोशिश करते। अचल नाम का कोई व्यापारी पारसकुल से धन कमाकर वेन्यातट लौटा। हिरण्य, सुवर्ण और मोतियों का थाल भरकर वह राजा के पास पहुँचा। राजा पंचकुलों को साथ ले उसके माल की परीक्षा करने आया। अचल ने शंख, सुपारी, चंदन, अगुरु, मंजीठ आदि अपना माल दिखा दिया; लेकिन राजा ने जब बोरों को तुलवाया तो वे भारी मालूम दिये। राजकर्मचारियों ने पाँव की ठोकर और बांस की डंडी से पता लगाया तो मालूम हुआ कि मंजीठ के अन्दर सोना, चांदी, मणि, मुक्ता और प्रवाल आदि कीमती सामान छिपा हुआ है। यह देखकर राजा ने अचल को गिरफ्तार करने का हुक्म दिया।[3]

अठारह प्रकार का कर

जैन सूत्रों में अठारह प्रकार के करों का उल्लेख मिलता है:—गोकर (गाय बेचकर दिया जाने वाला कर), महिषकर, उष्ट्रकर, पशुकर, छगलीकर (बकरा), तृणकर, पलालकर (पुवाल), बुसकर (भूसा), काष्ठकर, अङ्गारकर, सीताकर (हल पर लिया जाने वाला कर), उंबरकर[4] (देहली अथवा प्रत्येक घर से लिया जाने वाला कर), जंघाकर (अथवा जंगाकर=चरागाह पर लिया जाने वाला कर), बली-

---

१. निशीथभाष्य २०.६५२१।

२. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० १०२।

३. उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० ६४। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र २.२१.३८, ३८ में बताया है कि बढ़िया माल को छिपानेवाले का सारा माल जब्त कर लेना चाहिए।

४. बृहत्कल्पभाष्य ३.४७७० में इसका उल्लेख है।

वर्द्धकर (बैल), घटकर, चर्मकर, चुल्लगकर (भोजन) और अपनी इच्छा से दिया जानेवाला कर।[1] ये कर गांवों में ही वसूल किये जाते थे, और नगर (न+कर) इनसे मुक्त रहते।[2] कर वसूल करनेवाले कर्मचारी शुल्कपाल (गोमिया=सुंकिया) कहे जाते थे।[3] पुत्रोत्पत्ति, राज्याभिषेक आदि के अवसरों पर कर माफ कर दिया जाता।

राजकोष को समृद्ध बनाने के अन्य उपाय

राजकोष को समृद्ध बनाने के और भी उपाय थे। राजगृह का नन्द नामक मनियार श्रेष्ठी नगर में एक पुष्करिणी खुदवाना चाहता था। अपने मित्रों से परिवेष्टित हो वह कोई महान् उपहार लेकर राजा श्रेणिक के पास गया, और पुष्करिणी खुदवाने की अनुमति प्राप्त की।[4] चम्पा नगरी के सुवर्णकार कुमारनन्दि ने पंचशैल द्वीप के लिए प्रस्थान करने की घोषणा करने के पूर्व राजा की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक समझा। सुवर्ण आदि का बहुमूल्य उपहार लेकर वह राजा की सेवा में उपस्थित हुआ और अनुमति मिल जाने पर यात्रा के लिए रवाना हुआ।[5]

इसके सिवाय, यदि कभी सम्पत्ति का कोई वारिस न होता, या कहीं गड़ी हुई निधि मिल जाती तो उस पर भी राजा का अधिकार हो जाता। चन्द्रकान्ता नगरी के राजा विजयसेन को जब पता लगा कि किसी व्यापारी की मृत्यु हो गयी है और उसकी संपत्ति का कोई वारिस नहीं रहा तो उसने कर्मचारियों को भेज कर उस सम्पत्ति पर कब्जा

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति १०७८ आदि, हरिभद्रटीका; तथा देखिए मलयगिरि की टीका भी १०८३-४, पृ० ५६६। कौटिल्य के अर्थशास्त्र २.६.२४.२ में बाईस प्रकार के राजकर बताये गये हैं।

२. नत्येत्थ करो नगरं (बृहत्कल्पभाष्य १.१०८६); अभयदेव, व्याख्याप्रज्ञप्तिटीका ३.६, पृ० १०६ (बेचरदास, अनुवाद)। अभयदेव ने ग्राम का निम्नलिखित लक्षण किया है—ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणान् इति ग्रामः। यदि वा गम्यः शास्त्रप्रसिद्धानां अष्टादशकराणाम्।

३. उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० ७१; निशीथभाष्य २.६७१ चूर्णी।

४. ज्ञातृधर्मकथा १३, पृ० १४२।

५. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २५१-अ।

कर लिया ।[1] राजा ब्राह्मणों का पक्षपात भी कर लेता था । उदाहरण के लिए, किसी वणिक् को निधि का लाभ होने पर राजा ने उसे दण्ड दिया और उसकी निधि जब्त कर ली, लेकिन ब्राह्मण को निधि मिलने पर उसका सत्कार किया गया ।[2] जुर्माने की वसूली से भी राजा को द्रव्य की प्राप्ति होती थी ।[3]

कर वसूल करने वाले कर्मचारियों के संबंध में अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती । कल्पसूत्र में रज्जुकसभा का उल्लेख मिलता है । यह सभा पावापुरी के हस्तिपाल राजा की थी जहां श्रमण भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया था । रज्जुक लाठी में बांधी हुई रस्सी के छोर को पकड़कर खेतों को मापने का काम किया करता था ।[4]

शुल्कपालों की निर्दयता

शुल्कपाल कर वसूल करने में निर्दयता से काम लेते और जन-साधारण उनसे संत्रस्त रहा करते । अपने अधीन राजाओं से कर वसूल न होने के कारण राजा प्रायः उन पर आक्रमण कर देते ।[5] शूर्पारिक का राजा व्यापारियों (नैगम) से कर वसूल करने में जब असमर्थ हो गया तो अपने शुल्कपालों को भेज कर उसने उनके घर जला देने का आदेश दिया ।[6] विजय वर्धमान नाम का खेड़ा पाँच सौ

---

१. कल्पसूत्रटीका १, पृ० ७ । तुलना कीजिए अवदानशतक १, ३, पृ० १३; तथा मयूहकजातक (३९०) ।

२. निशीथभाष्य १०.६५२२ । तुलना कीजिए गौतमधर्मसूत्र १०.४४; याज्ञवल्क्यस्मृति २.२.३४ आदि; मनुस्मृति ७.१३३ ।

३. कुरुधम्मजातक (२७६) में इसे रज्जुगाहक अमच्च तथा अशोक के शिलालेखों में राजुक के रूप में उल्लिखित किया है । तथा देखिए–फिक रिचर्ड, द सोशल आर्गनाइज़ेशन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज़ टाइम, पृ० १४८–१५२; मेहता, प्री-बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १४२–१४४ ।

४. देखिये बृहत्कल्पभाष्य ४.५१०४ ।

५. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १९० ।

६. बृहत्कल्पभाष्य १.२५०६ आदि । तथा देखिए महापिंगल जातक (२४०) यहाँ वाराणसी के राजा महापिंगल को बड़ा अन्यायी और कोल्हू में पेरे जानेवाले गन्ने की भाँति प्रजा का शोषक कहा गया है । तथा फिक, वही, पृ० १२० इत्यादि ।

गाँवों तक फैला हुआ था। यहाँ इकाई नाम का राष्ट्रकूट (राठौड़) रहा करता था, जो खेत, गाय आदि पर लगाये हुए कर, भर (सीमा-शुल्क), ब्याज, रिश्वत, पराभव, देय (अनिवार्य कर), भेद्य (दण्ड-कर), कुंत (तलवार के जोर से), लंछपोप (लंछ नामक चोरों को नियुक्त करके), आदीपन (आग लगवा कर), और पंथकोट्ट (राहगीरों को कत्ल कराकर) द्वारा प्रजा का उत्पीड़न और शोषण किया करता था।[१]

---

१. विपाकसूत्र १, पृ० ७।

छठा अध्याय

स्थानीय शासन

गाँव-शासन की इकाई

प्राचीन भारत में ग्राम शासन की इकाई समझी जाती थी। आजकल की भाँति उन दिनों भी जन-समुदाय गाँवों में ही रहा करता था। ये गांव इतने पास-पास होते कि एक गाँव के मुर्गे अथवा साँड दूसरे गाँव में बड़ी आसानी से आ-जा सकते थे (कुक्कुड़संडेयगामपउरा)।[1] नगर अथवा राजधानी की भाँति किलेबन्दी यहाँ नहीं रहती थी। उत्तरापथ में, मथुरा नगरी के साथ ९६ गाँव लगे हुए थे।[2] गाँव की सीमा बताते हुए कहा गया है: (क) जहाँ तक गायें चरने जाती हों, (ख) जहाँ से घसियारे अथवा लकड़हारे घास और लकड़ी काट कर शाम तक लौट आते हों, (ग) जहाँ तक गाँव की सीमा निर्धारित की गयी हो, (घ) जहाँ गाँव का उद्यान हो, (ङ) जहाँ गाँव का कुंआ हो, (च) जहाँ देवकुल स्थापित हो और (छ) जहाँ तक गाँव के बालक क्रीड़ा के लिए जाते हों। यहाँ उत्तानकमल्लकाकार, अवाङ्मुखमल्लकाकार, संपुटमल्लकाकार, खण्डमल्लकाकार, उत्तानकखण्डमल्लकसंस्थित, अवाङ्मुखखण्डमल्लकसंस्थित, संपुटकखण्डमल्लकसंस्थित, पडलिकासंस्थित, वलभीसंस्थित, अक्षयपाटकसंस्थित, रुचकसंस्थित और काश्यपसंस्थित नाम के गाँव बताये हैं।[3]

गाँवों में यद्यपि विभिन्न वर्ण और जातियों के लोग रहते थे, लेकिन कतिपय ग्रामों में मुख्यतया एक ही जाति अथवा पेशेवाले रहा

---

१. राजप्रश्नीयसूत्र १, पृ० ४। जिन गाँवों के आसपास बहुत दूर तक कोई गाँव न हो उसे मडंब कहा गया है; बृहत्कल्पभाष्यटीका १.१०८६।

२. बृहत्कल्पभाष्य १.१७७६।

३. वही ११०३–११०८। कौटिल्य, अर्थशास्त्र २.१.१६.२ में बताया है कि जहाँ शूद्र और किसान ही प्रायः अधिक हों, ऐसे कम-से-कम सौ घरवाले और अधिक से अधिक पांच सौ घरवाले गाँव को बसाये। इन गाँवों में एक या दो कोस का अन्तर होना चाहिए।

करते थे। उदाहरण के लिए, वैशाली नगरी तीन भागों में विभक्त थी—वंभणगाम, खत्तियकुण्डग्गाम और वाणियगाम; इनमें क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वणिक् लोगों का निवास था। कुछ गाँवों में मुख्यतया मयूर-पोषक[1] (मयूरों को शिक्षा देनेवाले) अथवा नट[2] रहा करते थे। चोरपल्लि में चोर रहते थे। सीमाप्रान्त के गाँव प्रत्यन्तग्राम (पच्चंतगाम) कहलाते थे, जो उपद्रवों से खाली नहीं थे।[3] कभी-कभी पड़ोसी गाँवों में मारपीट होने पर लोगों की जान चली जाती थी।[4]

गाँव का प्रधान

गाँवों के मध्य भाग में सभागृह होता था जहाँ गाँव के प्रधान पुरुष आराम से बैठ सकते थे। यहाँ लोग महाभारत आदि का पठन और श्रवण किया करते थे।[5] गाँव के प्रधान भोजिक कहे जाते थे।[6] किसी राजा ने एक भोजिक से प्रसन्न होकर उसे ग्राम-मण्डल प्रदान कर दिया। ग्रामवासी भोजिक की सरलता से बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उससे निवेदन किया कि अब हम पीढ़ी दर पीढ़ी तक आपके सेवक बन गये हैं, अतएव कृपा करके हमारे टैक्स में कमी कर दीजिये। भोजिक ने स्वीकृति दे दी। लेकिन धीरे-धीरे ग्रामवासियों ने उसका सन्मान करना छोड़ दिया। इस पर रुष्ट होकर भोजिक ने इन सबको दण्डित किया।[7]

---

१. उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० ५७।

२. आवश्यकचूर्णी, पृ० ५४४।

३. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १६८। तुलना कीजिए चुल्लनारद जातक (४७७), पृ० ४२१ के साथ।

४. निशीथभाष्य १३.४४०१–२।

५. बृहत्कल्पभाष्य १.१०९६ आदि; अनुयोगद्वारटीका, सूत्र १६, पृ०२१।

६. बृहत्कल्पभाष्य १.२१६६।

७. वही ३.४४५८।

तृतीय खण्ड

आर्थिक-स्थिति

पहला अध्याय

उत्पादन

आर्थिक साधन, प्राचीन काल से संसार के इतिहास में मुख्यतया पथ-प्रदर्शन का जरिया रहा है। दुर्भाग्य से, आर्थिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन करानेवाली सामग्री बहुत अल्प है, अतएव प्राचीन भारत के निवासियों की दशा से सम्बन्धित प्रत्येक तथ्य का व्यवस्थित लेखा-जोखा यहां प्रस्तुत करना असंभव है। फिर भी, आशा है कि जो थोड़ी-बहुत सामग्री एकत्रित की जा सकी है, वह उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रत्येक कार्य जिससे धन-सम्पत्ति उत्पन्न होती है, उत्पादक कहा जाता है। भौतिक पदार्थों को प्रकृति ही पैदा करती है, मनुष्य तो एक परमाणु भी नहीं उत्पन्न कर सकता। वह केवल उनका रूप अथवा परिणाम बदल देता है जिससे उन पदार्थों की कीमत बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए, लोहा अथवा कोयले का मनुष्य उत्पादन नहीं करता, लेकिन शहरों में पहुँच जाने पर उनके मूल्य में वृद्धि हो जाती है।

भूमि

भूमि, श्रम, पूंजी तथा प्रबन्ध धन के उत्पादन में मुख्य कारण हैं, जिन्हें अर्थशास्त्र में उत्पादन के साधन कहा गया है।

भारतवर्ष के गांवों की अर्थ-व्यवस्था, मुख्यतया गांवों में रहने वाले खेत के मालिक किसानों पर ही निर्भर रहती आयी है। सामान्यतया ग्रामीणजनों का पेशा खेतीवारी रहा है।

खेतीवारी : खेती करने के उपाय

गांवों के चारों ओर खेत (खेत्त) या चरागाह होते थे, और ये वृक्षपंक्ति, वन, वनखंड, वनराजि और कानन से घिरे रहते थे। खेत को दस प्रकार के बाह्य परिग्रहों में गिना गया है :—क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, संचय (तृण, काष्ठ आदि का संग्रह), मित्र और सम्बन्धी, वाहन, शयन-आसन, दासी-दास और कुप्य (बर्तन)[1]। खेत को सेतु

---

१. बृहत्कल्पभाष्य १.८२५।

और केतु नामके दो भागों में विभक्त किया गया है। सेतु को रहट आदि के जल से सींचा जाता है, जबकि केतु में वर्षा के जल से धान्य की उत्पत्ति होती है।[1] सिंचाई के लिए बहुत से उपाय काम में लिए जाते थे। उदाहरण के लिए, लाट देश में वर्षा से, सिन्धु देश में नदी से, द्रविड़ देश में तालाब से, उत्तरापथ में कुओं से और डिंभरेलक (?) में महिरावण (?) की बाढ़ से खेतों की सिंचाई की जाती थी। कानन द्वीप (?) में नावों पर धान्य रोपे जाते थे; मथुरा में खेती नहीं होती थी, वहाँ वनिज-व्यापार की ही प्रधानता थी।[2] कहीं किसान लोग नाली (सारणी) के द्वारा बारी-बारी से अपने खेतों को सींचते थे। वे छिपकर भी अपने खेतों में पानी दे लेते थे।[3] खेती के लिए वर्षा का होना आवश्यक था। उद्घात (काली भूमि) और अनुद्घात (पथरीली भूमि) नाम की भूमि बताई गई है[4]। काली भूमि में अत्यधिक वर्षा होने पर भी पानी वहीं का वहीं रह जाता था, बहता नहीं था।[5]

हलों में बैल जोतकर खेती की जाती थी। ठीक समय पर हल जोतने (किसिकम्म) से बहुत अच्छी खेती होती थी।[6] जंगलों को जलाकर खेती करते थे।[7] प्राचीन काल में हलदेवता के सम्मान में सीतायज्ञ[8] (सीताजन्न) नाम का उत्सव मनाया जाता था। खेत में

---

१. वही १.८२६।

२. वही १.१२३६।

३. निशीथचूर्णी, पीठिका ३२६।

४. आवश्यकचूर्णी २, पृ० ७७।

५. बृहत्कल्पभाष्य पीठिका ३३८।

६. उत्तराध्ययनटीका १, पृ० १० अ।

७. बृहत्कल्पभाष्य ४.४८६१।

८. बृहत्कल्पभाष्य १.३६४७। गृह्यसूत्रों (उदाहरण के लिये, गोभिल ४.४.२८ इत्यादि, सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट, जिल्द ३० में सीता को हल-देवता कहा है, वी० एम० आप्टे, सोशल एण्ड रिलीजियस लाइफ इन द गृह्यसूत्राज़, १०, पृ० १२६। तथा देखिये महाभारत ७.१०५.१६; रामायण १.६६.१४ आदि; सिलवन लेवी, *प्री-आर्यन और प्री-द्रविडियन इन इण्डिया*, पृ० ८-१५।

हल चलाने को स्फोटकर्म (फोडीकम्म)[1] कहा है; इसे १५ कर्मादानों में गिना गया है। चम्पा नगरी की सेतुसीमा बुद्धिमान, और कुशल कृषकों द्वारा सैकड़ों-हजारों हलों से जोती जाती थी, और ये लोग ईख, जौ और चावल की खेती करते थे।[2] किसी गांव में रहने वाले पाराशर गृहपति का उल्लेख है। कृषि में कुशल होने के कारण वह कृषि-पाराशर कहा जाता था।[3] वाणिज्यग्राम के आनन्द गृहपति की धनसम्पत्ति में ५०० हलों की गिनती की गयी है; एक हल के द्वारा सौ निवर्तन (नियत्तण=४०,००० वर्ग-हाथ)[4] भूमि जोती जा सकती थी। जैनसूत्रों में हल, कुलिय[5] और नंगल नाम के हलों का उल्लेख मिलता है।[6] कुदालो (कुदाल)[7] से खोदने का काम किया जाता था। खेतों की रक्षा करने के लिए कृषक-बालिकाएँ 'टिट्टि' 'टिट्टि' चिल्लाकर बछड़ों और हरिण आदि को, तथा लाठी मारकर सांडों को भगाया करती थीं।[8] सूअर आदि जङ्गली जानवरों से खेती की रक्षा के लिये सींग बजाया जाता था।[9] ऋजुवालिका नदी के किनारे श्यामाक गृहपति के कट्ठकरण नामक खेत में भगवान् महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी।[10]

खेतों की फसल

प्राचीन भारत में चावल (शालि) की खेती बहुतायत से होती थी। कलमशालि[11] पूर्वीय प्रान्तों में पैदा होता था। इसकी बलि देवी-

---

१. उपासकदशा १, पृ० ११।

२. औपपातिक सूत्र १; आवश्यकटीका (हरिभद्र) ६४७, पृ० ४२६-अ।

३. उत्तराध्ययनटीका २, पृ० ४५।

४. उपासकदशा १, पृ० ७।

५. सौराष्ट्र में इसका प्रचार था। दो हाथ प्रमाण लकड़ी में लोहे की कीलें लगी रहतीं और उनमें एक लोहपट्ट जड़ा रहता। यह खेतों की घास काटने के काम में आता था, निशीथचूर्णी पीठिका ६०।

६. आवश्यकचूर्णी, पृ० ८१।

७. उपासकदशा २, पृ० २३।

८. बृहत्कल्पभाष्य पीठिका ७७।

९. निशीथचूर्णी पीठिका १२।

१०. आवश्यकचूर्णी, पृ० ३२२।

११. उपासकदशा १, पृ० ८; बृहत्कल्पभाष्य २.३३६८।

देवताओं को दी जाती थी।[1] रक्तशालि, महाशालि और गंधशालि[2] चावल की दूसरी बढ़िया किस्में थीं। वर्षा होने पर छोटी-छोटी क्यारी बनाकर चावलों (शालि अक्षत) को खेतों में बोया जाता, फिर दो-तीन बार करके उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर रोपते[3] और खेत के चारों ओर बाड़ लगाकर उनकी रक्षा करते। कुछ समय बाद, जब हरे-हरे धान पक जाते, उनकी मस्त गन्ध सर्वत्र फैलने लगती, उनमें दूध भर आता, फल लग जाते और वे पीले पड़ जाते, तो उन्हें तीक्ष्ण दंतिया से काट लेते। फिर उन्हें हाथ से मल और छड़-पिछोड़कर कोरे घड़ों में भरकर रख देते। इन घड़ों को लीप-पोतकर उन पर मोहर लगा, उन्हें कोठार (कोट्ठागार) में रख दिया जाता।[4] संबाध (अथवा संबाह) भी एक प्रकार का कोठार ही होता था जिसे पर्वत के विषम प्रदेशों में बनाया जाता। किसान अपनी फसल को सुरक्षित रखने के लिए उसे यहाँ ढोकर ले जाते।[5]

घर के बाहर, जंगलों में धान्य को सुरक्षित रखने के लिए फूंस और पत्तियों के वुंगे (वलय) बनाते, और इनके अन्दर की जमीन को गोबर से लीपा जाता।[6] अनाज के गोलाकार ढेर को पुंज, और लम्बाकार ढेर को राशि कहते थे। दीवाल (भित्ति) और कुड्य से लगाकर ढेर बनाये जाते; इन्हें राख से अंकित कर, ऊपर से गोबर लीप दिया जाता, अथवा उन्हें अपेक्षित प्रदेश में रखकर घांस और फूंस से ढक दिया जाता।[7] वर्षा ऋतु में अनाज को मिट्टी अथवा बांस (पल्ल) के बने हुए कोठों (कोट्ट), बाँस के खम्भों (मंच) पर बने

---

१. बृहत्कल्पभाष्य १.१२१२।

२. बृहत्कल्पभाष्य २.३३०१ वृत्ति, ३३६७। शालि के अन्य भेदों के लिये देखिये सुश्रुत १.४६.३।

३. स्थानांग (४.३५५) में चार प्रकार की खेती बताई गई है—वापिता (धान्य का एक बार बो देना), परिवापिता (दो-तीन बार करके एक स्थान से दूसरे स्थान पर रोपना), निंदिता (खेतों की घास आदि निराकर धान्य बोना), परिनिंदिता (दो-तीन बार घास आदि निराना)।

४. ज्ञातृधर्मकथा ७, पृ० ८६।

५. बृहत्कल्पभाष्य १.१०९२।

६. वही २.३३६८।

७. वही २.३३११ आदि।

हुए कोठों, अथवा घर के ऊपर बने हुए कोठों (माला) में रक्खा जाता; द्वार पर लगाये जाने वाले ढक्कन को गोबर से, और फिर उसे चारों तरफ से मिट्टी से पोत दिया जाता। तत्पश्चात् उसे रेखाओं से चिह्नित कर और मिट्टी की मोहर लगाकर छोड़ दिया जाता।[1] इसके सिवाय, कुम्भी, करभी,[2] पल्लग (पल्ल), मुत्तोली (ऊपर और नीचे सकीर्ण और मध्य में विशाल कोठा),[3] मुख, इदुर, अलिन्द और ओचार (अपचारि) नाम के कोठारों का उल्लेख किया गया है।[4] गंजशाला में धान्य कूटे जाते थे।[5] चावलों को ओखली (उदूखल) में छड़ा जाता; उनको मलकर साफ करने के स्थान को खलय कहते।[6] गोकिलंज (एक प्रकार की कूँड) में पशुओं को सानी की जाती; सूप (सुप्पकत्तर) द्वारा अनाज साफ किया जाता।[7]

सत्रह प्रकार के धान्य

जैनसूत्रों में १७ प्रकार के धान्यों का उल्लेख है:—व्रीहि (चावल), यव (जौ), मसूर, गोधूम (गेहूँ), मुद्ग (मूंग), माष (उड़द), तिल,[8] चणक (चना), अणु (चावल की एक किस्म), प्रियंगु (कंगनी), कोद्रव (कोदों), अकुष्ठक (कुट्ट), शालि (चावल), आढकी, कलाय (मटर), कुलत्थ (कुलथी) और सण (सन)।[9] अन्य धान्यों में

---

१. बृहत्कल्पसूत्र २.३, तथा भाष्य २.३३६४-६५.। निशीथसूत्र १७.१२४ में कोठी (कोट्ठिया) का उल्लेख है।

२. बृहत्कल्पसूत्र २.१० में कुम्भी और करभी का उल्लेख है। मुँह के आकार की कोठी को कुम्भी और घट के आकार की कोठी को करभी कहा गया है। रामायण २.६१.७१ में भी इनका उल्लेख है।

३. मज्झिमनिकाय १,१०, पृ० ७६ में उल्लेख है।

४. अनुयोगद्वारसूत्र १३२।

५. निशीथसत्र ६.७।

६. व्यवहारभाष्य १०.२३; सूत्रकृतांग ४.२.१२।

७. उपासकदशा २, पृ० २३; सूत्रकृतांग ४.२.७-१२।

८. बृहत्कल्पभाष्य २.३३४२ में सफेद तिलों (सेडगतिल) का उल्लेख है।

९. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति १.८२८; बृहत्कल्पसूत्र २.१; प्रज्ञापना १.२३; व्याख्याप्रज्ञप्ति ६.७। व्यवहारभाष्य १, पृ० १३२ में अणु, प्रियंगु, अकुष्ठक, आढकी और कलाय के स्थान पर रालग, मास, चवल, तुवरी और निष्पाव

निप्पाव,[1] आलिसंदग (अथवा सिलिंद),[2] सडिण (अरहर), पलिमंथग (काला चना), अतसी (अलसी), कुसुंब (कुसुंबी), कंगु, रालग (कंगु की एक जाति), तुवरी (तूअर), कोदूसा (कोदों की एक जाति),[3] सर्षप (सरसों), हिरिमंथ (गोल चना), पुलक्कस और पुलाक (निस्सार अन्न) के नाम आते हैं।[4] धान्यों को कोटि कुम्भों में भर कर कोठार में संचित करने वालों को नैयतिक कहा जाता था।[5]

मसाले

मसालों में शृंगवेर[6] (अदरक), सुंठ (सूंठ), लवंग (लौंग), हरिद्रा (हल्दी), वेसन[7] (टीका-जीरकलवणादि), मरिय (मिर्च), पिप्पल (पीपल) और सरिसवत्थग[8] (सरसों) का उल्लेख मिलता है।

गन्ना

चावल की भांति गन्ना (उच्छू) भी यहां की मुख्य फसल थी। दशपुर (मंदसौर) में एक इक्षुगृह (उच्छुघर) का उल्लेख मिलता है।[9] इक्षुगृहों में जैन साधु ठहरा करते थे। गन्ना कोल्हुओं (महाजन्त;

का उल्लेख है। तथा देखिए निशीथभाष्य २०.६३८२; दशवैकालिकचूर्णी, पृ० २१२; तुलना कीजिए अर्थशास्त्र २.२४.४१.१७-१८; मिलिन्दप्रश्न पृ० २६७; मार्कण्डेय पुराण पृ० २४४।

१. इसे वल्ल भी कहा गया है, यह मादक होता है (बृहत्कल्पभाष्य ५.६०४६); मोनियर विलियम्स की संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी में इसे एक प्रकार का गेहूं बताया है।

२. एक प्रकार का चवला।

३. कोरदूषक को महाभारत (३.१६३.१६) में एक अच्छे किस्म का धान्य कहा गया है, जब कि सुश्रुत १.४६.२१ में इसकी गणना कुत्सित धान्यों में की गई है।

४. व्याख्याप्रज्ञप्ति ६.७; २१.२; २१,३; तथा उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० ५८-अ; उत्तराध्ययनसूत्र ८.१२; निशीथभाष्य २.१० २६-३०।

५. व्यवहारभाष्य १, पृ० १३१-अ।

६. व्याख्याप्रज्ञप्ति ८.३; प्रज्ञापना १.२३.३१; ४३-४४।

७. पिंडनिर्युक्ति ५४।

८. आचारांग २, १.८.२६८।

९. उत्तराध्ययनटीका २, पृ० २३।

कोल्लुक)[1] में पेरा जाता था; इन स्थानों को यंत्रशाला (जंतसाला)[2] कहा है। यंत्रपीडन[3] की गणना १५ कर्मादानों में की है; इसके द्वारा गन्ना, सरसों आदि पेरे जाते थे। ईख के खेत को सियार खा जाते थे; उनसे बचने के लिए खेत का मालिक खेत के चारों ओर खाई खुदवा दिया करता।[4] पशुओं और राहगीरों से रक्षा करने के लिए खेत के चारों ओर बाड़ लगवा दी जाती थी।[5] पुण्ड्रवर्धन पौंडे की फसल के लिए प्रसिद्ध था।[6] गन्ने को काटकर उसकी पोरी (पव्व) बनाई जाती, उन्हें गोलाकार काटकर उनके टुकड़े (डगल) किये जाते और गन्ने का छिलका उतार कर (मोय) उसे खाते। घास-पत्ती वाले गन्ने को चोय कहते, और उसके छिलके को सगल कहा जाता।[7] गंडेरियों का उल्लेख मिलता है; इन्हें लोग इलायची, कपूर आदि डालकर कांटे (शूल) से खाते थे।[8] मत्स्यंडिका, पुष्पोत्तर और पद्मोत्तर[9] नाम की शक्करों का उल्लेख मिलता है।

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र १६.५३; बृहत्कल्पभाष्य पीठिका ५७५।

२. व्यवहारभाष्य १०.४८४।

३. उपासकदशा १, पृ० ११; जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका ३, पृ० १९३-अ; बृहत्कल्पभाष्य २.३४६८।

४. बृहत्कल्पभाष्य पीठिका ७२१।

५. वही, १.६८८; निशीथभाष्य १५.४८४८ और चूर्णी।

६. तन्दुलवैचारिकटीका, पृ० २६-अ। बंगाल में दो किस्म के गन्ने होते थे, एक पीला (पुण्ड्र) और दूसरा काला बैंगनी या काला जिसे काजोलि या कजोलि कहा जाता था। पुण्ड्र से गंगा के पूर्व में स्थित पुण्ड्रदेश तथा कजोलि से गंगा के पश्चिम में स्थित कजोलक नाम पड़ा, आर्कियोलौजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, रिपोर्ट १८७६-८०, बिहार एण्ड बंगाल, जिल्द १५, १८८२, पृ० ३८। इक्षु के प्रकारों के लिये देखिये सुश्रुत (१.४५.१४६-५०)।

७. निशीथसूत्र १६.८-११; भाष्य १६.५४११-१२।

८. उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० ६१-अ।

९. ज्ञातृकर्मकथा १७, पृ० २०३; प्रज्ञापनासूत्र १७.२२७। अर्थशास्त्र २.१५.३३.१५ में मत्स्यंडिका (मीशाँ खांड) और खंडशर्करा (गुजराती में खांडसिरी) का उल्लेख है। तथा देखिए चरक १,२७.२४२ पृ० ३५०। पुष्पोत्तर का उल्लेख वैद्यकशब्दसिन्धु में मिलता है; यहाँ इसे पुष्पशर्करा (गुजराती में फूलसाकर) कहा गया है। पद्मोत्तर सम्भवतः पद्म (कमल) से

कपास आदि

सूत की फसलों में कपास (कप्पास; फलही) सबसे मुख्य थी। अन्य फसलों में रेशम, ऊर्णा[1] (ऊन), क्षौम (छालटी) और सन का उल्लेख मिलता है।[2] शालि अथवा शाल्मलि (सिंबलिपायव) के पुष्पों से भी रेशमी सूत तैयार किया जाता था।[3] निशीथसूत्र में इक्षु, शालि, कपास, अशोक, सप्तपर्ण, चंपक और आम्र के चर्मों का उल्लेख मिलता है।[4] भरुकच्छहरणी नामक ग्राम में एक किसान रहता था जो एक हाथ से हल चलाता हुआ, दूसरे से अपनी वाड़ी में से कपास तोड़ता जाता था।[5]

रंगे हुए कपड़े पहनने का रिवाज था। रंगों में कृष्ण, नील, लोहित, हरिद्र और शुक्ल रंगों का उल्लेख है,[6] इससे पता लगता है कि रासायनिक रंग तैयार किये जाते थे।

तांबूल[7] और पूगफली (सुपारी)[8] खाने का रिवाज था। जायफल, सीतलचीनी (कक्कोल), कपूर, लौंग और सुपारी को लोग पान में डालकर खाते थे।[9] साग-भाजी में बैंगन, ककड़ी, मूली, पालक (पालंक), करेला (करेल्ल), कंद (आलुग), सिंघाड़ा (शृंगाटक), लहसुन, प्याज (पलांडु), सूरण,[10] तुंबी (अलाऊ)[11] आदि का उल्लेख

बनाकर तैयार की जाती थी। मोनियर विलियम्स की डिक्शनरी में इसका उल्लेख है।

१. ऊर्णा को लाट देश में गड्डर कहा जाता था, निशीथचूर्णी ३, पृ० २२३।

२. बृहत्कल्पसूत्र २.२४ में जंगिय, भंगिय, साणय, पोत्तय (कपास का बना हुआ) और तिरीटपट्टक नाम के पांच प्रकार के वस्त्र गिनाये हैं।

३. प्रज्ञापनासूत्र १.२३; उत्तराध्ययनसूत्र १६.५२; सूत्रकृतांग ६.१८।

४. ३.७८-७६।

५. उत्तराध्ययनटीका ४, पृ० ७८-अ।

६. राजप्रश्नीय ३, पृ० २०।

७. उपासकदशा १, पृ० ६।

८. प्रज्ञापना १.२३।

६. निशीथभाष्य १२.३६६३ और चूर्णी।

१०. वही, १. २३; उत्तराध्ययनसूत्र ३६.६६ आदि।

११. ज्ञातृधर्मकथा १६, पृ० १६३।

है। तुंबी (मीठा कद्दू) ईख के साथ बोयी जाती थी, और लोग उसे गुड़ के साथ खाते थे।[1] तुम्बे में साधु भिक्षा ग्रहण करते थे।[2] बाड़ों (कच्छ) में मूली, ककड़ी आदि शाक-भाजो बोयी जाती थी।[3] वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता और वल्लि आदि के उल्लेख मिलते हैं।[4]

दुष्काल

इतना सब होने पर भी, वर्षा आदि के अभाव में भीषण दुष्काल पड़ा करते। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में पाटलिपुत्र के भयंकर दुष्काल का उल्लेख किया जा चुका है। वज्रस्वामी के समय उत्तरापथ में दुष्काल पड़ने से सारे रास्ते रुक गये थे।[5] दक्षिणापथ में भी बारह वर्ष का दुष्काल पड़ा था, जब कि आवागमन के मार्ग बंद हो गए थे।[6] एक बार कोशल देश में दुर्भिक्ष पड़ने पर किसी श्रावक ने बहुत-सा अनाज इकट्ठा कर अपने कोठे में भर लिया। उस समय वहाँ कुछ जैन साधु ठहरे हुए थे। श्रावक ने उनके लिए आहार को व्यवस्था कर दी और उन्हें अन्यत्र विहार नहीं करने दिया। लेकिन कुछ समय बाद, अनाज का दाम महंगा हो जाने पर, लोभ में आकर, उसने अनाज को ऊँची कीमत पर बेच दिया। ऐसी हालत में जैन-साधुओं को भोजन-पान के अभाव में आत्मघात करने के लिए बाध्य होना पड़ा, और उनके मृत शरीर को गीध भक्षण कर गये।[7] दुष्काल के समय लोग अपने बाल-बच्चों तक को बेच डालते थे।[8] ऐसे संकट के समय अनेक लोगों को दास-वृत्ति स्वीकार करनी पड़ती थी।[9]

---

१. उत्तराध्ययनटीका ५, पृ० १०२।

२. बृहत्कल्पभाष्य १.२८८६।

३. आचारांगटीका २, ३.३.३५०।

४. उत्तराध्ययनसूत्र ३६.९६।

५. आवश्यकचूर्णी, पृ० ३९६; निशीथचूर्णी पीठिका ३२ चूर्णी।

६. आवश्यकचूर्णी, पृ० ४०४।

७. व्यवहारभाष्य १०.५५७-६०।

८. महानिशीथ, पृ० २८।

९. व्यवहारभाष्य २, २०७; महानिशीथ, पृ० २८। काशी में दुर्भिक्ष पड़ने पर लोगों ने कौओं, यक्षों और नागों को बलि देना बन्द कर दिया था, वीरक जातक (२०४), २, पृ० ३१८।

या गट्ठर में बांधकर नगर में बिक्री के लिए ले जाते।[1] कच्चे फलों को पकाने के लिए अनेक उपाय किये जाते।[2] आम आदि को घास, फूंस अथवा भूसे के अन्दर रखकर गर्मी पहुँचायी जाती जिससे वे जल्दी ही पककर तैयार हो जायें। इस विधि को इंधनपर्यायाम कहा गया है। तिन्दुक आदि फलों को धूआं देकर पकाया जाता। पहले एक गड्ढा खोदकर उसमें कंडे की आग भर दी जाती; इस गड्ढे के चारों ओर और गड्ढे बनाये जाते और उन्हें कच्चे फलों से भर दिया जाता। इन गड्ढों में छिद्र बने रहते जो बीच के गड्ढे से जुड़े रहते। इस प्रकार कंडे की आग का धूआं सब गड्ढों में पहुँचता रहता और इसकी गर्मी से फल पक कर तैयार हो जाते। इस विधि को धूमपर्यायाम कहा गया है। ककड़ी, खीरा और बिजौरा आदि को पक्के फलों के साथ रख दिया जाता जिससे पक्के फलों की गंध से कच्चे फल भी पक जाते। इसे गंधपर्यायाम कहा है। बाकी फल समय आने पर स्वयं ही वृक्षों पर पक जाते, इस विधि को वृक्षपर्यायाम कहा गया है।[2]

कोंकण के निवासी फूलों और फलों के बहुत शौकीन थे, और इन्हें बेचकर वे अपनी आजीविका चलाते थे।[3] उत्सवों के अवसर पर पुष्पगृहों का निर्माण किया जाता।[4]

फल-फूल के अतिरिक्त, कुंकुम (केसर), कपूर, लौंग, लाख, चन्दन, कालागुरु (अगर), कुन्दरुक, तुरुक, और मधु आदि का उल्लेख भी जैनसूत्रों में मिलता है।[5] माक्षिक (मधुमक्खियों के छत्ते से निकाला हुआ), कुत्तिय (कौत्तिक) और भ्रामर (भौंरों के छत्ते से प्राप्त) मधु का उल्लेख है।[6]

खेती के काम में न आनेवाली जमीन बंजर कहलाती थी। जमीन

---

१. बृहत्कल्पभाष्य १.८७२।

२. वही, १.८४१ आदि।

३. वही १.१२३६।

४. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० ६३, ६५, १०३।

५. वही १, पृ० ३, १०।

६. आवश्यकचूर्णी २, पृ० ३१६; तथा देखिए चरकसंहिता १, २७, २४५ पृ० ३५१। सुश्रुत (१.४५. १३४-३६) में पौत्तिक, भ्रामर, क्षौद्र, माक्षिक, छात्र, आर्घ्य और औद्दालक मधुओं का उल्लेख है। पौत्तिक का लक्षण है—पिंगलामक्षिका महत्यः पुत्तिका, तत्रवं पौत्तिकम्।

में मुर्दे जलाये और गाड़े जाते थे। अधिकांश जमीन वन और जंगलों से घिरी थी। अनेक स्थानों पर लोहा, सोना, चांदी आदि की खानें (आकर) थीं। नदी तट की जमीन प्रायः खेती के काम में नहीं आती थी।

चरागाहों (दविय) में गाय, बैल, भेड़, बकरी आदि पशु चरा करते थे।[1] दावाग्नि (जंगल में आग लगाना)[2] की गणना पन्द्रह कर्मदानों में की गई है, इससे खेती के लिए जमीन तैयार की जाती थी। ग्वाले (गोवाल) और गड़रिए (अजापाल; छागलिय) अपनी गायों और भेड़-बकरियों को चराने के लिए चरागाहों में ले जाते थे। उत्तराध्ययनटीका में एक पशुपाल का उल्लेख मिलता है जो बकरियों को वटवृक्ष के नीचे बैठाकर, अपनी धनुही (धणुहिया) पर बकरियों की लेंड़ी चढ़ा, उनके द्वारा वृक्ष के पत्तों को छेदता रहता था।[3]

पशुपालन और दुग्धशाला

प्राचीन भारत में पशु महत्वपूर्ण धन माना जाता था तथा गाय, बैल, भैंस और भेड़ें राजा की बहुमूल्य संपत्ति गिनी जाती थी।[4] प्रज्ञापनासूत्र में अश्व, अश्वतर, घोटक, गर्दभ, उष्ट्र (करह = करभ), गाय, नीलगाय, भैंस, मृग, साबर, वराह, शरभ आदि पशुओं का उल्लेख मिलता है।[5] पशुओं के समूह को व्रज (वय), गोकुल, अथवा संगिल्ल कहा जाता था;[6] एक व्रज में दस हजार गायें रहती थीं।[7] गायों की बीमारी का उल्लेख मिलता है।[8] कंचनपुर के राजा करकंडु को गाय (गोकुल) पालने का बहुत शौक था,[9] अनेक गोकुलों का वह स्वामी

१. आचारांगटीका २, ३.२.३५०।
२. उपासकदशा १, पृ० ११।
३. ५, पृ० १०३।
४. औपपातिक सूत्र ६; तथा हरिभद्र, आवश्यकटीका, पृ० १२८।
५. १.३४; दस प्रकार के चतुष्पदों का उल्लेख निशीथभाष्य २.१०३४ में है; तथा निशीथसूत्र ६.२२।
६. व्यवहारभाष्य २.२३।
७. उपासकदशा १, पृ० ६; तथा बृहत्कल्पभाष्य ३.४२६८।
८. निशीथचूर्णी ५, पृ० ३६०।
९. राजा श्रेणिक के सर्वरत्नमय वृषभ मौजूद था, आवश्यकचूर्णी पृ. ३७१

था। यहाँ ऊँचे सींग वाले गंधवृषभ का उल्लेख किया गया है जो अपने तीक्ष्ण सींगों से पशुओं के साथ जूझता हुआ मस्त फिरा करता था।[1] समान खुर और पूँछवाले, तुल्य और तीक्ष्ण सींगवाले, रजतमय घंटियोंवाले, सूत की रस्सीवाले, कनकखचित नाथवाले और नीलकमल के शेखर से युक्त बैलों का उल्लेख मिलता है।[2] बैलों को हलों में जोतकर उनसे खेती की जाती और रहट में जोतकर खेतों की सिंचाई के लिए कुओं से पानी निकाला जाता।[3] उन्हें माल-असबाब से भरी हुई गाड़ी में जोतते, चाबुक से हाँकते, दाँतों से पूँछ काट लेते और आरी से मारते। ऐसी हालत में कभी अड़ियल बैल जुएँ को छोड़ अलग ही जाते जिससे गाड़ी का माल नीचे गिर पड़ता।[4] आवश्यकचूर्णी में वर्धमानक नाम के गांव में धनदेव वणिक् का उल्लेख है। वह अपनी बैलगाड़ियों में माल भरकर व्यापार के लिए जाया करता था। एक बार, वेगवती नदी पार करते समय उसका एक बैल रास्ते में गिर पड़ा, और उसे वह वहीं छोड़कर आगे बढ़ गया।[5]

गोपालन का बहुत ध्यान रक्खा जाता था। आभीर (अहीर) गाय-भैंसों को पालते-पोसते। इनके गांव अलग होते थे।[6] ग्वाले ध्वजा लेकर गायों के आगे चलते और गायें उनका अनुसरण करतीं।[7] दही मथने (वुसुलण) का उल्लेख आता है।[8] मथुरा की कोई अहीरनी किसी गंधी को दूध और दही दिया करती थी। एक बार की बात है, अपने पुत्र के विवाहोत्सव पर उसने गंधी और उसकी स्त्री को निमंत्रित किया। लेकिन गंधी विवाह में सम्मिलित न हो सका; उसने वर-वधू के लिए अनेक सुन्दर वस्त्र और आभूषण उपहार में भेजे। यह देखकर अहीर लोग बड़े प्रसन्न हुए और इसके बदले उन्होंने गंधी को तीन

---

१. उत्तराध्ययनटीका ६, पृ० १३४-अ।
२. ज्ञातृधर्मकथा ३, पृ० ६०।
३. बृहत्कल्पभाष्यटीका १.१२१६।
४. वही १.१२६८; उत्तराध्ययन २७. ३-४।
५. आवश्यकचूर्णी; पृ० २७२; तथा निशीथचूर्णी १०. ३१६३ चूर्णी।
६. बृहत्कल्पभाष्य १.२१६६।
७. वही ४.५२०२।
८. पिण्डनिर्युक्ति ५७४।

बरस के कम्बल और सम्बल नामके दो हट्टे-कट्टे बछड़े भेंट किये।[1] गाय अपने बछड़े से बहुत प्रेम करती और व्याघ्र आदि से संत्रस्त होने पर भी अपने बछड़े को छोड़कर न भागती।[2] पशुओं को खाने के लिए घास, दाना और पानी (तणपाणिय) दिया जाता। हाथियों को नल (एक तृण), इक्षु, भैंसों को बाँस की कोमल पत्तियाँ, घोड़ों को हरिमन्थ (काला चना), मूंग आदि, तथा गायों को अर्जुन आदि खाने के लिये दिये जाते।[3] गाय, बैल और बछड़े गोशालाओं (गोमंडप) में रक्खे जाते। चोर (कूटग्राह) गोशालाओं में से, रात के समय, चुपचाप पशुओं की चोरी कर लेते।[4]

किसी गृहपति के पास भिन्न-भिन्न जाति की गायें थीं। गायों की संख्या इतनी अधिक थी कि एक ही भूमि में चरने के कारण एक जात की गायें दूसरी जात की गायों में मिल जातीं जिससे ग्वालों में लड़ाई-झगड़ा होने लगता। इधर ग्वाले झगड़ा-टंटा करने में लगे रहते और उधर जंगल के व्याघ्र आदि गायों को उठाकर ले जाते, या वे किसी दुर्गम स्थान में जाकर फंस जातीं और वहाँ से न निकल सकने के कारण मर जातीं। यह देखकर गृहपति ने अपनी काली, नीली, लाल, सफेद और चितकबरी गायों को अलग-अलग ग्वालों के सुपुर्द कर दिया।[5]

घी-दूध पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता था। वाड़ों (दोहणवाडग) में गायों का दोहन किया जाता था।[6] प्रायः महिलाएँ ही दूध दूहने का काम करती थीं।[7] दही, छाछ, मक्खन और घी को गोरस कहते, और गोरस अत्यन्त पुष्टिकारक भोजन समझा जाता। गाय, भैंस, ऊँट, बकरी और भेड़ों का दूध काम में लिया जाता।[8] दही के मटकों

१. आवश्यकनिर्युक्ति ४७१; आवश्यकचूर्णी पृ० २८० आदि।

२. बृहत्कल्पभाष्य १.२११६।

३. निशीथभाष्यचूर्णी ४.१६३८।

४. विपाकसूत्र २, पृ० १४ आदि; तथा देखिए बृहत्कल्पभाष्यटीका १.२७६२।

५. आवश्यकचूर्णी पृ० ४४।

६. निशीथभाष्य २.१११६।

७. निशीथचूर्णी ११.३५७६ चूर्णी।

८. आवश्यकचूर्णी, २ पृ० ३१६।

को गर्म पानी से तर रक्खा जाता।[1] बकरी के तक्र का उल्लेख मिलता है।[2] क्षीरगृह (खीरघर) में पर्याप्त मात्रा में दूध के बने पदार्थ उपलब्ध होते।[3] गाँव के अहीर अपनी गाड़ियों में घी के घड़े रखकर उन्हें नगरों में बेचने ले जाते।[4] पशुओं के चमड़े, हड्डियाँ, दांत (हाथीदांत) और बालों का उपयोग किया जाता।[5] कसाईखानों (सूना) में प्रतिदिन सैकड़ों भैंसों आदि का वध होता था।[6]

भेड़, बकरी आदि पशुओं को बाड़ों में रक्खा जाता[7] इनकी ऊन काम में ली जाती। भेड़ की ऊन से और ऊँट के बालों से जैन साधुओं की रजोहरण तथा कम्बल बनाये जाते।[8] लोग भेड़ को मारकर उसमें नमक, तेल और कालीमिर्च डाल उसे भक्षण करते।[9] उत्तराध्ययन सूत्र में औरभ्रीय (उरभ्र = मेंढ़ा) अध्ययन में बताया है कि लोग मेंढ़ों को चावल, मूंग, उड़द आदि देकर खूब पालते-पोसते, उनके शरीर को हल्दी के रंग से रंगते और फिर उन्हें मारकर अपने अतिथियों को खिलाते।[10] उष्ट्रपालों का उल्लेख मिलता है।[11] पशुओं की चिकित्सा की जाती थी।[12] करीष अग्नि (उपले की आग) का उल्लेख किया गया है।[13]

वृक्ष-विज्ञान

हमारे देश का अधिकांश भूभाग वन, जंगल और अरण्य से घिरा

---

१. निशीथचूर्णी ४.१६६३।
२. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २४६।
३. निशीथसूत्र ९.७।
४. बृहत्कल्पभाष्य पीठिका ३६०-३६१।
५. पिण्डनिर्युक्ति ५०।
६. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १६६।
७. विपाकसूत्र ४, पृ० ३०।
८. बृहत्कल्पसूत्र २.२५, भाष्य ३.३९१४।
९. सूत्रकृतांग २, ६.३७।
१०. ७.१; बृहत्कल्पभाष्यटीका १.१८१२; तथा निशीथचूर्णी १३.४२४६
११. निशीथचूर्णी ११.३६६७ चूर्णी।
१२. वही २०, पृ० ३०४।
१३. उत्तराध्ययन १२.४३।

हुआ था। जंगलों से सम्बन्ध रखने वाले वन, वनखण्ड, वनराजि, कानन, अटवी और अरण्य आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। राजगृह नगर के पास अठारह योजन लम्बी एक महाअटवी थी, जहाँ बहुत से चोर निवास करते थे।[1] अटवी में पथिक लोग प्रायः रास्ता भूल जाते। चोर-डाकू पुलिस के डर से यहाँ छिपकर बैठ जाते थे। क्षीरवन अटवी[2] तथा कोसंब (कोशाम्र) अरण्य[3] और दंडकारण्य[4] के नाम उल्लिखित हैं।

वनों में भांति-भांति के वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, तृण, वलय, हरित और औषधि वगैरह पायी जाती थीं। वृक्षों में नीम, आम, जामुन, साल, अंकोर (हिन्दी में ढेरा), पीलु, श्लेपात्मक, सल्लकी, मोचकी, मालुक, बकुल, पलास, करंज, पुत्रंजीव, अरीठा, बहेड़ा, हर्र, भिलावा, क्षीरिणी (गंभारी), धातकी, प्रियाल, पूतिकरंज, सीसम, पुन्नाग (नागकेसर), नागवृक्ष, श्रीपर्णी और अशोक आदि, तथा तिन्दुक, कपित्थक, अंबाडक (आम्रातक=आम जैसा फल), मातुलिंग (बिजौरा), बेल, आँवला, फणस, दाडिम, अश्वत्थ (पीपल), उदुंबर, वड़, न्यग्रोध (जिसके चारों ओर छोटे-छोटे वट फैले हों), नंदिवृक्ष (एक प्रकार का पीपल का वृक्ष), पिप्पली (पीपली), शतरी (एक प्रकार का पीपल), पिलक्खु (प्लक्ष=पिलखन), काकोदुंबरी (एक प्रकार का उदुंबर), कुस्तुम्बरी (एक प्रकार के जंगली अंजीर की जाति), देवदाली (देवदारु), तिलक, लकुच (हिन्दी में बडहर), छत्रौघ, शिरीष सप्तपर्ण, दधिपण, लोध्र, धव, चन्दन, अर्जुन, नीम (भूमिकदंब), कुटज (इन्द्रजव) और कदंब आदि वृक्षों के उल्लेख मिलते हैं।[5] बबूल (बब्बूल) का उल्लेख आता है। ऊंट अपनी गर्दन

---

१. उत्तराध्ययनटीका ८, पृ० १२५; पृ० ६२।

२. वही, २३, पृ० २८७।

३. निशीथचूर्णी ८. २३४३ की चूर्णी।

४. वही १६,५७४३ की चूर्णी।

५. प्रज्ञापनासूत्र १.२३; राजप्रश्नीय ३, पृ० १२; बृहत्कल्पभाष्य १.१७१२-१३; अथर्ववेद में उल्लिखित विविध वृक्षों के लिए देखिए एस० के० दास, द इकोनोमिक हिस्ट्री ऑव ऐंशियेंट इंडिया, पृ० ६८-१०३, १०५-१०८, २०४-२०६। तथा रामायण ३.१५.१५ आदि; ४.१.७६ आदि; महाभारत २.५७.४४ आदि; सुश्रुत १.४६:१६३।

ऊँचो कर बबूल की पत्तियां को बड़े शौक से खाता था।[1] दूध के वृक्षों (खीरद्रुम) में बड़, उदुंबर और पीपल के नाम मिलते हैं।[2] नंदिफल नाम के वृक्ष देखने में सुन्दर लगते थे लेकिन उनके बीज भक्षण करने से मनुष्य मर जाता था।[3] वृक्षों की बिक्री होती थी।[4]

गुच्छों में वाइंगिणी (मराठी में वांगी; हिन्दी में बैंगन), सल्लकी, थुंडकी (थोन्दकी), कच्छुरी, जासुमणा, रूपी, आढकी (तूअर), नीली, तुलसी, मातुलिंगी, कुत्थुम्भरी, पिप्पलिका (पीपल), अलसी, वल्ली, काकमाची, पटोलकंदली, बदर (बेर), जवसय (जवासा), निर्गुण्डी, सन, श्यामा, सिंदुवार, करमर्द (करोंदा), अद्दरूसग (अडूसा), करीर, भंडी (मजीठ), जीवन्ती, केतकी, पाटला और अंकोला आदि का उल्लेख है। गुल्मों में नवमालिका, कोरंटक, बंधुजीवक, मनोज्ञ (बेला की एक जाति), कणेर, कुब्जक (सफेद गुलाब), मोगरा (बेला), यूथिका (जूही), मल्लिका, वासंती, मृगदंतिका, चंपक, कुंद आदि का उल्लेख है। लताओं में पद्मलता, नागलता, अशोकलता, चंपकलता, चूतलता, वनलता, वासंतीलता, अतिमुक्तकलता, कुन्दलता और श्यामलता के नाम मिलते हैं। वल्लियों में कालिंगी (तरबूज की बेल), तुंबी, त्रपुसी[5] (ककड़ी की बेल), एलवालुंकी (एक प्रकार की ककड़ी), घोषातकी (कड़वी घीसोड़ी), पंडोला, पंचांगुलिका, नीली (गली), करेला, सुभगा (मोगरी की एक जाति), देवादारु, नागलता (नागरबेल), कृष्णा (जटामांसी), सूर्यवल्ली (सूरजमुखी), मृद्वीका (अंगूर), गुंजावल्ली (गुंजा की बेल), मालुका आदि वल्लियों के नाम आते हैं।

तृणों में दर्भ, कुश, अर्जुन, आषाढक, क्षुरक आदि, तथा वलय में ताल, तमाल, शाल्मलि, सरल (चीड़), जावती, केतकी, कदली (केला), भोजवृक्ष (भोजपत्र वृक्ष), हिंगुवृक्ष, लवंगवृक्ष, पूगफली (सुपारी), खजूर और नारियल के नाम आते हैं। हरित वनस्पतियां

---

१. उत्तराध्ययनटीका ६, पृ० १४२-अ।

२. निशीथचूर्णी, पृ० ६०।

३. आवश्यकचूर्णी, पृ० ५०६।

४. निशीथचूर्णी १५, पृ० ५८१।

५. ककड़ी को वालुंक अथवा चिब्भिड (चीभड़ं गुजराती में) कहा गया है, बृहत्कल्पभाष्य पीठिका ३७६।

में माजरिक, पालक, जलपीपल, मूली, सरसों, जोवंतक, तुलसी, मरवा, शतपुष्प, इन्दीवर आदि का उल्लेख है। वंश, वेणु और कनक ये बाँस की तीन जातियाँ बतायी गयी हैं।[1] सन (वाग), नारियल के तृण (पयडो), मूंज, कुश, बेंत और बाँस से जैन साधुओं के छींके बनाये जाते थे।[2]

वृक्षों की लकड़ियाँ घर और यान-वाहन आदि बनाने के काम में आती थीं। उनसे साधुओं के दंड, यष्टि, अवलेखनिका (कीचड़ हटाने के लिये), वेणू (बाँस) आदि तैयार किये जाते।[3] वनकर्म और अंगारकर्म का उल्लेख मिलता है। वनकर्म में रत श्रमिक लोग जंगल के वृक्षों को गिराकर उनसे लकड़ी प्राप्त करते थे। अंगारकर्म द्वारा लड़कियों को जलाकर कोयले तैयार किये जाते थे; पक्की ईंटें बनायी जाती थीं।[4]

लकड़हारों (कट्ठहारक), जंगल में से सूखे पत्ते चुननेवालों (पत्तहारक), और घसियारों (तणहारक) का उल्लेख मिलता है, जो जंगल में दिन भर लकड़ी काटते रहते, पत्ते चुगते रहते, और घास खोदते रहते थे।[5]

आखेट

मांस के लिए आखेट किया जाता था। राजा अपने दलबल के साथ जंगल में मृगया के लिए जाते। कांपिल्य का राजा संजय अपने अश्व पर बैठकर, चतुरंगिणी सेना के साथ, केसर नाम के उद्यान में मृगया के लिए चला, और वहाँ पहुँचकर, भयभीत और संत्रस्त होकर इधर-उधर भागते हुए मृगों का शिकार करने लगा।[6] व्याख्याप्रज्ञप्ति में मृगवध का उल्लेख है।[7] मृगलुब्धिक पशुओं को पकड़कर उन्हें

---

१. प्रज्ञापनासूत्र १.२३।

२. निशीथभाष्य १.६४०।

३. निशीथसूत्र १.४०।

४. उपासकदशा १, पृ० ११; तथा व्यवहारभाष्य ३.८६; आचारांग २, २.३०३।

५. ज्ञातृधर्मकथा १३, पृ० १४३; बृहत्कल्पभाष्य १.१०६७; अनुयोगद्वार-सूत्र १३०।

६. उत्तराध्ययनसूत्र १८.२ आदि।

७. १.८।

मारते और उनका मांस विक्रय कर अपनी आजीविका चलाते। शिकार के लिए शिकारी कुत्तों को काम में लिया जाता।[1] कुत्ते 'छो-छो' करने पर जंगली जानवरों के पीछे उन्हें पकड़ने के लिए दौड़ते।[2] शिकारी कुत्तों की सहायता से शिकार करनेवालों को सोणिय (शौनिक) और जाल लगाकर शिकार पकड़नेवालों को वागुरिक कहा जाता था।[3] पाश और कूट जालों को शिकार पकड़ने के काम में लिया जाता।[4] तृण, मुंज, काष्ठ, चर्म, बेंत, सूत और रस्सी के पाश बनाये जाते।[5] गड़रियों (छागलिय) के बाड़ों में अनेक बकरे, मेंढे, बैल, सूअर, हरिण, महिष आदि बँधे रहते। अनेक नौकर-चाकर उनकी देखभाल करते। वे उनके मांस को तलते और भूनते तथा राजमार्ग पर जाकर बेचते।[6] लोग हाथियों का भी शिकार करते थे। हस्तितापस धनुष-बाण से हाथी का शिकार कर उसका मांस महीनों तक भक्षण करते थे।[7]

चिड़ियों का शिकार करनेवाले चिड़ीमार कहे जाते। पक्षियों में भारंड, जीवंजीव, समुद्रवायस (जलकाक) ढंक, कुरल, वायस, चक्रवाक, हंस, राजहंस, बक, क्रौंच, सारस, मयूर, वंजुलग, तित्तर (तीतर), वतक, लावग, कपोत, कपिंजल, चिडग (चिड़ा), शुक (तोता), मोर, कोकिल सेही आदि पक्षियों का उल्लेख है।[8] राजहंस की जिह्वा को अम्ल बताया गया है जिससे दूध फट जाता था।[9] शिकारी धनुष-बाण से तीतर, बतक, बटेर, कबूतर और कपिंजल आदि पक्षियों का शिकार करते।[10] पक्षियों को पकड़ने के लिए बाज (विदंशक), जाल तथा वज्रलेप (लेप्य) आदि का उपयोग किया

---

१. सूत्रकृतांग २, २.३१।
२. बृहत्कल्पभाष्य १.१५८५; निशीथचूर्णीभाष्य ४.१६२२।
३. बृहत्कल्पभाष्य १.२७६६; व्यवहारभाष्य ?, पृ० २०-अ।
४. उत्तराध्ययनसूत्र १९.६३; ५.५।
५. निशीथसूत्र १२.१।
६. विपाकसूत्र ४, पृ० २९, ३०।
७. सूत्रकृतांग २, ६; ६, २।
८. प्रज्ञापनासूत्र १.५७; राजप्रश्नीयसूत्र ३, पृ० १५; निशीथसूत्र ९.२२।
९. आवश्यकचूर्णी, पृ० १२१।
१०. सूत्रकृतांग २, २.३१ आदि।

जाता।[1] तीतरों को फँसाने के लिये बाज (वीरल्ल) के पाँव में ताँत बाँध कर उसे तीतरों में छोड़ देते।[2] अण्डों का व्यापार होता तथा अण्डों के व्यापारी प्रतिदिन कुदाली और टोकरी लेकर अपने कर्मचारियों को जंगल में भेजते, जहाँ वे कौए, उल्लू, कबूतर, टिट्टिभ, सारस, मोर, कुक्कुट (मुर्गा) आदि के अण्डों की तलाश में रहते। इन अण्डों को वे तवे, कवल्ली (मिट्टी का तवा), कन्दु और भर्जन आदि में भूनते और आग में तलते। तत्पश्चात् राजमार्ग और दुकानों पर बैठकर उन्हें बेचते।[3] मयूर-पोषकों का उल्लेख मिलता है।[4] लोग गृह-कोकिल[5], तीतर, शुक और मदनशालिका[6] (मैना) आदि को पालते।

मच्छीमार मछलियाँ पकड़ने का पेशा करते। मछलियों में सण्ह (श्लक्ष्ण) खवल्ल, जुंग, विज्झिडिय, हलि, मगरि, रोहित, हलीसागर, गागर, वड, वडगर, गब्भय, उसगार, तिमि, तिमिंगिल, नक्क, तंदुल, कणिका, सालि, सत्थिया (स्वस्तिक), लंभन, पताका और पताकातिपताका नाम की मछलियों के उल्लेख मिलते हैं।[7] गल (वड़िश = मछली पकड़ने का कांटा) और मगरजालों को मछली पकड़ने के काम में लिया जाता। लोहे के कांटे में मांस के टुकड़े लगाकर, एक लम्बी रस्सी को पानी में डालकर मछलियाँ[8] पकड़ी जातीं। मछलियों को पकड़कर उन्हें साफ किया जाता, और फिर उनका मांस भक्षण किया जाता।[9] सोरियपुर नगर के उत्तर-पूर्व में मच्छीमारों की एक वाड़ी (मच्छंढवाडग) थी जहाँ बहुत से मच्छीमार रहा करते थे। ये लोग यमुना नदी में मछली पकड़ने जाते। वहाँ नदी के जल को छानकर (दहगालण), मथकर (दहमहण) और प्रवाहित कर (दहपवहण), तथा अयंपुल, पंचपुल, मच्छंधल, मच्छपुच्छ, जंभा,

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र १६.६५।
२. निशीथभाष्य २.११६३ की चूर्णी; ४.१६७२ की चूर्णी।
३. विपाकसूत्र ३, पृ० २२।
४. व्यवहारभाष्य ३, पृ० २ –अ; ज्ञातृधर्मकथा ३, पृ० ६२।
५. ओघनिर्युक्ति, ३२३, पृ० १२६।
६. आवश्यकचूर्णी, पृ० ५५८।
७. प्रज्ञापनासूत्र १.५०।
८. निशीथभाष्यचूर्णी ४.१८०५।
९. उत्तराध्ययनसूत्र १६.६४।

तिसिरा, भिसिरा, घिसरा, विसिरा, हिल्लिरी, झिल्लिरी, जाल, गल, कूटपाश, वक्कबंध, सुत्तबंध, वालबंध आदि प्रकारों द्वारा मछलियाँ पकड़ा करते । मछलियों से वे अपनी नावें भर लेते, उन्हें किनारे पर लाते; फिर धूप में सुखा, उन्हें बाजार में बेच देते ।[1] इसी प्रकार कच्छप, ग्राह, मगर और सुंसुमारों[2] के सम्बन्ध में भी कहा गया है । मच्छीमार इन्हें पकड़कर इनका मांस भक्षण करते ।

उत्पादनकर्ता

वस्त्र—कताई और बुनाई

कृषि के पश्चात् बुनाई एक महत्वपूर्ण उद्योग गिना जाता था । पाँच शिल्पकारों में कुंभकार, चित्रकार, लुहार, (कर्मकार) और नाई (काश्यप) के साथ वस्त्रकार (णंतिक) भी गिनाये गये हैं ।[3] नलदाम नाम के वस्त्रकार (कुविंद) का उल्लेख आता है ।[4] वस्त्रकारों में दूष्य (दुस्स; हिन्दी में धुस्सा) का व्यापार करनेवालों को दोसिय (महाराष्ट्र और गुजरात के दोशी), सूत्र का व्यापार करने वालों को सोत्तिय (सौत्रिक) और कपास का व्यापार करने वालों को कप्पासिय (कार्पासिक) कहा जाता था । इसके अतिरिक्त, तुन्नाग (तूमने वाले), तन्तुवाय (बुनकर), पट्टकार (पट्टकूल यानी रेशम का काम करने वाले पटवे)[5], तथा सीवग (सीने वाले दर्जी) और छिंपाय (हिन्दी में छिपी)[6] आदि के भी उल्लेख मिलते हैं ।

पहले कपास (सेडुग) को ओटकर (रुंचंत) उसकी रुई बनायी जाती, फिर उसे पींजते (पिंजिय) और उससे पूनी (पेलु) तैयार की जाती ।[7] कपास, दुगुल्ल और मूंज (वव्वक; मुंज)[8] के

१. विपाकसूत्र ८, पृ० ४६ आदि, व्यवहारभाष्य ३, पृ० २०-अ ।
२. प्रज्ञापनासूत्र १.५० ।
३. आवश्यकचूर्णी, पृ० १५६ ।
४. उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० ५८ ।
५. प्रज्ञापनासूत्र १.६९-७० ।
६. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ३, पृ० १९३-अ ।
७. बृहत्कल्पभाष्य १.२९९६; पिण्डनिर्युक्ति ५७४ ।
८. निशीथचूर्णी ७, पृ० ३९९; सूत्रकृतांगटीका २, ६, पृ० ३८८ ।

कातने का उल्लेख आता है। बुनकरों की शालाओं (तन्तुवायशाला) में कपड़ा बुना जाता था। नालंदा के बाहर इस प्रकार की एक शाला में ज्ञातृपुत्र महावीर और मंखलिपुत्र गोशाल साथ-साथ रहे थे।[1] वस्त्रों के अनेक प्रकारों का उल्लेख जैनसूत्रों में मिलता है। वस्त्रों का नियमित व्यापार होता था।

कपड़े धोने और कपड़े रंगने के उद्योग-धंधे का प्रचार था। अठारह श्रेणियों में धोबियों की गणना की गयी है। खार (सज्जियाखार) से मैले कपड़े धोये जाते थे। पहले, खार में कपड़े भिगोये जाते, फिर उन्हें भट्ठी पर रखकर गर्म किया जाता और उसके बाद साफ पानी से निखारकर उन्हें धो डालते।[2] मैले कपड़ों को पत्थर पर पीटा जाता (अच्छोड),[3] उन्हें घिसा जाता, रगड़ा जाता, और जब कपड़े धुलकर साफ चिट्टे हो जाते तो उन्हें धूप देकर सुगंधित किया जाता।[4] धोबी (णिल्लेवण) कम मैले कपड़ों को घर में ही घड़ों के पानी से धोकर साफ करते। यदि कपड़े अधिक मैले हुए तो तालाब, नदी आदि पर जाते तथा गोमूत्र, पशुओं की लेंड़ी, क्षार आदि से कपड़ों को धोते।[5] रजकशालाओं का उल्लेख मिलता है।[6]

तौलिये आदि वस्त्रों को काषाय रंग से रंगा जाता। रंगे हुए वस्त्र गर्म मौसम में पहने जाते।[7] परिव्राजक गेरुए रंग के वस्त्र धारण करते। रजक कपड़े धोने के साथ-साथ कपड़े रंगने का भी पेशा करते।

खान और खनिज विद्या

खनिज पदार्थों की भरमार थी, इसलिए प्राचीन काल में खानों का उद्योग महत्वपूर्ण माना जाता था। खानों में से लोहा, तांबा,

---

१. आवश्यकचूर्णी, पृ० २८२।

२. ज्ञातृधर्मकथा ५, पृ० ७४; आवश्यकचूर्णी २, पृ० ६१; निशीथचूर्णी १०.३२५१।

३. पिंडनिर्युक्ति ३४।

४. वही ३४; आचारांग २, ५.१.३६७; बृहत्कल्पसूत्र १.४५।

५. निशीथभाष्य २०.६५६४–६५।

६. व्यवहारभाष्य १०.४८४।

७. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० ७; बृहत्कल्पभाष्य पीठिका ६१२।

जस्ता, सीसा, चाँदी (हिरण्य अथवा रूप्य), सोना (सुवर्ण), मणि, रत्न और वज्र उपलब्ध होते थे।[1] धातुओं के उत्पत्ति स्थान को आकर कहा गया है।[2] कालियद्वीप अपनी हिरण्य, सुवर्ण, रत्न और वज्र की खानों के लिए प्रसिद्ध था। भारत के व्यापारी यहाँ की बहुमूल्य धातुओं को अपने जहाजों में भरकर स्वदेश लाते थे।[3]

अन्य खनिज पदार्थों में लवण (नमक), ऊस (साजीमाटी), गेरु, हरताल, हिंगुलक (सिंगरफ), मणसिल (मनसिल), सासग (पारा), सेडिय (सफेद मिट्टी), सोरट्ठिय और अंजन आदि के नाम मिलते हैं।[4]

आभूषण और रत्न आदि

स्त्रियां आभूषणों की शौकीन थीं। वे सोने-चांदी के आभूषण धारण करती थीं, अतएव सुनारों (सुवण्णकार) का व्यापार खूब चलता था।[5] कुमारनन्दी चंपा का एक प्रसिद्ध सुनार था। उसने राजकुल में सुवर्ण की भेंटकर, पटह द्वारा घोषणा की थी कि जो कोई उसके साथ पंचशैल की यात्रा करेगा उसे वह बहुत-सा रुपया देगा।[6] मूसियदारग तेयलिपुर का दूसरा सुप्रसिद्ध सुवर्णकार (कलाय) था।[7] सुनार बेईमानी भी करते थे; किसी ने एक सुनार से सोने के मोरंग (कुंडल) घड़ने को कहा, लेकिन उसने तांबे के बनाकर दे दिये।[8]

चौदह प्रकार के आभूषणों का उल्लेख जैनसूत्रों में मिलता है :—

१. निशीथसूत्र ५.३५; ११.१; प्रज्ञापना १.१७; स्थानांग ४.३४६।

२. बृहत्कल्पभाष्यटीका १.१०९०।

३. ज्ञातृधर्मकथा १७, पृ० २०२।

४. उत्तराध्ययनसूत्र ३६.७४; सूत्रकृतांग २, ३.६१; प्रज्ञापना १.१७; निशीथसूत्र ४.३६।

५. बौद्धसूत्रों के अनुसार विशाखा के आभूषण तैयार होने में चार महीने लगे थे, जिसमें पांच सौ सुनारों ने दिन और रात काम किया था, धम्मपद अट्ठकथा १, पृ० ३८४ आदि।

६. आवश्यकचूर्णी, पृ० ३९७।

७. ज्ञातृधर्मकथा १४।

८. निशीथचूर्णी ११.३७०० की चूर्णी।

हार (अठारह लड़ी वाला),[1] अर्धहार (नौ लड़ी का हार), एकावलि (एक लड़ी का हार), कनकावलि, रत्नावलि, मुक्तावलि (मोतियों का हार), केयूर, कडय (कड़ा), तुडिय (बाजूबंद), मुद्रा (अंगूठी), कुण्डल, उरसूत्र, चूडामणि और तिलक ।[2] हार, अर्धहार, तिसरय (तीन लड़ी का हार), प्रलंब (नाभि तक लटकने वाला हार), कटिसूत्र (करधौनी), ग्रैवेयक (गले का हार), अंगुलीयक (अंगूठी), कचाभरण (केश में लगाने का आभरण), मुद्रिका, कुण्डल, मुकुट, वलय (वीरत्वसूचक कंकण)[3], अंगद (बाजूबंद), पादप्रलंब (पैर तक लटकने वाला हार)[4], और मुरवि (आभरण विशेष)[5] नामक आभूषण पुरुषों द्वारा धारण किये जाते थे, तथा नूपुर, मेखला (करधौनी), हार, कडग (कड़ा), खुद्दय (अंगूठी), वलय, कुण्डल, रत्न और दीनारमाला[6] स्त्रियों के आभूषण माने जाते थे। सुवर्णपट्ट से श्रेष्ठियों का मस्तक भूषित किया जाता और नाममुद्रिका[7] अंगुली में पहनी जाती थी। हाथी और घोड़ों को भी आभूषणों से सज्जित किया जाता। हाथियों के गले में सुवर्ण और मणि-मुक्ता से जटित हार[8] तथा गायों को मयूरांगचूलिका पहनायी जाती।[9]

राजा-महाराजा और धनिक लोग सोने के बर्तनों में भोजन करते; इनमें थाल, परात (थासग) आदि मुख्य थे। बैठने के पीढ़े[10] (पावीढ),

१. राजा श्रेणिक के पास अठारह लड़ी वाला सुन्दर हार था; उसकी उत्पत्ति के लिए देखिए आवश्यकचूर्णी २, पृ० १७०। चालीस हजार के हार के लिए देखिए उत्तराध्ययनटीका १३, पृ० १९१-अ।

२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका ३, पृ० २१६-अ; निशीथसूत्र, ७.७। टिक्किद (टीका) का उल्लेख उत्तराध्ययनटीका २, पृ० ५४ में मिलता है।

३. औपपातिकसूत्र ३१, पृ० १२२; कल्पसूत्र ४.६२।

४. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० ३०।

५. राजप्रश्नीयसूत्र १३७।

६. कल्पसूत्र ३.३६ पृ० ५६; निशीथसूत्र ७. ७; तथा देखिए धम्मपद अट्ठकथा १, पृ० ३६४।

७. हरिभद्र, आवश्यकटीका, पृ० ७००।

८. विपाकसूत्र २, पृ० १३।

९. व्यवहारभाष्य ३.३५।

१०. तृण, पलाल, छगण (गोबर) और काष्ठके पीढ़ों का उल्लेख निशीथसूत्र १२.६ में किया गया है।

आसन और पल्यंग (पलंग) आदि सुवर्ण से जड़े हुए रहते थे।[1] सोने के भृंगार (झारी) का उपयोग होता था।[2] मध्यम स्थिति के लोग चाँदी का उपयोग करते थे।

कीमती रत्नों और मणियों में कर्केतन, वज्र, वैडूर्य, लोहिताक्ष, मसारगल्ल[3], हंसगर्भ, पुलक, सौगंधिक, ज्योतिरस, अंजन, अंजनपुलक, रजत, जातरूप, अंक, स्फटिक, रिष्ट इन्द्रनील, मरकत, सस्यक, प्रवाल, चन्द्रप्रभ, गोमेद्य, रुचक, भुजमोचक, जलकांत और सूर्यकांत के नाम उल्लेखनीय हैं।[4] नन्द राजगृह का एक सुप्रसिद्ध मणिकार (मणियार) था।[5] मणिकार मणि, मुक्ता आदि में डंडे से छेद करने के लिये उसे सान पर घिसते थे।[6] भांडागार में मणि, मुक्ता और रत्नों का संचय किया जाता था।[7] कीमिया बनानेवालों (धातुवाइय) का उल्लेख

---

१. ज्ञातृधर्मकथाटीका १, सूत्र २१, पृ० ४२-अ; देखिए प्रीतिदान की सूची।

२. आवश्यकचूर्णी पृ० १४७।

३. रामायण ३.४३.२८ और महाभारत ७.१६.६६ में इसका उल्लेख है। मसारगल्ल मसार पहाड़ी से मंगाया जाता था; राइस डेविड्स, मिलिंद-प्रश्न का अनुवाद, पृ० १७७, नोट ६। सम्मोहविनोदिनी पृ० ६४ में इसे कबरमनि कहा है। डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने न्यू इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द २, १९३९-४० में, इसका मूलस्थान चीन बताया है।

४. उत्तराध्ययनसूत्र ३६.७५ आदि; प्रज्ञापना १.१७; निशीथभाष्य २.१०३१-३२। चौबीस रत्नों के लिये देखिये दशवैकालिकचूर्णी, पृ० ११२, तथा देखिए बृहत्संहिता ७९, ४ आदि; दिव्यावदान १८, पृ० २२९; मिलिन्दप्रश्न, पृ० ११८। उदान की अट्ठकथा परमत्थदीपनी, पृ० १०३ में निम्नलिखित रत्न-मणियों का उल्लेख है :—वजिर, महानील, इन्दनील, मरकत, वेलुरिय, पदुमराग, फुस्सराग, कक्केतन, पुलक, विमल, लोहितंक, फलिक, पवाल. जोतिरस, गोमुत्तक, गोमेद, सोगन्धिक, मुत्ता, संख, अंजनमूल, राजावट्ट, अमतङ्गक, सस्सक, ब्राह्मणी; तथा देखिए लुई रिनो की ले लैपिडेयर सांस्क्रिट्स पृ० १५७ पर रत्नविषयक की सूची, पेरिस १८९६।

५. ज्ञातृधर्मकथा १३ पृ० १४१।

६. निशीथचूर्णी १.५०८ चूर्णी।

७. निशीथसूत्र ९.७।

मिलता है।[1] धातु के पानी से तांबे आदि को सिक्त करके सुवर्ण बनाने की मान्यता प्रचलित थी।[2]

लुहार, कुम्हार आदि कर्मकर

लुहारों (कम्मार=कर्मार) का व्यापार उन्नति पर था। ये लोग खेतीबारी के लिए हल और कुदाली आदि तथा लकड़ी काटने के लिए फरसा, वसूला आदि[3] बनाकर बेचते थे। लोहे की कीलें, डंडे और बेड़ियाँ बनायी जाती थीं। लोहे, त्रपुस् , ताम्र, जस्ते, सीसे, कांसे, चाँदी, सोने, मणि, दंत, सींग, चर्म, वस्त्र, शंख और वज्र आदि से बहुमूल्य पात्र तैयार किये जाते थे।[4] अन्य पात्रों में थाल, पात्री, थासग (हिन्दी में तासा), मल्लग (प्याले), कइविय (चमचा), अवपक्क (छोटा तवा), करोडिआ (हिन्दी में कटोरी) का उल्लेख मिलता है।[5] भोजन बनाने के बर्तनों में तवय (तवा), कवल्लि (हिन्दी में खपड़ा) और कन्दुअ (एक प्रकार का तवा) उल्लेखनीय हैं।[6] चंदालग[7] (हिन्दी में कंडाल) तांबे का वर्तन होता था। लोहे से इस्पात बनाया जाता और उससे अनेक प्रकार के औजार, हथियार, कवच, बम आदि तैयार किये जाते। इस्पात से साधुओं के उपयोग में आने वाले क्षुर (पिप्पलग), सुई (सुइ, आरिय), आरा, नहनी (नक्खच्छनी) तथा शस्त्रकोश[8] आदि बनाये जाते।

लुहारों की दुकानों (कम्मारसाला; अग्गिकम्म)[9] का उल्लेख मिलता है। वैशाली की कम्मारसाला में भगवान् महावीर ठहरे थे।[10]

---

१. उत्तराध्ययनटीका ४. पृ० ८३; दशवैकालिकचूर्णी १, पृ० ४४।

२. निशीथचूर्णी १३.४३१३।

३. उत्तराध्ययनसूत्र १९.६६; आवश्यकचूर्णी, पृ० ५२६।

४. औपपातिकसूत्र ३८, पृ० १७३। टीका में काचवेडन्तिग (?), वृत्तलोह (बटलोह), कंसलोह, हारपुटक और रीतिका का उल्लेख है। तथा निशीथसूत्र ११.१; १२.४०४३; १०.३०६० भाष्य।

५. ज्ञातृधर्मकथाटीका १, पृ० ४२-अ में प्रीतिदान की सूची देखिए।

६. विपाकसूत्र ३, पृ० २२; व्याख्याप्रज्ञप्ति ११.९।

७. सूत्रकृतांग ४.२.१३।

८. बृहत्कल्पभाष्य १.२८८३ आदि।

९. व्यवहारभाष्य १०.४८४।

१०. आवश्यकचूर्णी, पृ० २९२।

लुहार की दुकानों को समर[1] अथवा आगम[2] कहा गया है। लोहे की भट्टियों में कच्चा लोहा पकाया जाता था। गर्म पकते हुए लोहे को संड़सी से पकड़कर उठाया जाता, और फिर लोहे को नेह (अहिकरणी)[3] पर रखकर कूटा जाता। लोहे को हथौड़े से कूटते-पीटते और काटते और उससे उपयोगी वस्तुएँ तैयार करते।[4]

कंसेरे (कंसकार) कांसे के बर्तन बनाते थे; उनकी गिनती नौ कारुओं में की गयी है।[5] संदेश आदि लिखने के लिए ताम्रपट्टों[6] का उपयोग किया जाता था।

हाथी-दाँत बहुत कीमती माना जाता था। हाथी का शिकार करने के लिए पुलिन्दों (जंगल में रहने वाली आदिवासी जाति) को द्रव्य दिया जाता और वे हाथियों को मारकर उनके दाँत निकालते।[7] अन्य लोग भी हाथी-दाँत के लिए हाथियों का शिकार करते थे।[8] हाथी-दाँत की मूर्तियां बनायी जाती थीं।[9] हाथी-दाँत का काम करने वालों को शिल्प-आर्यों में गिना गया है।[10] हड्डी, सींग और शंख से विविध वस्तुएँ बनायी जाती। बन्दरों की हड्डियों से लोग मालाएँ तैयार करते और उन्हें बच्चा के गले में पहनाते। हाथी-दाँत और कौड़ियों से भी मालाएँ बनायी जातीं।[11]

कुम्हार (कुम्भकार) मिट्टी से अनेक प्रकार के घड़े, मटके आदि बनाते। सद्दालपुत्त पोलासपुर का एक प्रसिद्ध कुम्भकार था। शहर के बाहर उसकी पांच सौ दुकानें थीं जहां बहुत से नौकर-चाकर काम करते थे। कुम्हार लोग पहले मिट्टी में पानी डालकर उसे सानते; उसमें

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र १.२६।
२. आचारांग २, २.३०२।
३. व्याख्याप्रज्ञप्ति १६.१।
४. उत्तराध्ययनसूत्र १९.६७।
५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ३, पृ० १९३-अ।
६. हरिभद्र, आवश्यकटीका, पृ० ६८३।
७. आवश्यकचूर्णी, २, पृ० २९९।
८. वही, पृ० १९९।
९. बृहत्कल्पभाष्य १.२४९९।
१०. प्रज्ञापना १.७०।
११. निशीथसूत्र ७.१-३ की चूर्णी।

राख और गोबर मिलाते। फिर इस मिट्टी के लोंदे को चाक पर रखकर घुमाते और इच्छानुसार करय (हिन्दी में करवा),[1] वारय, पिहडय, घडय, अद्धघडय, कलसय (कलसा), अलिंजर, जंबूल, उट्टिय (औष्ट्रिक) आदि बर्तन तैयार करते[2]। तीन प्रकार के कलशों (कुड) का उल्लेख है—निप्पावकुट (गुजराती में वाल), तेलकुट और घृतकुट।[3] गीले बर्तनों को धूप में या आग में रखकर सुखाते। कुम्भकार-शाला (कुम्भारगेह)[4] के कई विभाग रहते। पण्यशाला में बर्तनों की बिक्री की जाती, भांडशाला में उन्हें इकट्ठा करके रक्खा जाता, कर्म-शाला में उन्हें तैयार किया जाता, पचनशाला में उन्हें पकाया जाता, और ईंधनशाला में बर्तन पकाने के लिए घास, गोबर आदि संचित किये जाते।[5]

जुलाहों और लुहारों की शालाओं की भांति कुम्भकारशाला में भी जैनश्रमण ठहरा करते थे।[6] पोलासपुर का कुम्हार सद्दालपुत्त जैनधर्म का सुप्रसिद्ध अनुयायी था। हालाहल श्रावस्ती की प्रसिद्ध कुम्हारनी थी। मंखलिपुत्र गोशाल के मत को वह अनुयायिनी थी, और गोशाल उसकी शाला में ठहरा करते थे।[7]

---

१. जैन श्रमण करक अथवा धर्मकरक को पानी रखने के काम में लाते थे, बृहत्कल्पभाष्य १.२८८२। चुल्लवग्ग (५.७.१७, पृ० २०७) में भी इसका उल्लेख है; इसमें पानी छानने का छन्ना लगा रहता था जिसमें पानी जल्दी ही छन जाता था। सम्भवतः यह पात्र लकड़ी का होता था।

२. उपासकदशा ७, पृ० ४७-८; अनुयोगद्वारसूत्र १३२, पृ० १३६। तथा देखिए कुसजातक (५३१), पृ० ३७२।

३. उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० ७३। आवश्यकचूर्णी, पृ० १२२ में चार प्रकार के घड़ों का उल्लेख है:—छिद्दकुड्ड, चोडकुड्ड, खंडकुड्ड और सगल।

४ निशीथभाष्य १०.३२२८।

५. वही १६.५३६०; बृहत्कल्पभाष्य २,३४४४ आदि।

६. देखिए आवश्यकचूर्णी, पृ० २८५; हरिभद्र, आवश्यकटीका, पृ० ४८४ आदि।

७. व्याख्याप्रज्ञप्ति १५।

गृह-निर्माण विद्या

गृहनिर्माण कला का विकास हुआ था। राज और बढ़ई का काम मुख्य धन्धे गिने जाते थे । मकानों, प्रासादों, भवनों, जीनों (दद्दर)[1], तलघरों, तालाबों और मन्दिरों की नींव रखने के लिए अनेक राजगिर और बढ़ई काम किया करते थे। काष्ठ की मूर्तियाँ बनायी जाती थीं।[2] कृष्णचित्र काष्ठ उत्तम काष्ठ समझा जाता था।[3] बढ़ई लोग बैठने के लिए आसन, पीढ़े, पलंग, खाट, खूँटी, सन्दूक, और बच्चों के खेल-खिलौने आदि बनाते। काष्ठ के बर्तनों में आयमणी (लुटिया) और उल्लंकअ, डोय (गुजराती में डोयो), दव्वी (डोई) आदि का उल्लेख पाया जाता है।[4] कुशल शिल्पी अनेक प्रकार के वृक्षों की लकड़ियों से खड़ाऊँ (पाउया) तैयार करते, और उनमें वैडूर्य तथा सुन्दर रिष्ट और अंजन जड़कर चमकदार बहुमूल्य रत्नों से उन्हें भूषित करते।[5] इसके अतिरिक्त, जहाज, नाव, विविध प्रकार के यान, गाड़ी, रथ और यन्त्र तैयार किये जाते। रथकार का स्थान सर्वोपरि था, और राजरत्नों में उसकी गिनती की जाती थी। रथकार विमान आदि भी तैयार करते थे।[6] शूर्पारक का कोक्कास बढ़ई *एक कुशल शिल्पकार था और उसने अपनी शिल्पविद्या के द्वारा* यन्त्रमय कबूतर बनाकर तैयार किये थे। ये कबूतर राजभवन में जाते और वहाँ के गंधशालि चुगकर लौट आते। बाद में राजा का आदेश पाकर उसने एक सुन्दर गरुड़यन्त्र बनाया। इस यन्त्र में राजा-रानी बैठकर आकाश में भ्रमण किया करते थे। कलिङ्गराज के अनुरोध पर उसने सात तल्ले के एक सुन्दर भवन का निर्माण किया था।[8]

---

१. गुजराती में दादर; पिंडनिर्युक्ति ३६४।

२. आवश्यकचूर्णी, पृ० ११५।

३. बृहत्कल्पभाष्य ३६६० टीका।

४. निशीथचूर्णी १२.४११३; पिंडनिर्युक्ति २५०।

५. बृहत्कल्पभाष्य ३.४०६७।

६. कल्पसूत्र १.१४; तुलना कीजिए महावग्ग ५.२.१३ पृ० २०६; [illegible] कहानी ३, पृ० ११०, ४५१।

७. आवश्यकचूर्णी २, पृ० ५६।

८. आवश्यकचूर्णी, पृ० ५४१; वसुदेवहिंडी; पृ० ६२ आदि; तथा देखिए [illegible] कहानी ३, पृ० १३५।

मकान बनाने के लिए ईंट (इट्टिका)[1], मिट्टी (पुढ़वी), शर्करा (सक्करा), बालू (बालुया) और पत्थर (उपल)[2] आदि की आवश्यकता पड़ती थी। पक्के मकानों में चूना पोतने (सुधाकम्मंत) का रिवाज था। पत्थरों के घर (सेलोवट्ठाण) बनाये जाते थे।[3]

सूर्यास्त के बाद दीपक जलाकर प्रकाश किया जाता था। दीपक प्रायः मिट्टी के होते। कुछ दीपक सारी रात जलाये जाते और कुछ थोड़े समय के लिये।[4] अवलंबन, उत्कंपन और पंजर नाम के दीपकों का उल्लेख मिलता है। अवलंबन दीप शृंखला से बंधे रहते, उत्कंपन ऊर्ध्व दण्ड में लटके रहते और पंजर फानस या कंदील की भांति गोलाकार अबरक के घट में रक्खे रहते।[5] स्कन्द और मुकुन्द के चैत्यों में रात्रि के समय दीपक जलाये जाते, और अनेक बार कुत्तों या चूहों के द्वारा दीपक के उलट दिये जाने से देवताओं की काष्ठमयी मूर्तियों में आग लग जाती।[6] मशालें (दीपिका) जलाई जातीं; मशालची (दीवियग्गाह) मशाल जलाकर जुलूस के आगे-आगे चलते थे।[7] गोबर और लकड़ी को ईंधन के काम में लिया जाता।

अन्य कारीगर आदि

हाथ के कारीगर चटाई (छविय = छर्विकाः = कटादिकाराः) बुनते, मूंज की पादुकाएं बनाते (मुंजपादुकाकार)[8], रस्से बंटते (वरुड़), तथा छाज (सुप्प)[9] और टोकरियाँ बनाते। इसके सिवाय, ताड़पत्रों से पंखे (तालवृन्त; वालवीजण)[10], पलाशपत्र और बांस की खप्पचों,

---

१. बृहत्कल्पभाष्य १.११२३; ३.४७६८, ४७७०।
२. सूत्रकृतांग २,३.६१।
३. आचारांग २, २.३०३।
४. बृहत्कल्पभाष्य २.३४६१।
५. ज्ञातृधर्मकथाटीका १, पृ० ४२-अ; देखिए प्रीतिदान की सूची।
६. बृहत्कल्पभाष्य २.३४६५।
७. निशीथसूत्र ६.२६।
८. प्रज्ञापना १.७०।
९. निशीथचूर्णी ११.३७०७ की चूर्णी।
१०. आवश्यकचूर्णी, पृ० १३८; ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० ११।

से छाते (वासत्ताण)[1] तथा झाडुएं (वेणुसंपच्छणी)[2] और बाँस की पेटियाँ (वेणुफल)[3] बनायी जाती थीं। छींकों (सिक्कक) का उपयोग किया जाता था। छींकों में, पात्र के अभाव में, जैन श्रमण फल आदि भरकर ले जाते। बहंगी (कापोतिका), आवश्यकता पड़ने पर आचार्य, बालक अथवा गम्भीर रोग से पीड़ित किसी साधु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के काम में आती।[4] दर्भ और मुञ्ज से साधुओं की रजोहरण, और बोरियाँ (गोणी) बनाई जातीं।[5] कम्मंतशालाओं में दर्भ, छाल और वृक्षों आदि के द्वारा अनेक वस्तुएँ तैयार की जातीं।[6] भोजपत्र (भुज्जपत्त) पर संदेश आदि लिखकर भेजा जाता।[7]

अन्य उद्योग-धन्धे

अन्य उद्योग-धन्धों में रंग बनाने का उल्लेख किया जा सकता है। चिकुर (पीत वर्ण का एक गन्ध द्रव्य), हरताल, सरसों, किंशुक (केसू), जपाकुसुम और बंधुजीवक के पुष्प, हिंगुल (सिंदूर), कुंकुम (केसर), नीलकमल, शिरीष के पुष्प तथा अंजन आदि द्रव्यों से रंग बनाये जाते थे।[8] हल्दी, कुसुंभा और कर्दम रंग के साथ-साथ किरमिची (किमिराय) रंग का भी उल्लेख किया गया है।[9] लाक्षारस भी एक महत्वपूर्ण उद्योग था; लाख से स्त्रियाँ और बालक अपने हाथ और पैर रंगते थे।[10] जो लोग गृध्रपृष्ठ-मरण स्वीकार करते, वे अपने पृष्ठ और उदर को लाख के लाल रंग से रंजितकर, मरे

---

१. बृहत्कल्पभाष्य ३.४०६७।

२. राजप्रश्नीयसूत्र २१, पृ० ६३।

३. सूत्रकृतांग ४.२. ८।

४. बृहत्कल्पभाष्य १. २८८६ आदि।

५. वही २. ३६७५।

६. आचारांग २, २.३०३।

७. आवश्यकचूर्णी, पृ० ५१०।

८. नायाधम्मकहा १, पृ० १०, तथा रायपसेणइयटीका १८६।

९. निशीथभाष्य १०.३१६१; अनुयोगद्वारसूत्र ३७; हरिभद्र, आवश्यकटीका, पृ० ३६६-अ।

१०. वही; उपासक ७, पृ० ११; हरिभद्र, वही, पृ० ३१८।

हुए गीदड़ों आदि के साथ लेट जाते ।[1] बर्तनों पर पालिश करनेवाले पत्थरों (वुट्टक) का उल्लेख मिलता है ।[2]

चर्मकार

चर्मकार अथवा पद्कार[3] चमड़े का काम करते थे । वे लोग चमड़े से पानी की मशक (देयडा=दृतिकारा:), चर्मेष्ट (चमड़े से वेष्टित पाषाण वाला हथियार)[4] तथा किणिक[5] (एक वाद्य) तैयार करते थे । ये अनेक प्रकार के जूते भी बनाते थे । कत्ति (कृत्ति=चर्मखण्ड) जैन साधुओं के उपयोग में आनेवाला चमड़े का एक उपकरण था । फलों आदि की, धूल-मिट्टी से रक्षा करने के लिए फलों को इस पर फैला देते थे । वस्त्र के अभाव में भी इसका उपयोग किया जा सकता था ।[6] जैन साध्वियों के लिए निर्लोम चर्म धारण करने का विधान है ।[8] गाय, भैंस, बकरी, भेड़ और जंगली जानवरों के चमड़े का उल्लेख प्राचीन जैन सूत्रों में मिलता है ।[9] साध्वियों के रुग्ण हो जाने पर उनके लिए व्याघ्र (दीवि) और तरच्छ (व्याघ्र की एक जाति) के चर्म के उपयोग करने का विधान है ।[10] कुत्ते के चमड़े का उल्लेख मिलता है ।[11]

पुष्पमालायें आदि

उद्यानों में प्रचुर मात्रा में फल-फूल लगते थे । माली (मालाकार) एक-से-एक सुन्दर माला और पुष्पगुच्छ गूँथकर तैयार करते थे

---

१. निशीथचूर्णी ११, पृ० २६२ ।
२. पिंडनिर्युक्तिटीका १५ ।
३. निशीथचूर्णी ११, पृ० २७१ ।
४. प्रज्ञापना १,७० ।
५. आवश्यकचूर्णी, पृ० २६२ ।
६. व्यवहारभाष्य ३, पृ० २०–अ ।
७. बृहत्कल्पभाष्य १.२८८१ ।
८. बृहत्कल्पसूत्र ३.३; भाष्य ३.३८१० ।
९. वही, ३.३८२४ ।
१०. वही, ३.३८१७ आदि ।
११. वही, १.१०१६ ।

एक बार, साकेत के राजा पडिबुद्धि की रानी ने बड़ी धूमधाम से नागयज्ञ मनाया। इस अवसर पर भाँति-भाँति के सुगन्धित पुष्पों के द्वारा एक अत्यन्त मनोज्ञ पुष्पमण्डप बनाया गया, और इस मण्डप में दिग्दिगन्त को अपनी सुगन्धि से व्याप्त करता हुआ एक श्रीदामगंड (मालाओं का समूह) लटकाया गया।[1] राजगृह में अर्जुनक नाम का एक सुप्रसिद्ध मालाकार रहता था। वह अपने पुष्पाराम (पुष्पों का बगीचा) में प्रतिदिन फूलों की टोकरी (पत्थिय; पिडग) लेकर फूल चुनने के लिए जाता, और फिर उन्हें नगर के राजमार्ग पर बैठकर बेचता।[2] फूलों की टोकरी के लिए पुप्फछज्जिया (पुष्पछादिका), पुप्फपडलग (पुष्पपटलक) और पुप्फचंगेरी आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।[3] बड़ के पत्तों के दोने (खल्लग) बनाये जाते थे।[4]

पुष्पों के अतिरिक्त, तृण (उदाहरण के लिए, मथुरा में बीरण=घास की पंचरंगी सुन्दर मालाएँ बनायी जाती थीं), मुंज, वेत्त (बेंत), मदनपुष्प, भेंड, मोरपंख, कपास का सूत (पोंडिय), सींग, हाथीदांत, कौड़ी, रुद्राक्ष और पुत्रंजीव आदि की भी मालाएँ (मल्ल; दाम) बनायी जाती थीं।[5] फूलों से मुकुट तैयार किये जाते थे।[6] विवाह अथवा अन्य उत्सव आदि के अवसरों पर द्वारों को बंदन-मालाओं से सजाया जाता।

शरीर पोंछने के तौलियों (उल्लणिया) तथा दातौन[7] (दन्तवण), अभ्यंग (तेल आदि), उबटन (उव्वट्टण), स्नान (मज्जन), वस्त्र और विलेपन, पुष्प, आभूषण, धूप और मुखवास[8] का उल्लेख मिलता है।

---

१. नायाधम्मकहा ८, पृ० ९५; [illegible] १.१७।

२. अन्तःकृद्दशा ६, पृ० ३१ आदि।

३. राजप्रश्नीयसूत्र २१; तुलना कीजिए आवश्यकचूर्णी २, पृ० १२।

४. पिंडनिर्युक्ति २१०।

५. निशीथसूत्र ७.१ तथा चूर्णी।

६. दशवैकालिकचूर्णी, पृ० ७६।

७. अंगुत्तरनिकाय २, ४ पृ० ४८६ में भिक्षुओं के लिये दातौन करने की अनुमति देते हुए उसके पांच गुण बताये हैं।

८. उवासगदसा १ पृ० ७८।

सुगंधित द्रव्य

विविध प्रकार के सुगन्धित तेल और इत्र आदि तैयार किये जाते थे। अलसी, कुसुंभा और सरसों को घाणी में पेर कर तेल निकाला जाता था।[1] मरु पर्वत से तेल लाया जाता। शतपाक और सहस्रपाक नामक तेलों को अनेक जड़ी-बूटियों के तेल में सैकड़ों वार उबालकर विधिपूर्वक तैयार किया जाता। हंस को चीर कर उसमें से मूत्र और पुरीष निकाल डालते, फिर उसके अन्दर औषधियां भर कर उसे सी देते और तेल में पकाते। यह हंस तेल कहा जाता था।[2] और भी अन्य प्रकार के पुष्टिदायक और उल्लासप्रद तेलों का उल्लेख जैनसूत्रों में मिलता है। लोग अपने शरीर पर चंदन का लेप करते थे। अनेक प्रकार का सुगंधित जल काम में लाया जाता।[3] दर्दर और मलयाचल से आनेवाले सुगन्धित द्रव्यों का उल्लेख किया गया है।[4] गोशीर्ष चन्दन हिमवन्त (हिमालय) पर्वत से लाया जाता था।[5] इससे प्रतिमायें बनाई जाती थीं।[6] हरिचन्दन (श्वेत चंदन) का उल्लेख मिलता है।[7]

सुगंधित द्रव्यों में कूट (कुट्ठ),[8] तगर, इलायची (एला), चूआ (चोय), चंपा, दमण, कुंकुम, चंदन, तुरुष्क, उसीर (खस), मरुआ, जाति, जूही (जूहिया), मल्लिका, स्नानमल्लिका, केतकी, पाटलि

---

१. आवश्यकचूर्णी २, पृ० ३१६; पिंडनिर्युक्ति ४०।

२. निशीथचूर्णी पीठिका ३४८ की चूर्णी।

३. औपपातिकसूत्र ३१, पृ० १२१ आदि। दिव्यावदान १७, पृ० ४०३ में दूध, कुंकुम और कपूर आदि सुगन्धित द्रव्यों का उल्लेख है जिनसे सुगन्धित जल तैयार किया जाता था।

४. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० ३०; तथा देखिए रामायण २.६१.२४।

५. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २५२-अ; २३, पृ० २८८-अ। देखिये अर्थशास्त्र २.११.२६.४५।

६. आवश्यकचूर्णी पृ० ३६८,६६।

७. आचारांगचूर्णी पृ० १६६।

८. कुष्ठ का उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। यह उत्तर में बर्फीले पहाड़ों पर होता था और वहां से पूर्वीय प्रदेशों में ले जाया जाता था। आजकल यह कश्मीर में होता है।

णेमालिय, अगरु, लवंग, वास और कर्पूर का उल्लेख है।[1] इलायची, लवंग, कपूर, कक्कोल (सीतलचीनी) और जायफल को पाँच सुगन्धित पदार्थों में गिना गया है।[2]

चैत्यों, वासभवनों और नगरों में धूप जलायी जाती थी। धूपदान को धूपकडच्छु अथवा धूपघटी नाम से कहा गया है[3]। सुगन्धित द्रव्य बाजारों में बेचे जाते थे। इन द्रव्यों को बेचनेवालों को गंधी, और उनकी दूकानों को गंधशाला कहा जाता था। ·

लोग अपने पैरों को मलवाते, दबवाते, उनपर तेल, घी या मज्जा की मालिश कराते; लोध, कल्क (कक्क), चूर्ण और वर्ण का उपलेप कराते, फिर गर्म या ठंडे पानी से उन्हें धो डालते, तत्पश्चात् चंदन आदि का लेप करते और धूप देते।[5]

स्त्रियों की प्रसाधन सामग्री

स्त्रियों की प्रसाधन-सामग्री में सुरमेदानी (अंजनी)[6], लोध्रचूर्ण, लोध्रपुष्प, गुटिका, कुष्ठ, तगर, रस के साथ कूटकर मिलाया हुआ अगरु[7], मुँह पर लगाने का तेल और दाँत रंगाने का चूर्ण (नंदिचुण्ण) मुख्य हैं। इसके सिवाय, सिर धोने के लिए आंवलों (आमलग), माथे पर बिन्दी लगाने के लिए तिलककरणी, आँखों को आंजने के

---

१. राजप्रश्नीयसूत्र ३६, पृ० ६१; बृहत्कल्पभाष्य १.२०७४ ।

२. उपासकदशा १, पृ० ६ ।

३. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० ९६; राजप्रश्नीयसूत्र १०० । तथा देखिए गिरिजाप्रसन्न मजूमदार का 'इण्डियन कल्चर' १, १-४, पृ० ५५८ आदि में प्रसाधन सम्बन्धी लेख ।

४. व्यवहारभाष्य ९ .२१ । ठाणांग की टीका समयार्थबोधिनी (पृ० १००) में दस गंध द्रव्यों का उल्लेख है—मूल, सार, ग्रंथि, त्वक्, पत्रिका, रस, पुष्प, फल, पत्र, गंध ।

५. आचारांग २, १३.३९४ पृ० ३८३; तथा बृहत्कल्पभाष्य ४.५०११ ।

६. देखिए [illegible] २.६१.३६ ।

७. औंधे के स्थान में इसका प्रयोग किया जाता था; तथा देखिए [illegible]भाष्य, २.११.६१, पृ० १६५ ।

लिए[1] सलाई (अंजनसलागा)[2] तथा 'क्लिप' (संडासग), कंघा (फणिह), 'रिबन' (सीहलिपासग), शीशा (आदंसग), सुपारी (पूयफल) और तांबूल (तंबोलय) आदि का उपयोग किया जाता था।[3]

अन्य पेशेवर लोग

ऊपर कहे हुए खेतीबारी, पशुपालन या व्यापार-धंधे से आजीविका चलाने वाले लोगों के अतिरिक्त और भी बहुत से पेशेवर लोग थे, जिनकी गणना श्रमिक-वर्ग में नहीं जा सकता, फिर भी वे समाज के लिए उपयोगी थे। इनमें आचार्य, चिकित्सक (वैद्य), वास्तुपाठक, लक्षणपाठक, नैमित्तिक (निमित्तशास्त्र के वेत्ता), तथा गांधर्विक, नट, नर्तक, जल्ल (रस्सी का खेल करनेवाले), मल्ल (मल्ल युद्ध करनेवाले), मौष्टिक (मुष्टियुद्ध करनेवाले), विडंबक (विदूषक), कथक (कथा-वाचक), प्लवक (तैराक), लासक (रास गानेवाले), आख्यायक (शुभाशुभ बखान करनेवाले), लंख (बाँस पर चढ़कर खेल दिखाने-वाले), मंख (चित्रपट लेकर भिक्षा मांगने वाले), तूणइल्ल (तूणा बजानेवाले), तुंबवीणिक (वीणावादक), तालाचर (ताल देनेवाले), भुजग (संपेरे), मागध (गाने-बजानेवाले)[4], हास्यकार (हंसी-मजाक करनेवाले), डमरकर (मसखरे), चाटुकार, दर्पकार तथा कौत्कुच्य (काय से कुचेष्टा करनेवाले) आदि का उल्लेख है। राजभृत्यों में छत्रग्राही, सिंहासनग्राही, पादपीठग्राही, पादुकाग्राही, यष्टिग्राही, कुंतग्राही, चापग्राही, चमरग्राही, पाशकग्राही, पुस्तकग्राही, फलकग्राही, पीठग्राही, वीणाग्राही, कुतुपग्राही, हडप्फ (धनुप) ग्राही, दीपिका (मशाल) ग्राही आदि का उल्लेख मिलता है।[5]

---

१. महावग्ग (६. २.६. पृ० २२१) में पांच प्रकार के अंजनों का उल्लेख है :—कृष्ण अंजन, रस अजन, सोत (स्रोत) अंजन, गेरुक अजन और कपल्ल (दीपक की स्याही से तैयार किया हुआ) अंजन।

२. चुल्लवग्ग ५.१३.३५, पृ० २२५ में इसका उल्लेख है।

३. सूत्रकृतांग ४.२.७ आदि। तंबूल के लिए देखिए गिरिजाप्रसन्न मजूमदार का 'इण्डियन कल्चर' १, २–४, पृ० ४१६ में लेख।

४. औपपातिकसूत्र १, पृ० २।

५. वही, पृ० १३०; निशीथसूत्र ६.२१।

श्रम

प्राचीन भारत में श्रम की व्यवस्था के सम्बन्ध में ठीक-ठी
जानकारी नहीं मिलती। जैनसूत्रों में कर्म, शिल्प अथवा जाति से ही
(जुंगिय) समझे जानेवाले लोगों का उल्लेख है। कर्म और शिल्प
हीन समझे जानेवालों में स्त्री, मोर और मुर्गे पालनेवाले, चर्मका
नाई (ण्हाविय), धोबी (सोहग; णिल्लेव)[1], नट नर्तक, लंख, रस
का खेल दिखानेवाले बाजीगर, व्याध, खटीक और मच्छीमारों
गणना की गयी है। इसके सिवाय, निम्नलिखित १५ कर्मादानों
निकृष्ट कहा है—अंगारकर्म (कोयला बनाने का व्यापार), वनक
(जंगल काटने का व्यापार) शकटकर्म (गाड़ी से आजीविका चलाना
भाटकर्म (बैल-गाड़ी भाड़े पर चलाना), स्फोटकर्म (हल चलाक
खेती करना), दन्तवाणिज्य, लाक्षावाणिज्य, केशवाणिज्य, रसवाणिज्य
विषवाणिज्य, यन्त्रपीड़नकर्म, निर्लांछनकर्म (बैलों को बधिया करना)
दावाग्निदापन (जंगलों में आग लगवाना), सरोवर, ह्रद और तालाब
का शोषण तथा असतीपोषण।[3]

दास और नौकर-चाकर

घर में काम करनेवाले नौकर-चाकरों में कर्मकर (कम्मकर), गोर
(चट्ट), प्रेष्य (पेस), कौटुंबिक पुरुष, भृतक, दास और गोपालकों का
उल्लेख मिलता है। ये लोग धर्म-कर्म के मामलों में साधारणतया
उत्साही नहीं थे। जैन साधुओं की ये अवसर मजाक उड़ाया करते।
कितनी ही बार घर के नौकरों-चाकरों और साधुओं में कहासुनी हो
जाती और नौकरों के कहने पर गृहस्थ लोग साधुओं को अपने घरों
से हटा देते।[4]

दासप्रथा का चलन था। दास और दासी घर का काम-काज
करते हुए अपने मालिक के परिवार के ही साथ रहते। केवल भात

1. सिंधुदेश में धोबियों की गणना जुंगित जातियों में नहीं की जाती
थी। दक्षिणापथ में लुहार और कलाल जुंगित नहीं समझे जाते थे, निशीथचूर्णी
४.१६१८ की चूर्णी, ११.३७०८ की चूर्णी।

2. निशीथचूर्णी ४.१६१८ की चूर्णी; ११.३७०६-८ की चूर्णी।

3. उपासकदशा १ पृ० ११।

4. बृहत्कल्पभाष्य १.२६२४।

5. [illegible] औपपातिक ६, पृ० २०।

और धनी-मानी लोग ही दासों के मालिक नहीं थे, बल्कि अन्य लोग भी अपने परिवार की सेवा के लिए दास-दासी रखते थे। क्षेत्र, वास्तु हिरण्य और पशु के साथ दासों का भी उल्लेख किया गया है; इन चारों को सुख का कारण (कामखंध) बताया है।[1] दास और दासी की गणना दस प्रकार के बाह्य परिग्रहों में की गयी है।[2] स्थानांग सूत्र में छह प्रकार के दास बताये हैं—कुछ लोग जन्म से ही दासवृत्ति करते हैं (गर्भ), कुछ को खरीदा जाता है (क्रीत), कुछ ऋण न चुका सकने के कारण दास बना लिये जाते हैं (ऋणक), कुछ दुर्भिक्ष के समय दासवृत्ति स्वीकार करते हैं, कुछ जुर्माना आदि न दे सकने के कारण दास बन जाते हैं और कुछ कर्जा न चुका सकने के कारण बन्दीगृह में डाल दिये जाते है।[3]

दो पली तेल के लिये गुलामी

कोशल देश के सम्मत नामक किसी कुटुंबी ने जैन दीक्षा ग्रहण कर ली थी। जब वह साधु अवस्था में परिभ्रमण करता हुआ अपने गांव पहुंचा तो उसके कुटुंब में केवल उसकी एक विधवा बहन बची थी। बहन ने हर्षित होकर अपने भाई का स्वागत किया। किसी बनिये की दूकान से वह दो पली तेल उधार लायी और उसने अपने भाई के आहार का प्रबन्ध किया। उस दिन वह अपने भाई से धर्म श्रवण करती रही, इसलिए कोई मजदूरी वगैरह न कर सकने के कारण, बनिये का तेल वापिस न कर सकी। दूसरे दिन, उसका भाई वहां से विहार कर गया। उसका सारा दिन शोक में ही बीता, इसलिए अगले दिन भी वह कोई काम न कर सकी। तीसरे दिन, वह अपना खाना-पीना जुटाने में लगी रही, इसलिए तीसरे दिन भी बनिये के ऋण से मुक्त न हो सकी। यह ऋण प्रतिदिन दुगुना-दुगुना होता जाता था। दो पली से बढ़ते-बढ़ते यह तेल एक घटप्रमाण हो

---

१. उत्तराध्ययन ३.१७।

२. बृहत्कल्पभाष्य १.८२५।

३. ४, पृ० १६१-अ; निशीथचूर्णी, ११.३६७६। मनुस्मृति (८.४१५) में सात प्रकार के और याज्ञवल्क्यस्मृति (१४, पृ० २४६) में चौदह प्रकार के दास गिनाये गये हैं। अर्थशास्त्र (३.१३. १-४६, पृ० ६५ इत्यादि में भी दासों के सम्बन्ध में विवेचन मिलता है।

गया। दूकानदार ने उससे कहा, या तो तुम कर्ज चुकाओ, नहीं तो गुलामी करनी पड़ेगी। विधवा ने लाचार होकर दूकानदार की गुलामी स्वीकार कर ली।[1]

ऋणदास

जिसे ऋणग्रस्त होने के कारण दासवृत्ति स्वीकार करनी पड़ी हो, ऐसा व्यक्ति यदि दीक्षा ग्रहण करना चाहे तो उसे दीक्षा का निषेध है। ऐसे व्यक्ति को यदि कहीं परदेश में दीक्षा दे दी जाये और संयोगवश साहूकार उसे पहचान ले, और उसे जबर्दस्ती से अपने घर ले जाना चाहे तो आचार्य को चाहिए कि वह गुटिका आदि के प्रयोग से अपने दीक्षित शिष्य के स्वर में परिवर्तन पैदा कर, अथवा विद्या, मंत्र अथवा योग के बल से उसे अन्य स्थान को भेजकर, या कहीं छिपाकर उसकी रक्षा करे। और यदि इस तरह के साधन न हों तो नगर के प्रधान को वश में करके, पाखंडी साधुओं की सहायता लेकर, अथवा सारस्वत, मल्ल आदि बलवान गणों की सहायता प्राप्त कर, अपने शिष्य की रक्षा में प्रवृत्त होना चाहिए। यह सब सम्भव न होने पर विद्या आदि के बल से धन कमाकर और उसका कर्जा चुकाकर दीक्षित साधु को दासवृत्ति से मुक्त करने का विधान है।[2]

दुर्भिक्षदास

दुर्भिक्षकाल में बनाये हुए दास को भी छुड़ाने का उल्लेख है। मथुरा के किसी वणिक् ने अपनी कन्या को अपने एक मित्र को सौंपकर जैन दीक्षा ग्रहण कर ली। कुछ समय के बाद उसका मित्र मर गया। नगर में दुर्भिक्ष पड़ा और वणिक् की कन्या को दासवृत्ति स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस बीच में कन्या का पिता साधु-वेश में भ्रमण करता हुआ वहां आ पहुंचा। उसने अपनी कन्या को दासवृत्ति से छुड़ाने के लिए अनेक प्रयत्न किये। पहले तो उसने कन्या के मालिक को समझाया-बुझाया, न मानने पर धमकी दी और उसे बुरा-भला कहा। इन उपायों से सफलता न मिलने पर, किसी तरह

---

१. पिण्डनिर्युक्ति ३१७-३१९। अर्थशास्त्र (३.१३.२२, पृ० ६७) में उल्लेख है कि ऋण चुका देने पर दास आर्यत्व को प्राप्त कर लेता है।

२. बृहत्कल्पभाष्य ६.६३०१-९।

द्रव्य की प्राप्ति कर, कन्या के मालिक को उसका द्रव्य वापिस कर, कन्या को छुड़ाने का विधान है।[1]

रुद्धदास

रुद्ध दासों में महावीर भगवान् की प्रथम शिष्या चन्दनबाला का उदाहरण दिया जा सकता है। कौशाम्बी के धनावह सेठ की पत्नी मूला ने चम्पा के राजा दधिवाहन की कन्या चंदनबाला को ईर्ष्यावश उसका सिर उस्तरे से मुंडवाकर, अपने घर के अन्दर बन्द कर दिया। कुछ समय बाद वहां से महावीर ने विहार किया और चंदनबाला ने उन्हें कुलथी का आहार देकर उनका अभिग्रह पूर्ण किया।[2] वीतिभय के राजा उद्रायण ने उज्जैनी को जीतकर जब वहां के राजा प्रद्योत को बन्दी बनाया तो उसके मस्तक को श्वान के पद से चिह्नित किया।[3]

दासचेटों की कथायें

शूर्पारक नगर में कोक्कास नाम का एक रथकार रहता था। उसकी दासी के किसी ब्राह्मण द्वारा एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो दासचेट कहलाया। कोक्कास के भी एक पुत्र था, लेकिन लाड़-प्यार में उसने शिल्पविद्या का अध्ययन नहीं किया, जब कि दासीपुत्र ने कोक्कास की समस्त विद्या सीख ली। परिणाम यह हुआ कि कोक्कास के मरने पर उसके समस्त धन का मालिक दासीपुत्र ही बना।[4]

राजगृह के चिलात नामक दासचेट की कथा जैनसूत्रों में उल्लिखित है। धन्य सार्थवाह के बालकों को वह खिलाता था। चिलात बड़ा हृष्ट-पुष्ट और बच्चों को खिलाने की कला में कुशल था। नगर के उद्यान में जाकर वह अनेक बालक-बालिकाओं के साथ क्रीड़ा किया करता। वह उनकी कौड़ियां, लाख की गोलियाँ, गिल्ली (अडोलिया), गेंद, गुड़िया (पोत्तुल्लय), वस्त्र और आभरण आदि चुरा लेता। किसी को वह मारता, डांटता और किसी पर गुस्से से लाल-पीला हो जाता।

---

१. व्यवहारभाष्य भाग ४, गाथा २.२०६-७ इत्यादि; तथा देखिए महानिशीथ, पृ० २८।

२. आवश्यकचूर्णी, पृ० ३१६-२०।

३. निशीथचूर्णी, १०.३१८४ चूर्णी, पृ० १४६।

४. आवश्यकचूर्णी, पृ० ५४०।

बच्चे रोते-रोते अपने माँ-बाप के पास जाते और फिर उनके मां-बाप धन्य सार्थवाह के पास जाकर चिलात की शिकायत करते। धन्य अपने दासचेट को बुरा-भला कहता, बार-बार डांटता और फटकारता, लेकिन वह न सुनता। एक बार ऐसी ही किसी बात पर धन्य ने दासचेट को बहुत डांटा-फटकारा और मारकर घर से निकाल दिया। चिलात स्वच्छन्द भाव से मद्य, मांस आदि का सेवन करने लगा, जूआ खेलने लगा और वेश्याओं के घर रहने लगा। धीरे-धीरे वह चोरों का सरदार बन गया और धन्य सार्थवाह की कन्या सुंसुमा का अपहरण कर उसने धन्य से बदला लिया।[1]

पंथक नामक दासचेट राजगृह में धन्य के देवदत्त बालक को खिलाया करता था। एक बार की बात है कि देवदत्त की मां ने अपने बालक को नहलाया-धुलाया, उसके कौतुक-मंगल किये और अलङ्कारों से विभूषित कर उसे पंथक के हाथ में दे दिया। पंथक उसे राजमार्ग पर ले गया, और उसे एक तरफ बैठाकर अन्य बालकों के साथ क्रीड़ा करने लगा। इतने में, विजय नाम का चोर वहां उपस्थित हुआ और मौका पा देवदत्त को उठा ले गया।[2] थोड़ी देर के बाद जब पंथक ने वहां बालक को न देखा तो वह बहुत घबराया, और रोता-बिलखता अपने मालिक के पास आया, और गिड़गिड़ाकर उसके पैरों में गिर पड़ा। अपने बच्चे का अपहरण सुनकर धन्य पछाड़ खाकर गिर पड़ा। कुछ समय के बाद किसी अपराध के कारण, धन्य को जेल की हवा खानी पड़ी। इस समय धन्य की पत्नी भोजनपिटक ('टिफिन') पर मोहर लगा और एक बर्तन में पानी भर, प्रतिदिन पंथक को देती और उसे वह जेल में अपने मालिक के पास ले जाता।[3]

अग्गियअ, पव्वयअ और सागरअ (सागरक) आदि दासचेटों के नामों का उल्लेख है।[4]

---

१. ज्ञातृधर्मकथा १८, पृ० २०७; आवश्यकचूर्णी, पृ० ४६७।

२. मृच्छकटिक ४.६ में उल्लेख है कि चोर धाइयों की गोद में से बच्चे उचक कर ले जाते थे।

३. ज्ञातृधर्मकथा २, पृ० ५१।

४. आवश्यकचूर्णी, पृ० ४४६।

दासचेटियाँ

दासचेटों की भाँति दासचेटियाँ भी घर में काम करने के लिए रक्खी जाती थीं। वे खाद्य, भोज्य, गन्ध, माल्य, विलेपन और पटल आदि लेकर अपनी स्वामिनी के साथ यक्ष आदि के मन्दिरों में जाती थीं।[1] आनन्द गृहपति की बहुलिया नाम की दासी उसकी रसोई के बर्तन साफ किया करती थी।[2] एक बूढ़ी दासी प्रातःकाल लकड़ी बीनने के लिये गई। भूखी-प्यासी वह दुपहर को लौटकर आई। लेकिन लकड़ियाँ बहुत थोड़ी थीं, इसलिये उसके मालिक ने उसे मारपीट कर फिर से लकड़ी चुगने के लिये भेज दिया।[3] उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में दासीमह का उल्लेख मिलता है जिससे पता लगता है कि दासियाँ भी धूमधाम से उत्सव मनाकर मन-बहलाव किया करती थीं।[4]

जैनसूत्रों में अनेक दासियों का उल्लेख मिलता है। ये दासियाँ विदेशों से मँगायी जाती थीं। वे इंगित, चिन्तित, प्रार्थित आदि में कुशल होतीं तथा अपने देश की वस्त्रभूषा आदि धारण कर जब सभा में उपस्थित होतीं तो बहुत आकर्षक जान पड़तीं। इन दासियों में कुब्जा, किराती, वामना (बौनी), वडभी (जिनका पेट आगे को निकला हुआ हो), तथा वर्बरी (वर्बर देश की), वकुशी (वकुश देश की), योनिका (जोनक देश की), पह्लविया (पह्लव देश की), ईसनिका, धोरुकिनी (अथवा थारुकिनी, वारुणिया, वासिइणी), लासिया (लासक देश), लकुसिका (लकुश देश), द्राविडी (द्रविड देश), सिंहली (सिंहल देश), आरबी (अरब देश), पुलिंदी (पुलिंद देश), पक्कणी, मुरुंडी, शवरी, पारसी (पर्शिया) आदि दासियों के नाम गिनाये गये हैं।[5] प्रीतिदान के समय विविध प्रकार के वस्त्राभूषणों के साथ दासियों को भी भेंट देने का रिवाज था।[6] गाँव के मुखिया

१. उत्तराध्ययनटीका १२, पृ० १७३-अ।

२. आवश्यकचूर्णी, पृ० ३००।

३. वही, पृ० ३३२।

४. उत्तराध्ययनटीका ८, पृ० १२४।

५. निशीथसूत्र ९.२८, उत्तराध्ययन टीका २, पृ० ३६; ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० २१; व्याख्याप्रज्ञप्ति ६.६, पृ० ८३६।

६. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० २३।

(गामडड) दासियों[1] के साथ व्यभिचार करने में सङ्कोच न करते थे।

पाँच प्रकार की दाइयाँ

दाइयाँ भी बच्चे खिलाने के लिए रक्खी जाती थीं। जैनसूत्रों में मुख्यतया पाँच प्रकार की दाइयों का उल्लेख है :—दूध पिलानेवाली (क्षीर) अलङ्कार आदि से विभूषित करनेवाली (मण्डन), नहलाने वाली (मज्जण), क्रीड़ा कराने वाली (क्रीड़ापन), और बच्चे को गोद में लेकर खिलाने वाली (अङ्क)[2]।

दासवृत्ति से मुक्ति

पुत्रजन्म अथवा उत्सवों आदि के अवसर पर दासों को दासवृत्ति से मुक्त कर दिया जाता। कदाचित् घर का मालिक प्रसन्न होकर भी दासियों का मस्तक प्रक्षालन कर उन्हें स्वतन्त्र कर देता था।[3]

मजदूरी पर काम करनेवाले भृत्य

भृत्य पैसा अथवा जिन्स लेकर मजदूरी करते थे। इनकी दशा भी कुछ अच्छी नहीं थी, फिर भी दासों की अपेक्षा इन्हें अधिक स्वतन्त्रता थी। दासों को जीवनभर के लिए खरीद लिया जाता, जब कि भृत्यों को मूल्य देकर कुछ समय के लिए ही नौकरी पर रक्खा जाता था। चार प्रकार के भृत्यों का उल्लेख किया गया है :—रोजाना मजदूरी लेकर काम करनेवाले (दिवसभृतक), यात्रा पर्यन्त सहायता करनेवाले (यात्राभृतक), ठेके पर काम करनेवाले (उच्चताभृतक) और अमुक काम पूरा करने पर अमुक मजदूरी लेनेवाले (कब्बाल भृतक)।[4]

कौटुम्बिक पुरुष[5] घर में रहते हुए घर का काम-काज देखते-भालते थे। अपने मालिक की आज्ञा का वे पालन करते थे। कुछ लोग

---

१. आवश्यक चूर्णी पृ० २८४।

२. ज्ञातृधर्मकथा पृ० २१, निशीथभाष्य १३.४३७६-४३६१; पिंड-निर्युक्ति टीका ४१८ इत्यादि। दिव्यावदान, ३२, पृ० ४७५ में चार धाइयों का उल्लेख है—अंक, मल, स्तन और क्रीडापनिका तथा देखिये सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान १०.२५, पृ० २८४; मूगपक्खजातक (५३८), भाग ६, पृ० ५ इत्यादि ललितविस्तर, १०० ।

३. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० २०; व्यवहारभाष्य ६.२०८। नारदस्मृति (सेक्रेड-बुक्स आव द ईस्ट. १८८६) ५.४२ आदि में भी इसका उल्लेख है।

४. स्थानांग ४.२७१ ।

५. नारदस्मृति ५.२४ भी देखिए।

गोबर हटाने और चूल्हे में से राख निकालने का काम करते थे, कुछ सफाई का और साफ किये हुए स्थान पर पानी छिड़कने का काम करते थे; कुछ पैर धोने और स्नान करने के लिए पानी देते तथा बाहर आने-जाने का काम करते थे। कुछ अनाज कूटने-पीटने, छड़ने और दलने आदि का काम करते, कुछ भोजन पकाते और परोसते थे।[1] चेट अंगरक्षक बनकर राजा के पादमूल में तैनात रहता था[2]। अन्य नौकरों-चाकरों में अश्वपोषक, हस्तिपोषक, महिषपोषक, वृषभ-पोषक, सिंहपोषक, व्याघ्रपोषक, अजपोषक, मृगपोषक, पोतपोषक शूकरपोषक, कुक्कुटपोषक, मेंढ़पोषक, तित्तिरपोषक, हंसपोषक, मयूर पोषक आदि का उल्लेख मिलता है।[3]

पूँजी

भूमि को छोड़कर बाकी सब प्रकार का धन पूँजी के अन्तर्गत आता है। पैसे को पैसा कमाता है; पैसे के बिना धन का उपार्जन या तो बहुत नगण्य होगा, या फिर वह अत्यन्त पुराने ढंग का कहा जायगा। पूँजी उत्पादन का साधन है। जिस सम्पत्ति से आमदनी हो, उसे पूँजी कहते हैं।

उन दिनों बड़े पैमाने पर धन का उपार्जन नहीं होता था; सहकारी संस्थाओं का आन्दोलन भी नहीं था।

राज्य के पास राष्ट्रीय धन का काफी हिस्सा मौजूद रहता था जिसे राजा टैक्स और जुर्माने आदि के रूप में प्रजा से वसूल करता था। राजा की ओर से औद्योगिक विकास में धन नहीं लगाया जाता था। कुछेक धनी व्यापारियों को छोड़कर कम ही लोग पूँजीपति कहे जाते थे, और इन लोगों के पास पर्याप्त मात्रा में हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, बल, वाहन, कोश, कोष्ठागार, रत्न, मणि, मौक्तिक, शंख, विद्रुम आदि रहते थे।[4] यह धन-सम्पत्ति प्रायः उनके बाप-दादाओं से चली आती थी। धनवन्त लोग एक कोटि हिरण्य, मणि, मुक्ता और विद्रुम के स्वामी होते थे।[5]

---

१. ज्ञातृधर्मकथा ७, पृ० ८८।

२. औपपातिकसूत्र ६, पृ० २६।

३. निशीथसूत्र ६.२२।

४. औपपातिकसूत्र ६, पृ० २०; उत्तराध्ययन सूत्र ६.४६।

५. कोडिग्गसो हिरण्णं मणिमुत्तसिलप्पवालरयणाइं।
अज्जयपिउपज्जागय परिसया होंति धणवंता॥
—व्यवहारभाष्य १, पृ० १३१-अ।

इभ्य[1] और श्रेष्ठी[2] भी धनवानों में गिने जाते थे। श्रेष्ठी के मस्तक पर सुवर्ण-पट्ट बँधा रहता था। ये लोग अपने अतिरिक्त धन को भोग-विलास तथा दान आदि में खर्च करते या फिर उसे गाड़कर या ब्याज-बट्टे पर चढ़ाकर उसकी रक्षा करते। वाणिज्यग्राम के आनन्द गृहपति ने चार कोटि हिरण्य जमीन में गाड़कर रक्खा था और चार कोटि ब्याज पर चढ़ाया था। वह ४ व्रज (चालीस हजार गायें), ५०० हल, ५०० गाड़ियाँ तथा अनेक वाहन, यानपात्र आदि का मालिक था।[3]

प्रबन्ध

प्रबन्धकर्ता का काम है उद्योग-धन्धे की योजना बनाना, भूमि, श्रम और पूँजी को उचित अनुपात में एकत्रित करना तथा जरूरत होने पर नुकसान सहने के लिए तैयार रहना। यह व्यापार की नीति निश्चित करता है और व्यापार पर अपना नियन्त्रण रखता है।

अठारह श्रेणियाँ

यह अद्भुत बात है कि उन दिनों उद्योग धन्धे बहुत कमजोर हालत में थे और औद्योगिक कार्यों में रोकड़ लगाने के लिए पैसे का अभाव था, फिर भी व्यापारिक संगठन मौजूद थे। सुवर्णकार, चित्रकार और रजक (धोबी) जैसे महत्त्वपूर्ण कारीगरों का संगठन था, जिसे श्रेणी कहा जाता था। बौद्ध सूत्रों की भाँति जैनसूत्रों में भी १८ प्रकार की श्रेणियों का उल्लेख है।[4] जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में कहा है कि

---

१. यद्द्रव्यस्तूपांतरितउच्छ्रितकदलिकादण्डो हस्ती न दृश्यते ते इभ्या इति श्रुतिः—स्थानांगटीका ६,३३६-अ।

२. श्रीदेवतामुद्रायुक्तसुवर्णपट्टविभूषितोत्तमांगः, राजप्रश्नीयटीका, सूत्र १४८, पृ० २८५।

३. उपासकदशा १, पृ० ७।

४. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका ३.१६३ में कुम्भार, पट्टइल्ल (जैनाचार्य श्री विजयेन्द्र सूरि ने 'तीर्थंकर महावीर' भाग २ में इसका अर्थ रेशम बुननेवाला किया है जो ठीक मालूम होता है), सुवण्णकार, सूवकार, गन्धव्व, कासवग, मालाकार, कच्छकार (काछी) और तंबोलिक नाम के नौ नारु, तथा चर्मकार, यन्त्रपीलनक (तेली), गंछिग, छिंपाय, कंसकार, सीवग, गुआर (ग्वाला), भिल्ल और धीवर नाम के नौ कारु का उल्लेख है। महाउम्मग्ग जातक (५४६), में

चक्ररत्न की पूजा करने के लिए भरत चक्रवर्ती ने १८ श्रेणी-प्रश्रेणी को बुलवाया और उन्हें आदेश दिया कि प्रजा का कर और शुल्क माफ कर दिया जाये, कोई राज-कर्मचारी जप्ती के लिए किसी के घर में प्रवेश न करे तथा किसी को किसी प्रकार का दण्ड न दिया जावे।[1]

जैनसूत्रों में सुवर्णकार[2], चित्रकार[3] और रजक[4] श्रेणियों का उल्लेख मिलता है, शेष श्रेणियों के विषय में अधिक कुछ ज्ञात नहीं होता। श्रेणियों के कर्त्तव्य, विधान अथवा संगठन के सम्बन्ध में यद्यपि हमें विशेष जानकारी नहीं मिलती, फिर भी इतना अवश्य है कि आजकल की यूनियनों की भाँति ये लोग अपने-अपने दलों में संगठित थे और इन्हें विधान बनाने, निर्णय देने तथा व्यवस्था करने के अधिकार प्राप्त थे।[5] श्रेणी अपने सदस्यों के हित के लिए प्रयत्नशील रहती और श्रेणी के प्रमुख सदस्य राजा के निकट पहुँचकर न्याय की मांग करते। राजकुमार मल्लदिन्न ने किसी चित्रकार को मल्लीकुमारी का पादांगुष्ठ चित्रित करने के कारण देशनिकाला दे दिया। यह सुनकर चित्रकारों की श्रेणी एकत्रित होकर राजकुमार के पास पहुँची। श्रेणी के सदस्यों ने राजकुमार के सामने सारी बात निवेदन की, जिन्हें सुनकर मल्लदिन्न ने चित्रकार को क्षमा कर दिया।[6] इसी प्रकार रजकों की श्रेणी के भी राजा के पास न्याय माँगने के लिए जाने का उल्लेख मिलता है।[7] दरअसल श्रेणी एक प्रकार का ऐसा संगठन था जिसमें एक या विभिन्न जातियों के लोग होते थे, लेकिन उनका व्यापार-धन्धा ही था। एक[8] ये श्रेणियाँ राज्य के जन-समुदाय का प्रतिनिधित्व करतीं और इससे

चार श्रेणियों का उल्लेख है। तथा देखिए मजूमदार, कॉरपोरेटिव लाइफ इन ऐंशियंट इंडिया, पृ० १८ आदि; रामायण २.८३.१२ आदि।

१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका ३.४३, पृ० १९३ आदि।

२. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० १०५।

३. वही, पृ० १०७।

४. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १८२।

५. देखिए एम० के० दास, द इकोनोमिक हिस्ट्री ऑव ऐंशियंट इंडिया, पृ० २४४।

६. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० १०७।

७. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १८२।

८. मजूमदार, कॉरपोरेटिव लाइफ इन ऐंशियंट इंडिया, पृ० १७।

राजा को उनके विचार और उनकी भावनाओं को सम्मानित करने के लिए बाध्य होना पड़ता ।[1]

शिल्पकारों की श्रेणियों की भाँति व्यापारियों की भी श्रेणियाँ थीं जिनमें नदी या समुद्र से यात्रा करनेवाले व्यापारी सार्थवाह शामिल थे। कितने ही सार्थों के उल्लेख मिलते हैं जो विविध माल-असबाब के साथ एक देश से दूसरे देश में आते-जाते रहते थे। सार्थवाह राजा की अनुज्ञापूर्वक गणिम (गिनने योग्य; जैसे जायफल, सुपारी आदि), धरिम (रखने योग्य; जैसे कंकु, गुड़ आदि), मेय (मापने योग्य; जैसे घी, तेल आदि) और परिच्छेद्य (परिच्छेद करने योग्य जैसे रत्न, वस्त्र आदि) नामक चार प्रकार का माल लेकर धन कमाने के लिए परदेश गमन करते थे।[2] सार्थवाह अपनी गाड़ियों में माल भरकर अपने सार्थ के साथ मार्ग में ठहरते हुए चलते थे। सार्थवाह की गणना प्रमुख राजपुरुषों में की गयी है; धनुर्विद्या और शासन में वह कुशल होता था।[3] गमन करने के पूर्व ये लोग मुनादी कराकर घोषणा करते कि जो कोई उनके साथ यात्रा पर चलना चाहे तो उसके भोजन, पान, वस्त्र, बर्तन और औषधि आदि की व्यवस्था मुफ्त की जायेगी।[4] वास्तव में उन दिनों में व्यापार के मार्ग सुरक्षित नहीं थे, रास्ते में चोर-डाकुओं और जंगली जानवरों आदि का भय रहता था, इसलिए व्यापारी लोग एक साथ मिलकर किसी सार्थवाह को अपना नेता बना, परदेश-यात्रा के लिए निकलते। श्रेष्ठी १८ श्रेणि-प्रश्रेणियों का मुखिया माना जाता था।[5]

---

१. देखिए दीक्षितार, हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इंस्टिट्यूशन्स, पृ० ३३६–४७।

२. अनुयोगद्वारचूर्णी, पृ० ११; तथा बृहत्कल्पभाष्य १.३०७८।

३. निशीथसूत्र ६.२६ की चूर्णी।

४. आवश्यकटीका (हरिभद्र), पृ० ११४–अ आदि।

५. बृहत्कल्पभाष्य ३.३७५७; तुलना कीजिए गाइगर, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, पृ० २०७। बौद्ध ग्रन्थों में श्रावस्ती के अनाथपिंडक नामक एक अत्यन्त धनी सेठ का उल्लेख है, जो बौद्ध संघ का बड़ा प्रभावक था।

दूसरा अध्याय

विभाजन

विभाजन चार प्रकार का

कमाये हुए धन का अथवा अपनी वार्षिक आय का अपने पेशे से सम्बन्धित लोगों में बँटवारा करना विभाजन का मुख्य हेतु है। देखा जाय तो विभाजन के साधन एक ही व्यक्ति अथवा व्यक्तियों द्वारा नियन्त्रित किये जाते थे जिससे कि उत्पादन के सारे हिस्से उसी के पास पहुँचते थे। इस प्रकार, कुल मिलाकर, उन दिनों विभाजन का प्रश्न ही नहीं उठता था जैसा कि हम समाजविकास के बाद की अवस्था में देखते हैं। विभाजन की चार मुख्य अवस्थाएँ है—किराया, मजदूरी, व्याज और लाभ।

किराया

किसी वस्तु का भाड़ा देने के लिए समय-समय पर पैसे का भुगतान किया जाता है, वह किराया है। दुर्भाग्य से विभाजन के सिद्धान्त किस प्रकार नियन्त्रित होते थे, इस सम्बन्ध में हमें बहुत कम जानकारी है। व्याज के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है कि उसकी राशि किस प्रकार मुख्यतया शुल्क के ऊपर निर्भर करती थी। खेती की पैदावार का नौवां हिस्सा राजा के पास चला जाता तथा प्रायः बाकी बचे हिस्से को अन्य लोगों में बाँट दिया जाता था।

वेतन-मजदूरी

किसी के श्रम के लिए भत्ता देना, वेतन-मजदूरी कहा जाता है। वेतन या मजदूरी से सम्बन्ध रखनेवाले भृत्यों के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है। कुछ रोजाना मजदूरी लेकर और कुछ ठेके पर काम करते थे। मजदूरों को उनका वेतन जिन्स अथवा रुपये-पैसे के रूप में दिया जाता था; साधारणतया जिन्स ही उन्हें दी जाती थी। किसी ग्वाले को, दूध दुहने के बदले, दूध का चौथा हिस्सा दिये जाने का उल्लेख मिलता है।[1] किसी दूसरे ग्वाले को आठवें दिन, गाय या

---

१. बृहत्कल्पभाष्य २.३५८१।

भैंस का एक दिन का दूध उसकी मजदूरी के रूप में मिलता था।[1] हिस्सेदारों को आधा, चौथाई या मुनाफे का छठा हिस्सा दिया जाता था।[2]

व्याज

किसी काम में पूँजी लगा देने से उसकी जो कीमत या वेतन मिलता है, उसे व्याज कहते हैं। कर्ज और सूदखोरी की प्रथा मौजूद थी। कर्जदार (धारणीय) यदि अपने ही देश में हो तो उसे कर्ज चुकाना पड़ता था, लेकिन यदि वह समुद्र-यात्रा पर बाहर चला गया हो और मार्ग में जहाज डूब जाय और वह किसी तरह एक धोती से तैर कर अपनी जान बचा ले तो वह ऋण चुकाने का अधिकारी नहीं समझा जाता था। जैनसूत्रों में इसे वणिक्-न्याय कहा गया है।[3] तथा यदि कर्जदार के पास कर्ज चुकाने के लिए पैसा तो है, लेकिन इतना नहीं कि वह सारा कर्ज चुकता कर दे, तो ऐसी हालत में साहूकार उस पर मुकदमा करके उससे अपना आधा-चौथाई कर्ज वसूल कर सकता है, और यह भुगतान पूरे कर्ज का ही भुगतान समझा जायेगा। और यदि वह कर्ज समय पर न चुकाया जा सके तो कर्जदार को कर्ज के बदले में साहूकार की गुलामी करनी होगी।[4] किसी बनिये का दो पली तेल समय पर न चुका सकने के कारण, एक विधवा स्त्री को बनिये की गुलामी करनी पड़ी थी, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

जैनसूत्रों में वृद्धि (वड्ढि) शब्द का प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ है लाभ और व्याज। वाणियगाम के आनन्द गृहपति का उल्लेख किया जा चुका है, उसके पास व्याज पर देने के लिए चार करोड़ का सुवर्ण सुरक्षित था।

लाभ

उत्पादन के चौथे हिस्से अर्थात् संगठन की देखभाल करनेवाले

---

१. पिंडनिर्युक्ति ३५६; तुलना कीजिए नारद ६.१०।

२. जीवाभिगम ३, पृ० २८०; सूत्रकृतांग २,२, पृ० ३३०-८; स्थानांग ३.१२८; निशीथचूर्णी २०.६४०४-५।

३. बृहत्कल्पभाष्य १.२६६० आदि; ४.४२०६।

४. वही।

के पारिश्रमिक को लाभ कहा गया है। किराया, वेतन और व्याज चुका देने पर जो अतिरिक्त धन व्यापारी के पास बचता है, वह लाभ है। प्रबन्धकर्ता, उत्पादनकर्ता और व्यापारी के बीच सम्बन्ध जोड़नेवाले होते थे, जो अतिरिक्त उत्पादन को उत्पादनकर्ता से थोक भाव पर खरीद कर छोटे-छोटे व्यापारियों को वेच देते थे। श्रेष्ठी अथवा धनी व्यापारी ही यह काम कर सकते थे, और वे लोग जल और स्थल मार्गों द्वारा दूर-दूर की यात्रा किया करते थे।

तीसरा अध्याय

विनिमय

आर्थिक व्यवस्था में विनिमय का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है। हरेक व्यक्ति को अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। जो चीज जो आदमी स्वयं पैदा नहीं करता, उसे स्वयं पैदा की हुई चीज के बदले उसे दूसरों से लेना पड़ता है।

अन्तर्देशीय व्यापार

वणिक् लोग मूलधन की रक्षा करते हुए धनोपार्जन करते थे।[1] कुछ लोग एक जगह दुकान लगाकर व्यापार करते (वणि), और कुछ बिना दूकान के, घूम-फिर कर व्यापार करते (विवणि)।[2] कक्ख-पुडिय नाम के वणिक् अपनी गठरी बगल में दबा कर चलते थे[3]। बुद्धि, व्यवसाय, पुण्य और पौरुष की परीक्षा के लिए एक-एक हजार कार्षापण लेकर देश-देशान्तर में वनिज-व्यापार के लिए जानेवाले वणिक्पुत्रों का उल्लेख मिलता है।[4] वर्षा काल में लोग व्यापार के लिए नहीं जाते थे।[5] रत्नों का कोई व्यापारी विदेश में एक लाख रुपये के रत्नों का उपार्जन कर स्वदेश लौट रहा था। मार्ग में शबर, पुलिंद आदि वन्य जातियों ने उस पर आक्रमण किया, और रत्नों की जगह फूटे पत्थर दिखाकर, बड़ी बुद्धिमत्तापूर्वक उसने अपने धन की रक्षा की।[6] लोग राजा का आदेश पाकर अपनी गाड़ियाँ लेकर जंगल में जाते और वहाँ से लकड़ियाँ काटकर लाते।[7] कुम्हार अपनी गाड़ियों

---

१. निशीथचूर्णी ११.३५२२।
२. निशीथभाष्य १६.५७५० की चूर्णी।
३. निशीथचूर्णी १०.३२२६।
४. उत्तराध्ययनसूत्र ७.१५ टीका, पृ० ११६ आदि;
५. बृहत्कल्पभाष्य ३.४२५१।
६. निशीथचूर्णी १०.२६६२।
७. आवश्यकचूर्णी, पृ० १२८।

में मिट्टी के घड़े[1] और आभीर (अहीर) घी के घड़े भरकर नगरों में वेचने के लिए ले जाते थे।[2] जल और स्थल मार्गों से व्यापार हुआ करता था। आनन्दपुर (वडनगर, उत्तर गुजरात)[3], मथुरा[4] और दशार्णपुर (एरछ, जिला झांसी) ये स्थलपट्टण[5] के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं; जहाँ स्थलमार्ग से माल ले जाया जाता था। इसी प्रकार द्वीप,[6] कानद्वीप (?),[7] और पुरिम (पुरिय, जगन्नाथपुरी, उड़ीसा) ये जलपट्टण[8] के उदाहरण दिये गये हैं, जहाँ जलमार्ग से व्यापार होता था। भृगुकच्छ (भड़ौंच) और ताम्रलिप्त (तामलुक)[9] द्रोणमुख[10] कहे जाते थे, जहाँ जल और स्थल दोनों मार्गों से व्यापार होता था। जहाँ उक्त दोनों ही प्रकार से माल के आने-जाने की सुविधा न हो, उसे कव्वड़[11] कहा गया है।

चंपा[12] प्राचीनकाल में उद्योग-व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र था। मिथिला से यह जुड़ा हुआ था। यहां अर्हन्नग आदि कितने ही

---

१. निशीथचूर्णी १०.३१७१ चूर्णी।

२. उत्तराध्ययनटीका २, पृ० ५१।

३. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति १.१०६०।

४. आचारांगचूर्णी ७, पृ० २८१।

५. निशीथसूत्र ५.३४ की चूर्णी।

६. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति १.१०६०। यह स्थान सौराष्ट्र के दक्षिण में समुद्र की ओर एक योजन चलकर अवस्थित है, निशीथचूर्णी १.६५८ की चूर्णी।

७. आचारांगचूर्णी, वही।

८. निशीथचूर्णी, वही।

९. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति, वही।

१०. जलनिर्गमप्रवेशं यथा कोंकणदेशे स्थानकनामकं पुरं, व्यवहारभाष्य १.३, पृ० १२६ अ।

११. कव्वडं कुनगरं, जत्थ जलत्थलसमुब्भवविचित्तभंडविणियोगो णत्थि, दशवैकालिकचूर्णी, पृ० ३६०। कुछ लोग द्रोणमुख और कर्वट को एक ही मानते हैं, हेमचन्द्र, अभिधानचिन्तामणि, पृ० ३।

१२. निशीथसूत्र में चम्पा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ती, साकेत, कांपिल्य, कौशांबी, मिथिला, हस्तिनापुर और राजगृह—इन आठ राजधानियों का उल्लेख है, ९.१९।

पोतवणिक् रहते थे। एक बार इन लोगों का विचार हुआ कि विविध प्रकार का माल गाड़ियों में भरकर जहाज द्वारा लवणसमुद्र (हिन्द महासागर) की यात्रा करें। इन लोगों ने विविध प्रकार का माल-असबाब अपने छकड़ों में भरा। फिर शुभ तिथि, करण, नक्षत्र और मुहूर्त में विपुल अशन-पान आदि तैयार कर अपने इष्ट-मित्रों को आमन्त्रित किया। तत्पश्चात् अपने छकड़ों को जोतकर वे गंभीर-पोतपट्टण (एक बंदरगाह) पर पहुँचे। वहां पहुँच कर उन्होंने छकड़ों को छोड़ दिया, पोतवहन को सज्जित किया, उसे तंदुल, आटा, तेल, गुड़, घी, गोरस, जल, जल के पात्र, औषध, तृण, काष्ठ, आवरण, प्रहरण आदि अपने लिए आवश्यक सामग्री से भरा। उसके पश्चात् पोत को पुष्पबलि प्रदान कर, सरस रक्त चंदन के पांच उंगलियों के छापे मार, धूप जलाकर, उन्होंने समुद्र-वायु की पूजा की। फिर पतवारों को उचित स्थान पर रखा, ध्वजा को ऊपर लटकाया, शुभ शकुन ग्रहण किये और राजा का आदेश प्राप्त होते ही वणिक् लोग नाव पर सवार हो गये। स्तुतिपाठकों ने मंगलगान किया और नाव के वाहक, कर्णधार, कुक्षिधार (डांड चलानेवाले) और गर्भिज्जक (खलासी) आदि कर्मचारी अपने-अपने काम में व्यस्त हो गये, उन्होंने लंगर छोड़ दिया और नाव तीव्र गति से लवणसमुद्र में आगे बढ़ी। इस प्रकार कई दिन और रात यात्रा करने के पश्चात् वणिक् लोगों ने मिथिला नगरी में प्रवेश किया।[1]

चम्पा में माकंदी नाम का एक सार्थवाह रहता था। उसके जिनपालित और जिनरक्षित नाम के दो पुत्र थे। उन्होंने बारहवीं बार लवणसमुद्र की यात्रा की। लेकिन इस बार उनका जहाज फट गया और वे रत्नद्वीप में जा लगे। वहाँ पहुँचकर उन्होंने नारियल के तेल से शरीर की मालिश की।[2]

छह महीने तक जहाज के समुद्र में डोलायमान होते रहने का उल्लेख मिलता है। ऐसे संकट के समय वणिक् लोग धूप आदि द्वारा देवता की पूजा कर, उसे शान्त रखते थे।[3]

---

१. नायाधम्मकहा ८, पृ० ९७ आदि।
२. वही, ९, पृ० १२१ आदि।
३. निशीथचूर्णी १०.३१८८ चूर्णी, पृ० १४२।

चम्पा के दूसरे सार्थवाह का नाम था धन्य। एक बार उसने वनिज-व्यापार के लिए अहिच्छत्रा जाने का विचार किया। उसने विविध प्रकार के माल से अपने छकड़े भरे तथा चरक, चीरिक, चर्मखंडिक, भिच्छुंड, पांडुरंग, गौतम आदि साधुओं को साथ लेकर प्रस्थान किया।[1] पालित यहां का दूसरा व्यापारी था जो पोत पर सवार होकर व्यापार के लिए पिहुंड (खारवेल शिलालेख का पिथुडग; चिकाकोल और कलिंगपटम के अन्दर में हिस्से में स्थित) गया था।[2]

उज्जैनी के लोगों को सत् और असत् का विवेक करने में अति कुशल कहा है।[3] यह स्थान व्यापार का दूसरा बड़ा केन्द्र था। धनवसु यहां का एक सुप्रसिद्ध व्यापारी था, जिसने अपने सार्थ के साथ व्यापार के लिए चंपा प्रस्थान किया था। मार्ग में डाकुओं ने उसके सार्थ पर आक्रमण कर दिया।[4] उज्जैनी से पारसकूल (ईरान)[5] भी आते-जाते थे। अचल नाम के व्यापारी ने अपने वाहनों को माल से भरकर पारसकूल के लिए प्रस्थान किया। वहाँ उसने बहुत-सा धन कमाया और फिर वेन्यातट पर लंगर डाला।[5] राजा प्रद्योत के जमाने में उज्जैनी में आठ बड़ी-बड़ी दूकानें (कुत्रिकापण; पालि साहित्य में अन्तरापण) थीं जहां प्रत्येक वस्तु मोल मिलती थी।[6]

मथुरा उत्तरापथ का दूसरा व्यापारिक केन्द्र था। यहां लोग वनिज-व्यापार से ही निर्वाह करते थे, खेती-बारी यहां नहीं होती थी।[7] यहां के लोग व्यापार के लिए दक्षिणमथुरा (मदुरा) आते-जाते रहते थे।[8]

उत्तरापथ के टंकण (टक) म्लेच्छों के विषय में कहा है कि पर्वतों में रहने के कारण वे दुर्जय थे तथा सोना और हाथीदाँत आदि

---

१. ज्ञातृधर्मकथा, १५, पृ० १५६।
२. उत्तराध्ययनसूत्र २१.२।
३. उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० ६०।
४. आवश्यकनिर्युक्ति १२७६ आदि।
५. उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० ६४।
६. बृहत्कल्पभाष्य ३.४२२० आदि।
७. वही, वृत्ति १.१२३६।
८. आवश्यकचूर्णी, पृ० ४७२।

बहुमूल्य वस्तुएँ लेकर व्यापार के लिए दक्षिणापथ की यात्रा किया करते थे। ये लोग दक्षिणवासियों की भाषा नहीं समझते थे, इसलिए हाथ के इशारों से मोल-तोल होता था। जब तक अपने माल की उचित कीमत न मिल जाय तब तक टंकण अपने माल पर से हाथ नहीं उठाते थे।[1] दंतपुर नगर में धनमित्र नामक वणिक् अपनी पत्नी के लिये हाथीदाँत का प्रासाद बनवाना चाहता था। उसका कोई मित्र पुलिंदों के योग्य वस्त्र, मणि, आलता और कंकण लेकर अटवी में गया। इन चीजों के बदले उसने हाथीदाँत खरीदा। लेकिन जब वह हाथीदाँत को घास-फूँस में छिपाकर गाड़ी में भरकर ला रहा था तो नगर-रक्षकों को पता लग गया और उन्होंने उसे गिरफ्तार कर लिया।[2]

शूर्पारक (सोप्पारय, नाला सोपारा, जिला ठाणा) व्यापार का दूसरा केन्द्र था, यहाँ बहुत से व्यापारियों (नेगम) के रहने का उल्लेख है[3]। भृगुकच्छ और सुवर्णभूमि (बर्मा) के साथ इनका व्यापार चलता था।[4]

सौराष्ट्र के व्यापारी वारिवृषभ जहाज से समुद्र के रास्ते पांडु-मथुरा (मदुरा) आया-जाया करते थे।[5] धन, कनक, रत्न, जनपद, रथ और घोड़ों से समृद्ध द्वारका (बारवइ) सौराष्ट्र का प्रधान नगर था।[6] व्यापारी यहाँ तेयालगपट्टण (वेरावल) से नावों के द्वारा अपना माल लेकर आते थे।[7] घोड़े के व्यापारियों द्वारा घोड़े लेकर यहाँ आने का उल्लेख मिलता है।[8]

वसन्तपुर के व्यापारी व्यापार के लिए चंपा जाया करते थे।[9]

---

१. आवश्यकचूर्णी, पृ० १२०; सूत्रकृतांगटीका ३.३.१८; मलयगिरि, आवश्यकटीका, पृ० १४०-अ।

२. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १५४।

३. बृहत्कल्पभाष्य १.२५०६।

४. अपदान, २.४७६ (११ आदि)।

५. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १६७।

६. वसुदेवहिंडी, पृ० ७७; तथा उत्तराध्ययनटीका २, ३६-अ।

७. निशीथचूर्णी, पीठिका, पृ० ६६।

८. आवश्यकचूर्णी, पृ० ५५३।

९. वही, पृ० ५३१।

क्षितिप्रतिष्ठित नगर के व्यापारियों का वसन्तपुर जाने का उल्लेख मिलता है।[1] साकेत का कोई व्यापारी देशाटन के लिये कोटिवर्ष गया। उस समय वहाँ किसी किरात का राज्य था। व्यापारी ने राजा को बहुमूल्य वस्त्र तथा रत्नमणि दिखाये, जिन्हें देखकर वह अत्यन्त प्रभावित हुआ।[2]

हत्थिसीस व्यापार और उद्योग का दूसरा केन्द्र था। यहाँ अनेक व्यापारी रहा करते थे। यहाँ के व्यापारी कालियद्वीप व्यापार के लिए जाते थे। यह द्वीप सोने, रत्न और हीरे की समृद्ध खानों तथा धारीदार घोड़ों के लिए प्रसिद्ध था।[3]

पारसद्वीप में प्रायः व्यापारियों का आना-जाना लगा रहता था[4]; सिंहलद्वीप (श्रीलंका) में व्यापारी ठहरा करते थे।[5] सिंहल, पारस; वर्वर (वार्वरिकोन), जोणिय (यवन=यव), दमिल (तमिल), अरव, पुलिन्द, वहली (वाह्लीक, वाल्ख, अफ़ग़ानिस्तान में) तथा अन्य अनार्य देशों से दासियां के लाये जाने का उल्लेख पहले किया जा चुका है। कृपण-वणिकों का उल्लेख मिलता है।[6]

आयात-निर्यात

कौनसी वस्तुएँ बाहर भेजी जाती थीं, कौनसी बाहर से आती थीं, और कौनसी वस्तुओं का आन्तर्देशिक विनिमय होता था, इन सब बातों के सम्बन्ध में हमें ठीक-ठीक जानकारी नहीं। आन्तर्देशिक व्यापार का जहाँ तक सम्बन्ध है, हम समझते हैं कि बहुत-सी वस्तुओं का विनिमय होता था। ऊपर कहा गया है कि जब चम्पा के व्यापारियों ने परदेश जाने का इरादा किया तो उन्होंने अपने छकड़ों में सुपारी,

---

१. आवश्यकटीका (हरिभद्र), पृ० ११४-अ।

२. आवश्यकचूर्णी २, पृ० २०३।

३. ज्ञातृधर्मकथा १७, पृ० २०१ आदि। कालियद्वीप की पहचान जंजीबार से की जाती है, डाक्टर मोतीचन्द, सार्थवाह, पृ० १७२।

४. आवश्यकचूर्णी, पृ० ४४८।

५. आचारांगटीका ६.३, पृ० २२३-अ। वसुदेवहिण्डी (पृ०१४६) में चीन (चीणत्थाण), सुवर्णभूमि; यवनद्वीप, सिंहल और बब्बर की यात्रा कर यानपात्र द्वारा सौराष्ट्र लौट आने का उल्लेख है।

६. निशीथचूर्णी १२.४१७४ चूर्णी।

शक्कर, घी, चावल तथा कपड़ा और रत्न आदि आवश्यक सामान भरा तथा अपने लिए चावल, आटे, तेल, घी, गुड़, गोरस, पानी, पानी के बर्तन, दवा-दारू, तृण, लकड़ी, वस्त्र और अस्त्र-शस्त्र आदि की व्यवस्था कर, वे मिथिला के लिए प्रस्थान कर गये। पहले कहा गया है कि सोना और हाथीदाँत उत्तरापथ से दक्षिणापथ में बिकने के लिये आते थे। वस्त्र का बड़े परिमाण में विनिमय होता था। मथुरा और विदिशा (भेलसा) वस्त्र-उत्पादन के बड़े केन्द्र थे।[1] गौड़ देश रेशमी वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध था।[2] पूर्व से आने वाला वस्त्र लाट देश में आकर ऊँची कीमत पर बिकता था।[3] ताम्रलिप्ति,[4] मलय,[5] काक,[6] तोसलि,[7] सिन्धु[8], दक्षिणापथ[9] और चीन[10] से विविध प्रकार के वस्त्र आते थे। नेपाल रुएँदार बहुमूल्य कम्बल के लिए प्रसिद्ध था। जैन साधु इसे अपने वंशदण्ड के भीतर रखकर लाते थे।[11] महाराष्ट्र में ऊनी कम्बल अधिक कीमत पर बिकते थे।[12] ज्ञातृधर्मकथा में अनेक प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख है जिन्हें व्यापारी लोग अपनी गाड़ियों में भरकर बिक्री के लिए ले जाया करते थे।[13]

घोड़ों का व्यापार चलता था। कालियद्वीप अपने सुन्दर घोड़ों के लिए प्रसिद्ध था, और यहाँ सोने, चाँदी, रत्न और हीरे की खानें थीं,

---

१. आवश्यकटीका, (हरिभद्र) पृ० ३०७।

२. आचारांगटीका २, ५, पृ० ३६१ अ। जातकों में काशी से आनेवाले वस्त्र (कासिवत्थ) का उल्लेख मिलता है।

३. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति ३.३८८४।

४. व्यवहारभाष्य ७.३२।

५. अनुयोगद्वारसूत्र ३७, पृ० ३०।

६. निशीथसूत्र ७.१२ की चूर्णी।

७. वही।

८. आचारांगचूर्णी, पृ० ३६४; आचारांगटीका २, १, पृ० ३६१-अ।

९. आचारांगचूर्णी, पृ० ३६३।

१०. बृहत्कल्पभाष्य २.३६६२।

११. वही, वृत्ति ३.३८२४; उत्तराध्ययनटीका २, पृ० ३० अ।

१२. बृहत्कल्पभाष्य ३.३९१४

१३. ज्ञातृधर्मकथा १७, पृ० २०२।

इसका उल्लेख किया जा चुका है। कम्बोज के घोड़े बहुत उत्तम होते थे। इनकी चाल बहुत तेज होती और किसी भी तरह की आवाज से ये डरते नहीं थे।[1] उत्तरापथ अपने जातिवंत घोड़ों के लिए प्रसिद्ध था।[2] घोड़ों के व्यापारियों का द्वारका जाने का उल्लेख है। अन्य कुमारों ने उनसे मोटे और बड़े घोड़े खरीदे जब कि कृष्ण वासुदेव ने कमजोर लेकिन लक्षणसम्पन्न घोड़े मोल लिये।[3] दीलवालिया (?) के खच्चर अच्छे समझे जाते थे।[4] पुण्ड्र (महास्थान, जिला बोगरा, बंगाल) अपनी काली गायों के लिए प्रसिद्ध था; गायों को खाने के लिए गन्ने दिये जाते थे।[5] भेरण्ड (?) में गन्ना बहुत होता था।[6] महाहिमवन्त गोशीर्ष चन्दन के लिए विख्यात था।[7] पारसउल (ईरान) से शंख, पूगीफल (सुपारी), चन्दन, अगुरु, मंजीठ, चाँदी, सोना, मणि, मुक्ता, प्रवाल आदि बहुमूल्य वस्तुएँ आयात होती थीं।[8]

विदेशों से माल लाने वाले व्यापारी राजकर से बचने के लिए छल-कपट करने से नहीं चूकते थे। राजप्रश्नीय में उल्लेख है कि अंकरत्न, शंख और हाथीदाँत के व्यापारी टैक्स से बचने के लिए सीधे मार्गों से यात्रा न कर दुर्गम मार्ग से घूम-घूमकर, इष्ट स्थान पर पहुँचते थे।[9] बेन्यातट के व्यापारी अचल का उल्लेख किया जा चुका है। पारसकूल से धन कमाकर जब वह स्वदेश लौटकर आया तो वह विक्रमराजा के पास सोने, चाँदी और मोतियों के थाल लेकर उपस्थित हुआ। राजा ने पंचकुल के साथ उसके माल का स्वयं निरीक्षण किया। अचल ने शंख, सुपारी, चंदन आदि माल दिखा दिया, लेकिन राजा के कर्मचारियों ने जब पादप्रहार और बांस की लकड़ियों को बोरियों (चोल्ल) में खूँचकर देखा तो मजीठ आदि के अन्दर छिपाकर रक्खे

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र ११.१६।
२. उत्तराध्ययनटीका ६, पृ० १४१।
३. आवश्यकचूर्णी पृ० ५५३।
४. दशवैकालिकचूर्णी ६, पृ० २१३।
५. तन्दुलवेयालियटीका पृ० २६-अ।
६. जीवाभिगम ३, पृ० ३५५।
७. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २५२-अ।
८. वही, ३, पृ० ६४-अ।
६. सूत्र १६४।

हुए सोने, चाँदी, मणि, मुक्ता आदि दिखाई दिये। यह देखकर राजा को बहुत क्रोध आया। उसने फौरन ही अचल को गिरफ्तार करने का हुक्म दिया।

बिक्री की अन्य वस्तुओं में वीणा, वल्लकी, भ्रामरी, कच्छभी, भंभा, षड्भ्रामरी आदि वाद्यों, तथा लकड़ी के खिलौने (कट्ठकम्म), मसाले के बने खेल खिलौने, (पोत्थकम्म), चित्रकर्म (चित्तकम्म), लेप्य कर्म, गूंथकर बनायी हुई मालायें (गन्थिम), पुष्प के मुकुट जैसे आनन्दपुर में बनाते हैं (वेढिम), छेदवाली गोल कुंडी को पुष्पों से भरना (पूरिम), सांध कर तैयार की हुई वस्तुयें—जैसे स्त्रियों के कंचुक (संघाइम)[1] आदि का नाम आता है। इसके अलावा, कोष्ठ (कुट्ठ), तमालपत्र, चोय (चुया), तगर, इलायची, हिरिवेर (खसखस) आदि, तथा खांड, गुड़, शर्करा, मत्स्यंडिका (पूग), पुष्पोत्तर, पद्मोत्तर आदि का उल्लेख किया गया है।[2] कस्तूरी, हिंगू, शंख और नमक की बिक्री की जाती थी।[3] पनवाड़ी लोग पान बेचते थे।[4]

यान-वाहन

व्यापार और उद्योग-धन्धों के विकास के लिए शीघ्रगामी और सस्ते आवागमन के साधनों का होना परम आवश्यक है। कौटिल्य ने यातायात के लिए जलमार्ग और स्थलमार्ग के निर्माण की आवश्यकता बतायी है।[5] जैनसूत्रों में शृंगाटक (सिंघाडग), त्रिक (तिग), चतुष्क (चउक्क; चौक), चत्वर (चच्चर), महापथ और राजमार्ग का उल्लेख है जिससे पता लगता है कि उन दिनों भी मार्ग की व्यवस्था थी। उत्तराध्ययनटीका में हुतवह नाम की रथ्या का उल्लेख है। यह रथ्या गर्मी के दिनों में इतनी अधिक तपती थी कि कोई यहाँ से जाने का साहस नहीं करता था।[6] फिर भी, मार्गों की दशा सन्तोष-

१. दशवैकालिकचूर्णी २, पृ० ७६।
२. ज्ञातृधर्मकथा १७, पृ० २०३।
३. बृहत्कल्पभाष्य १.३०७४।
४. निशीथभाष्य १०.६४२३।
५. अर्थशास्त्र [illegible]

जनक प्रतीत नहीं होती। ये मार्ग जंगलों, रेगिस्तानों और पहाड़ियों में से होकर जाते थे, इसलिए यहाँ घोर वर्षा, चोर-लुटेरे, दुष्ट हाथी, शेर आदि जंगली जानवर, राज्य-अवरोध, अग्नि, राक्षस, गड्ढे, सूखा, दुष्काल, जहरीले वृक्ष आदि का भय बना रहता था।[1] कभी जंगल का रास्ता पार करते हुए वर्षा होने लगती और कीचड़ आदि के कारण सार्थ के लोगों को वहीं पर वर्षाकाल बिताना पड़ता।[2] कितने ही मार्ग बहुत बीहड़ होते, और इन मार्गों के गुण-दोषों का सूचन यात्री शिला अथवा वृक्षों पर कर दिया करते।[3] विषम मार्ग से यात्रा करते समय गाड़ी का धुरा टूट जाने के कारण संतप्त एक वहलवान का उल्लेख मिलता है।[4] आवश्यकचूर्णी में कहा है कि सिणवल्लि (सिनावन, जिला मुजफ्फरगढ़, पाकिस्तान) के चारों ओर विकट रेगिस्तान था, वहाँ न पानी मिलता था और न छाया का ही कहीं नाम था। पानी के अभाव में यहाँ किसी सार्थ को अत्यन्त कष्ट हुआ।[5] इसी तरह, कुछ साधु कंपिल्लपुर (कंपिल जिला फर्रुखाबाद) से पुरिमताल (पुरुलिया, बिहार) जा रहे थे; पानी न मिलने के कारण उन्हें अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा।[6] रेगिस्तान की यात्रा करने वाले, सुनिर्मित मार्ग के अभाव में, रास्ते में कीलें गाड़ दिया करते थे जिससे दिशा का पता लग सके।[7] रेगिस्तान के यात्री रात को जल्दी-जल्दी यात्रा करते, तथा बालक और वृद्ध आदि के लिए यहाँ कावड़ ही काम में ली जाती।[8] आवश्यकचूर्णी में धन्य नाम के एक व्यापारी की कथा आती है। अपनी ५०० गाड़ियों में वह बेचने का सामान भर कर चला।

---

१. ज्ञातृधर्मकथा १५, पृ० १६०; बृहत्कल्पभाष्य १.३०७३; आवश्यकटीका (हरिभद्र), पृ० ३८४; तथा फल जातक, १, पृ० ३५२, आदि; अपण्णक जातक (१), १, पृ० १२८ आदि; अवदानशतक २, १३, पृ० ७१।

२. आवश्यकचूर्णी, पृ० १३१।

३. वही पृ० ५११।

४. उत्तराध्ययनसूत्र ५.१४

५. पृ० ५५३; २, पृ० ३४।

६. औपपातिक ३६, पृ० १७८ आदि।

७. सूत्रकृतांगटीका, १.११, पृ० १६६।

८. निशीथभाष्य १६.५६५२ की चूर्णी।

हुए सोने, चाँदी, मणि, मुक्ता आदि दिखाई दिये। यह देखकर राजा को बहुत क्रोध आया। उसने फौरन ही अचल को गिरफ्तार करने का हुक्म दिया।

बिक्री की अन्य वस्तुओं में वीणा, वल्लकी, भ्रामरी, कच्छभी, भंभा, षड्भ्रामरी आदि वाद्यों, तथा लकड़ी के खिलौने (कट्ठकम्म), मसाले के बने खेल खिलौने, (पोत्थकम्म), चित्रकर्म (चित्तकम्म), लेप्य कर्म, गूंथकर बनायी हुई मालायें (गन्थिम), पुष्प के मुकुट जैसे आनन्दपुर में बनाते हैं (वेढिम), छेदवाली गोल कुंडी को पुष्पों से भरना (पूरिम), सांध कर तैयार की हुई वस्तुयें—जैसे स्त्रियों के कंचुक (संघाइम)[1] आदि का नाम आता है। इसके अलावा, कोष्ठ (कुष्ट), तमालपत्र, चोय (चुवा), तगर, इलायची, हिरिवेर (खसखस) आदि, तथा खांड, गुड़, शर्करा, मत्स्यंडिका (बूरा), पुष्पोत्तर, पद्मोत्तर आदि का उल्लेख किया गया है।[2] कस्तूरी, हिंगू, शंख और नमक की बिक्री की जाती थी।[3] पनवाड़ी लोग पान बेचते थे।[4]

यान-वाहन

व्यापार और उद्योग-धन्धों के विकास के लिए शीघ्रगामी और सस्ते आवागमन के साधनों का होना परम आवश्यक है। कौटिल्य ने यातायात के लिए जलमार्ग और स्थलमार्ग के निर्माण की आवश्यकता बतायी है।[5] जैनसूत्रों में शृंगाटक (सिंघाडक), त्रिक (तिग), चतुष्क (चउक्क; चौक), चत्वर (चच्चर), महापथ और राजमार्ग[6] का उल्लेख है जिससे पता लगता है कि उन दिनों भी मार्ग की व्यवस्था थी। उत्तराध्ययनटीका में हुतवह नाम की रथ्या का उल्लेख है। यह रथ्या गर्मी के दिनों में इतनी अधिक तपती थी कि कोई वहाँ से जाने का साहस नहीं करता था।[7] फिर भी, मार्गों की दशा सन्तोष-

१. दशवैकालिकचूर्णी २, पृ० ७६।
२. ज्ञातृधर्मकथा १७, पृ० २०२।
३. बृहत्कल्पभाष्य १.३०७४।
४. निशीथभाष्य २०.६४१३।
५. अर्थशास्त्र २.१.२१, पृ० ६२।
६. राजप्रश्नीयसूत्र १०; बृहत्कल्पभाष्य १.२३००।
७. १२, पृ० १७२-अ।

जनक प्रतीत नहीं होती। ये मार्ग जंगलों, रेगिस्तानों और पहाड़ियों में से होकर जाते थे, इसलिए यहाँ घोर वर्षा, चोर-लुटेरे, दुष्ट हाथी, शेर आदि जंगली जानवर, राज्य-अवरोध, अग्नि, राक्षस, गड्ढे, सूखा, दुष्काल, जहरीले वृक्ष आदि का भय बना रहता था।[1] कभी जंगल का रास्ता पार करते हुए वर्षा होने लगती और कीचड़ आदि के कारण सार्थ के लोगों को वहीं पर वर्षाकाल बिताना पड़ता।[2] कितने ही मार्ग बहुत बीहड़ होते, और इन मार्गों के गुण-दोषों का सूचन यात्री शिला अथवा वृक्षों पर कर दिया करते।[3] विषम मार्ग से यात्रा करते समय गाड़ी का धुरा टूट जाने के कारण संतप्त एक बहलवान का उल्लेख मिलता है।[4] आवश्यकचूर्णी में कहा है कि सिणवल्लि (सिनावन, जिला मुजफ्फरगढ़, पाकिस्तान) के चारों ओर विकट रेगिस्तान था, वहाँ न पानी मिलता था और न छाया का ही कहीं नाम था। पानी के अभाव में यहाँ किसी सार्थ को अत्यन्त कष्ट हुआ।[5] इसी तरह, कुछ साधु कंपिल्लपुर (कंपिल जिला फर्रुखाबाद) से पुरिमताल (पुरुलिया, बिहार) जा रहे थे; पानी न मिलने के कारण उन्हें अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा।[6] रेगिस्तान की यात्रा करने वाले, सुनिर्मित मार्ग के अभाव में, रास्ते में कीलें गाड़ दिया करते थे जिससे दिशा का पता लग सके।[7] रेगिस्तान के यात्री रात को जल्दी-जल्दी यात्रा करते, तथा बालक और वृद्ध आदि के लिए यहाँ कावड़ ही काम में ली जाती।[8] आवश्यकचूर्णी में धन्य नाम के एक व्यापारी की कथा आती है। अपनी ५०० गाड़ियों में वह बेचने का सामान भर कर चला।

---

१. ज्ञातृधर्मकथा १५, पृ० १६०; बृहत्कल्पभाष्य १.३०७३; आवश्यकटीका (हरिभद्र), पृ० ३८४; तथा फल जातक, १, पृ० ३५२, आदि; अपण्णक जातक (१), १, पृ० १२८ आदि; अवदानशतक २, १३, पृ० ७१।

२. आवश्यकचूर्णी, पृ० १३१।

३. वही पृ० ५११।

४. उत्तराध्ययनसूत्र ५.१४

५. पृ० ५५३; २, पृ० ३४।

६. औपपातिक ३६, पृ० १७८ आदि।

७. सूत्रकृतांगटीका, १.११, पृ० १६६।

८. निशीथभाष्य १६.५६५२ की चूर्णी।

रास्ते में वेगवती नदी पार करते समय उसका एक बैल मर गया।[1] तोसलि भैंसों के लिए,[2] और कोंकण अपने जंगली जानवरों, विशेषकर जंगली शेरों के लिए, प्रसिद्ध था।[3]

इन सब कठिनाइयों के कारण उन दिनों व्यापारी लोग सार्थ बनाकर यात्रा किया करते थे। जैनसूत्रों में पाँच प्रकार के सार्थों का उल्लेख मिलता है:—(१) गाड़ियों और छकड़ों द्वारा माल ढोने वाले (भंडी), (२) ऊँट, खच्चर और बैलों द्वारा माल ढोनेवाले (बहिलग), (३) अपना माल स्वयं ढोने वाले (भारवह), (४) अपनी आजीविका के योग्य द्रव्य लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करने वाले (ओदरिया), तथा (५) कापार्टिक साधुओं (कप्पडिय) का सार्थ।[4] अन्यत्र कालोत्थायी, कालनिवेशी, स्थानस्थायी और कालभोजी नाम के सार्थ गिनाये गये हैं। कालोत्थायी सूर्योदय होने पर गमन करते थे, कालनिवेशी सूर्य के उदय होने पर या प्रथम पौरुषी (जिस काल में पुरुष-प्रमाण छाया हो) में कहीं ठहरते थे, स्थान स्थायी गोकुल आदि में ठहर जाते थे, तथा कालभोजी मध्याह्न सूर्य के समय भोजन करते थे।[5] सार्थ के लोग अनुरंगा (घंसिका=गाड़ी), पालकी, घोड़े, भैंसे, हाथी और बैल लेकर चलते थे जिससे कि चलने में असमर्थ रोगियों, घायलों, बालकों और वृद्धों को इन वाहनों पर चढ़कर ले जा सकें।[6] उस सार्थ को प्रशंसनीय कहा गया है कि जो वर्षा, बाढ़ आदि आकस्मिक संकट के समय, उपयोग में आनेवाली दन्तिक्क (मोदक, मंडक, अशोकवर्ती आदि–टीका), गेहूँ (गोर), तिल, बीज, गुड़, घी आदि वस्तुओं को अपने साथ भरकर चलते हों।[7]

गाड़ी या छकड़ों (सगडीसागड) को यातायात के उपयोग में लिया जाता था। दो पहिए, दो उद्धि (गुजराती में उंध) और धुरा—ये गाड़ी के पाँच मुख्य अंग माने गये है। मजबूत काष्ठवालों तथा

---

१. पृ० २७२।
२. आचारांगचूर्णी पृ० २४७।
३. निशीथचूर्णी पीठिका २८६ की चूर्णी।
४. बृहत्कल्पभाष्य १.३०६६ आदि।
५. वही १.३०८३ आदि।
६. वही १.३०७१।
७. वही ३०७३ तथा ३०७५ आदि।

वज्रकील और लोहपट्ट से युक्त गाड़ी भारवहन करने में समर्थ समझी जाती थी।[1] निशीथभाष्य में भंडी (गाड़ी), वहिलग, काय (वंहगी) और शीर्ष का उल्लेख है—इन से माल ढोया जाता था।[2] गाड़ी के पहियों के धुरे में तेल देकर पहियों को ओंगा जाता था।[3] वाणियगाम के गृहपति आनन्द के पास दूरगमन (दिसायत्त) के लिए ५००, और स्थानीय कार्यों (संवहणीय) के लिए ५०० गाड़ियाँ थीं।[4] यानशालाओं का उल्लेख मिलता है। यान-वाहक यान और वाहनों का ध्यान रखते थे। उपयोग में लाने से पहले वे वस्त्र हटाकर उन्हें झाड़-पोंछकर साफ करते और आभूषणों से सजाते। यानों में बैल जोते जाते, और बहलवान (पओअधर=प्रतोत्रधर) उन्हें हांकते समय नोकदार छड़ी (पओदलट्ठि=प्रतोत्रयष्टि) का उपयोग करते।[5] बैलों के सींग तीक्ष्ण होते, और उनमें घंटियाँ और सुवर्णखचित सूत्र की रस्सियाँ बँधी रहतीं। उनके मुँह में लगाम (पग्गह=पगहा) पड़ी रहती, और नील कमल उनके मस्तक पर शोभायमान रहता।[6] बैलों को बधिया करने (निल्लंछणकम्म) का रिवाज था।[7] गाड़ियों, घोड़ों, नावों और जहाजों द्वारा माल एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता।[8]

बढ़िया किस्म के यानों में में रथ का उल्लेख मिलता है; रथों में घोड़े जोते जाते थे। चार घोड़ों वाले रथों का उल्लेख मिलता है।[9] शिविका (शिखर के आकार की ढकी हुई पालकी)[10] और स्यन्दमानी

---

१. निशीथभाष्य २०.६५३२ की चूर्णी।

२. ३.१४८६।

३. उत्तराध्ययनटीका ८, पृ० १२८; बृहत्कल्पभाष्य ४.५२०४।

४. उपासकदशा १, पृ० ७।

५. औपपातिक ३०, पृ० १२०। रामायण २.३५.४ में भी यानशाला का उल्लेख है।

६. ज्ञातृधर्मकथा ३, पृ० ६०।

७. उपासकदशा १, पृ० ११।

८. बृहत्कल्पभाष्य १.१०६०।

९. आवश्यकचूर्णी पृ० १८८।

१०. कूटाकाराच्छादितः जंपानविशेषः, राजप्रश्नीयटीका पृ० ६।

(पुरुषप्रमाण पालकी)[1] का उपयोग राजाओं और धनिकों द्वारा किया जाता था। अन्य यानों में युग्य (जुग्ग), गिल्लि और थिल्ली का उल्लेख मिलता है। दो हाथप्रमाण चौकोण वेदी से युक्त पालकी को युग्य कहते हैं; गोल्लदेश (गोलि, गुन्टूर जिला) में इसका प्रचार था।[2] दो पुरुषों द्वारा उठाकर ले जायी जाने वाली डोली को गिल्ली,[3] तथा दो खच्चरों वाले यान को थिल्ली कहा जाता है।[4] राजाओं की शिविकाओं के विशेष नाम होते थे। महावीर ने चन्द्रप्रभ शिविका में सवार होकर दीक्षा ग्रहण की थी।[5] राजा अश्वसेन के पास विशाल नाम को एक अतिशय सुन्दर शिविका थी।[6] दगण नामक यान का उल्लेख बृहत्कल्पभाष्य में मिलता है।[7]

नदी और समुद्र के व्यापारी

नदियों के द्वारा भी नावों से माल ढोया जाता था। नदी तट पर उतरने के लिए स्थान बने हुए थे, तथा नावों द्वारा नदियों को पार किया जाता था। नावों को अगट्ठिया,[8] अन्तरंडकगोलिया (डोंगी), कोंचवीरग (जलयान)[9] आदि नामों से कहा जाता था। आस्राविणी नाव में छिद्र होने के कारण उसमें जल भर जाता था, इसलिए उसके द्वारा नदी पार नहीं जा सकते थे। निरास्राविणी नाव

१. पुरुषप्रमाणः जंपानविशेषः, वही।

२. वही।

३. पुरुषद्वयोत्क्षिप्ता डोलिका, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका २, पृ० १२३। यहीं पर हाथी के ऊपर रखी हुई बड़ी अंबारी को भी गिल्ली कहा गया है, अभयदेव, ३.४ व्याख्याप्रज्ञप्तिटीका।

४. निशीथभाष्य १६.५३२३। लाट देश में घोड़े की जीन को थिल्ली कहा गया है, अभयदेव, वही।

५. आवश्यकचूर्णी पृ० २५८।

६. उत्तराध्ययनटीका २३, पृ० २६२–अ।

७. बृहत्कल्पभाष्य १.३१७१।

८. एकठा नाव नेपाल से आती थी जिसमें एक बार में ४० से ५० मन तक अनाज भरा जा सकता था, एफ बुकनन, ऐन एकाउन्ट ऑव बिहार एण्ड पटना, १८११–२७, पृ० ७०५।

९. बृहत्कल्पभाष्य १,२३६७। निशीथचूर्णी १६.५३२३ में कहा गया है—सगडपक्खसारिच्छं जलजाणं कोंचवीरगं।

से नदी पारकर सकते थे।[1] कुछ नाव हाथी की सूंड के आकार[2] की होती थीं। निशीथभाष्य में चार प्रकार की नावों का उल्लेख है :— अनुलोमगामिनी, प्रतिलोमगामिनी, तिरिच्छिसंतारणी (एक किनारे से दूसरे किनारे पर सरल रूप में जाने वाली) और समुद्रगामिनी। समुद्रगामिनी नाव से लोग तेयालगपट्टण (आधुनिक वेरावल) से द्वारका की यात्रा किया करते थे।[3] समाजविकास की आदिम अवस्था में (दति=दइय=मशक), और बकरे की खाल पर बैठकर भी लोग नदी पार करते थे।[4] इसके अतिरिक्त, चार काष्ठों के कोनों पर चार घड़े बाँधकर, मशक में हवा भरकर, तुम्बी के सहारे, घिरनई (उडुप) पर बैठकर, तथा पण्णि नामकी लताओं से बने दो बड़े टोकरों को बाँधकर उनसे नदी पार की जाती थी।[5] नाव में लम्बा रस्सा बाँधकर उसे किनारे पर खड़े हुए वृक्ष अथवा लोहे के खूँटे में बाँध दिया जाता। मुंज या दर्भ को अथवा पीपल आदि की छाल को कूट कर बनाये हुए पिंड (कुट्टविंद) से अथवा वस्त्र के चीथड़ों के साथ कूटे हुए पिंड (चेलमट्टिया) से नाव का छिद्र बंद किया जाता।[6] भरत चक्रवर्ती की दिग्विजय के अवसर पर उनका चर्मरत्न नाव के रूप में परिणत हो गया और उस पर सवार होकर उन्होंने सिंधुनदी को पार करते हुए सिंहल, बर्बर, यवन द्वीप, अरब, एलेक्जेण्ड्रा आदि देशों की यात्रा की।[7]

व्यापारी जहाजों से समुद्र की यात्रा किया करते थे; और समुद्र-यात्रा खतरों से खाली नहीं थी। कुछ व्यापारी जहाज (प्रवहण) के

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र २३.७१।

२. महानिशीथ ४१, ४५; गच्छाचारवृत्ति, पृ० ५०-अ आदि।

३. निशीथभाष्य पीठिका १८३। निशीथसूत्र १८.१२-१३ में चार नावों का उल्लेख है :—ऊर्ध्वगामिनी, अधोगामिनी, योजनवेलागामिनी और अर्धयोजनवेलागामिनी।

४. पिंडनिर्युक्ति ४२; सूत्रकृतांग १.११, पृ० १९६।

५. निशीथभाष्य पीठिका १८५,१९१,२३७; १२.४२०९। निशीथभाष्य पीठिका १९१ में थाहवाले जल को संघट्ट (घुटनों तक का जल), लेप (नाभिप्रमाण जल) और लेपोपरि (नाभि से ऊपर जल) के भेद से तीन प्रकार का बताया गया है।

६. निशीथसूत्र १८.१०-१३ की तथा १८.६०१७ की चूर्णी।

७. आवश्यकचूर्णी पृ० १९१।

द्वारा वीतिभय (भेरा, जिला शाहपुर, पाकिस्तान) की यात्रा कर रहे थे। मार्ग में इतने उपद्रव हुए कि जहाज छह महीने तक चक्कर काटता रहा।[1] देवी-देवताओं और भयंकर आँधी-तूफान (कालियवाय) आदि के कारण इतने उपद्रव होते जिससे व्यापारियों का जीवन खतरे में पड़ जाता। ज्ञातृधर्मकथा से पता चलता है कि जहाज फट जाने के कारण, बड़ी कठिनाई से दो व्यापारी एक पट्ट (फलगखंड) के सहारे रत्नद्वीप में उतरे।[2] कालियावात से रहित पश्चिमोत्तर वायु (गज्जभ) के चलने पर कुशल निर्यामकों की सहायता से निश्छिद्र पोत का इष्ट स्थान पर पहुँचने का उल्लेख मिलता है।[3]

चंपा के अर्हन्नग आदि देशान्तर जाने वाले व्यापारियों का उल्लेख किया जा चुका है। इन लोगों ने जहाज को विविध प्रकार के माल-असबाब से भरा और शुभ मुहूर्त देखकर बाजे-गाजे के साथ, मिथिला के लिए प्रस्थान किया। विदाई के अवसर पर उनके मित्र और सम्बन्धी भी उन्हें पहुँचाने आये थे। वे सब उनकी रक्षा के लिए और उन्हें कुशलपूर्वक शीघ्र ही वापिस लौट आने के लिए भगवान् समुद्र की मनौती कर रहे थे। उनका दिल भर-भरकर आ रहा था, और उनके नेत्र आँसुओं से आर्द्र हो गये थे।

जहाज डूबने के वर्णन जैनसूत्रों में मिलते हैं। एक बार की बात है, प्रतिकूल वायु चलने पर आकाश में बादलों का गम्भीर गर्जन सुनाई देने लगा। यात्री भय के मारे एक दूसरे से सटकर बैठ गये, तथा इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, शिव, वैश्रमण, नाग, भूत, यक्ष आदि की उपासना में लीन हो गये। जहाज के संचालक और कर्णधार घबड़ा उठे, ठीक दिशा का ज्ञान उन्हें नहीं रहा और उनकी समझ में नहीं आया कि ऐसे संकट के समय क्या किया जाये। जीने की आशा छोड़ अत्यन्त दीनभाव से वे निराश होकर बैठे रहे।[4]

---

१. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २५२-अ।

२. ६, पृ० १२३।

३. आवश्यकचूर्णी पृ० ५१२। यहाँ १६ प्रकार की वायुओं का उल्लेख है।

४. ज्ञातृधर्मकथा १७, पृ० २०१। ऐसे संकट के समय समुद्र को रत्न चढ़ाये जाते थे। काठियावाड़ में समुद्र तट पर अग्नि जलाने तथा समुद्र को दूध, मक्खन और शक्कर चढ़ाने की प्रथा थी, कथासरित्सागर पेन्जर, जिल्द ७, अध्याय १०१, पृ० १४६।

जहाज के लिए पोत, पोतवहन, वहन और प्रवहण आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। पाण्डुमथुरा के राजा पाण्डुसेन की दो कन्याओं का वारिष्ठपभ नाम के जहाज से सौराष्ट्र पहुँचने का उल्लेख किया जा चुका है।[1] जहाज पवन के जोर (पवणवलसमाहय) से चलते थे; उनमें डांडे और पतवार लगे रहते थे। पाल के सहारे वे आगे बढ़ते, और लंगर डालकर उन्हें ठहराया जाता।[2] नाव के डंडे को अलित्त, छोटी नाव को द्रोणी और नाव के छिद्र को उत्तिंग कहा गया है।[3] निर्यामक (निज्जामय) लोग जहाज को खेते थे। जहाज के अन्य कर्मचारियों में कुक्षिधारक, कर्णधार और गर्भज (जहाज पर छोटा-मोटा काम करने वाले) के नाम गिनाये गये हैं। परदेश यात्रा के लिए राजा की आज्ञा (रायवरसासण = पासपोर्ट) का प्राप्त करना आवश्यक था।[4] व्यापारी लोग सुबह का नाश्ता (पायरासेहिं) करके मार्ग में ठहरते हुए यात्रा करते थे।[5] इष्ट स्थान पर पहुँच जाने पर वे उपहार आदि लेकर राजा की सेवा में उपस्थित होते। राजा उनका कर माफ कर देता और उनके ठहरने की उचित व्यवस्था करता।[6]

कारोबार की व्यवस्था

प्रत्येक गांव में व्यापारी होते थे, तथा माल का बेचना और खरीदना सीधे उत्पादनकर्त्ता और उपभोक्ता के बीच हुआ करता था। यह व्यापार अलग-अलग दुकानों पर या बाजार की मंडी में होता था, और यदि बिक्री के बाद माल बच जाता तो वह देश के अन्य व्यापारिक केन्द्रों में भेज दिया जाता।

---

१. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १९७।

२. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० ९८। आचारांग २.३.१.३४२ में अलित्त (डाँड), पीढय (पतवार), वंस (बाँस), वलय, अवलुय और रज्जु का उल्लेख है। निशीथभाष्य १८.६०१५ में अलित्त, आसत्थ, थाह लेने का बांस और चलग (रस्सा) का उल्लेख मिलता है। लंगर (नावालकनक), मस्तूल (कूप), नियामक और नाविक (कम्मकर) के लिए देखिए मिलिन्दप्रश्न, पृ० ३७७ आदि।

३. निशीथभाष्य १८.६०१५-६०१६।

४. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० ९८।

५. वही, १५, पृ० १६०।

६. वही ८, पृ० १०२।

व्यापार के केन्द्र नगर

चम्पा नगरी के बाजार (विवणि) शिल्पियों से आकीर्ण रहा करते थे।[1] यहाँ कितनी ही दुकानें थीं जिनपर विविध प्रकार की एक से एक उपयोगी वस्तुएँ बिकती थीं। कर्मान्तशाला (कम्मंतसाला) में उस्तरे आदि पर धार लगायी जाती थी।[2] पाणागार (रसावण= रसापण) में शराब बेची जाती थी। इसी प्रकार चक्किकाशाला में तेल, गोलियशाला में गुड़, गोणियशाला में गाय, दोसियशाला में दूष्य (वस्त्र), सोत्तियशाला में सूत, और गंधियशाला में सुगन्धित पदार्थ बेचे जाते थे।[3] हलवाई की दुकानों को पोइअ कहा गया है; यहाँ अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ मिलते थे।[4] कुम्हारों की शालाओं में पणितशाला (जहाँ कुम्हार अपने बर्तन बेचते हैं), भांडशाला (जहाँ बर्तन सुरक्षित रूप में रक्खे जाते हैं), कर्मशाला (जहाँ कुम्हार बर्तन बनाता है), पचनशाला (जहाँ वर्षा में बर्तन पकाये जाते हैं), और ईंधनशाला (जहाँ तृण, कंडे आदि रहते हैं) का उल्लेख मिलता है।[5] इसके सिवाय, महानसशाला[6] (जहाँ विविध प्रकार के भोजन तैयार किये जाते हों), गन्धर्वशाला, गंजशाला, रजकशाला, पाटहिकशाला, चट्टशाला,[7] तथा मंत्रशाला, गुह्यशाला, रहस्यशाला, मैथुनशाला, आदि के नाम गिनाये गये हैं।[8] पाटलिपुत्र में देश-देशान्तर से आये हुए कुंकुम आदि के पुट खोले जाते थे (पुटभेदनक)।[9]

---

१. औपपातिकसूत्र १।

२. निशीथसूत्र ८.५-६ और चूर्णी।

३. वही।

४. निशीथचूर्णी १०.३०४७ चूर्णी।

५. वही, ८.५-६ की चूर्णी।

६. कुण्डग्राम के राजा नंदिवर्धन ने देश-देश में अनेक महानसशालायें स्थापित की थीं, आवश्यकचूर्णी पृ० २५०।

७. निशीथचूर्णी, ६.७; व्यवहारभाष्य ६, पृ० ५।

८. निशीथसूत्र ८.५-६, १६; ६-७। हेमचन्द्र आचार्य ने अभिधान-चिंतामणि में अनेक शालाओं का उल्लेख किया है।

९. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति १०६३; तथा परमत्थदीपिका, उदान-अट्ठकथा पृ० ४२२।

आपणगृह के चारों ओर दुकानें बनी रहती थीं। अन्तरापण के एक ओर या दोनों ओर बाजार की वीथियां रहती थीं।[1] पणियय में पण या बाजी लगाकर लोग द्यूत खेलते थे। किसी बनिये ने शर्त लगाई कि जो कोई माघ के महीने में रात भर पानी में बैठा रहेगा, उसे एक हजार इनाम मिलेगा।[2]

मूल्य

वस्तुओं की कीमतें निश्चित नहीं थीं। यातायात के मन्द होने से उत्पादन पर एक ही व्यक्ति का अधिकार होने से, तथा उत्पादन के साधनों के बहुत पुरातन होने से माल की पूर्ति जल्दी नहीं होती थी। लेने-बेचने में मिलावट (प्रतिरूपकव्यवहार)[3] और बेईमानी चलती थी।[4] मायावी मित्र अपने सीधे-साधे मित्रों को ठग लेते थे।[5]

मुद्रा

कीमतें रुपये-पैसे के रूप में निर्धारित थीं, और रुपया-पैसा भारत में बहुत प्राचीन काल से विनिमय का माध्यम था।

जैनसूत्रों में अनेक प्रकार की मुद्राओं एवं सिक्कों का उल्लेख है। सुनार (हैरण्यक) अंधेरे में भी खोटे सिक्कों को पहचान सकते थे।[6] उपासकदशा में हिरण्य सुवर्ण का एक साथ उल्लेख है[7]; वैसे सुवर्ण का नाम अलग से भी आता है।[8] अन्य मुद्राओं में कार्पापण (काहावण),[9]

१. बृहत्कल्पभाष्य १.२३०१ आदि।

२. आवश्यकचूर्णी पृ० ५२३।

३. उपासकदशा १, पृ० १०।

४. उत्तराध्ययनटीका ४, पृ० ८१-अ; तथा आवश्यकचूर्णी पृ० ११७।

५. आवश्यकचूर्णी पृ० १२८।

६. आवश्यकटीका (हरिभद्र), ६४७, पृ० ४२०-अ; तथा सम्मोहविनोदिनी, पृ० ६१ आदि।

७. १, पृ० ६।

८. निशीथसूत्र ५.३५; आवश्यकटीका (हरिभद्र) पृ० ६४-अ।

९. उत्तराध्ययनटीका ७, पृ० ११८॥ उत्तराध्ययनसूत्र २०.४२ में खोटे (कूट) कार्पापण का उल्लेख है। कार्पापण राजा बिम्बसार के समय से राजगृह में प्रचलित था। अपने संघ के नियम बनाते समय बुद्ध ने इसे स्टैण्डर्ड रूप में स्वीकार किया था, समन्तपासादिका, २, पृ० २९७। यह सोने, चाँदी और ताम्बे का होता था।

मास, अद्धमास, (अर्धमास), और रूपक का उल्लेख है।[1] खोटे रूपकों का चलन था।[2] पण्णग[3] और पायंक[4] मुद्राओं का उल्लेख मिलता है। उत्तराध्ययनसूत्र में सुवण्णमासय (सुवर्णमाषक) का नाम आता है;[5] इसकी गिनती छोटे सिक्कों में की जाती थी।

बृहत्कल्पभाष्य और उसकी वृत्ति में अनेक मुद्राओं का उल्लेख है। सबसे पहले कौड़ी (कवडग) का नाम आता है। तांबे के सिक्कों में काकिणी[6] का उल्लेख है, जो सम्भवतः सबसे छोटा सिक्का था और दक्षिणापथ में प्रचलित था। चांदी के सिक्कों में द्रम्म[7] का नाम आता है और भिल्लमाल (भिनमाल, जिला जोधपुर) में यह सिक्का प्रचलित था। सोने के सिक्कों में दीनार[8] अथवा केवडिक का उल्लेख है जिसका प्रचार पूर्व देश में था। मयूरांक राजा ने अपने

---

१. सूत्रकृतांग २, २, पृ० ३२७-अ; उत्तराध्ययनसूत्र ८.१७। मासक और अर्धमास का उल्लेख महासुपिन जातक (७७), पृ० ४४३ में भी मिलता है। लोहमासक, दारुमासक और जतुमासक का उल्लेख खुद्दकपाठ की अट्ठकथा परमत्थजोतिका १, पृ० ३७ में मिलता है।

२. आवश्यकचूर्णी पृ० ५५०।

३. व्यवहारभाष्य ३.२६७-८। कात्यायन ने माष को पण भी कहा है, यह कार्षापण का बीसवां हिस्सा होता था। भांडारकर, ऐंशियेंट इण्डियन न्यूमिस्मेटिक्स, पृ० ११८।

४. आवश्यकटीका (हरिभद्र) पृ० ४३२।

५. उत्तराध्ययन ८, पृ० १२४। सुवर्णमाषक का वजन तोल में १ मासा होता था भांडारकर, वही, पृ० ६३।

६. उत्तराध्ययनटीका ७.११, पृ० ११८। यह एक बहुत छोटा तांबे का सिक्का होता था जो तांबे के कार्षापण का चौथाई होता था। तथा देखिए अर्थशास्त्र, २.१४.३२.८, पृ० १६४।

७. यह ग्रीस का एक सिक्का था जिसे ग्रीक भाषा में द्रम्म (Drachma) कहा गया है। ग्रीक लोगों का भारत में ई० पू० २०० से लेकर २०० ई० तक शासन रहा।

८. ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी में, कुशानकाल में, रोम के दिनेरियस नाम के सिक्के से यह लिया गया है।

नाम से चिह्नित दीनारों को गाड़कर रक्खा था।[1] बृहत्कल्पभाष्य में द्वीप (सौराष्ट्र के दक्षिण में एक योजन समुद्र द्वारा चलने पर स्थित) के दो साभरक को उत्तरापथ के एक रूप्यक के बराबर, उत्तरापथ के दो रूप्यक को पाटलिपुत्र के एक रूप्यक के बराबर, दक्षिणापथ के दो रूप्यक को कांचीपुरी के एक नेलक के बराबर, तथा कांचीपुरी के दो नेलक को कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) के एक नेलक के बराबर कहा गया है।[2]

क्रय-शक्ति

उन दिनों रुपये की क्रयशक्ति, अथवा सामान्य वस्तुओं की कीमत के सम्बन्ध में हमें विशेष जानकारी नहीं मिलती। इधर-उधर जो इक्के-दुक्के उल्लेख मिलते हैं, इसी से हमें इस विषय का थोड़ा-बहुत ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए, तीतर एक कार्षापण में मिल जाता था;[3] मालूम होता है कि यहां तांबे के कार्षापण से ही तात्पर्य है। किसी दरिद्र व्यक्ति ने धीरे-धीरे करके एक हजार कार्षापण इकट्ठे कर लिए। तत्पश्चात् किसी सार्थ के साथ उसने अपने घर के लिए प्रस्थान किया। उसने एक रुपये की बहुत-सी काकिणी भुनाईं और प्रतिदिन एक-एक काकिणी खर्च करने लगा।[4] गाय का मूल्य ५०० सिक्के[5] तथा कम्बलों का मूल्य १८ रूप्यक से लगाकर १ लाख रूप्यक तक था।[6] कोई अहीरनी दो रुपये लेकर किसी वाणिक् की दुकान पर कपास

---

१. निशीथभाष्य १३.४३१५। सिक्कों पर मोरछाप का आरम्भ कुमारगुप्त से होता है। उसके बाद स्कन्दगुप्त और भानुगप्त के सिक्कों में भी मोर का चलन रहा।

२. कपर्दं मार्गयित्वा तस्य दीयते। ताम्रमयं वा नाणकं यद् व्यवह्रियते यथा दक्षिणापथे काकिणी। रूप्यमयं वा नाणकं भवति यथा भिल्लमाले द्रम्मः। पीतं नाम सुवर्णं तन्मयं वा नाणकं भवति, यथा पूर्वदेशे दीनारः। 'केवडिको' नाम यथा तत्रैव पूर्वदेशे केतराभिधानो नाणकविशेषः; बृहत्कल्पभाष्य १.१९६६, ३.३८९१ आदि, और वृत्ति। तथा निशीथभाष्य १०.३०७० और चूर्णी; १.६५८-५६।

३. दशवैकालिकचूर्णी पृ० ५८।

४. उत्तराध्ययनसूत्र ७.११ टीका।

५. आवश्यकचूर्णी पृ० ११७।

६. बृहत्कल्पभाष्य ३.३८६०।

खरीदने गयी। उन दिनों कपास महंगी मिलती थी। वणिक् ने एक रुपये की कपास दो बार तोलकर उसके पल्ले में डाल दी। अहीरनी ने समझा कि वणिक् ने दो रुपये की तोल कर दी है। वह गठरी बांधकर घर ले गयी। लेकिन वणिक् ने दो रुपये की जगह एक का ही माल दिया था, इसलिए वह बड़ा खुश हुआ। घर पहुंचकर उसने उस रुपये को सीवँई, गुड़ तथा घी खरीदकर आनन्दपूर्वक भोजन किया।[1]

उधार

लोग विश्वास के ऊपर उधार देते थे। उन दिनों बैंकों की व्यवस्था नहीं थी, इसलिए धन का अधिकांश भाग सोने आदि के रूप में संचित किया जाता, अथवा जमीन में गाड़कर (निहाणपउत्ति) रक्खा जाता था।[2] लोग अपने मित्रों के पास भी धरोहर के रूप में अपना धन रख दिया करते थे, लेकिन उसकी सुरक्षा की कोई गारंटी नहीं थी। कितनी ही बार इस धन को लोग वापिस नहीं देते थे (नासावहार=न्यासापहार)।[3]

आवश्यकता पड़ने पर लोग उधार लेते थे। लेनदेन और साहूकारी और ईमानदारी का पेशा समझा जाता था। वाणियगाम का गृहपति आनन्द यह पेशा करता था, इसका उल्लेख किया जा चुका है। रुपया उधार लेते समय रुक्के-पर्चे लिखने का रिवाज था। लोग झूठे रुक्के-पर्चे (कूडलेह) भी लिख दिया करते थे।[4] यदि कोई वणिक् कर्ज चुका सकने में असमर्थ होता तो उसके घर पर एक मैली-कुचैली झंडी लगा दी जाती।[5]

माप-तौल

जैनसूत्रों में पांच प्रकार के मापों का उल्लेख मिलता है—मान, उन्मान, अवमान, गणिम और पतिमान। मान दो प्रकार का बताया

१. उत्तराध्ययनटीका ४, पृ० ८२।
२. उपासकदशा १, पृ० ६।
३. आवश्यकटीका (हरिभद्र), पृ० ८२०।
४. वही; उपासकदशा पृ० १०।
५. निशीथभाष्य ११.३७०४।

गया है—घनमानप्रमाण और रसमानप्रमाण । घनमानप्रमाण (जिससे धान्य आदि की मापतौल की जाती है) के अनेक भेद हैं। उदाहरण के लिए, असई (असति), पसई (प्रसृति), सेतिका, कुडव, प्रस्थ, आढक, द्रोण[1] और कुम्भ[2] के द्वारा मुक्तोली (ऊपर और नीचे की ओर संकरी तथा बीच में बड़े आकार का कोठा), मुख, इदूर, आलिन्दक, और अपचार आदि कोठारों के अनाज का माप किया जाता था ।

माणिका द्वारा तरल पदार्थों का माप किया जाता था ।

उन्मान में अगुरु, तगर, चोय आदि वस्तुएं आती हैं जिनके माप के लिए कर्ष, पल, तुला और भार का उपयोग किया जाता था ।

अवमान में हस्त, दंड, धनुष्क, युग, नालिका, अक्ष और मुशल की गणना होती है जिनसे कुएं, ईंट का घर, लकड़ी, चटाई, कपड़ा और खाई वगैरह मापी जाती थी ।

गणिम अर्थात् गिनना । इसके द्वारा एक से लगाकर एक करोड़ तक गिनती की जाती थी ।

प्रतिमान में गुंजा, काकिणी, निष्पाव, कर्ममापक, मंडलक, और सुवर्ण की गिनती की जाती है जिनके द्वारा सोना, चांदी, रत्न, मोती, शंख और प्रवाल आदि तौले जाते थे ।[3]

दूरी मापने के लिए अंगुल, वितस्ति, रत्नि, कुक्षि, धनुष, और गव्यूत, तथा लम्बाई मापने के लिए परमाणु, त्रसरेणु, रथरेणु, वालाग्र, लिक्षा, यूका और यव का उपयोग किया जाता था ।[4] समय मापने के लिए समय, आवलिका, श्वास, उच्छ्वास, स्तोक, लव, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, वर्षशत (शताब्दी) से लेकर शीर्षप्रहेलिका तक का उपयोग किया जाता था है ।[5]

---

१. द्रोण, आढक, प्रस्थ और कुम्भ के लिए देखिए अर्थशास्त्र २.१६. ३७.३५–३८, पृ० २३४–३५ ।

२. सम्मोहविनोदिनी पृ० २५६ में कुम्भ का उल्लेख है ।

३. अनुयोगद्वारसूत्र १३२ ।

४. वही, १३३ । तुलना कीजिए अर्थशास्त्र २.२०.३८, पृ० २३७ ।

५. वही २.२०.३८, पृ० २४१ आदि ।

समय मापने के लिए नालिका अथवा शंकुच्छाया का उपयोग करते थे।[1]

तुला का उल्लेख मिलता है। दूसरे की आँख बचाकर कम-ज्यादा तौलने (कूडतुल्ल) और मापने का काम चलता था।[2]

---

१. दशवैकालिकचूर्णी १, पृ० ४४; बृहत्कल्पभाष्य पीठिका २६१। अर्थशास्त्र, वही पृ० २४१ में नालिका का उल्लेख है।

२. उपासकदशा १, पृ० १०; निशीथचूर्णी, पीठिका ३२६ चूर्णी।

चौथा अध्याय

उपभोग

धन के उपभोग का अर्थ है, अपनी आवश्यकताओं और इच्छाओं की पूर्ति के लिए धन का उपयोग। उत्पादन आर्थिक क्रियाओं का साधन है जब कि उपभोग उन सबका अन्त है। उदाहरण के लिए, कपड़ों का उत्पादन किया जाता है, फिर पहनने के बाद जब वे फट जाते हैं तो यह उनका उपभोग कहलाता है। उपभोग का निश्चय होता है जीवन के स्तर द्वारा, जो किसी व्यक्ति या समाज द्वारा अपने लिए स्थिर किया जाता है। उपभोग की वस्तुएँ तीन भागों में विभक्त की जा सकती हैं—जीवन की आवश्यकताएँ, आराम और भोग-विलास।

खाद्य पदार्थ

जीवन की मुख्य आवश्यकताएँ हैं भोजन, वस्त्र और रहने के लिए घर। हमारे देश में खेती-बारी की बहुतायत थी, इसलिए भोजन की कमी यहाँ नहीं थी। यह बात अवश्य है कि सामान्य मनुष्य को उत्तम भोजन नहीं मिलता था। चार प्रकार के भोजन का उल्लेख जैनसूत्रों में उपलब्ध होता है—अशन, पान, खाद्य (खाइम) और स्वाद्य (साइम)।[1] भोज्य पदार्थों में दूध, दही, मक्खन, घी, तेल, मधु, मदिरा, गुड़, मांस, पकान्न (ओगाहिमग)[2], शष्कुली (हिन्दी में लूची), राब (फाणिय),[3] भुने हुए गेहूँओं से बना खाद्य पदार्थ

---

१. ज्ञातृधर्मकथा ७, पृ० ८४। अन्य प्रकारों में पशुभक्त, मृतकभक्त, कांतारभक्त, दुर्भिक्षभक्त, दमगभक्त, ग्लानभक्त आदि का उल्लेख है, निशीथसूत्र ९.६।

२. आवश्यकचूर्णी २, पृ० ३१९।

३. इसे छुट्टगुल्ल (आर्द्रगुड) अथवा खुड्डगुल्ल भी कहा गया है। पिंड गुड को पानी से गीला कर देने पर उसे दविय (द्रवित) कहा जाता है। ये दोनों ही फाणित कहे जाते हैं, बृहत्कल्पभाष्य २.६४७६ की चूर्णी तथा टीका।

(पूय) और श्रीखण्ड (शिखरिणी)[१] के नाम मिलते हैं। मोदक लोगों का प्रिय खाद्य पदार्थ था।[२] नये चावलों को दूध में डालकर खीर पकाई जाती थी।[३] खीर में घी और मधु डालकर उसे स्वादिष्ट बनाया जाता था।[४] लोग सत्तु में घी डालकर खाते थे।[५] नमक बनाने का काम बहुत महत्त्वपूर्ण था। नमक के अनेक प्रकारों का उल्लेख मिलता है—सौवर्चल, सैन्धव, लवण, रोम (खानों से निकाला हुआ), समुद्र, पांसुखार (मिट्टी से बनाया हुआ) और काला नमक (कालालोण)[६]। जिस देश में नमक उपलब्ध न होता वहाँ क्षारभूमि की मिट्टी (ऊस) काम में ली जाती थी।[७]

इसके अतिरिक्त, ओदन, सेम (कुल्माष) और सत्तु का भी उल्लेख किया गया है[८]। निम्नलिखित १८ प्रकार के व्यंजनों के नाम मिलते हैं :—सूप, ओदन (चावल), यव (जौ), तीन प्रकार के मांस (जलचर, थलचर और नभचर जीवों के), गोरस, जूस (मूंग आदि का रसा), भक्ष्य (खंडखाद्य; जिसमें मिश्री का उपयोग बहुतायत से किया गया हो), गुल्लावणिया (गुजराती में गोलपापड़ी), मूलफल, हरियग (जीरा आदि), शाक, रसालू (राजा के योग्य बनाया हुआ भोजन, जिसे दो पल घी, एक पल शहद, आधा आढक दही, बीस दाने काली मिर्च, और दसपल खंडगुड़ डालकर तैयार किया जाता है), पान (मदिरा), पानीय (पानी), पानक (द्राक्षासव), शाक (मट्ठा डालकर बनाये हुए दहीबड़े आदि)। ये सब व्यंजन हांडी में पकाकर

---

१. आचारांग २,१.४.२४७; तथा बृहत्कल्पभाष्य २.३४७५ आदि।

२. आवश्यकचूर्णी, पृ० ३५६।

३. वही पृ० २८३। कुडुक्क के लोग खीर को पीलु कहते थे, वही पृ० २७।

४. वही, पृ० २८८।

५. निशीथभाष्य १४.४५१५।

६. दशवैकालिकसूत्र ३.८; तथा चरकसंहिता १,२७.३०२-६, पृ० १५९-६०; सुश्रुत १.४६.३१३।

७. निशीथसूत्र ११.६१।

८. आवश्यक चूर्णी २, पृ० ३१७।

(थालीपागसुद्ध) अपने माता-पिता, स्वामी और धर्माचार्य को सन्मान के साथ प्रदान किये जाते थे।[1]

अन्य खाद्य पदार्थों में गुड़ और घी से पूर्ण रोट्टग (बड़ी रोटी)[2] पेय (पीने योग्य; मांड, रसा आदि), र्हविपूत[3] अथवा घृतपूर्ण (घय-पुण्ण; हिन्दी में घेवर), पालंगमाहुरय[4] (आम या नींबू के रस से बनाया हुआ मीठा शर्बत), सीहकेसर,[5] मोरण्डक,[6] गुलपाणिय,[7] (तिल की बनी मिठाई), मंडक (गुड़ भरकर बनायी हुई रोटी, जो सूर्योदय के अवसर पर अप्रस्थित ब्राह्मण मानकर धूलिजंघ (जिसके पैरों में धूलि लगी हो) को दी जाती है; (पूरंपूरी), घी,[8] इट्टगा (सेवई), और पापड़ (पप्पडिय), वड़ा,[9] पूआ[10] आदि का उल्लेख मिलता है। कल्याण (कल्लणग) चक्रवर्तियों का भोजन होता था जिसे केवल चक्रवर्ती ही भक्षण कर सकते थे। कांपिल्यपुर के ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के पुरोहित ने एक बार यह भोजन करने की इच्छा व्यक्त की। ब्रह्मदत्त ने गुस्से में आकर उसे अगले दिन अपने मित्रों के साथ आने के लिए निमंत्रित किया। लेकिन भोजन खाकर पुरोहित उन्मत्त हो गया और मोह की तीव्रता से पशुधर्म का आचरण करने लगा[11]।

आहडिया एक खास मिष्टान्न होता था जो उपहार के रूप में किसी

---

१. स्थानांग ३, १३५; तथा चरकसंहिता, कृताम्नवर्ग, १, २७, पृ० ३५३ आदि।

२. उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० ६३।

३. निशीथभाष्य ४.१८०३।

४. उपासक १, पृ० ९।

५. अन्तःकृद्दशा, पृ० १०।

६. बृहत्कल्पभाष्य १.३२८१।

७. निशीथभाष्य ४.१६६३; गुलो जीए कवल्लीए कड्ढिर्जति तत्थ जं पाणियं कयं तत्तमतत्तं वा तं गुलपाणियं।

८. निशीथचूर्णी ११.३४०३ की चूर्णी।

९. पिंडनिर्युक्ति ५५६, ६३७।

१०. बृहत्कल्पभाष्य २.३४७६।

११. निशीथचूर्णी १.५७२ तथा चूर्णी, पृ० २१।

के घर भेजा जाता था।[1] विवाह के पश्चात् वर के घर में वधू के प्रवेश करने पर, किये जाने वाले भोजन को आहेणग, तथा अपने पीहर से वधू द्वारा लाये जाने वाले भोजन को पहेणग कहा जाता है। श्राद्ध आदि के समय मृतक भोजन को, अथवा यक्ष आदि की यात्रा के समय किये जाते हुए भोजन को हिंगोल कहते हैं। अपने सगे-संबंधियों और इष्ट मित्रों को एकत्रित कर, खिलाये जाते हुए भोजन को संमेल कहते हैं।[2] पुलाक एक विशिष्ट प्रकार का भोजन होता था।[3] गुटिका (गुलिया) कसैले झाड़ के चूर्ण से साधुओं के लिए तैयार की जाती थी। गोरस में भिगोकर सुखाये हुए वस्त्रों को खोल कहते हैं। यदि साधु कहीं दूर स्थान की यात्रा कर रहे हों और उन्हें प्रासुक (निर्दोष) जल न मिल सके तो इन वस्त्रों को धोकर इनके जल का पान कर सकते थे। यदि खोल न हों तो उपर्युक्त गुटिका के सेवन करने का विधान है।[4]

भोजन बनाने का उल्लेख है[5]। राजाओं और धनिकों के घर में रसोइये (महाणसिय) विविध प्रकार का भोजन-व्यंजन बनाते थे[6]। रसोइयों की गणना नौ नारुओं में की गयी है[7]। साग-भाजी तेल (नेह) में पकाई जाती थी[8]। रसोईघर में सागभाजी और घी के प्रबन्ध करने को आवाप, तथा भोजन पककर तैयार हो गया है या नहीं, इस बात की चर्चा को निर्वाप कहते हैं[9]। भोजन करने की भूमि को हरियाली

---

१. बृहत्कल्पसूत्र २. १७, भाष्य २. ३६१७।

२. आचारांग २, १.३.२४५, पृ० ३०४; निशीथसूत्र ११.८०, तथा चूर्णी।

३. बृहत्कल्पभाष्य ५.६०४८ आदि।

४. वही १.२८८२, २८९२। विशेषचूर्णी में गुलिय का अर्थ वल्कल, तथा खोल का अर्थ सीसखोल किया है जिसके द्वारा साधु लोच किये हुए अपने सिर को ढंक लेते थे।

५. ज्ञातृधर्मकथा ७, पृ० ८८।

६. विपाकसूत्र ८, पृ० ४६।

७. जम्बूद्वीपटीका ३, पृ० १९३।

८. ज्ञातृधर्मकथा १६, पृ० १६२।

९. स्थानांग ४.२८२। आवश्यकचूर्णी २. पृ० ८१ में अतिगार, निल्लाय, आरम्भ और निहाण—ये चार भक्तकथा के प्रकार बताये गये हैं। तथा देखिये निशीथभाष्य पीठिका १२२-१२३।

से लीप-पोतकर उसपर कमल के पत्ते बिछाये जाते, और पुष्प बिखेरे जाते। उसके बाद करोडय (कटोरा), कट्ठोरग और मंकुय आदि पात्र यथा-स्थान रक्खे जाते। तत्पश्चात् लोग भोजन करने बैठते[1]। महानसशाला में अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आदि विविध प्रकार के भोजन तैयार होते, तथा साधु-सन्तों, अनाथों, भिखारियों आदि को बांटे जाते[2]। प्रपा में राहगीरों और परिव्राजकों को यथेष्ट अन्न-पान दिया जाता[3]।

मदिरापान

मद्य और मांस की गिनती श्रेष्ठ भोजनों में की जाती थी। प्राचीन समाज में मद्यपान सर्वसामान्य था। कौटिल्य के अनुसार, उत्सव, मेले और यात्रा आदि के अवसर पर चार दिन तक शराब बनाने का अधिकार था[4]। जैनसूत्रों में १८ प्रकार के व्यंजनों में मद्य और मांस का उल्लेख है, यह बात कही जा चुकी है।

शराब बड़े परिमाण में तैयार की जाती थी, और खपत भी इसकी बहुत थी। मद्यशालाओं (पाणागार; कप्पसाला) में तरह-तरह की शराब बनाकर बेची जाती थी[5]। रसवाणिज्य (शराब का व्यापार) का पन्द्रह कर्मादानों में उल्लेख किया गया है। महाराष्ट्र में रिवाज था कि शराब की दुकानों (रसापण) पर ध्वजा लगी रहती थी[6]। ज्ञातृधर्मकथा में उल्लेख है कि द्रौपदी के स्वयंवर पर राजा द्रुपद ने विविध प्रकार की सुरा, मद्य, सीधु, प्रसन्ना और मांस आदि के द्वारा राजा-महाराजाओं का सत्कार किया[7]। द्वारका (बारवई) के राज-

---

१. निशीथचूर्णी पीठिका, पृ० ५१।

२. निशीथसूत्र ९.७; ज्ञातृधर्मकथा १३, पृ० १४३।

३. उत्तराध्ययनटीका १३, पृ० १८८।

४. अर्थशास्त्र, २.२५.४२.३६, पृ० २७३। रामायण, २.९१.५१; ५.३६.४१; ७.४२.२१ आदि। तथा मांस ओदन के लिये देखिये महाभारत, १.७७.१३ आदि; १.१७४.१३ आदि; १.१७७.१० आदि; २.४.८ आदि; धम्मपद अट्ठकथा ३, पृ० १००; सुरापानजातक (८१); १, पृ० ४७१; आर० एल० मित्र, इण्डो-आर्यन, १, पृ० ३९६ आदि।

५. निशीथभाष्य, ९.२५३५; व्यवहारभाष्य १०. ४८५।

६. बृहत्कल्पभाष्य २.३५३९।

७. १६, पृ० १७९।

कलिका, दुग्धजाति, प्रसन्ना[1] तल्लक (नेल्लक अथवा मेल्लग), शतायु, खर्जूरसार,[2] मृद्वीकासार, कापिशायन,[3] सुपक्व और इक्षुसार[4] नाम की शराबों के नाम पाये जाते हैं। इनमें से अधिकांश शराबों के नाम उनके रंगों पर से रक्खे गये हैं। बहुत-सी शराबें विविध प्रकार के फलों के रस से तैयार की जाती थीं। शतायु नाम की शराब में सौ बार पानी मिला देने पर भी उसका असर कम नहीं होता था।[5]

मांसभक्षण

मद्यपान की भांति मांसभक्षण का भी रिवाज था। शिकारी, चिड़ीमार, कसाई और मच्छीमारों का व्यापार ज़ोरों से चलता था तथा वे अनेक प्रकार का मांस, मत्स्य और शोरवा तैयार करके बेचा करते थे। मांस तलकर (तलिय), भूंजकर (भज्जिय), सुखाकर (परिसुक्क) और नमक मिलाकर (लवण) तैयार किया जाता था।[6] राजा के यहाँ काम करने वाले रसोइयों का उल्लेख है जो अनेक मच्छीमार, चिड़ीमार और शिकारी आदि को भोजन-वेतन देकर

---

१. १२ आढक आटा (पिट्ठ) और ५ प्रस्थ किण्व में जातिसमार तथा पुत्रक की छाल और उसके फल मिश्रित करने से प्रसन्ना तैयार होती है, कौटिलीय अर्थशास्त्र २.२५.४२.१७, पृ० १३२।

२. इसे खजूर से तैयार करते थे। पकी हुई खजूर में कटहल, अदरक और सोमलता का रस मिश्रित करने से खर्जूरसार तैयार की जाती है।

३. इसका उल्लेख बृहत्कल्पभाष्य २.३४०८ में मिलता है। यह दुर्लभ शराबों में गिनी जाती थी।

४. यह गन्ने के रस से बनती थी। इसमें काली मिर्च, बेर, दही और नमक मिश्रित किये जाते थे। अरिष्ट और पक्वरस आदि मद्यों के लिए देखिये चरकसंहिता, १.२७, १८० आदि, पृ० ३४०-४१।

५. या शतवारान् शोधितापि स्वस्वरूपं न जहाति, जीवाभिगम ३, ८६५, पृ० १४५-अ टीका; तथा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र २० टीका, पृ० ९९ आदि; प्रज्ञापना १७, ४.४५ पृ० ११०४ आदि। चेल्लणा रानी अपने केशों को शराब से भिगोकर कारागृह में राजा श्रेणिक से मिलने जाती थी, और वहाँ अपने केशों को धोकर श्रेणिक को उस जल का पान कराती थी, आवश्यकचूर्णी २, पृ० १७१। मद्यों के प्रकार के लिये देखिये सुश्रुत १.४५. १७२-१९६।

६. विपाकसूत्र २, पृ० १४; ३, पृ० २२।

अनेक प्रकार के मत्स्य,[1] बकरे, मेंढ़े, सूअर, हरिण, तीतर, मुर्गे, मोर आदि पशु-पक्षियों को मारकर मंगवाते, उनके छोटे-बड़े और गोल टुकड़े करते, मट्ठे, आंवले, मृद्वीका, दाडिम[2] आदि में भूनकर तैयार करते, उनसे मत्स्यरस, तित्तिररस, मयूररस आदि बनाते और फिर भोजन-मंडप में प्रतीक्षा करते हुए राजा को परोसते।[3] जहाँ माँस सुखाया जाता उस स्थान को मंसखल कहा गया है।[4]

सूर्यप्रज्ञप्ति में उल्लेख है कि अमुक नक्षत्र में चासय, मृग, चीता (दीवग), मेंढक, नखवाले जन्तु, वराह, तीतर और जलचर जीवों का मांस भक्षण करने से सिद्धि प्राप्त होती है।[5] इसके सिवाय, संखडियों (भोज) का उल्लेख मिलता है जहाँ जीवों को मारकर उनके मांस को अतिथियों को परोसा जाता था। इस प्रकार की संखड़ियों में जैन भिक्षु या भिक्षुणी को सम्मिलित होने का निषेध था।[6]

उत्तराध्ययनसूत्र में अरिष्टनेमि की कथा आती है। जब वे अपनी बारात लेकर राजा उग्रसेन की कन्या राजीमती को ब्याहने जा रहे थे तो रास्ते में पशुओं का करुण शब्द सुनकर उन्होंने अपने सारथि से इस सम्बन्ध में प्रश्न किया। सारथि ने उत्तर दिया, महाराज! आपके बरातियों को खिलाने के लिये मारे जाने वाले पशुओं का यह चीत्कार है। यह सुनकर अरिष्टनेमि को वैराग्य उत्पन्न हो गया और संसार का त्याग कर उन्होंने श्रमण दीक्षा धारण की।[7] राजगृह के श्रमणोपासक महाशतक की पत्नी रेवती मांस-भक्षण में अत्यन्त आसक्त रहती थी। वह सुरा, मधु, मैरेय, मद्य, सीधु और प्रसन्ना का भक्षण कर प्रसन्न होती, तथा अपने पीहर के गोकुल में से प्रातः-

---

१. मत्स्यों के प्रकारों में खवल्ल, विज्झडिय, हलि, लंभण, पडागाइपडाग आदि का उल्लेख है, वही, ८, पृ० ४६।

२. भूनने की अन्य विधियों में हिमपक्क, सीयपक्क, जम्मपक्क, वेगपक्क, वायुपक्क, मारुयपक्क, काल, हेरंग, महिट्ठ आदि का उल्लेख है, वही।

३. वही। तथा देखिये निशीथभाष्य १५.४८४३ की चूर्णी।

४. निशीथसूत्र ११.८०।

५. ५१, पृ० १५१।

६. आचारांग, २, १.३.२४५।

७. २२.१४ आदि।

काल दो बछड़े मारकर लाने का अपने नौकर को आदेश देती।[1] इससे प्रतीत होता है कि साधारण लोगों में मांस-भक्षण का रिवाज था।

साधारणतया जैन श्रावक या जैनसाधु के लिए मांस-भक्षण का सर्वथा निषेध है। आवश्यकचूर्णी में द्वारका के अरहमित्त श्रावक के पुत्र जिनदत्त की कथा आती है। एक बार, वह किसी भयंकर रोग से पीड़ित हुआ। वैद्यों ने मांस-भक्षण बताया, लेकिन वह अपने व्रत पर दृढ़ रहा। उसने कहा, जलती हुई आग में मर जाना अच्छा है, लेकिन चिरसंचित व्रत का भंग करना ठीक नहीं। मृत्यु श्रेष्ठ है, लेकिन जीवन में शील का स्खलन करना अच्छा नहीं।[2] बौद्धों और हस्तितापसों के साथ शास्त्रार्थ होते समय भी आर्द्रककुमार साधु ने मांस-भक्षण की निन्दा ही की है।[3] इससे सिद्ध होता है कि जैनधर्म में मांस-भक्षण निषिद्ध था।

लेकिन कभी कुछ संकटकालीन परिस्थितियाँ ऐसी भी आ जाती जब कि विवश होकर मांस-भक्षण के लिए बाध्य होना पड़ता। राजगृह के धन्य सार्थवाह का उल्लेख किया जा चुका है। अपने पाँचों पुत्रों को साथ लेकर उसने जंगल में भागते हुए चिलात चोर का पीछा किया। सब लोग भागते-भागते थक गये, और क्षुधा-तृषा से पीड़ित हो उठे। उस समय लाचार होकर मृत सुंसुमा के मांस का भक्षण कर और उसके रक्त का पान कर उन्होंने अपनी क्षुधा और तृषा शान्त की।[4] इसी तरह की कथा बृहत्कल्पभाष्य में आती है। चार ब्राह्मण किसी वेदाध्ययन पारगामी ब्राह्मण के साथ परदेश की यात्रा कर रहे थे। मार्ग में इन्हें बहुत भूख-प्यास लगी। इनके साथ एक कुत्ता भी था। वेदपारगामी ब्राह्मण ने कहा कि हमें इस कुत्ते को मारकर खा लेना चाहिए, आपत्तिकाल में यह वेदों का रहस्य है। पहले ब्राह्मण ने यह बात स्वीकार कर ली, दूसरे ने सुनकर अपने कानों पर हाथ रक्खे,

---

१. उवासगदसा ८, पृ० ६१।

२. वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हुताशनं, न चापि भग्नं चिरसंचितं व्रतं।
वरं हि मृत्युः सुविशुद्धकर्मणो न चापि शीलस्खलितस्य जीवितं।
—आवश्यकचूर्णी २, पृ० २०२।

३. सूत्रकृतांग २, ६.३७–४२।

४. ज्ञातृधर्मकथा १८, पृ० २११।

तीसरा कहने लगा कि यह तो अकृत्य है लेकिन क्या किया जाये, चौथे ने केवल कुत्ते के मांस का ही भक्षण नहीं किया, बल्कि वह गाय और गधे आदि के मांस का भी भक्षण करने लगा। अटवी पार करने के पश्चात् सब को प्रायश्चित्त दिया गया। पहले ब्राह्मण को थोड़ा सा प्रायश्चित देकर शुद्ध कर लिया। दूसरा भूख से मर गया। तीसरे के सिर पर कुत्ते का चर्म रखकर उसे चतुर्वेदी ब्राह्मणों के पादवंदन के लिए आदेश दिया गया। चौथा मातग चांडालों में मिल गया।[1]

जैन साधु और मांसभक्षण

जैन साधुओं के सम्बन्ध में भी लगभग यही बात हुई। साधुओं को दिये जाने वाले भिक्षापिंड में दूध, दही, मक्खन, घी, गुड़, तिल और मधु आदि के साथ मद्य और मांस का भी उल्लेख मिलता है। इस उल्लेख के संबंध में टीकाकार ने लिखा है कि मद्यमांस की व्याख्या छेदसूत्र के अभिप्राय से करनी चाहिए, अथवा हो सकता है कि कोई अत्यन्त लोलुपी साधु प्रमाद के कारण मद्य-मांस का भक्षण करना चाहे, अतएव भिक्षापिंड में इन्हें भी सम्मिलित किया गया है।[2]

मांस या मत्स्य को पकता हुआ देखकर साधु के लिए उसकी याचना न करने का विधान है लेकिन यदि वह किसी रोग आदि से आक्रान्त हो तो यह नियम लागू नहीं होता। ऐसी हालत में यदि कोई उसके भिक्षापात्र में बहुत हड्डी वाला मांस (बहु अट्ठिय पुग्गल) डाल दे तो उससे कहना चाहिए कि यदि यही देना तुम्हें इष्ट है तो पुद्गल (मांस) ही दो, अस्थि नहीं। यह कहने पर भी यदि वह भिक्षान्न जबर्दस्ती पात्र में डाल ही दे तो भिक्षा को एकान्त में ले जाकर, मांस और मत्स्य का भक्षण कर अस्थि और कंटक को अलग कर दे। इस सम्बन्ध में पुनः टीकाकार का कथन है कि यह विधान किसी अच्छे वैद्य के उपदेश से लूता आदि रोग के शान्त करने के लिए किया हुआ ही समझना चाहिए।[3] चोरपल्लि अथवा शून्य ग्राम में से होकर जाते हुए साधुओं के लिए भी मत्स्य-मांस का विधान संभव

---

१. १.१०१३–१६; निशीथभाष्य १५.४८७४ आदि।
२. आचारांगसूत्र २, ११.४.२४७ टीका।
३. आचारांगटीका, वही; तथा २, १.९.२७४।

कहा गया है।[1] इसके अतिरिक्त, कतिपय देशों में मत्स्य और मांस-भक्षण का रिवाज था। उदाहरण के लिए, सिंधु-देश में लोग मांस से निर्वाह करते थे, तथा आमिष-भोजी वहाँ बुरे नहीं समझे जाते थे। ऐसी हालत में, देश-काल की अपेक्षा ही उक्त सूत्र का विधान समझा जाना चाहिए।[2] वस्तुतः सामान्यतया जैन भिक्षुओं के लिए मद्य-मांस का निषेध ही बताया गया है।

बुद्ध भगवान् ने त्रिकोटि-शुद्ध मांस-भक्षण का विधान किया है, अर्थात् जिस देखा न हो, (अदृष्ट) जिसके सम्बन्ध में सुना न हो (अश्रुत) और जिसके बारे में शंका न हो (अपरिशंकित)-ऐसे मांस का भक्षण किया जा सकता है।[3] तात्पर्य यह है कि उन दिनों मांस-भक्षण के सम्बन्ध में इतने कठोर विधान नहीं थे। रोग से पीड़ित होने पर या दुर्भिक्ष से आक्रान्त होने पर या कोई अनिवार्य उपसर्ग आदि उपस्थित हो जाने पर, धर्मसंकट जान, श्रमण भिक्षु, शरीर त्याग करने की अपेक्षा, मांस-भक्षण कर, संयम-निर्वाह करने को श्रेयस्कर समझते थे। अवश्य ही ऐसा करने के कारण वे प्रायश्चित्त के भागी होते थे।

भगवान् महावीर और मंखलिपुत्र गोशाल की कथा का उल्लेख किया जा चुका है। गोशाल ने जब महावीर के ऊपर तेजोलेश्या छोड़ी तो पित्त-ज्वर के कारण उन्हें खून के दस्त होने लगे। यह देख कर सिंह अनगार को बहुत दुख हुआ। महावीर ने उसे मेंढिय-ग्रामवासी रेवती के घर भेजा और आदेश दिया—"रेवती ने जो दो कपोत तैयार कर रक्खे हैं, उन्हें मैं नहीं चाहता, बल्कि जो परसों के दिन तैयार किया हुआ अन्य मार्जारकृत कुक्कुटमांस रक्खा है, उसे ले आओ।" इसे भक्षण कर महावीर का रोग शान्त हुआ।[4]

---

१. बृहत्कल्पभाष्य २९०६–११; निशीथचूर्णी, पीठिका पृ० १४९।

२. बृहत्कल्पभाष्य १. १२१९।

३. देखिये महावग्ग ६.१९,३५, पृ० २५३; सुत्तनिपात, आमगंधसुत्त, २.२; प्रोफेसर धर्मानन्द कोसांबी, पुरातत्त्व ३.४, पृ० ३२१ आदि।

४. दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया तेहिं नो अट्ठो, अत्थि से अन्ने पारियासिए मज्जारकडए कुक्कुडमंसए तमाहराहि। भगवतीसूत्र में इसकी

वस्त्रों के प्रकार

भोजन के पश्चात् जीवन का आवश्यक अंग है वस्त्र। सूती कपड़े पहनने का सर्व-साधारण में रिवाज था। लोग सुन्दर वस्त्र, गन्ध, माल्य और अलंकार धारण करते थे।[1] सभा में जय प्राप्त करने के लिये शुक्ल वस्त्रों का धारण करना आवश्यक कहा है।[2] चार प्रकार के वस्त्रों का यहाँ उल्लेख है :—वस्त्र जो प्रतिदिन पहनने के काम में आते हैं, जो स्नान के पश्चात् पहने जाते हैं, जो उत्सव, मेले आदि के समय पहने जाते हैं और जो राजा-महाराजा आदि से भेंट करने के समय धारण किये जाते हैं।[3]

टीका करते हुए लिखा है—'इत्यादेः श्रूयमाणमेवार्थं केचिन्मन्यंते (कुछ लोग श्रूयमाण अर्थ अर्थात् मांस-परक अर्थ को ही स्वीकार करते हैं)। अन्ये त्वाहुः—कापोतकः पक्षिविशेषस्तद्वद् ये फले वर्णसाधर्म्यात्ते कपोते–कूष्मांडे ह्रस्वे कपोते कपोतके, ते च शरीरे वनस्पतिजीवदेहत्वात् कपोतकशरीरे, अथवा कपोतशरीरे इव धूसरवर्णसाधर्म्यादेव कपोतशरीरे कूष्मांडकफले एव ते उपसंस्कृते–संस्कृते (कुछ का कथन है कि कपोत का अर्थ यहाँ कूष्मांड–कुम्हड़ा करना चाहिए)। 'तेहिं' नो अट्ठो' त्ति बहु पापत्वात्। 'पारिआसिये' त्ति पारिवासितं ह्यस्तनमित्यर्थः। 'मज्जारकडए' इत्यादेरपि श्रूयमाणमेवार्थं मन्यन्ते (मार्जारकृत का भी कुछ लोग प्रचलित अर्थ ही स्वीकार करते हैं)। अन्ये त्वाहुः—मार्जारो वायुविशेषः तदुपशमनाय कृतं संस्कृतं मार्जारकृतं (कुछ का कथन है कि मार्जार कोई वायु विशेष है, उसके उपशमन के लिए जो तैयार किया गया हो वह 'मार्जारकृत' है)। अपरे त्वाहुः—मार्जारो विरालिकाभिधानो वनस्पतिविशेषस्तेन कृतं—भावितं यत्तत्तथा। किं तत्? इत्याह कुर्कुटमांसं बीजपूरकं कटाहम् (दूसरों के अनुसार मार्जार का अर्थ है विरालिका नाम की वनस्पति, उससे भावित बीजपूर यानी बिजौरा)। 'आहराहि' त्ति निरवद्यत्वात्, व्याख्याप्रज्ञप्ति १५, पृ० ६६२–अ। तथा देखिए रतिलाल एम० शाह, भगवान् महावीर अने मांसाहार, पाटण, १६५६; मुनि न्यायविजयजी, भगवान् महावीरनुं औषधग्रहण, पाटण, १६५६। बुद्ध भगवान् 'सूकरमद्दव' का भक्षण कर भयंकर रोग से पीड़ित हो कुशीनारा के लिये विहार कर गये, देखिये दीघनिकाय २, ३, पृ० ६८–६।

१. कल्पसूत्र ४. ८२।

२. बृहत्कल्पभाष्य ५. ६०३५।

३. वही, पीठिका, ६४४।

ऐशो-आराम से रहने के लिए बढ़िया वस्त्रों की आवश्यकता होती थी। आचरांग में वस्त्रों की प्राचीन सूची दी हुई है[1]। जंगिय अथवा जांघिक (ऊन से बने कम्बल आदि), भंगिय,[2] साणिय (सन से बने हुए), पोत्तग[3] (ताड़ आदि के पत्रों से बने हुए), खोमिय[4] (कपास के बने) और तूलकड[5] नामक वस्त्रों का यहाँ उल्लेख मिलता है। विधान है कि जैन भिक्षु अथवा भिक्षुणी जरूरत पड़ने पर इन वस्त्रों को माँग सकते हैं।

निम्नलिखित वस्त्रों की गणना बहुमूल्य वस्त्रों में की जाती थी, और जैन भिक्षुओं को उनके धारण करने का निषेध था :—आईणग[6] (अजिन; पशुओं की खाल से बने हुए वस्त्र), सहिण (सूक्ष्म; बारीक बने हुए वस्त्र), सहिणकल्लाण (सूक्ष्मकल्याण; बारीक और सुन्दर वस्त्र), आय[7] (आज; बकरे के बालों के वस्त्र),

---

१. २, ५. १. ३६४, ३६८, तथा मिलिन्दप्रश्न, पृ० २६७।

२. भंगिय का उल्लेख मूलसर्वास्तिवाद के विनयवस्तु में भी मिलता है, पृ० ६२। यह वस्त्र भांग वृक्ष के तंतुओं से बनाया जाता था; अभी भी उत्तर प्रदेश के कुमाऊँ जिले में इसका प्रचार है और इसे भांगेला नाम से कहा जाता है, डाक्टर मोतीचन्द, भारती विद्या, १, भाग १, पृ० ४१।

३. पोतमेव पोतकं कार्पासिकं, बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति, २. ३६६०।

४. महावग्ग ८. ६. १४ पृ० २६८ में खोम, कप्पासिक, कोसेय्य, कंबल, साण और भंग नामके छह चीवरों का उल्लेख है। देखिए गिरजाप्रसन्न मजूमदार का लेख, इण्डियन कल्चर, १, १-४, पृ० १९६, आदि।

५. बृहत्कल्पसूत्र २. २४; तथा स्थानांग, ५. ४४६ में तूलकड के स्थान पर तिरीडपट्ट का उल्लेख है, जो तिरीड वृक्ष की छाल से बनाया जाता था। तथा देखिए मूलसर्वास्तिवाद का विनयवस्तु, पृ० ६४; । महावग्ग २ चम्मक्खन्धक, तीसरा प्रकरण। मोनियर विलियम्स ने अपने कोश में तिरीट का अर्थ शिरोवस्त्र किया है।

६. देखिए महावग्ग ५. १०. २१ पृ० २११। उन दिनों शेर, चीता, तेन्दुआ, गाय और हरिण की खाल के वस्त्र बनाये जाते थे।

७. निशीथसूत्र ७. १२ की चूर्णी में कहा है कि कोंडलि देश में बकरों के खुरों में लगी हुई शैवाल से वस्त्र बनाये जाते थे। लेकिन इस कथन का कोई प्रमाण नहीं मिला।

काय[1] (नीली कपास के बने वस्त्र), खोमिय (क्षौमिक; कपास के बने वस्त्र), दुगुल्ल[2] (दुकूल; दुकूल पौधे के तन्तुओं से बने वस्त्र), पट्ट[3] (पट्ट के तन्तुओं से बने वस्त्र), मलय, पतुन्न[4] (पत्रोर्ण; वृक्ष की छाल के तन्तु से निष्पन्न), अंसुय (अंशुक), चीणांसुय (चीनांशुक), देसराग (रंगीन वस्त्र), अमिल[5] (साफ चिट्टे वस्त्र), गज्जफल[6] (पहनते समय कड़-कड़ शब्द करने वाला वस्त्र), फालिय (स्फटिक; स्फटिक

---

१. निशीथचूर्णी ७, पृ० ३९९ के अनुसार काक देश में होनेवाले काकजंघा नाम के पौधे के तन्तुओं से बनाये जाते थे। लेकिन यह बात बुद्धिग्राह्य नहीं जान पड़ती।

२. लेकिन आचारांग के टीकाकार के अनुसार, गौड़ देश में उत्पन्न होने वाली एक खास तरह की कपास से ये वस्त्र बनते थे।

३. अनुयोगद्वार सूत्र (३७) में कीटज वस्त्रों के पांच भेद बताये गये हैं :—पट्ट, मलय, अंसुग, चीनांसुय और किमिराग (सुवरण, बृहत्कल्पभाष्य २.३६६२ में)। टीकाकार के अनुसार, किसी जंगल में संचित किये हुए मांस के चारों ओर एकत्रित कीड़ों से पट्ट वस्त्र बनाये जाते हैं। मलय वस्त्र मलय देश में पैदा होता है। अंशुक चीन के बाहर, तथा चीनांशुक चीन में पैदा होता है। बृहत्कल्पभाष्य के टीकाकार का कहना है कि अंशुक एक प्रकार का रेशम है जो कोमल तन्तुओं से बनाया जाता है, जब कि चीनांशुक कोश्रा रेशम या चीनी रेशम से बनता है। सुवर्ण सुनहरे रंग का एक धागा होता है जो खास प्रकार के रेशमी कीड़ों से तैयार होता है। रेशम को महाभारत में कीटज कहा गया है, यह चीन और बाह्लीक से आता था। मैक्रिण्डल के अनुसार, कच्चा रेशम एशिया के भीतरी हिस्सों में कोस नाम के स्थान में तैयार किया जाता था। तथा देखिये भगवतीआराधना ५९२ की आशाधर की टीका। कृमिराग के लिए देखिये डाक्टर ए० एन० उपाध्ये, बृहत्कथाकोष की प्रस्तावना, पृ० ८८।

४. पत्रोर्ण का उल्लेख महाभारत, २, ७८.५४ में है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र २.११.२९. ११२ के अनुसार यह मगध, पुण्ड्रक तथा सुवर्णकुड्यक इन तीन देशों में उत्पन्न होता था।

५. आचारांग के टीकाकार शीलांक ने अमिल का अर्थ ऊँट किया है!

६. परिभुज्जमाणा फडकडेंति, निशीथचूर्णी, वही।

के समान स्वच्छ वस्त्र), कोयव[1] (कोतव; रुएँदार कम्बल), कम्बल (कम्बल) और पावार (प्रावरण; लबादा) वस्त्रों का उल्लेख किया गया है।

इसके अतिरिक्त, उद्द[2] (उद्र; सिंधु देश में पैदा होने वाले उद्र नामक मत्स्य के चर्म से निष्पन्न), पेस[3] (सिंधु देश में पैदा होने वाले पशु विशेष के चर्म से निष्पन्न), पेसल (पेशल; जिस पर पेस चर्म के बेलबूटे कढ़े हों), कण्हमिगाइण (कृष्णमृगाजिन; कृष्ण मृग के चर्म से निष्पन्न), नीलमिगाजिन (नीलमृगाजिन; नील मृग के चर्म से निष्पन्न), गोरमिगाजिन (गौरमृगाजिन; गौर मृग के चर्म से निष्पन्न), कनक (सोने को पिघलाकर उसके रस में रंगे हुए सूत्र से निष्पन्न),[4] कनककांत (जिसकी किनारियाँ सोने की भाँति चमकती हों), कनकपट्ट[5] (जिसकी किनारियाँ सोने की हों), कनकखचित[6] (सुनहले धागे के बेलबूटों वाला वस्त्र), कनकफुस्त[7] (जिसपर सुनहले फूल कढ़े हों), वग्घ (व्याघ्र-चर्म से निष्पन्न), विवग्घ (चीते के चर्म से निष्पन्न), आभरण[8] (पत्र आदि एक ही प्रकार के नमूनों से

---

१. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति २.३६६२; अनुयोगद्वार सूत्र ३७ की टीका। टीकाकारों के अनुसार यह वस्त्र बकरे अथवा चूहे के बालों से बनाया जाता था। देखिये महावग्ग ८.८.१२ पृ० २६८।

२. तैत्तिरीयसंहिता में उद्र का उल्लेख है, यह एक प्रकार का जल-बिलाव होता था, वैदिक इन्डैक्स, २, पृ० ८९; तथा देखिये कौटिल्य, अर्थशास्त्र २.११ २६.६६ पृ० १६६।

३. वैदिक युग में, पेस के सुनहले बेलबूटों वाला कलात्मक वस्त्र होता था। पेशकारी स्त्रियाँ इसे बनाया करती थीं, वैदिक इन्डैक्स २, पृ० २२।

४. सुवण्णे दुते सुत्तं रज्जति तेण जं कतं, निशीथचूर्णी, वही।

५. कणगेन जस्स पट्टा कता, वही।

६. कणगसुत्तेण फुल्लिया जस्स पाडिया, वही।

७. कणगेण जस्स फुल्लिताउ दिण्णाउ। अहवा कद्दमेण उद्दिलियाउ, वही। अंग्रेजी में इसे 'स्टेन्सल-प्रिंटिंग' कहते हैं, इसको छापने की विधि के लिए देखिए सर जार्ज वाट, इंडियन आर्ट ऐट देहली, १९०३, पृ० २६७ आदि।

८. पत्रिकादि एकागारेण मंडिता, निशीथचूर्णी, वही।

निष्पन्न), आभरणविचित्र[1] (पत्र, चन्द्रलेखा, स्वस्तिक, घंटिका और मौक्तिक आदि अनेक नमूनों से निष्पन्न) आदि वस्त्रों का उल्लेख जैनसूत्रों में उपलब्ध होता है।[2]

व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में कप्पासिय (कार्पासिक), पट्ट, और दुगुल्ल (दुकूल) के अतिरिक्त, वडग नाम के वस्त्र का भी उल्लेख है। टीकाकार ने इसका अर्थ टसर किया है।[3] अनुयोगद्वार सूत्र में पांच प्रकार के वस्त्रों के नाम गिनाये गये हैं :—अंडज,[4] बोंडय (कपास की बोंडी से निष्पन्न), कीटज (कीड़ों से निष्पन्न), वालय (बालों से निष्पन्न) और वागय (वृक्षों की छाल से निष्पन्न)।[5]

दूष्य—एक कीमती वस्त्र

दूस अथवा दूष्य कीमती वस्त्र होता था। देवदूस (देवदूष्य; देवों द्वारा दिया हुआ वस्त्र) का उल्लेख मिलता है। भगवान् महावीर ने जब श्रमण-दीक्षा ग्रहण की तो वे इस वस्त्र को धारण किये हुए थे। इस वस्त्र का मूल्य एक लाख (सयसहस्स) कूता गया था।[6] विजय-दूष्य एक अन्य प्रकार का वस्त्र था जो शंख, कुंद, जलधारा और समुद्रफेन के समान श्वेत वर्ण का होता था।[7]

वृहत्कल्पभाष्य में पाँच प्रकार के दूष्य वस्त्र बताये गये हैं :—कोयव[8] (रूई का वस्त्र), पावारग[9] प्रावारक; कम्बल), दाढ़ि-

---

१. पत्रिकचंद्रलेहिकस्वस्तिकघंटिकमौक्तिकमादीहिं मंडिता, वही।

२. आचारांगसूत्र, वही; निशीथचूर्णी, वही।

३. ११.११, पृ० ५४७।

४. सम्भवतः अण्डी नामक वस्त्र; टीकाकारों ने इसका अर्थ अण्डाज्जातं (अण्डे से उत्पन्न) किया है।

५. सूत्र ३७।

६. आवश्यकचूर्णी, पृ० २६८; महावग्ग (८. ८.१२ पृ० २९८) में सिवेय्यक वस्त्र का उल्लेख है। यह वस्त्र शिवि देश से आता था और एक लाख में मिलता था। मज्झिमनिकाय २, २ पृ० १६ में दुस्सयुग का नाम आता है।

७. राजप्रश्नीय ४३, पृ० १००।

८. रूतपूरितः पटः, लोके 'मारिकी' इति प्रसिद्धा।

९. नेपालादिरल्लकरोमा बृहत्कंबलः।

के समान स्वच्छ वस्त्र), कोयव[1] (कोतव; रुएँदार कम्बल), कम्बल (कम्बल) और पावार (प्रावरण; लबादा) वस्त्रों का उल्लेख किया गया है।

इसके अतिरिक्त, उद्द[2] (उद्र; सिंधु देश में पैदा होने वाले उद्र नामक मत्स्य के चर्म से निष्पन्न), पेस[3] (सिंधु देश में पैदा होने वाले पशु विशेष के चर्म से निष्पन्न), पेसल (पेशल; जिस पर पेस चर्म के बेलबूटे कढ़े हों), कण्हमिगाइण (कृष्णमृगाजिन; कृष्ण मृग के चर्म से निष्पन्न), नीलमिगाजिन (नीलमृगाजिन; नील मृग के चर्म से निष्पन्न), गोरमिगाजिन (गौरमृगाजिन; गौर मृग के चर्म से निष्पन्न), कनक (सोने को पिघलाकर उसके रस में रंगे हुए सूत से निष्पन्न), कनककांत (जिसकी किनारियां सोने की भांति चमकती हों), कनकपट्ट[4] (जिसकी किनारियाँ सोने की हों), कनकखचित[5] (सुनहले धागे के बेलबूटों वाला वस्त्र), कनकस्पृष्ट[6] (जिसपर सुनहले फूल कढ़े हों), वग्घ (व्याघ्र-चर्म से निष्पन्न), विवग्घ (चीते के चर्म से निष्पन्न), आभरण[7] (पत्र आदि एक ही प्रकार के नमूनों से

---

१. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति २.३६६२; अनुयोगद्वार सूत्र ३७ की टीका। टीकाकारों के अनुसार यह वस्त्र बकरे अथवा चूहे के बालों से बनाया जाता था। देखिये महावग्ग ८.८.१२ पृ० २९८।

२. तैत्तिरीयसंहिता में उद्र का उल्लेख है, यह एक प्रकार का जल-बिलाव होता था, वैदिक इन्डैक्स, २, पृ० ८९; तथा देखिये कौटिल्य, अर्थशास्त्र २.११ २९.६६ पृ० १५९।

३. वैदिक युग में, पेस के सुनहले बेलबूटों वाला कलात्मक वस्त्र होता था। पेशकारी स्त्रियाँ इसे बनाया करती थीं, वैदिक इन्डैक्स २, पृ० २२।

४. सुवण्णे दुते सुत्तं रज्जति तेण जं वतं, निशीथचूर्णी, वही।

५. कणगेन कसा पट्टा कया, वही।

६. कणगसुत्तेण फुल्लिया जस्स पाडिया, वही।

७. कणगेण जस्स फुल्लियाउ दिण्णाउ। अहवा कणगेण उट्टुंकियाणि, वही। अंग्रेजी में इसे 'टिनसल-प्रिंटिंग' कहते हैं, इसकी छापने की विधि के लिए देखिए सर चार्ल्स वाट, इंडियन आर्ट ऐट दिल्ली, १९०३, पृ० २६० आदि।

८. वग्घादि एकाभरणेन मंडिता, निशीथचूर्णी, वही।

निष्पन्न), आभरणविचित्र[1] (पत्र, चन्द्रलेखा, स्वस्तिक, घंटिका और मौक्तिक आदि अनेक नमूनों से निष्पन्न) आदि वस्त्रों का उल्लेख जैनसूत्रों में उपलब्ध होता है।[2]

व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में कप्पासिय (कार्पासिक), पट्ट, और दुगुल्ल (दुकूल) के अतिरिक्त, वडग नाम के वस्त्र का भी उल्लेख है। टीकाकार ने इसका अर्थ टसर किया है।[3] अनुयोगद्वार सूत्र में पांच प्रकार के वस्त्रों के नाम गिनाये गये हैं :—अंडज,[4] बोंडय (कपास की बोंडी से निष्पन्न), कीटज (कीड़ों से निष्पन्न), वालय (बालों से निष्पन्न) और वागय (वृक्षों की छाल से निष्पन्न)।[5]

दूष्य—एक कीमती वस्त्र

दूस अथवा दूष्य कीमती वस्त्र होता था। देवदूस (देवदूष्य; देवों द्वारा दिया हुआ वस्त्र) का उल्लेख मिलता है। भगवान् महावीर ने जब श्रमण-दीक्षा ग्रहण की तो वे इस वस्त्र को धारण किये हुए थे। इस वस्त्र का मूल्य एक लाख (सयसहस्स) कूता गया था।[6] विजय-दूष्य एक अन्य प्रकार का वस्त्र था जो शंख, कुंद, जलधारा और समुद्रफेन के समान श्वेत वर्ण का होता था।[7]

बृहत्कल्पभाष्य में पाँच प्रकार के दूष्य वस्त्र बताये गये हैं :—कोयव[8] (रूई का वस्त्र), पावारग[9] प्रावारक; कम्बल), दाढ़ि-

---

१. पत्तिकचंदलेहिकस्वस्तिकघंटिकमौक्तिकमादीहिं मंडिता, वही।

२. आचारांगसूत्र, वही; निशीथचूर्णी, वही।

३. ११.११, पृ० ५४७।

४. सम्भवतः अण्डी नामक वस्त्र; टीकाकारों ने इसका अर्थ अण्डाज्जातं (अण्डे से उत्पन्न) किया है।

५. सूत्र ३७।

६. आवश्यकचूर्णी, पृ० २६८; महावग्ग (८. ८.१२ पृ० २६८) में सिवेय्यक वस्त्र का उल्लेख है। यह वस्त्र शिवि देश से आता था और एक लाख में मिलता था। मज्झिमनिकाय २, २ पृ० १६ में दुस्सयुग का नाम आता है।

७. राजप्रश्नीय ४३, पृ० १००।

८. रूतपूरितः पटः, लोके 'माणिकी' इति प्रसिद्धा।

९. नेपालादिरूल्वणरोमा बृहत्कंबलः।

आलि[1] (दांतों की पंक्ति के समान श्वेत वस्त्र), पूरिका[2] (टाट अथवा हाथीकी झूल आदि जो मोटे कपड़े से बुनी गयी हो), और विरलिका[3] (दुहरे सूत से बुना हुआ वस्त्र, जैसे दुतई आदि)[4]। स्थानांग सूत्र में पूरिका और विरलिका के स्थान पर पल्हवि अथवा पल्लवि (हाथी की झूल) और नवयअ (ऊन की चादर) का उल्लेख है।[5] दूष्यों की दूसरी सूची में उपधान (अथवा बिब्बोयण; पालि में बिम्बोहन; हंस के रोम आदि का बना तकिया), तूली[6] (पीनी हुई रूई अथवा आक की रूई के गद्दे; रजाई आदि), आलिंगनिका (पुरुषप्रमाण होती है, जो सोते समय जानु-कोप्पर आदि में लगायी जाती है), गंडोपधान (गालों पर रखने के तकिये), और मसूरक[7] (चर्म-वस्त्र से बनाये हुए गोल रूई के गद्दे) की गणना की गयी है।[8]

अन्य वस्त्र

तत्पश्चात् शयनीय (सयणिज्ज), चादर (रयत्ताण = रजस्त्राण), गद्दे, तोशक आदि का उल्लेख है। भगवान महावीर की माता त्रिशला की शय्या मनुष्यप्रमाण (सालिंगणवट्टिओ) गद्दों से शोभित थी, उसके दोनों ओर तकिये (बिब्बोयण) लगे थे, दोनों ओर से यह ऊपर को उठी थी और मध्य भाग में पोली थी। यह अत्यन्त कोमल थी, क्षौम और दुकूल वस्त्र से आच्छादित थी, बेलबूटे निकली हुई रजस्त्राण

---

१. यथा मुखमध्ये धवलितोभयदंतपंक्तिरूपा दन्तालिः—दन्तावलीनिर्मितैरेवं धौतपोतिकाऽपि द्विधाऽध्वस्त्रपङ्क्तिविधानेन दन्तमाला दन्तालिरिव प्रतिभाति।

२. पूर्यते स्थौल्येन तन्तुभिः पूर्यामयमीति पूरिका-स्थूलतन्तुमयपटात्मिका यथा भाण्डपोतिका त्रियन्ते हस्तावरणादीनि वा।

३. द्विसरसूत्रपटी।

४. ३. ३८२३ आदि, तथा टीका।

५. ४. ३१० टीका, पृ० २२२।

६. महावग्ग ५.६. २०, पृ० २११ में भी उल्लेख। उच्चासन और महासयन के लिये देखिये अंगुत्तरनिकाय १. ३. पृ० १६८।

७. महावग्ग १, (१. ४. पृ० ३१६) और चुल्लवग्ग (६. १. ४, पृ० २४१) में विविध तकियों आदि का उल्लेख है।

८. बृहत्कल्पभाष्य, ३. ३८२४; निशीथभाष्य ११. ४००१–४००२।

इस पर बिछी थी, तथा लोम-चर्म, कपास, तन्तु और नवनीत के समान कोमल रक्तांशुक से यह ढंकी हुई थी।[1]

सुकुमार, कोमल, गन्धप्रधान कषायरक्त शाटिकाओं (अंगोछे) के द्वारा स्नान करने के पश्चात् शरीर पोंछा जाता था।[2] यवनिका (जवणिया) का वर्णन किया गया है। सुप्रसिद्ध नगरों में तैयार किये हुए रत्न तथा कीमती हीरे-जवाहरातों से यह सज्जित थी, इसके कोमल वस्त्र पर सैकड़ों डिज़ाइन बने हुए थे, तथा वृक, वृषभ घोड़े, नर, पक्षी, सर्प, किन्नर, शरभ, चमरी गाय, हस्ती, वृक्ष और लता से वे शोभित थे।[3]

चेलचिलमिणि[4] दूसरी प्रकार की यवनिका (कनात) थी जो जैन साधुओं के उपयोग में आती थी।[5] यह पांच प्रकार की बतायी गयी है :—सूत की बनी हुई (सुत्तमई), रस्सी की बनी हुई (रज्जुमई), वृक्षों की छाल की बनी हुई (वागमई), डण्डों की बनी हुई (दंडमई) और बांस की बनी हुई (कडगमई)। यह कनात पाँच हाथ लम्बी और तीन हाथ चौड़ी होती थी।[6]

जैसे लाट देश में कच्छ (कछोटा) पहनने का रिवाज था, वैसे ही महाराष्ट्र की कन्याएँ भोयड़ा पहनती थीं। इसे वे विवाह होने के पश्चात् गर्भवती होने तक धारण किये रहती थीं, तत्पश्चात् कोई उत्सव मनाया जाता जिसमें सगे-सम्बन्धियों को निमंत्रित किया जाता, और फिर भोयड़ा निकाल दिया जाता।[7]

लोग नूतन (अहय) और बहुमूल्य (सुमहग्गह=सुमहार्घक) वस्त्र पहनते।[8] भगवान् महावीर के वस्त्र (पट्टयुगल) इतने बारीक और कोमल थे कि वे नाक के श्वास से उड़ जाते थे। किसी प्रसिद्ध

---

१. कल्पसूत्र ३. ३२; ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० ४।

२. औपपातिकसूत्र ३१, पृ० १२२।

३. कल्पसूत्र ४. ६३।

४. बृहत्कल्पसूत्र १. १८; बौद्धों के चुल्लवग्ग ६. १. पृ० २४३ में इसे चिलिमिका कहा गया है।

५. देखिये निशीथभाष्य १.६५५-५६।

६. बृहत्कल्पभाष्य १.२३७४ आदि; ३.४८०४, ४८११, ४८१५, ४८१७।

७. निशीथचूर्णी पीठिका, पृ० ५२।

८. औपपातिकसूत्र, ३१, पृ० १२२।

कटिप्रमाण होता है। इससे उग्गहणंतग के दोनों छोर ढंक जाते हैं। कटि में इसे बाँधा जाता है और आकार में यह जांघिये की भाँति होता है। भगन्दर और अर्श (बवासीर) इत्यादि से पीड़ित होने पर यह विशेष उपयोगी होता था[1]। ३ अद्धोरुग (उरुकार्ध)—इससे कमर ढँक जाती है तथा यह उग्गहणंतग और पट्ट के ऊपर पहना जाता है। छाती के दोनों ओर कसकर यह बाँध दिया जाता है। ४ चलनिका—घुटनों तक आनेवाला बिना सीया वस्त्र। ५ अब्भिंतर-नियंसिणी—कमर से लगाकर आधी जांघों तक लटका रहने वाला वस्त्र। वस्त्र बदलते समय साध्वियाँ इसका उपयोग करती थीं, जिसमें वस्त्ररहित अवस्था में देखकर लोग परिहास न कर सकें। ६ बहि-नियंसिणी-घुट्टियों तक लटका रहनेवाला वस्त्र। डोरी के द्वारा इसे कटि में बाँधा जाता था।

इसके अलावा, अन्य वस्त्र भी शरीर के ऊपरी भाग में पहने जाते थे :—१ कंचुक—वक्षस्थल को ढंकने वाला बिना सीया वस्त्र, जो कमर के दोनों तरफ कसकर बाँधा जाता है। कापालिक के कंचुक के समान यह अढ़ाई हाथ लम्बा और एक हाथ चौड़ा होता है। २ उक्कच्छिय (औपकक्षिकी)—यह कंचुक के समान ही होता था। यह चौकोर और डेढ़ हाथ का होता था। इससे छाती, दक्षिण पार्श्व और कमर ढंक जाती थी, तथा वाम पार्श्व की ओर इसकी गांठ लगती थी। ३ वेगच्छिय (वैकक्षिकी)—कंचुक और उक्कच्छिय दोनों को ढंकनेवाला वस्त्र। ४ संघाटी—संघाटी चार होती थी। एक दो हाथ की, दो तीन हाथ की और एक चार हाथ की। पहली संघाटी प्रतिश्रय (उपाश्रय) में, दूसरी और तीसरी बाहर जाते समय और चौथी समवसरण में पहनी जाती थी। ५ खंधकरणी—यह चार हाथ लम्बा और चौकोर वस्त्र तेज वायु आदि से रक्षा करने के लिए पहना जाता था। इससे कंधा और सारा शरीर ढंक जाता था। इसे किसी रूपवती साध्वी की पीठ पर रखकर, उसे बौनी बनाकर दिखाया जा सकता था।[2]

---

१. बृहत्कल्पभाष्य ३.४१०२।

२. वही ३.४०८२-९१ तथा टीका; आचारांग २, ५.१.१४५; निशीथभाष्य २.१४००-१४०७। इस सम्बन्ध में सुकुमालिका के हरण तथा गर्दभी आदि के दृष्टांत के लिये देखिये बृहत्कल्पभाष्य ३.४१२१-२८।

जूते

वस्त्रों की भाँति जूतों का उल्लेख भी जैन सूत्रों में मिलता है। बृहत्कल्पभाष्य में जैन साधुओं के लिए उपयोग में आने वाले जूतों का विधान किया गया है। वैसे जैन साधुओं को चर्म रखने का निषेध है, लेकिन अपवाद-मार्ग का अवलम्बन कर, मार्गजन्य कंटक, तथा सर्प और शीत के कष्टों से बचने के लिए, रुग्ण अवस्था में अर्श की व्याधि से पीड़ित होने पर, सुकुमार राजा आदि के निमित्त, पैर में फोड़ा आदि हो जाने पर, आँखें कमजोर होने पर, बाल-साधुओं के निमित्त, तथा अन्य कोई इसी तरह का कारण उपस्थित हो जाने पर, जूते धारण करने का विधान है। तलिय जूतों का उपयोग मार्ग में गमन करते समय, कंटकों से रक्षा करने के लिए किया जाता था। इन जूतों को पहनकर साधु, चोर अथवा जंगली जानवरों से अपनी रक्षा के लिये शीघ्रता से गमन कर सकते थे। सामान्यतया साधुओं को एकतले के जूते (एगपुड) धारण करने का विधान है, लेकिन वे चार तले के जूते भी पहन सकते थे। सकल-कृत्स्न (सकलकसिण) जूते कई प्रकार के होते थे। पुडग (पुटक) अथवा खल्लक[1] जूते सर्दी के दिनों में पहने जाते थे और उनसे बिवाई (विवचि) की रक्षा हो सकती थी। अर्धखल्लक आधे पैर को और समस्तखल्लक सारे पैर को ढंक लेते थे। जो जूता उंगलियों को ढंककर ऊपर से पैरों को ढंक लेता, उसे वग्गुरी कहते थे। पांव की उंगलियों के नखों की रक्षा के लिए कोसग का उपयोग होता था। खपुसा[2] घुटनों तक पहना जाता था। इससे सर्दी, सांप, बर्फ, और कांटों से रक्षा हो सकती थी। अर्धजंघा आधी जंघा को और जंघा समस्त जंघा को ढंकने वाले जूते कहलाते थे। चमड़े की रस्सियों को गोफण कहा जाता था। चमड़े के अन्य उपकरणों में वर्ध्र (टूटे हुए तलिय आदि जूतों को जोड़ने के लिये), कृत्ति (फल आदि को

---

१. खल्लकबंध आदि जूतों का उल्लेख महावग्ग ५.४.१०, पृ० २०५ में मिलता है।

२. यह ईरानियों का 'कान्तिस' अथवा मध्य एशिया का 'कापिस-किपिस' जूता हो सकता है, डाक्टर मोतीचन्द का जनरल ऑव द इण्डियन सोसायटी ऑव द ओरिएण्टल आर्ट, जिल्द १२, १६४४ में लेख।

फैलाने का चमड़ा), सिक्कक (छींका) और कापोतिका (बहंगी) का उल्लेख किया गया है।[1]

घर

जैसे जीवन-रक्षा के लिए भोजन और शरीर-रक्षा के लिए वस्त्र आवश्यक है, वैसे ही वर्षा, सर्दी, गर्मी और आँधी से रक्षा करने के लिए घर भी आवश्यक है। जैन सूत्रों में 'वत्थुविज्जा (वास्तुविद्या = गृह-निर्माण कला) की ७२ कलाओं में गणना की गयी है। घर सामान्यतया ईंट और लकड़ी के बनाये जाते थे। घरों में दरवाजे, खम्भे, देहली और संफल-कुंड रहते थे। इनकी चर्चा आगे चलकर की जायेगी। धनी और समृद्ध लोग आलीशान महलों में निवास करते थे।

आमोद-प्रमोद

लोग प्रायः ऐश-आराम से रहते थे, जैसा कि कहा जा चुका है। वे उबटना मलकर स्नान करते, अनेक देशों से लाये हुए बहुमूल्य सुन्दर वस्त्र और आभूषण धारण करते, सुगन्धित मालाओं से अपने आपको विभूषित करते, भांति-भांति के विशिष्ट व्यंजनों का आस्वादन करते, मद्यपान करते, गोशीर्ष चन्दन, कुंकुम आदि का विलेपन करते, विविध वाद्यों को बजाते, नृत्य करते, नाटक रचाते, सुन्दर गीत गाते, तथा उत्तम गन्ध और रस आदि का उपभोग करते।[2]

प्राचीन काल में केशों को काटने और सजाने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था।[3] बालक का जन्म होने पर चोलोपन (चूड़ा-

---

१. बृहत्कल्पभाष्य १. २८८१ आदि; ३.३८८७ आदि; निशीथभाष्य १.५०८; ११.३४३१-३७।

२. अहं कालगुलिहिं, कप्पानंदारगोयरो मंदि।
काओरसगइदावण, गीए य मज्जोवमे सुसिला ।।—निशीथभाष्य १६.५२०४। तथा देखिए बृहत्कल्पभाष्य १.२५५७। उदान की टीका परमत्थदीपनी, पृ० ७ में कहा है—सुनखा सुमरिता अनेकेहि कामगुणेहि ... ।

३. रामायण और महाभारत के मुण्डनों के लिए देखिए डा० हॉप-किन्स, इण्डो-आर्यन, जिल्द २, पृ० २१० आदि।

पनयन) संस्कार किया जाता था। संसार त्याग कर श्रमण दीक्षा स्वीकार करते समय भी चार अंगुल केशों को काटा जाता था।[1] अलंकारिकसभाओं (सैलून)[2] का उल्लेख मिलता है, जहाँ अनेक नौकर-चाकर श्रमण, ब्राह्मण, अनाथ, रुग्ण और कंगाल पुरुषों की सेवा-सुश्रूषा में लगे रहते थे।[3] हजामत बनाने के कार्य को नखपरिकर्म (णहपरिकम्म) कहा गया है।[4]

लोग सोना, चांदी, हीरे-जवाहरात और आभूषणों का उपयोग करते थे। राजे-महाराजे तथा धनिक पुरुष अपने नौकरों-चाकरों से परिवेष्टित होकर चलते थे। नौकर-चाकर उनके सिर पर कोरंटक के फूलों की माला से सज्जित छत्र धारण किये रहते।[5] जब वे बाहर निकलते पालकी में बैठकर निकलते और बाजे बजते चलते, और उनके पीछे-पीछे जुलूस चलता जिसमें सुन्दर रमणियां चमर डुलाती रहतीं, पंखे से हवा करती रहतीं, और मंगल-घट उनके हाथ में होता।[6] धनिक महलों में निवास करते, अनेक स्त्रियों से विवाह करते, बड़े-बड़े दान देते, वेश्याओं को मनमाना शुल्क प्रदान करते और ठाट-बाट से उत्सव मनाते।

मध्यम-वर्ग के लोग भी आराम का जीवन व्यतीत करते थे। वे लोग दान-धर्म में अपना पैसा खर्च करते तथा धर्म और संघ की भक्ति करते। सबसे दयनीय दशा थी निम्न-वर्ग की। ये लोग बड़ी कठिनाई से द्रव्य का उपार्जन कर पाते और इस कारण इनकी आजीविका मुश्किल से ही चलती। कोदों का भात उन्हें नसीब होता। श्रमजीवी साहूकारों द्वारा शोषित किये जाते, तथा कर्जा न चुका सकने के कारण उन्हें जीवन भर उनकी गुलामी करनी पड़ती।

---

१. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० २६ आदि।

२. परमत्थदीपनी, पृ० ३३३ में अलंकारशास्त्र का उल्लेख है जिसमें बाल काटने के नियम बताये गये हैं।

३. ज्ञातृधर्मकथा १३, पृ० १४३।

४. आवश्यकचूर्णी पृ० ४५८।

५. अन्तःकृद्दशा ३, पृ० १६; औपपातिकसूत्र २७-३३।

६. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० ३० आदि।

फैलाने का चमड़ा), सिक्कक (छींका) और कापोतिका (बहंगी) का उल्लेख किया गया है।[1]

घर

जैसे जीवन-रक्षा के लिए भोजन और शरीर-रक्षा के लिए वस्त्र आवश्यक है, वैसे ही वर्षा, सर्दी, गर्मी और आँधी से रक्षा करने के लिए घर भी आवश्यक है। जैन सूत्रों में वत्थुविज्जा (वास्तुविद्या= गृह-निर्माण कला) की ७२ कलाओं में गणना की गयी है। घर सामान्यतया ईंट और लकड़ी के बनाये जाते थे। घरों में दरवाजे, खम्भे, देहली और संकल-कुंडे रहते थे। इनकी चर्चा आगे चलकर की जायेगी। धनी और समृद्ध लोग आलीशान महलों में निवास करते थे।

आमोद-प्रमोद

लोग प्रायः ऐश-आराम से रहते थे, जैसा कि कहा जा चुका है। वे उबटना मलकर स्नान करते, अनेक देशों से लाये हुए बहुमूल्य सुन्दर वस्त्र और आभूषण धारण करते, सुगन्धित मालाओं से अपने आपको विभूषित करते, भांति-भांति के विशिष्ट व्यंजनों का आस्वादन करते, मद्यपान करते, गोशीर्ष चन्दन, कुंकुम आदि का विलेपन करते, विविध वाद्यों को बजाते, नृत्य करते, नाटक रचाते, सुन्दर गीत गाते, तथा उत्तम गन्ध और रस आदि का उपभोग करते।[2]

प्राचीन काल में केशों को काटने और सजाने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था।[3] बालक का जन्म होने पर चोलोपग (चूलो-

---

१. बृहत्कल्पभाष्य २. २८८३ आदि; ३.३८४७ आदि; निशीथभाष्य १.५०८; ११.३४३१-३७।

२. ण्हाणं आभरणविहिं, वत्थालंकारभोयणे गंधे।
आओज्जणट्टणाडग, गीए य मणोरमे सुणिया ॥—निशीथभाष्य १६.५२०४। तथा देखिए बृहत्कल्पभाष्य १.२५५७। उद्यान की टीका धम्मत्थदीवनी, पृ० ७ में कहा है—सुनहाता सुविलित्ता कप्पितकेसमस्सु आमुत्तमालाभरणा।

३. रामायण और महाभारत के उल्लेखों के लिए देखिए आर० एल० मित्र, इण्डो-आर्यन, जिल्द २, पृ० २१० आदि।

पनयन) संस्कार किया जाता था। संसार त्याग कर श्रमण दीक्षा स्वीकार करते समय भी चार अंगुल केशों को काटा जाता था।[1] अलंकारिकसभाओं (सैलून)[2] का उल्लेख मिलता है, जहाँ अनेक नौकर-चाकर श्रमण, ब्राह्मण, अनाथ, रुग्ण और कंगाल पुरुषों की सेवा-सुश्रूषा में लगे रहते थे।[3] हजामत बनाने के कार्य को नखपरिकर्म (णहपरिकम्म) कहा गया है।[4]

लोग सोना, चांदी, हीरे-जवाहरात और आभूषणों का उपयोग करते थे। राजे-महाराजे तथा धनिक पुरुष अपने नौकरों-चाकरों से परिवेष्टित होकर चलते थे। नौकर-चाकर उनके सिर पर कोरंटक के फूलों की माला से सज्जित छत्र धारण किये रहते।[5] जब वे बाहर निकलते पालकी में बैठकर निकलते और बाजे बजते चलते, और उनके पीछे-पीछे जुलूस चलता जिसमें सुन्दर रमणियां चमर डुलाती रहतीं, पंखे से हवा करती रहतीं, और मंगल-घट उनके हाथ में होता।[6] धनिक महलों में निवास करते, अनेक स्त्रियों से विवाह करते, बड़े-बड़े दान देते, वेश्याओं को मनमाना शुल्क प्रदान करते और ठाट-बाट से उत्सव मनाते।

मध्यम-वर्ग के लोग भी आराम का जीवन व्यतीत करते थे। वे लोग दान-धर्म में अपना पैसा खर्च करते तथा धर्म और संघ की भक्ति करते। सबसे दयनीय दशा थी निम्न-वर्ग की। ये लोग बड़ी कठिनाई से द्रव्य का उपार्जन कर पाते और इस कारण इनकी आजीविका मुश्किल से ही चलती। कोदों का भात उन्हें नसीब होता। श्रमजीवी साहूकारों द्वारा शोषित किये जाते, तथा कर्जा न चुका सकने के कारण उन्हें जीवन भर उनकी गुलामी करनी पड़ती।

---

१. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० २६ आदि।

२. परमत्थदीपनी, पृ० ३३३ में अलंकारशास्त्र का उल्लेख है जिसमें बाल काटने के नियम बताये गये हैं।

३. ज्ञातृधर्मकथा १३, पृ० १४३।

४. आवश्यकचूर्णी पृ० ४५८।

५. अन्तःकृद्दशा ३, पृ० १६; औपपातिकसूत्र २७-३३।

६. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० ३० आदि।

प्रातःकाल होने पर गायें चरने जातीं, फेरीवाले अपने व्यापार के लिये निकल पड़ते, लुहार अपने काम में लग जाते, किसान अपने खेतों में चले जाते, मच्छीमार मछली पकड़ने के लिए रवाना हो जाते, खटीक लाठी लेकर कसाईखाने में पहुँचते, माली अपनी टोकरी लेकर बाग में जाते, राहगीर रास्ता चलने लगते और तेली आदि अपने यंत्रों में तेल पेरने लगते।[1]

---

१. निशीथभाष्य १.५२२।

चौथा खण्ड

सामाजिक व्यवस्था

पहला अध्याय

सामाजिक संगठन

भारतीय सामाजिक सिद्धान्त के अनुसार, जीवन एक लम्बी यात्रा है जो मृत्यु के बाद भी अनन्त और अविचल रहती है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहता है, यद्यपि उसकी अभिरुचियाँ समाज की अभिरुचियों के विरुद्ध नहीं जातीं। किसी व्यक्ति विशेष द्वारा अपनाया हुआ मार्ग पृथक् हो सकता है, लेकिन सबका उद्देश्य एक ही है—"अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख।"

वर्ण और जाति

वर्ण-व्यवस्था प्राचीन भारतीय समाज का मेरुदण्ड था।

जैन सूत्रों में आर्य और अनार्य जातियों में भेद किया गया है। वैदिक साहित्य के अनुसार, दोनों जातियों में मुख्य शारीरिक भेद वर्ण का था। आर्य विजेता गौरवर्ण के थे, जब कि अनार्य उनके अधीन और कृष्णवर्ण के थे।[1]

जैन सूत्रों में आर्यों की पाँच जातियाँ बतायी गयी हैं:—क्षेत्र-आर्य, जाति-आर्य, कुल-आर्य, कर्म-आर्य, भाषा-आर्य और शिल्प-आर्य।[2]

साढ़े पच्चीस आर्य-क्षेत्रों का उल्लेख आगे चलकर किया जायेगा।

जाति[3]-आर्यों में छह इभ्य जातियाँ बताई गई हैं:—अबष्ठ,[4] कलिन्द, विदेह, वेदग, हरित और चुंचुण (अथवा तुन्तुण)।

---

१. सेनार्ट, कास्ट इन इण्डिया, पृ० १२२ आदि। जाति की उत्पत्ति के विविध सिद्धान्तों के लिए देखिये सेन्सस इण्डिया, १९३१, जिल्द १, भाग १, पृ० ४३३ आदि।

२. प्रज्ञापना १. ६७–७१।

३. जाति में मातृपक्ष की और कुल में पितृपक्ष की प्रधानता बतायी गयी है।

४. अंबष्ठ और विदेह को नीची जातियों में भी गिना गया है।

कुल-आर्यो में उग्र, भोग, राजन्य, इक्ष्वाकु (ऋषभदेव के वंशज), ज्ञातृ (नात, प्रथम प्रजापति के वंशज), और कौरव्य (महावीर और शांति जिन के पूर्वज) का उल्लेख है।[1]

कर्म-आर्यो में दोसिय (दौष्यिक = कपड़े के व्यापारी), सोत्तिय (सौत्रिक = सूत के व्यापारी), कप्पासिय (कार्पासिक = कपास के व्यापारी), सुत्तवेयालिय (सूत के व्यापारी), भंडवेयालिय (करियाने के व्यापारी), कोलालिय (कुम्हार), और णरवाहणिय (पालकी उठाने वाले) का उल्लेख मिलता है।[3]

शिल्प-आर्यो में तुन्नाग (रफ़ू करने वाले), तन्तुवाय (बुनने वाले), पट्टागार (पटवे), देयड (मशक बनाने वाले), वरुड (पिछी बनाने वाले, अथवा रस्सा बँटने वाले), छव्विय (चटाई बुनने वाले), कट्ठपाउयार (लकड़ी की पादुका बनाने वाले), मुंजपाउयार (मुंज की पादुका बनाने वाले), छत्तकार (छतरी बनाने वाले,) वज्झार (वाह्य कार = वाहन बनाने वाले), पोत्थार (मिट्टी के पुतले बनाने वाले), लेप्पकार (पलस्तर की वस्तुएँ बनाने वाले), चित्रकार, शंखकार, दंतकार, भांडकार (कसेरे), जिज्झगार (?), सेल्लगार (भाला बनाने वाले) और कोड्डिगार (कौड़ियों का काम करने वाले) का उल्लेख मिलता है।[4]

---

१. कल्पसूत्र २.२५ में कहा है कि अरहंत, चक्रवर्ती और बलदेव अन्त, पन्त, तुच्छ, दरिद्र, कृपण, भिक्षाक (भीख माँगनेवाले) और ब्राह्मण कुलों में उत्पन्न न होकर, उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रिय, इक्ष्वाकु, क्षत्रिय, हरिवंश आदि विशुद्ध कुलों में ही उत्पन्न होते हैं। उग्र, भोज, राजन्य, इक्ष्वाकु, हरिवंश, एसिअ (गोष्ठ), वैश्य, गंडक (घोषणा करनेवाला), कोट्टाग (बढ़ई), ग्राम-रक्षकुल और बोक्कसालिय (तन्तुवाय) आदि के घर से भिक्षा ग्रहण करने का विधान है; तथा आवश्यकचूर्णी, पृ० २३६।

२. कर्म, बिना किसी आचार्य के उपदेश से किया जाता है, जब कि शिल्प में आचार्य के उपदेश की आवश्यकता होती है।

३. अनुयोगद्वारसूत्र, १३६-अ में तृणहारक, काष्ठहारक और पत्रहारक आदि को भी कर्म-आर्यों में गिनाया गया है। तथा देखिए मिलिन्दप्रश्न, पृ० ३३१।

४. रामायण (२,८३,१२ आदि) में मणिकार, कुम्भकार, सूत्रकर्मकृत, शस्त्रोपजीवी, मायूरक, क्राकचिक, रोचक, दन्तकार, सुधाकार, गंधोपजीवी,

चार वर्ण

जैन धर्म और बौद्ध धर्म में ब्राह्मणों के ऊपर क्षत्रियों का प्रभुत्व स्वीकार करते हुए वर्ण व्यवस्था का विरोध किया है। लेकिन इससे यह सोचना कि महावीर और बुद्ध के काल में जाति और वर्ण-भेद सर्वथा नष्ट हो गया था, ठीक नहीं। जैन सूत्रों में बंभण, खत्तिय, वइस्स और सुद्द नाम के चार वर्णों का उल्लेख है।[1] जैन परम्परा के अनुसार, ऋषभदेव के काल में राज्य के आश्रित लोगों को क्षत्रिय तथा जमींदार और साहूकारों को गृहपति कहा जाता था। तत्पश्चात्, अग्नि उत्पन्न होने पर ऋषभदेव के आश्रित रहने वाले शिल्पी वणिक् कहे जाने लगे, तथा शिल्प का वाणिज्य करने के कारण वे वैश्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। भरत के राज्यकाल में, श्रावक धर्म उत्पन्न होने पर, ब्राह्मणों (माहण) की उत्पत्ति हुई। ये लोग अत्यन्त सरल स्वभावी और धर्मप्रेमी थे, इसलिए जब वे किसी को मारते-पीटते देखते तो कहते —'मत मारो' (माहण); तभी से ये माहण (ब्राह्मण कहे जाने लगे।[2] भिन्न-भिन्न वर्णों के संमिश्रण से बनी हुई मिश्रित जातियाँ भी उस समय मौजूद थीं।[3]

सुवर्णकार, कंबलधावक, स्नापक, वैद्य, धूपक, शौंडिक, रजक, तुन्नवाय, ग्राम-महत्तर, घोषमहत्तर, शैलूष और कैवर्तक का उल्लेख किया गया है। तथा देखिये दीघनिकाय १, सामञ्ञफलसुत्त पृ० ४४।

१. उत्तराध्ययनसूत्र २५.३१; विपाकसूत्र ५, पृ० ३३; आचारांगनिर्युक्ति १६-२७।

२. आचारांगचूर्णी, पृ० ५; तथा आवश्यकचूर्णी पृ० २१३ आदि वसुदेवहिण्डी पृ० १८४।

३. आचारांगनिर्युक्ति २०-२७ में निम्नलिखित जातियों का उल्लेख है :—अम्बष्ठ (ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री के संयोग से उत्पन्न) उग्र, (क्षत्रिय-शूद्र), निषाद (ब्राह्मण-शूद्र), अयोगव (शूद्र-वैश्य), मागध (वैश्य-क्षत्रिय), सूत (क्षत्रिय-ब्राह्मण), क्षत्ता (शूद्र-क्षत्रिय), वैदेह (वैश्य-ब्राह्मण), चण्डाल (शूद्र-ब्राह्मण)। इनके वर्णान्तर के संयोग से श्वपाक (उग्र-क्षत्ता), वैणव (विदेह-क्षत्ता), बुक्कस (निषाद-अम्बष्ठ) और कुक्कुरक (शूद्र-निषाद) उत्पन्न होते हैं। तुलना कीजिए मनुस्मृति १०.६-५६; गौतम ४.१६ आदि।

ब्राह्मण

जैनसूत्रों में साधारणतया ब्राह्मणों के प्रति अवगणना का भाव प्रदर्शित किया गया है, और यह दिखाया है कि वे लोग जैनधर्म के विरोधी थे।[1] ब्राह्मणों के लिए धिज्जाइ (धिक्जाति; वैसे यह शब्द द्विजाति से बना है) शब्द का प्रयोग किया गया है। ब्राह्मणों को बुभुक्षा-प्रधान कहा है।[2] जैन सूत्रों में, जैसे कहा जा चुका है, ब्राह्मणों की अपेक्षा क्षत्रियों को श्रेष्ठता प्रदान की गयी है। जैनधर्म में कोई भी तीर्थंकर क्षत्रिय कुल को छोड़कर अन्य किसी कुल में उत्पन्न हुए नहीं बताये गये हैं। स्वयं महावीर भगवान् पहले देवानन्दा नाम की ब्राह्मणी के गर्भ में अवतरित हुए, किन्तु इन्द्र ने उन्हें त्रिशला क्षत्रियाणी के गर्भ में परिवर्तित कर दिया।[3]

लेकिन ध्यान रखने की बात है कि यद्यपि जैन कथा-कहानियों में क्षत्रियों की अपेक्षा ब्राह्मणों को निम्न ठहराया गया है, फिर भी समाज में ब्राह्मणों का स्थान ऊँचा था। निशीथचूर्णी में कहा है कि ब्राह्मण स्वर्ग में देवता के रूप में निवास करते थे, प्रजापति ने इस पृथ्वी पर उन्हें देवता के रूप में सर्जन किया, अतएव जाति-मात्र से सम्पन्न इन ब्रह्म-बन्धुओं को दान देने से महान् फल की प्राप्ति होती है।[4] जैनसूत्रों में, श्रमण (समण) और ब्राह्मण (माहण) शब्द का कितने ही स्थलों पर एक साथ प्रयोग किया गया है, इससे यही सिद्ध

---

१. देखिए निशीथचूर्णी पीठिका ४८७ की चूर्णी। आवश्यकचूर्णी पृ० ४९६ में उल्लेख है—एगो धिज्जाइओ पडिमाओ सासयं लिहति।

२. उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० ६२।

३. कल्पसूत्र २.२२ आदि; आवश्यकचूर्णी, पृ० २३९। बौद्धों की निदानकथा १, पृ० ६५ में कहा है, बुद्ध क्षत्रिय और ब्राह्मण नाम की ऊँची जातियों में ही पैदा होते हैं, नीची जातियों में नहीं। यहाँ पर भी चार वर्णों में क्षत्रियों का नाम ब्राह्मणों से पहले लिया गया है; तथा ललितविस्तर पृ० २० आदि। तुलना कीजिए वाजसनेयसंहिता १८.१९; काठक १८.५; यहाँ भी क्षत्रियों को ब्राह्मणों से श्रेष्ठ कहा है। वशिष्ठ (ब्राह्मण) और विश्वामित्र (क्षत्रिय) में किसकी जाति श्रेष्ठ है, इसके लिए देखिए डाक्टर जी० एस० घुर्ये, कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया, पृ० ६३ आदि।

४. १३,४४२३ चूर्णी। पुराणों में ब्राह्मणों के पैर धोकर पीने का उल्लेख है, हज़ारा, पुराणिक रिकार्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, पृ० २५८।

होता है कि दोनों को आदरणीय स्थान प्राप्त था।[1] यह भी ध्यान देने योग्य है कि महावीर को जैनसूत्रों में माहण[2] अथवा महामाहण,[3] महागोप, महासार्थवाह आदि कहकर सम्बोधित किया गया है।

ब्राह्मणों के सम्बन्ध में जैन मान्यता

बौद्धों की भांति, जैन आचार्यो ने भी जन्म की अपेक्षा कर्म के ऊपर अधिक जोर दिया है। जैनसूत्रों का कथन है कि सिर मुंडाने से कोई श्रमण नहीं होता, ओंकार का जाप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, जंगल में रहने से कोई मुनि नहीं होता, कुश-चीवर धारण करने से कोई तापस नहीं होता, वल्कि हर कोई समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तपस्वी होता है; वास्तव में कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से ही मनुष्य शूद्र कहा जाता है।[5] हरिकेशीय अध्ययन में हरिकेश नामक चांडाल मुनि की कथा आती है। हरिकेश विहार करते-करते एकबार किसी ब्राह्मण के यज्ञवाटक में गये, और यज्ञ के लक्षण बताते हुए उससे कहा—"वास्तविक अग्नि तप है, अग्निस्थान जीव है, श्रुवा (चम्मचनुमा लकड़ी का पात्र जिसमें आहुति दी जाती है) मन, वचन और काय का योग है, करीष (कंडे की अग्नि) शरीर है, समिधा कर्म है, होम, संयम, योग और शान्ति है, सरोवर धर्म है और वास्तविक तीर्थ ब्रह्मचर्य है।"[4] तात्पर्य यह है कि जैनों ने वर्ण और

---

१. आचारांगचूर्णी, पृ० ६३। तुलना कीजिए संयुत्तनिकाय, समणब्राह्मण-सुत्त, २, पृ० १२६ आदि; २३६ आदि; ४, पृ० २३४ आदि; ५, पृ० १।

२. सूत्रकृतांग ६.१। मिलिन्दप्रश्न (हिन्दी अनुवाद, पृ० २७४) में बुद्ध को ब्राह्मण कहा है।

३. उपासकदशा ७, पृ० ५५।

४. उत्तराध्ययन २५.२६ आदि। बौद्धों ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। उनका कहना है कि जन्म और जाति अहंकार पैदा करते हैं, गुण ही सबसे श्रेष्ठ है; खत्तिय, बंभण, वेस्स, सुद्द, चांडाल और पुक्कस देवताओं की दुनिया में जाकर सब एक हो जाते हैं, यदि इस लोक में उन्होंने धर्म का आचरण किया हो, सुत्तनिपात, १.७; ३, ६; फिक; द सोशल ऑर्गनाइज़ेशन इन नौर्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज़ टाइम, पृ० २६; मजूमदार, कॉरपोरेट लाइफ इन ऐंशियेंट इण्डिया, पृ० ३५४-६३।

५. उत्तराध्ययन, १२.४४ आदि। दीघनिकाय १, कूटदन्तसुत्त,

जाति की जी-भरकर निन्दा की, लेकिन फिर भी वे जाति-पांति के बंधनों से अपने आपको सर्वथा मुक्त न कर सके। उन्होंने जाति-आर्य और जाति-जुंगित (जुगुप्सित), कर्म-आर्य और कर्म-जुंगित तथा शिल्प-आर्य और शिल्प-जुंगित में भेद बताकर ऊँच-नीच के भेद को स्वीकार किया है।[1]

ब्राह्मणों के विशेषाधिकार

जैन आगमों की टीकाओं में उल्लेख है कि भरत चक्रवर्ती ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन कराते, तथा काकिणी रत्न से चिह्नित कर उन्होंने उन लोगों को दूसरी जातियों से पृथक् किया था।[2] राजा लोग दान-मान से सम्मानित कर उनके प्रति उदारता व्यक्त करते थे। पाटलिपुत्र के नन्द राजाओं ने ब्राह्मणों को बहुत-सा धन देकर उनके प्रति आदर व्यक्त किया था।[3] वररुचि नाम के ब्राह्मण को राजा की प्रशंसा में श्लोक सुनाने के बदले पुरस्कार स्वरूप प्रतिदिन १०८ दीनारें मिलती थीं।[4] राजा ही नहीं, अन्य लोग भी ब्राह्मणों को गोदान आदि से सम्मानित करते और उन्हें आदर की दृष्टि से देखते। जन्म-मरण आदि अनेक अवसरों पर ब्राह्मणों की पूछ होती, और भोजन आदि द्वारा उनका सत्कार किया जाता।[5] चाणक्य जब नंदों के दरबार में पहुँचा तो वह कुंडी, दंड, माला (गणेत्तिय) और यज्ञोपवीत लिए हुए था।[7]

पृ० १२१ में घी, तेल, नवनीत, दधि, मधु और फाणित द्वारा यज्ञानुष्ठान का विधान है।

१. बौद्धों में भी अपने ही वंश में विवाह करके, रक्त को शुद्ध रखने का प्रयत्न है, देखिए, फिक, वही, पृ० ५२। तुलना कीजिए घुर्ये, कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया, पृ० ६६। सम्मोहविनोदिनी, पृ० ४१० में कर्म और शिल्प को ऊँच और नीच में विभक्त किया गया है।

२. आवश्यकचूर्णी, पृ २१३ आदि।

३. उत्तराध्ययनटीका, ३, पृ० ५७।

४. वही, २, पृ० २७–अ।

५. आवश्यकचूर्णी, पृ० १२३।

६. उत्तराध्ययनटीका, १३, पृ० १९४–अ।

७. वही ३, पृ० ५७।

अन्य विशेषाधिकार भी ब्राह्मणों को प्राप्त थे। उदाहरण के लिए, उन्हें कर नहीं देना पड़ता था और फांसी की सजा से वे मुक्त थे। निधि आदि का लाभ होने पर भी राजा ब्राह्मणों का आदर-सत्कार करता, जब कि वैश्यों को निधि जब्त कर ली जाती, यह बात पहले कही जा चुकी है।

अध्ययन-अध्यापन

ब्राह्मण षट्-अंग (शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छंद, ज्योतिष और कल्प), चार वेद (ऋग्वेद, युजर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद), मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र—इन चौदह विद्याओं में निष्णात होते थे।[1] वे यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह नामक छह कर्मों में रत रहा करते थे।[2] राजा उन्हें अपने यहाँ रखते और उनकी आजीविका का प्रबन्ध करते थे। चौदह विद्याओं में पारंगत कासव नामका ब्राह्मण कौशाम्बी के जितशत्रु नाम के राजा की सभा में रहा करता था। उसकी मृत्यु हो जाने पर उसका स्थान एक दूसरे ब्राह्मण को दे दिया गया।[3] अध्यापक अपने विद्यार्थियों (खंडिय) को साथ लेकर परिभ्रमण करते थे।[4] मगध का प्रख्यात पंडित इन्द्रभूति अपने शिष्य-परिवार के साथ मज्झिमा नगरी में आया था।[5]

यज्ञ-याग

ब्राह्मणों में यज्ञ-याग का प्रचलन था। श्रमण-दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात्, अपने विहार के समय, महावीर भगवान् ने चम्पा के एक ब्राह्मण की अग्निहोत्रवसही में चातुर्मास व्यतीत किया था।[6] उत्तराध्ययन में यज्ञीय नामक अध्ययन में, जयघोष मुनि और

---

१. उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० ५६-अ। ब्राह्मणों को शकुनीपारग कहा गया है; शकुनी अर्थात् चौदह विद्यास्थान, बृहत्कल्पभाष्य ३.४५२३। आचारांगचूर्णी, पृ० १८२ में उन्हें संस्कृत के विद्वान् और प्राकृत के महाकाव्यों के जानकार कहा गया है।

२. निशीथभाष्य १३.४४२३।

३. उत्तराध्ययनटीका, ८, पृ० १२३-अ।

४. उत्तराध्ययनसूत्र १२.१८–१९।

५. आवश्यकचूर्णी, पृ० ३३४।

६. वही पृ० ३२०

विजयघोष ब्राह्मण का संवाद आता है। जयघोष जब विजयघोष के पास भिक्षा के लिए उपस्थित हुए तो विजयघोष ने कहा—"वेदों में पारंगत, यज्ञार्थी, ज्योतिषशास्त्र और छह अंगों के ज्ञाता ब्राह्मणों के लिए ही यह भोजन है, अन्य किसी को यह नहीं मिल सकता।" इसपर जयघोष ने उसे सच्चे ब्राह्मण का लक्षण प्रतिपादित कर स्वधर्म में दीक्षित किया।[1] आर्य शय्यंभव के विषय में पहले कहा जा चुका है। जब प्रभव के शिष्य उनके पास पहुँचे तो वे यज्ञ-याग में संलग्न थे। राजा भी यज्ञ-याग के लिए अपने यहां ब्राह्मणों को नियुक्त करते थे। महेश्वरदत्त चार वेदों का पंडित था, और वह राजा की अशुभ नक्षत्रों से रक्षा करने के लिए मांसपिंड से यज्ञ-याग किया करता था।[2] मज्झिमा नगरी के सोमलिज्ज ब्राह्मण को यज्ञ का प्रतिष्ठाता कहा गया है।[3] कभी किसी देवता को प्रसन्न करने के लिये आगन्तुक पुरुष को मार डालते और जहाँ वह मारा जाता उस घर के ऊपर गोली वृक्ष-शाखा का चिह्न बना दिया जाता।[4]

ब्राह्मणों के अन्य पेशे

इसके अतिरिक्त, ब्राह्मण स्वप्नपाठक होते, और ज्योतिष विद्या के द्वारा भविष्य का बखान करते थे। राजा के पुत्र-जन्म के अवसर पर ब्राह्मणों को आमंत्रित कर उनसे भविष्य पूछा जाता तथा लक्षणों के पंडित ब्राह्मण तिल, मसा आदि शरीर के लक्षण देखकर भविष्य का बखान करते थे। भगवान् महावीर का जन्म होने पर, गणराजा सिद्धार्थ ने विविध शास्त्रों में कुशल आठ महानिमित्त के पंडित ब्राह्मणों को रानी त्रिशला देवी के स्वप्नों की व्याख्या करने के लिये आमंत्रित किया था। स्वप्नपाठकों ने उपस्थित होकर बालक के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की।[5] एक दूसरे ज्योतिषी ने पोतनपुर के राजा के सिर पर इन्द्र का वज्र गिरने की भविष्यवाणी की।[6] ब्राह्मणों से पूछकर पता लगाया जाता कि यात्रा के लिए कौन-सा दिन शुभ है और

१. उत्तराध्ययनसूत्र २५।
२. विपाकसूत्र ५, पृ० ३३।
३. आवश्यकचूर्णी, पृ० ३२४।
४. बृहत्कल्पभाष्य १.१४५६।
५. कल्पसूत्र ४.६६ आदि।
६. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २४२।

कौन-सा अशुभ, और ब्राह्मण आशीर्वादपूर्वक मुहूर्त का प्रतिपादन करते।[1]

खत्तिय (क्षत्रिय)

जैसे ब्राह्मणों के ग्रन्थों में ब्राह्मणों की प्रभुता का प्रदर्शन किया गया है, वैसे ही जैनों ने भी क्षत्रियों के प्रभुत्व का बखान किया है। क्षत्रिय ७२ कलाओं का अध्ययन करते और युद्ध-विद्या में कुशलता प्राप्त करते थे। अपने भुजबल द्वारा देश पर शासन करने का अधिकार वे प्राप्त करते। ऐसे कितने ही क्षत्रिय राजाओं और राजकुमारों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने संसार का त्याग कर सिद्धि प्राप्त की; इनमें उग्र, भोग, राजन्य, ज्ञात, और इक्ष्वाकु आदि मुख्य हैं।

गाहावइ (गृहपति)

गृहपतियों[2] को प्राचीन भारत के वैश्य ही समझना चाहिए। वे धन-सम्पन्न होते, जमीन-जायदाद और पशुओं के मालिक होते तथा व्यापार द्वारा धन का उपार्जन करते। जैनसूत्रों में कितने ही गृहपतियों का उल्लेख है जो जैनधर्म के अनुयायी (समणोवासग) थे, और जिन्होंने संसार का त्यागकर निर्वाण प्राप्त किया था। वाणियग्राम के धन-सम्पन्न और जमींदार आनन्द गृहपति के सम्बन्ध में कहा जा चुका है। उसके पास अपरिमित हिरण्य-सुवर्ण, गाय-बैल, हल, घोड़ा-गाड़ी, वाहन, यानपात्र आदि मौजूद थे और वह विविध भोगों का उपभोग करते हुए समय-यापन किया करता था। पारासर एक दूसरा गृहपति था जो कृषिकर्म में कुशल होने के कारण किसिपारासर नाम से विख्यात था। ६०० हलों का यह स्वामी था।[3] कुइयण्ण (कुविकर्ण) के पास बहुत-सी गायें थीं।[4] गोसंखी कुटुम्बी को आभीरों का स्वामी कहा गया है। उसका पुत्र अपनी गाड़ियों को घी

---

१. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० ६८।

२. गृहपतियों को इभ्य, श्रेष्ठी और कोटुम्बिक नाम से भी कहा गया है। इन्हें राजपरिवार का अङ्ग माना जाता था, औपपातिकसूत्र २७; फिक, वही, पृ० २५६ आदि।

३. उत्तराध्ययनटीका २, पृ० ४५।

४. आवश्यकचूर्णी, पृ० ४४।

के घड़ों से भरकर चम्पा में बेचने के लिए जाया करता था।[1] नन्द राजगृह का एक प्रभावशाली श्रेष्ठी था जिसने बहुत-सा धन व्यय करके पुष्करिणी का निर्माण कराया था।[2] भरत चक्रवर्ती का गृहपति-रत्न सर्वलोक में प्रसिद्ध था; शालि आदि विविध धान्यों का वह उत्पादक था और भरत के घर सब प्रकार के धान्यों के हजारों कुम्भ भरे रक्खे रहते थे।[3]

श्रेणी संगठन

आर्थिक जीवन का अध्ययन करते समय श्रमिकों और व्यापारियों के संगठन के सम्बन्ध में विचार किया गया है। उनका परम्परागत संगठन होने के कारण इन लोगों के कुछ कायदे-कानून भी थे जिससे पता लगता है कि सामाजिक संगठन में इन लोगों का अपना अलग स्थान था।

इसके अतिरिक्त, बहुत से उत्पादनकर्ता, नट, बाजीगर, गायक, और परिभ्रमण करने वाले लोग थे जो गाँव-गाँव में घूमकर, अपनी कला का प्रदर्शन करते हुए अपनी आजीविका चलाते थे। धन्नउर (धन्यपुर) का नट अपनी कला में निष्णात था।[4] विश्वकर्मा नट राजगृह का निवासी था।[5] उज्जयिनी के पास नटों का एक गाँव था, जहाँ भरत नाम का नट रहा करता था। उसके पुत्र का नाम रोहक था। रोहक की प्रत्युत्पन्न मति की अनेक कहानियां जैन आगमों की टीकाओं में वर्णित हैं।[6] गारुडिक (साँप का विष उतारने वाले) तथा भूतवादी[7] आदि भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन किया करते थे।

प्राचीनकाल में संघ, गण और गच्छों का उल्लेख आता है। जैन श्रमण अपना संघ बनाकर विचरण किया करते थे। गणों में मल्ल,

---

१. वही, पृ० २६७।

२. ज्ञातृधर्मकथा १३, पृ० १४१।

३. आवश्यकचूर्णी, पृ० १६७-६८।

४. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २५०।

५. पिण्डनिर्युक्ति ४७४ आदि।

६. आवश्यकचूर्णी, पृ० ५४४-४६। तथा देखिये जगदीशचन्द्र जैन, दो हजार बरस पुरानी कहानियाँ।

७. उत्तराध्ययनटीका, १२, पृ० १७४।

हस्तिपाल,[1] सारस्वत,[2] वज्जि आदि के उल्लेख मिलते हैं। मल्ल अपनी एकता के लिए प्रसिद्ध थे। ये लोग किसी अनाथ मल्ल की मृत्यु हो जाने पर उसकी अन्त्य-क्रिया करते तथा अपने संगठन के दीन-हीन लोगों की सहायता करते।[3] बौद्धसूत्रों में वज्जिगण का उल्लेख आता है। ये लोग किसी बात का निर्णय करने के लिए एकत्रित होकर बैठकें (सन्निपात) करते और परस्पर हिल-मिलकर कार्य करते।[4] जैनसूत्रों में गोदास, उत्तरबलिस्सह, उद्देह, चारण (? वारण), कोटिक, माणव आदि अनेक गणों का उल्लेख आता है। ये गण अनेक कुल और शाखाओं में विभक्त थे। कुलों के समूह को गण कहा गया है।[5] इसके सिवाय, ग्वाले, शिकारी, मच्छीमार, घसियारे, लकड़हारे आदि के नाम लिए जा सकते है।

म्लेच्छ

जैनसूत्रों में विरूव, दसू (दस्यु), अणारिय (अनार्य), मिलक्खू (म्लेच्छ) और पच्चंतिय (प्रत्यंतिक) नामक अनार्यों का उल्लेख मिलता है।[6] ये लोग विविध वेप धारण करने और अनेक भाषाएँ बोलने के कारण विरूप, क्रोध के आवेश में दांतों से काटने के कारण दस्यु, आर्यों की भाषा न समझ सकने के कारण तथा हिंसा आदि दुष्कृत्य करने के कारण अनार्य तथा अव्यक्त अथवा अस्फुट वाणी बोलने के कारण म्लेच्छ कहे जाते थे। इसी प्रकार रात्रिभोजन करने के कारण अकालपरिभोगी, और सद्धर्म में रुचि न होने के कारण दुःप्रतिबोधी कहे जाते थे। ये लोग प्रायः सीमा-प्रदेशों पर निवास करते थे, अतएव उन्हें प्रत्यंतिक भी कहा जा था।[7] पुलिंद जंगलों और

---

१. व्यवहारभाष्यटीका ७.४५६।

२. बृहत्कल्पभाष्य ६.६३०२।

३. सूत्रकृतांगचूर्णी, पृ० २८; तथा मलालसेकर, डिक्शनरी ऑव पालि प्रौपर नेम्स, 'मल्ल' शब्द।

४. दीघनिकाय अट्ठकथा, २, पृ० ५१६ आदि (महापरिणिब्बाणसुत्तवण्णना)।

५. कल्पसूत्र ८ पृ० २२६ अ आदि।

६. निशीथसूत्र १६.२६।

७. निशीथभाष्य १६.५७२७-२८ चूर्णी।

के घड़ों से भरकर चम्पा में बेचने के लिए जाया करता था।[1] नन्द राजगृह का एक प्रभावशाली श्रेष्ठी था जिसने बहुत-सा धन व्यय करके पुष्करिणी का निर्माण कराया था।[2] भरत चक्रवर्ती का गृहपति-रत्न सर्वलोक में प्रसिद्ध था; शालि आदि विविध धान्यों का वह उत्पादक था और भरत के घर सब प्रकार के धान्यों के हजारों कुम्भ भरे रक्खे रहते थे।[3]

श्रेणी संगठन

आर्थिक जीवन का अध्ययन करते समय श्रमिकों और व्यापारियों के संगठन के सम्बन्ध में विचार किया गया है। उनका परम्परागत संगठन होने के कारण इन लोगों के कुछ कायदे-कानून भी थे जिससे पता लगता है कि सामाजिक संगठन में इन लोगों का अपना अलग स्थान था।

इसके अतिरिक्त, बहुत से उत्पादनकर्ता, नट, बाजीगर, गायक, और परिभ्रमण करने वाले लोग थे जो गाँव-गाँव में घूमकर, अपनी कला का प्रदर्शन करते हुए अपनी आजीविका चलाते थे। धन्नउर (धन्यपुर) का नट अपनी कला में निष्णात था।[4] चित्रकर्मा नट राजगृह का निवासी था।[5] उज्जयिनी के पास नटों का एक गाँव था, जहाँ भरत नाम का नट रहा करता था। उसके पुत्र का नाम रोहक था। रोहक की प्रत्युत्पन्न मति की अनेक कहानियां जैन आगमों की टीकाओं में वर्णित हैं।[6] गारुडिक (साँप का विष उतारने वाले) तथा भूतवादी[7] आदि भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन किया करते थे।

प्राचीनकाल में संघ, गण और गच्छों का उल्लेख आता है। जैन श्रमण अपना संघ बनाकर विचरण किया करते थे। गणों में मल्ल,

---

१. वही, पृ० २६७।

२. ज्ञातृधर्मकथा १३, पृ० १४१।

३. आवश्यकचूर्णी, पृ० १९७-९८।

४. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २५०।

५. पिंडनिर्युक्ति ४७४ आदि।

६. आवश्यकचूर्णी, पृ० ५४४-४६। तथा देखिये जगदीशचन्द्र जैन, दो हजार बरस पुरानी कहानियाँ।

७. उत्तराध्ययनटीका, १२, पृ० १७४।

हस्तिपाल,[1] सारस्वत,[2] वज्जि आदि के उल्लेख मिलते हैं। मल्ल अपनी एकता के लिए प्रसिद्ध थे। ये लोग किसी अनाथ मल्ल की मृत्यु हो जाने पर उसकी अन्त्य-क्रिया करते तथा अपने संगठन के दीन-हीन लोगों की सहायता करते।[3] बौद्धसूत्रों में वज्जिगण का उल्लेख आता है। ये लोग किसी बात का निर्णय करने के लिए एकत्रित होकर बैठकें (सन्निपात) करते और परस्पर हिल-मिलकर कार्य करते।[4] जैनसूत्रों में गोदास, उत्तरबलिस्सह, उद्देह, चारण (? वारण), कोटिक, माणव आदि अनेक गणों का उल्लेख आता है। ये गण अनेक कुल और शाखाओं में विभक्त थे। कुलों के समूह को गण कहा गया है।[5] इसके सिवाय, ग्वाले, शिकारी, मच्छीमार, घसियारे, लकड़हारे आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

म्लेच्छ

जैनसूत्रों में विरूव, दसू (दस्यु), अणारिय (अनार्य), मिलक्खू (म्लेच्छ) और पच्चंतिय (प्रत्यंतिक) नामक अनार्यों का उल्लेख मिलता है।[6] ये लोग विविध वेष धारण करने और अनेक भाषाएँ बोलने के कारण विरूप, क्रोध के आवेश में दांतों से काटने के कारण दस्यु, आर्यों की भाषा न समझ सकने के कारण तथा हिंसा आदि दुष्कृत्य करने के कारण अनार्य तथा अव्यक्त अथवा अस्फुट वाणी बोलने के कारण म्लेच्छ कहे जाते थे। इसी प्रकार रात्रिभोजन करने के कारण अकालपरिभोगी, और सद्धर्म में रुचि न होने के कारण दुःप्रतिबोधी कहे जाते थे। ये लोग प्रायः सीमा-प्रदेशों पर निवास करते थे, अतएव उन्हें प्रत्यंतिक भी कहा जा था।[7] पुलिंद जंगलों और

१. व्यवहारभाष्यटीका ७.४५६।

२. बृहत्कल्पभाष्य ६.६३०२।

३. सूत्रकृतांगचूर्णी, पृ० २८; तथा मलालसेकर, डिक्शनरी ऑव पालि प्रौपर नेम्स, 'मल्ल' शब्द।

४. दीघनिकाय अट्ठकथा, २, पृ० ५१६ आदि (महापरिनिब्बाण-सुत्तवण्णना)।

५. कल्पसूत्र ८ पृ० २२९ अ आदि।

६. निशीथसूत्र १६.२६।

७. निशीथभाष्य १६.५७२७-२८ चूर्णी।

पहाड़ों में रहते थे, तथा मरी हुई गाय का भक्षण करते थे।[1]

नीच और अस्पृश्य

शूद्र आरम्भकाल से ही बड़ी उपेक्षित दशा में रहते आये हैं। महावीर और बुद्ध ने उनकी दशा सुधारने का प्रयत्न किया, लेकिन फिर भी वर्ण और जाति सम्बन्धी प्रतिबन्ध दूर नहीं किये जा सके। उत्तराध्ययन की टीका में चित्त और सम्भूत नाम के दो मातंग दारकों की कथा आती है। दोनों अत्यन्त सुन्दर थे और साथ ही गंधर्व-विद्या में निपुण भी। एक बार, मदन महोत्सव के अवसर पर दोनों भाइयों की टोली गाती-बजाती बनारस में से होकर निकली, जिसने सभी को मुग्ध कर दिया। लेकिन ब्राह्मणों को बहुत ईर्ष्या हुई। परिणाम यह हुआ कि दोनों मातंग पुत्रों को खूब मारा गया, पीटा गया और नगर से निकाल दिया गया।[2]

जैन कथा-कहानियों में अछूत समझे जाने वाले मातंग और चांडालों की और भी बहुत-सी कथाएँ आती हैं। जाति-जुगुप्सितों में पाण, डोंब और मोरत्तिय का उल्लेख है। मातंगों को जाति का कलंक माना जाता था।[3] पाणों को चांडाल भी कहा गया है। ये लोग बिना घर-बार के केवल आकाश की छाया में निवास करते थे[4] और मुर्दे ढोने का काम किया करते थे।[5] डोंबों के घर होते थे; ये गीत गाकर और सूप आदि बनाकर अपनी आजीविका चलाते थे। उन्हें कलहशील, रोष करनेवाले और चुगलखोर बताया है।[6] किणिक बाद्यों के बाजे और तांत लगाते, और वध्य-स्थान को ले जाये जाते हुए पुरुषों के सामने बाजा बजाते। सोवाग (श्वपच) कुत्तों का मांस पकाकर खाते, और तांत की बिक्री करते। वरुड़ रस्से बंट कर आजीविका चलाते। हरिकेश

१. वही १५.४८५३ की चूर्णी।

२. उत्तराध्ययनटीका १३, पृ० १८५-अ; तथा देखिए चित्तसंभूतजातक (४९८)।

३. उत्तराध्ययनटीका १३, पृ० १८९।

४. तुलना कीजिए अन्तःकृद्दशा ४, पृ० २२; तथा मनुस्मृति १०.५० आदि।

५. देखिए अन्तःकृद्दशा ४, पृ० २२।

६. निशीथचूर्णी ४.१८१६ की चूर्णी।

और लुहारों की भी जाति-जुगुप्सितों में गिनती की गयी है।[1] ये सब जातियां अस्पृश्य कही जाती थीं।

कर्म और शिल्प से जुगुप्सित स्पृश्य जातियों में, स्त्री-पोषक, मयूर-पोषक, कुक्कुट-पोषक, नट, लंख, व्याध, मृगलुब्ध, वागुरिक, शौकरिक, मच्छीमार, रजक आदि कर्म-जुगुप्सित, तथा चर्मकार, पटवे, नाई, धोबी आदि की शिल्प-जुगुप्सितों में गणना की गयी है।[2]

---

१. व्यवहारभाष्य २.२७; ३.९२; निशीथभाष्य ११.३७०७-३७०८ की चूर्णी; ४.१६१८। अंगुत्तरनिकाय २.४ पृ० ८६ में नीच कुलों में चंडाल, वेन, नेसाद, रथकार और पुक्कुस कुलों का उल्लेख है।

२. व्यवहारभाष्य ३.९४; निशीथचूर्णी, वही।

पहाड़ों में रहते थे, तथा मरी हुई गाय का भक्षण करते थे।[१]

नीच और अस्पृश्य

शूद्र आरम्भकाल से ही बड़ी उपेक्षित दशा में रहते आये हैं। महावीर और बुद्ध ने उनकी दशा सुधारने का प्रयत्न किया, लेकिन फिर भी वर्ण और जाति सम्बन्धी प्रतिबन्ध दूर नहीं किये जा सके। उत्तराध्ययन की टीका में चित्त और सम्भूत नाम के दो मातंग दारकों की कथा आती है। दोनों अत्यन्त सुन्दर थे और साथ ही गंधर्व-विद्या में निपुण भी। एक बार, मदन महोत्सव के अवसर पर दोनों भाइयों की टोली गाती-बजाती बनारस में से होकर निकली, जिसने सभी को मुग्ध कर दिया। लेकिन ब्राह्मणों को बहुत ईर्ष्या हुई। परिणाम यह हुआ कि दोनों मातंग पुत्रों को खूब मारा गया, पीटा गया और नगर से निकाल दिया गया।[२]

जैन कथा-कहानियों में अस्पृश्य समझे जाने वाले मातंग और चांडालों की और भी बहुत-सी कथाएँ आती हैं। जाति-जुगुप्सितों में पाण, डोंब और मोरत्तिय का उल्लेख है। मातंगों को जाति का कलंक माना जाता था।[३] पाणों को चांडाल भी कहा गया है। ये लोग बिना घर-बार के केवल आकाश की छाया में निवास करते थे[४] और मुर्दे ढोने का काम किया करते थे।[५] डोंबों के घर होते थे; ये गीत गाकर और सूप आदि बनाकर अपनी आजीविका चलाते थे। उन्हें कलहशील, रोष करनेवाले और चुगलखोर बताया है।[६] किणिक बाधों के चारों ओर तांत लगाते, और वध्य-स्थान को ले जाये जाते हुए पुरुषों के सामने बाजा बजाते। सोवाग (श्वपच) कुत्तों का मांस पकाकर खाते, और तांत की बिक्री करते। वरुड़ रस्से बंट कर आजीविका चलाते। हरिकेश

---

१. वही १५.४८५३ की चूर्णी।

२. उत्तराध्ययनटीका १३, पृ० १८५-अ; तथा देखिए चित्तसंभूतजातक (४९८)।

३. उत्तराध्ययनटीका १३, पृ० १८६।

४. तुलना कीजिए अन्तःकृद्दशा ४, पृ० २२; तथा मनुस्मृति १०.५० आदि।

५. देखिए अन्तःकृद्दशा ४, पृ० २२।

६. निशीथचूर्णी ४.१८१६ की चूर्णी।

और लुहारों की भी जाति-जुगुप्सितों में गिनती की गयी है।[1] ये सब जातियां अस्पृश्य कही जाती थीं।

कर्म और शिल्प से जुगुप्सित स्पृश्य जातियों में, स्त्री-पोषक, मयूर-पोषक, कुक्कुट-पोषक, नट, लंख, व्याध, मृगलुब्ध, वागुरिक, शौकरिक, मच्छीमार, रजक आदि कर्म-जुगुप्सित, तथा चर्मकार, पटवे, नाई, धोबी आदि की शिल्प-जुगुप्सितों में गणना की गयी है।[2]

---

१. व्यवहारभाष्य २.३७; ३.९२; निशीथभाष्य ११.३७०७-३७०८ की चूर्णी; ४.१६१८। अंगुत्तरनिकाय २.४ पृ० ८६ में नीच कुलों में चंडाल, वेन, नेसाद, रथकार और पुक्कुस कुलों का उल्लेख है।

२. व्यवहारभाष्य ३.९४; निशीथचूर्णी, वही।

सम्बन्धी और मित्र

अनेक स्वजन और सम्बन्धियों का उल्लेख जैन आगम ग्रन्थों में मिलता है। मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन, सम्बन्धी और परिजनों का उल्लेख यहाँ किया गया है।[1]

जैसे-जैसे पिता वयोवृद्ध होता जाता, परिवार की देखरेख का बोझ ज्येष्ठ पुत्र पर पड़ता। लोग अपने पुत्रों को घर का भार सौंपकर दीक्षा धारण करते।

जन्म, विवाह, मरण तथा विविध उत्सवों के अवसर पर स्वजन-संबंधियों को निमंत्रित किया जाता। महावीर भगवान् ने जब जन्म लिया तो उनके माता-पिता ने अपने अनेक मित्रों, संबंधियों, स्वजनों और अनुयायियों को आमंत्रित किया और खूब आनन्द मनाया।[2] चम्पा के निवासी दो ब्राह्मण भाइयों का उल्लेख आता है; वे क्रम-क्रम से एक-दूसरे के घर भोजन किया करते थे।[3]

बालक-बच्चे

बाल-बच्चे घर की शोभा माने जाते थे। जो माताएँ बच्चों को जन्म देतीं, उन्हें खिलातीं, पिलातीं, उन्हें स्तनपान करातीं, उनकी तोतली बोली सुनतीं और अपनी गोद में लेकर उनके साथ क्रीड़ा करतीं, वे धन्य समझी जातीं। मातायें अपने बालकों के मालिश करतीं, उबटन लगातीं, गर्म पानी से स्नान करातीं, पैरों में आलता लगातीं, आँखों में अंजन डालतीं, तिलक करतीं, ओठ रचातीं, हाथों में कंकण पहनातीं तथा उनके खेलने के लिये खेल और खाने के लिये भोजन देतीं।[4] वन्ध्या (निन्दू) माताओं को अच्छा नहीं समझा जाता था। अतएव सन्तान-प्राप्ति के लिए वे इन्द्र, स्कंद, नाग, यक्ष आदि अनेक देवी-देवताओं की पूजा-उपासना करतीं, उन्हें प्रसाद चढ़ातीं और उनका जीर्णोद्धार कराने का वचन देतीं।[5] भद्दिलपुर के नाग गृहपति की भार्या सुलसा [illegible] से ही [illegible] की पूजा-

उपासना किया करती थी, और उसकी कृपा से उसके सन्तानोत्पत्ति हुई।[1] पिउदत्त गृहपति की सिरिभद्दा भार्या मृत बालकों को जन्म देती थी। किसी नैमित्तिक ने बताया कि यदि उस बालक के शोणित में खीर (पायस) पकाकर किसी सुतपस्वी को खिलायी जाय तो सन्तान स्थिर रह सकेगी।[2] राजगृह के नाग नामक रथकार की भार्या सुलसा ने बहुत-सा द्रव्य खर्च करके तीन कुडव तेल पकवाया और उसे इन्द्र, स्कंद आदि देवताओं को समर्पित किया। देव ने प्रसन्न होकर बत्तीस गोलियां दीं जिससे सुलसा को सन्तान की प्राप्ति हुई।[3]

यदि किसी बालक की पांचों इन्द्रियां परिपूर्ण हों, शुभचिह्नों, लक्षणों, व्यञ्जनों और सद्गुणों से वह युक्त हो, आकृति में अच्छा लगता हो, सर्वाङ्ग सुंदर हो, तौल में पूरा और ऊँचाई में ठीक हो तो वह श्रेष्ठ समझा जाता था।[4]

स्वप्न

पुत्र जन्म के समय, स्वप्नों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था।[5] स्वप्नशास्त्र (सुमिणसत्थ) एक व्यवस्थित शास्त्र था और इस विषय पर अनेक पुस्तकें लिखी गयी थीं। स्वप्नशास्त्र की आठ महानिमित्तों में गणना की गयी है।[6] व्याख्याप्रज्ञप्ति में स्वप्नों पर एक स्वतंत्र अध्याय है, जिसमें पांच प्रकार के स्वप्न बताये गये हैं। यहां कहा गया है कि यदि कोई स्वप्न के अंत में घोड़ों, हाथी या बैलों की पंक्ति देखता है, अथवा उनके ऊपर सवारी करता है तो उसे निर्वाण की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार समुद्र, बड़ा रस्सा, अनेक रंगों के सूत, लोहे, तांबे,

---

१. आवश्यकचूर्णी, पृ० ३५७। सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान, १०.६१ में में नैगमेपापहृत का उल्लेख है। इसका अर्थ है कि नागोदर या उपशुष्कक में गर्भधारणा होने के पश्चात् कुछ समय तक गर्भवृद्धि होकर बाद में वह रुक जाती है। वास्तव में वातविकृति का यह परिणाम है, लेकिन भूत-पिशाच में विश्वास करनेवाले इस विकार को नैगमेपापहृत कहते हैं।

२. आवश्यकचूर्णी, पृ० २८८।

३. वही २, पृ० १६४।

४. कल्पसूत्र १.८।

५. देखिये महासुपिन जातक (७७) १, पृ० ४३५ आदि।

६. उत्तराध्ययनसूत्र १५.७

सम्बन्धी और मित्र

अनेक स्वजन और सम्बन्धियों का उल्लेख जैन आगम ग्रन्थों में मिलता है। मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन, सम्बन्धी और परिजनों का उल्लेख यहाँ किया गया है।[1]

जैसे-जैसे पिता वयोवृद्ध होता जाता, परिवार की देखरेख का बोझ ज्येष्ठ पुत्र पर पड़ता। लोग अपने पुत्रों को घर का भार सौंपकर दीक्षा धारण करते।

जन्म, विवाह, मरण तथा विविध उत्सवों के अवसर पर स्वजन-संबंधियों को निमंत्रित किया जाता। महावीर भगवान् ने जब जन्म लिया तो उनके माता-पिता ने अपने अनेक मित्रों, संबंधियों, स्वजनों और अनुयायियों को आमंत्रित किया और खूब आनन्द मनाया।[2] चम्पा के निवासी दो ब्राह्मण भाइयों का उल्लेख आता है; वे क्रम-क्रम से एक-दूसरे के घर भोजन किया करते थे।[3]

बालक-नन्हे

बाल-बच्चे घर की शोभा माने जाते थे। जो माताएँ बच्चों को जन्म देतीं, उन्हें खिलातीं, पिलातीं, उन्हें स्तनपान करातीं, उनकी तोतली बोली सुनतीं और अपनी गोद में लेकर उनके साथ क्रीड़ा करतीं, वे धन्य समझी जातीं। मातायें अपने बालकों के मालिश करतीं, उबटन लगातीं, गर्म पानी से स्नान करातीं, पैरों में आलता लगातीं, आँखों में अंजन डालतीं, तिलक करतीं, ओष्ठ रचातीं, हाथों में कंकण पहनातीं तथा उनके खेलने के लिये खेल और खाने के लिये भोजन देतीं।[4] वन्ध्या (निन्दू) माताओं को अच्छा नहीं समझा जाता था। अतएव सन्तान-प्राप्ति के लिए वे इन्द्र, स्कंद, नाग, यक्ष आदि अनेक देवी-देवताओं की पूजा-उपासना करतीं, उन्हें प्रसाद चढ़ातीं और उनका जीर्णोद्धार कराने का वचन देतीं।[5] भद्रिलपुर के नाग गृहपति की भार्या सुलसा बचपन से ही हरिणेगमेषी की पूजा-

१. ज्ञातृधर्मकथा २, पृ० ५१।

२. कल्पसूत्र ५.१०४।

३. ज्ञातृधर्मकथा १६, पृ० १६२।

४. निरयावलियाओ ३, पृ० ५१।

५. ज्ञातृधर्मकथा २, पृ० ४६; आवश्यकचूर्णी, पृ० २६४; देखिये अवदानशतक १, ३, पृ० १४।

उपासना किया करती थी, और उसकी कृपा से उसके सन्तानोत्पत्ति हुई।[1] पिउदत्त गृहपति की सिरिभद्दा भार्या मृत बालकों को जन्म देती थी। किसी नैमित्तिक ने बताया कि यदि उस बालक के शोणित में खीर (पायस) पकाकर किसी सुतपस्वी को खिलायी जाय तो सन्तान स्थिर रह सकेगी।[2] राजगृह के नाग नामक रथकार की भार्या सुलसा ने बहुत-सा द्रव्य खर्च करके तीन कुडव तेल पकवाया और उसे इन्द्र, स्कंद आदि देवताओं को समर्पित किया। देव ने प्रसन्न होकर बत्तीस गोलियां दीं जिससे सुलसा को सन्तान की प्राप्ति हुई।[3]

यदि किसी बालक की पांचों इन्द्रियां परिपूर्ण हों, शुभचिह्नों, लक्षणों, व्यञ्जनों और सद्गुणों से वह युक्त हो, आकृति में अच्छा लगता हो, सर्वाङ्ग सुंदर हो, तौल में पूरा और ऊँचाई में ठीक हो तो वह श्रेष्ठ समझा जाता था।[4]

स्वप्न

पुत्र जन्म के समय, स्वप्नों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था।[5] स्वप्नशास्त्र (सुमिणसत्थ) एक व्यवस्थित शास्त्र था और इस विषय पर अनेक पुस्तकें लिखी गयी थीं। स्वप्नशास्त्र की आठ महानिमित्तों में गणना की गयी है।[6] व्याख्याप्रज्ञप्ति में स्वप्नों पर एक स्वतंत्र अध्याय है, जिसमें पांच प्रकार के स्वप्न बताये गये हैं। यहां कहा गया है कि यदि कोई स्वप्न के अंत में घोड़ों, हाथी या बैलों की पंक्ति देखता है, अथवा उनके ऊपर सवारी करता है तो उसे निर्वाण की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार समुद्र, बड़ा रस्सा, अनेक रंगों के सूत, लोहे, तांबे,

---

१. आवश्यकचूर्णी, पृ० ३५७। सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान, १०.६१ में में नैगमेपापहृत का उल्लेख है। इसका अर्थ है कि नागोदर या उपशुष्कक में गर्भधारणा होने के पश्चात् कुछ समय तक गर्भवृद्धि होकर बाद में वह रुक जाती है। वास्तव में वातविकृति का यह परिणाम है, लेकिन भूत-पिशाच में विश्वास करनेवाले इस विकार को नैगमेपापहृत कहते हैं।

२. आवश्यकचूर्णी, पृ० २८८।

३. वही २, पृ० १६४।

४. कल्पसूत्र १.८।

५. देखिये महासुपिन जातक (७७) १, पृ० ४३५ आदि।

६. उत्तराध्ययनसूत्र १५.७

शीशे, चांदी और सोने के ढेर, लकड़ी, पत्तियाँ, चमड़ा, घास, फूस, राख और धूल की राशि, शरस्तम्भ आदि घासों की विविध जातियां, दूध, दही, घी, मधु, मदिरा, तेल और चर्बी का घड़ा, कमल से आच्छादित जलाशय, रत्नों का प्रासाद और रत्नों का विमान देखने से भी निर्वाण मिलता है।[1] स्वप्न में सजावट वाले पदार्थ, हाथी और श्वेत वृषभ देखने से कीर्तिलाभ होता है, तथा जो मूत्र और लाल पुरीष विसर्जन के बाद जाग उठता है उसे धन की हानि होती है।[2]

महावीर भगवान् ने केवलज्ञान प्राप्त करने के पूर्व निम्नलिखित दस स्वप्न देखे थे :—भयंकर पिशाच को पराजित करना, श्वेत वर्ण का पुरुष-कोकिल, चित्र-विचित्र पुरुष-कोकिल, सुगंधित मालाओं की जोड़ी, गायों का समूह, कमलों का जलाशय, भुजाओं द्वारा समुद्र को पार करना, देदीप्यमान सूर्य, मानुषोत्तर पर्वत को चारों ओर से घेर लेना तथा मेरु पर्वत का आरोहण[3]। स्थविर वंभगुत्त ने स्वप्न देखा कि उसके दूध से भरे हुए भिक्षा-पात्र को किसी सिंहशावक ने खाली कर दिया है। इसका तात्पर्य था कि कोई बाहर का व्यक्ति उनके पास जैन आगम-सिद्धांत का अभ्यास करने के लिए आनेवाला है।[4]

जैनसूत्रों में उल्लेख है कि माताएं अरहंत या चक्रवर्ती आदि के गर्भधारण करने के पूर्व कुछ स्वप्न देखती हैं। जब महावीर गर्भ में अवतरित हुए तो उनकी माता ने स्वप्न में चौदह[5] पदार्थ देखे :—गज, वृषभ, सिंह, अभिषेक, माला, चन्द्रमा, सूर्य, ध्वजा, कुंभ, कमलों का सरोवर, सागर, विमानभवन, रत्नराशि और अग्नि।[6] श्रेणिक राजा

---

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति १६.६ ।

२. उत्तराध्ययन ८.१३, शान्तिसूरीय टीका। टीकाकार नेमीचन्द्र ने स्वप्नों की व्याख्या करते हुए प्राकृत की कतिपय गाथाएँ उद्धृत की हैं। इससे पता लगता है कि स्वप्नशास्त्र सम्बन्धी प्राकृत में साहित्य मौजूद था। इसकी कुछ गाथाओं की तुलना जगद्देव के स्वप्नचिन्तामणि (सम्पादित डाक्टर नेगेलियन द्वारा) से की जा सकती है, शार्पेन्टियर, उत्तराध्ययन, नोट्स, पृ० ३१० आदि।

३. व्याख्याप्रज्ञप्ति १६.६ पृ० ७०६; आवश्यकचूर्णी, पृ० २७४।

४. आवश्यकचूर्णी, पृ० ३६४।

५. केशव की माताएँ इनमें से सात, बलदेव की चार और मांडलिकों की माताएं केवल एक स्वप्न देखती हैं, उत्तराध्ययनटीका, २३, पृ० २८७ अ।

६. कल्पसूत्र ३.३२-४६; आवश्यकचूर्णी पृ० २३६ आदि।

की रानी धारिणी ने भी रात्रि के पूर्वभाग के अंत में और पश्चिम भाग के आरम्भ में स्वप्न देखा कि सात हाथ ऊँचा शुभ्र हाथी उसके मुख में प्रवेश कर रहा है। स्वप्न देखकर वह जाग उठी। स्वप्न को उसने भलीभांति ग्रहण किया। वह शयनीय से उठकर पादपीठ से नीचे उतरी तथा अत्वरित गति से राजा श्रेणिक के पास पहुंच, उसे अपना स्वप्न सुना दिया। स्वप्न सुनकर राजा ने कहा कि तुम्हारे कुलकीर्तिकर पुत्र का जन्म होगा। रानी अपने शयनीय पर लौट गई और सुबह होनेतक धार्मिक विषयों की चर्चा करती रही।[१]

गर्भकाल

यह समय स्त्रियों के लिए बहुत नाजुक होता है। इस समय उन्हें उठने-बैठने और खाने-पीने आदि में बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है। रानी धारिणी गर्भ की रक्षा के लिए अत्यन्त यत्नपूर्वक उठती-बैठती, खड़ी होती और सोती थी। वह अत्यन्त तीखा, कडुवा, कसैला, खट्टा और मीठा भोजन नहीं करती थी, बल्कि देश-काल के अनुसार हित, मित और पथ्य भोजन ही ग्रहण करती थी। वह अत्यंत चिंता, शोक, दैन्य, मोह, भय और त्रास से दूर रहती थी, तथा युक्त-आहार, गंध, माल्य और अलंकारों का सेवन करती हुई गर्भ-वहन करती थी।[२]

गर्भकाल में दोहद का बहुत महत्त्व था। गर्भस्थिति के दो या तीन महीने बीत जाने पर स्त्रियों विचित्र दोहद होते थे। उदाहरण के लिए, श्रेणिक की रानी धारिणी देवी को गर्भावस्था के तीसरे महीने में अकाल मेघ का दोहद उत्पन्न हुआ। उसकी इच्छा हुई कि रिमझिम-रिमझिम वर्षा हो रही हो, मेघों का गर्जन हो रहा हो, बिजली चमक रही हो, मयूरों का मनोहर शब्द सुनायी दे रहा हो, मेंढकों की टर्र-टर्र सुनायी पड़ रही हो, और ऐसे समय हाथी पर सवार हो वैभार-गिरि का परिभ्रमण किया जाय। धारिणी का दोहदपूर्ण न होने के

१. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० ८ आदि; आवश्यकचूर्णी पृ० २३८ आदि। गौतम बुद्ध की माता माया भी अपने शरीर में प्रवेश करते हुए हाथी का स्वप्न देखती है, निदानकथा १, पृ० ६६ आदि। भरहुत स्तूप की शिल्पकला आदि में यह चित्रित है।

२. ज्ञातृधर्मकथा, १, पृ० १६; तुलना कीजिए अवदानशतक, १, ३, पृ० १५।

कारण वह बीमार रहने लगी। वह बहुत उदास हुई और दिनपर दिन कृश होती चली गयी। श्रेणिक को जब इस बात का पता लगा तो वह अत्यंत उदास हुआ। अंत में उसके कुशल मंत्री अभयकुमार ने अपनी विमाता का दोहद पूर्णकर उसे संतुष्ट किया।[१]

चेल्लणा देवी राजा श्रेणिक की दूसरी रानी थी। उसे दोहद हुआ अपने पति के उदर के मांस को भून और तलकर, सुरा आदि के साथ भक्षण करने का। यहाँ भी अभयकुमार की बुद्धिमता काम आयी। उसने कसाईखाने (घातस्थान) से ताजा मांस, रुधिर तथा उदर की अंतड़ियाँ मँगवायीं।[२] उसके बाद उसने राजा को सीधा लेट जाने को कहा। राजा के उदर-प्रदेश पर मांस और रुधिर रख दिया गया और ऐसा प्रदर्शित किया गया कि सचमुच उसके ही उदर से मांस काटा जा रहा है। इस प्रकार राजा के माँस का भक्षण कर चेल्लणा ने दोहद पूर्ण किया।

अन्य भी अनेक दोहदों का उल्लेख जैन आगमों की टीका में किया है, जिन्हें पूर्ण कर गर्भवती स्त्रियों ने सन्तान को प्रसव किया। किसी को गाय-बैल के सुस्वादु मांस-भक्षण करने का,[४] किसी को चित्रलिखित हरिणों का मांस भक्षण करने का,[५] किसी को चन्द्रसुधा पान करने का,[६] किसी को पुरुष के वस्त्र धारण कर आयुध आदि से सज्जित हो चोरपल्लि के चारों ओर भ्रमण करने का,[७] और किसी को दांतों के पासों से क्रीड़ा करने का दोहद होता,[८] और पुरुष यथाशक्ति इन दोहदों को पूर्ण कर अपनी प्रियतमाओं की इच्छा पूरी करते।

१. ज्ञातृधर्मकथा, १, पृ० १० आदि; उत्तराध्ययनटीका ६, पृ० १३२-अ।

२. दूसरी परम्परा के अनुसार, खरगोश का मांस मंगाया गया था, आवश्यकचूर्णी २, पृ० १६६। बौद्ध परंपरा के अनुसार, कोशलराज की पुत्री को बिम्बिसार की जंघा का रक्तपान करने का दोहद हुआ था, थुस जातक (३३८), ३, पृ० २८६।

३. निरयावलियाओ १, पृ० ६-११

४. विपाकसूत्र २, पृ० १४-१५।

५. पिण्डनिर्युक्ति ८०।

६. उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० ५७।

७. विपाकसूत्र ३, पृ० २३।

८. व्यवहारभाष्य १, ३, पृ० १६-अ। दोहद के लिए देखिए चरकसंहिता,

गर्भपात

स्त्रियों द्वारा गर्भपात किये जाने के भी उदाहरण मिलते हैं। मियग्गाम नगर के विजय क्षत्रिय की भार्या मृगादेवी जब गर्भवती हुई तो उसके शरीर में बहुत पीड़ा रहने लगी, और तभी से वह विजय को अप्रिय हो गयी। उसने अनेक क्षार, कटुक, और कसैली औषधियाँ खाकर गर्भ गिराने का प्रयत्न किया, लेकिन सफल न हुई। अन्त में उसने जन्मांध पुत्र को जन्म दिया। पुत्र जन्म होने के बाद उसने दाई को बुलाकर उसे गांव के बाहर एक कूड़ी पर छोड़ आने को कहा। लेकिन दाई ने विजय क्षत्रिय के पास जाकर यह भेद खोल दिया। यह सुनकर विजय बहुत नाराज हुआ और फौरन ही मृगादेवी के पास जाकर उसने कहा कि देखो यह तुम्हारा प्रथम पुत्र है, यदि इसे कूड़ी पर छोड़ दोगी तो भविष्य में तुम्हारी सन्तान जीवित न रहेगी।[1]

रानी चेल्लणा के दोहद के सम्बन्ध में कहा जा चुका है। जब उसके गर्भ से कूणिक का जन्म हुआ तो उसने अपनी दासचेटी को बुलाकर उसे कूड़ी पर छोड़ आने को कहा। दासचेटी ने अपनी स्वामिनी की आज्ञा शिरोधार्य कर, अशोकवन में जा नवजात शिशु को कूड़ी पर डाल दिया।[2] राजा श्रेणिक को जब इसका पता लगा तो कूड़ी पर से उसने शिशु को उठवा मँगाया।[3] उसे लेकर वह चेल्लणा के पास पहुँचा, और उसे बहुत बुरा-भला कहा। रानी बहुत

शारीरस्थान १,४.१६, पृ० ६६८; सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान ३, पृ० ६०–६२; तथा महावग्ग १०.२.८, पृ० ३७३; कथासरित्सागर, परिशिष्ट ३, २२१–८।

१. विपाकसूत्र १, पृ० ६ आदि; आवश्यकचूर्णी २, पृ० १६६; आवश्यकचूर्णी पृ० ४७४।

२. महावग्ग ८.१.२, पृ० २८७ में भी कूड़ी पर डालने का उल्लेख आता है।

३. सुभद्रा के मृत सन्तान पैदा होती थी। सन्तान पैदा होते ही वह उसे कूड़ी पर छुड़वा देती और फिर तुरन्त ही मंगवा लेती, विपाकसूत्र २, पृ० १७। इसी प्रकार भद्रा अपनी मृत सन्तान को शकट के नीचे दलवाकर उसे वापिस मंगवा लेती, वही, ४, पृ० ३०।

लज्जित हुई और फिर वह बच्चे का भली-भांति पालन-पोषण करने लगी।[1]

पुत्रजन्म

प्राचीन भारत में पुत्रजन्म का बड़ा उत्सव मनाया जाता था। नौ महीने साढ़े सात दिन पूर्ण होने पर धारिणी देवी ने सुकुमार शरीरवाले नयनाभिराम मेघकुमार को जन्म दिया। अंग-प्रतिचारिकाओं ने जब पुत्रजन्म का समाचार श्रेणिक को दिया तो वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। अंग-प्रतिचारिकाओं का उसने मधुर वचनों तथा पुष्प, गंध, माल्य और अलंकार से सत्कार किया, और अपने सिर के मुकुट को छोड़कर समस्त अलंकार उनको प्रदान कर दिये। राजा ने उनके मस्तक का प्रक्षालन किया, और उन्हें दासीपने से मुक्त कर दिया। राजा ने अपने कौटुम्बिक पुरुष को बुलाकर जेल के सब कैदियों को छोड़ देने (चारगसोहण) का आदेश देते हुए, सारे नगर को पुष्पों और मालाओं से सज्जित करने का आदेश दिया। वस्तुओं के दाम घटा दिये गये और १८ श्रेणी-प्रश्रेणी को दस दिन तक ठिइवडिय (स्थितिपतिता) उत्सव मनाने का आदेश दिया गया। इस काल में नगर को शुल्करहित और कररहित करने की घोषणा कर दी गयी, राज-कर्मचारियों को जप्ती के लिए घरों में प्रवेश करने की मनायी कर दी गयी, प्रजा को दण्ड और कुदण्ड से रहित कर दिया गया और कर्ज माफ कर दिया गया। सर्वत्र मृदंगों की ध्वनि सुनायी देने लगी और जगह-जगह गणिकाओं आदि के सुन्दर नृत्य होने लगे।[2]

पहले दिन जातकर्म मनाया गया जबकि बालक का नाल काटकर उसे जमीन में गाड़ दिया गया।[3] दूसरे दिन जागरिका (रात्रि-

---

१. निरयावलि १, पृ० १४।

२. ज्ञातृधर्मकथा १, २० आदि। ऋषभदेव की जन्म-महिमा के लिये देखिये आवश्यकचूर्णी, पृ० १३५ आदि; महावीर के जन्ममहोत्सव के लिये, वही, पृ० २४३ आदि; पार्श्वनाथ के जन्म-महोत्सव के लिये उत्तराध्ययनटीका, २३, पृ० २८८ आदि।

३. आवश्यकचूर्णी में अभ्यंगन, स्नापन, अग्निहोम, भूतिकर्म, रक्षापोटली-बन्धन और कानों में 'टि टि' की आवाज करने आदि का उल्लेख है, पृ० १३६–४०। शाकिनी आदि दुष्ट देवताओं की नजर से बचने के लिये रक्षा-पोटली बांधी जाती थी, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ५, पृ० ३६४।

जागरण) और तीसरे दिन चन्द्र-सूर्य दर्शन का उत्सव मनाया गया। बाकी के सात दिन नगर में संगीत, नृत्य और वादित्र की ध्वनि के साथ आनन्द-मंगल की धूम मची रही। ग्यारहवें दिन शुचिकर्म सम्पन्न हुआ और आज से सूतक की समाप्ति मानी गयी।[1] बारहवें दिन विपुल अशन, पान आदि तैयार करके मित्र और स्वजन सम्बन्धियों को आमंत्रित किया गया। इन सब अतिथियों का, भोजन और वस्त्र आदि से सत्कार किया गया, और तत्पश्चात् बालक का नामसंकरण आदि सम्पन्न हुआ।[2]

इसके अतिरिक्त, और भी बहुत से संस्कारों का उल्लेख आता है। बालक जब घुटनों चलने लगता है तो परंगमण संस्कार, जब पैरों चलना सीख जाता है तो चंक्रमण संस्कार, जब वह प्रथम दिन भोजन का आस्वादन करता है तो जेमामण संस्कार, पहले-पहल जब बोलना सीखता है तो प्रजल्पन संस्कार, और जब उसके कान बींधे जाते हैं तो कर्णवेधन संस्कार मनाया जाता है। उसके पश्चात् संवत्सर-प्रतिलेखन (वर्षगांठ), चोलोपण (चूड़ापनयन), उपनयन और कला ग्रहण आदि संस्कार सम्पन्न किये जाते थे।[3]

बालकों के तिलक लगाया जाता, उनके हाथों, पैरों और गले में आभूषण पहनाये जाते।[4] उनकी देखभाल के लिए अनेक धाइयाँ रहतीं जिनमें अनेक कुशल धाइयाँ विदेशों से बुलायी जातीं। पाँच प्रकार की धाइयों का उल्लेख किया जा चुका है। दूध पिलाने वाली दाई यदि स्थविर हो तो उसके स्तनों में से कम दूध आता है और इससे बच्चा वृक्ष के समान पतला रह जाता है; यदि उसके स्तन स्थूल हों तो बार बार उनमें मुँह लगने से बच्चे की नाक चिपटी रह जाती है; यदि वह मंदक्षीर हो तो पर्याप्त दूध न मिलने से बच्चा कमजोर रह जाता है; और यदि उसके स्तन हथेली के मध्य भाग की भाँति

---

१. जन्म के बाद दस दिन का सूतक और मरण के बाद दस दिन का पातक माना गया है, व्यवहारभाष्यपीठिका, १७, पृ० १० ।

२. ज्ञातृधर्मकथा, १, २१ आदि; कल्पसूत्र ५, १०२-१०८; औपपातिक ४०, पृ० १८५ ।

३. व्याख्याप्रज्ञप्ति ११.११, पृ० ५४३ अ । दैनिक कृत्यों के लिए देखिए वर्धमानसूरि का आचारदिनकर; इण्डियन एंटीक्वेरी, १९०३, पृ० ४६० आदि।

४. निशीथभाष्य १३.४३८९ ।

चिपटे हों तो बच्चे के दांत आगे को निकल आते हैं और उसका मुँह सुई जैसा हो जाता है। इसी प्रकार स्नान कराने वाली दाई द्वारा यदि बालक को पानी में उत्प्लावन कराया जाय तो वह जलभीरु हो जाता है, अत्यन्त जल के भार से उसकी आँखें कमजोर हो जाती हैं और लाल रहने लगती हैं। मंडन करनेवाली दाई बालक को नजर से बचाने के लिये तिलक आदि लगाती है तथा उसके हाथों, पैरों और गले में आभूषण पहनाती है। खिलानेवाली दाई का स्वर यदि जोर का हो तो बच्चा भी जोर से बोलने लगता है, और यदि उसका स्वर धीमा हो तो बच्चा अस्पष्ट बोलता है अथवा गूँगा हो जाता है। इसी प्रकार यदि गोदी में खिलानेवाली दाई बालक को अपनी स्थूल कटि में ले तो उसके पैर फैल जाते हैं, यदि शुष्क कटि में ले तो उसकी कटि भग्न हो जाती है, निर्मांस कटि में लेने से उसकी हड्डियां दुखने लगती हैं, और यदि मांसविहीन कठोर हाथों से उसे लिया जाये तो वह भीरु बन जाता है।[1]

---
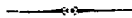
१. निशीथचूर्णी १३.४३८३-९१; पिण्डनिर्युक्ति ४१८-२६। देखिये सुश्रुत, शारीरस्थान १०.२५, पृ० २८४; तथा मूगपक्ख जातक (५३८), ९।

तीसरा अध्याय

स्त्रियों की स्थिति

स्त्रियों के प्रति सामान्य मनोवृत्ति

स्त्रियों के विषय में कहा गया है कि वे विश्वासघाती, कृतघ्न, कपटी और अविश्वासी होती हैं, इसलिए उन पर कठोर नियंत्रण रखने की आवश्यकता है। एक उक्ति है कि जिस गांव या नगर में स्त्रियाँ शक्तिशाली हैं वह निश्चय ही नाश को प्राप्त होता है।[1] मनु महाराज के शब्दों में जैनसूत्रों में कहा है—"जब स्त्री पैदा होती है तो पिता के अधीन रहती है, जब उसका विवाह हो जाता है तो पति के अधीन हो जाती है, और जब विधवा होती है तो पुत्र के अधीन हो जाती है—तात्पर्य यह कि नारी कभी स्वतंत्र नहीं रह सकती।"[2]

कोई वधू अपने घर की खिड़की में बैठी-बैठी नगर की सुन्दर वस्तुएँ देखा करती थी। कभी वह कोई जूलूस देखती, तो कभी इधर-उधर भागते हुए घोड़े या रथ से होने वाली हलचल देखती। धीरे-धीरे पर-पुरुषों में उसकी रुचि होने लगी। यह देखकर उसके श्वसुर ने उसे रोका, पर वह नहीं मानी। उसकी निन्दा की, फिर भी कोई असर न हुआ। तत्पश्चात् कोड़े से ताड़ना की, फिर भी न मानी। अन्त में उसे घर से निकाल दिया।[3]

स्त्रियों को मारने-पीटने का रिवाज था, और स्त्रियाँ इस अपमान को चुपचाप सहन कर लेती थीं।[4] किसी गृहस्थ ने अपनी चारों स्त्रियों को मारकर घर से निकाल दिया। उसकी पहली पत्नी घर से निकल कर दूसरे के घर चली गयी, दूसरी अपने कुलगृह में जाकर

---

१. व्यवहारभाष्य १, पृ० १३०।

२. जाया पिविम्बसा नारी दत्ता नारी पतिव्वसा।
विहवा पुत्तवसा नारी नत्थि नारी सयंवसा॥—व्यवहारभाष्य ३.२३३।

३. बृहत्कल्पभाष्य १.१२५९ आदि।

४. देखिए पिण्डनिर्युक्ति ३२६; तथा ज्ञातृधर्मकथा, १६, पृ० १६६; तथा अर्थशास्त्र ३.३.५९.१०।

रहने लगी, तीसरी अपने पति के किसी मित्र के घर पहुँच गयी, लेकिन चौथी पीटे जाने पर भी वहीं रही। पति अपनी चौथी पत्नी से बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उसे गृहस्वामिनी बना दिया।[1]

स्त्रियों के सम्बन्ध में कहा है कि जैसे मुर्गी के बच्चे को बिलाड़ी से सदा भय रहता है, वैसे ही ब्रह्मचारी को स्त्रियों से भयभीत रहना चाहिए।[2] ब्रह्मचारी को चाहिए कि स्त्रियों के चित्रों से शोभित भित्ति अथवा अलंकारों से शोभित नारी की ओर न देखे। यदि कदाचित् उस ओर दृष्टि पड़ भी जाये तो जैसे हम सूर्य को देखकर दृष्टि संकुचित कर लेते हैं, वैसे ही भिक्षु को भी अपनी दृष्टि संकुचित कर लेनी चाहिए। लूली, लंगड़ी अथवा नकटी और बूची ऐसी सौ वर्ष की बुढ़िया से भी भिक्षु को दूर ही रहना चाहिए।[3] स्त्रियों को प्रकृति से विषम, प्रियवचनवादिनी, कपट-प्रेमगिरि की तटिनी, अपराध-सहस्र की गृहिणी, शोक की उत्पादक, बल की विनाशक, पुरुषों का वध-स्थान, वैर की खानि, शोक का शरीर, दुश्चरित्र का स्थान, ज्ञान की स्खलना, साधुओं की वैरिणी, मत्त गज की भाँति काम के परवश, बाघिन की भाँति दुष्ट, कृष्ण सर्प के समान अविश्वासनीय, वानर की भाँति चंचल, दुष्ट अश्व की भाँति दुर्दम्य, अरतिकर, कर्कशा, अनवस्थित, कृतघ्न आदि विशेषणों से सम्बोधित किया है। उसे नारी कहा गया है, क्योंकि उसके समान पुरुषों का कोई अरि नहीं (नारी समा न नराणं अरीओ), अनेक प्रकार के कर्म और शिल्प द्वारा वे पुरुषों को मोहित करलेती हैं (नाणाविहेहिं कम्मेहिं सिप्पइयाएहिं पुरिसे मोहंति) इसलिए उन्हें महिला कहा है, पुरुषों को मत्त बना देने के कारण (पुरिसे मत्ते करेंति) उन्हें प्रमदा, महान् कलह करने के कारण (महंतं कलिं जणयंति) महिलया, पुरुषों को हावभाव आदि द्वारा मोहित करने के कारण (पुरिसे हावभावमाइएहिं रमंति) रामा, शरीर में राग-भाव उत्पन्न करने के कारण (पुरिसे

---

१. बृहत्कल्पभाष्य ५, ५७६१।

२. उत्तराध्ययनटीका १, पृ० ९–अ के एक उद्धरण में माता, बहन और कन्या के साथ एकान्त में एक आसन पर बैठने का निषेध है। अंगुत्तरनिकाय १, १, पृ० ३ में कहा है कि स्त्रीरूप, स्त्रीशब्द, स्त्रीगंध, स्त्रीरस और स्त्रीस्पर्श पुरुषों के चित्त को बरबस आकर्षित करता है।

३. दशवैकालिकसूत्र ८.५४–६।

अंगाणुराए करिंति) अंगना, अनेक युद्ध, कलह, संग्राम, शीत-उष्ण, दुःख-क्लेश आदि उत्पन्न होने पर पुरुषों का लालन करने के कारण (नाणाविहेसु जुद्धभंडणसंगामाडवीसु महारणगिण्हणसीउण्हदुक्खकिलेसमाइएसु पुरिसे लालंति) ललना, योग-नियोग आदि द्वारा पुरुषों को वश में करने के कारण (पुरिसे जोगनिओगेहिं वसे ठाविंति) योषित्,[1] तथा पुरुषों का अनेक रूपों द्वारा वर्णन करने के कारण (पुरिसे नाणाविहेहिं भावेहिं वण्णिंति) वनिता कहा गया है ।[2]

स्त्रियों के सम्बन्ध में अनेक उक्तियाँ हैं—"गंगा की वालू को, सागर के जल को और हिमालय पहाड़ की विशालता को बुद्धिमान लोग जानते हैं, लेकिन महिलाओं के हृदय को वे नहीं समझते। वे स्वयं रोती हैं, दूसरों को रुलाती हैं, मिथ्या भाषण करती हैं, अपने में विश्वास पैदा कराती हैं, कपटजाल से विष का भक्षण करती हैं, वे मर जाती हैं लेकिन सद्भाव को प्राप्त नहीं होतीं। महिलाएँ जब किसी पर आसक्त होती हैं तो वे गन्ने के रस के समान, अथवा साक्षात् शक्कर के समान प्रतीत होती हैं। लेकिन जब वे विरक्त होती हैं तो नीम से भी अधिक कटु हो जाती हैं। युवतियाँ क्षण भर में अनुरक्त और क्षणभर में विरक्त हो जाती हैं। उनके प्रेम के स्थान भिन्न-भिन्न होते हैं, हल्दी के रंग की भाँति उनका प्रेम अस्थायी होता है। हृदय से वे निष्ठुर होती हैं, तथा शरीर, वाणी और दृष्टि से वे रम्य जान पड़ती हैं। युवतियाँ सुनहरी छुरी के समान हैं।"[3]

जैनसूत्रों में स्त्रियों को मैथुनमूलक बताया गया है, जिनको लेकर

---

१. अंगुत्तरनिकाय ३,८, पृ० ३०६ में कहा है कि स्त्रियां आठ प्रकार से पुरुष को बांधती हैं—रोना, हँसना, बोलना, एक तरफ हटना, भ्रूभंग करना, गन्ध, रस, और स्पर्श।

२. तन्दुलवैचारिक, पृ० ५० आदि। तथा देखिये कुणाल जातक (५३६), पृ० ५०९ आदि; असातमंत जातक (६१), १, पृ० ३७४। स्त्रियों को वश में करने के लिये आवश्यकचूर्णी, पृ० ४६२ में निम्न श्लोक उद्धृत है—

अन्नपानैर्हरेद्बालां, यौवनस्थां विभूषया।
वेश्यास्त्रीमुपचारेण वृद्धां कर्कशसेवया॥

३. उत्तराध्ययनटीका ४, पृ० ९३; तथा भगवतीआराधना ९३८–१००२। अंगुत्तरनिकाय २, २, पृ० ४९८ में स्त्रियों को अतिक्रोधी, बदला लेनेवाली, घोरविष, द्विजिह्व और मित्रद्रोही कहा है।

कितने ही संग्राम हुए हैं। इस सम्बन्ध में सीता, द्रौपदी, रुक्मिणी, पद्मावती, तारा, कंचना[१], रक्तसुभद्रा, अहिन्निका[२], सुवर्णगुलिया, किन्नरी[३], सुरूपा[४], और विद्युन्मति[५] के उदाहरण दिये गये हैं।[६]

अन्य भी अनेक स्त्रियों के उदाहरण मिलते हैं, जिन्होंने अन्य पुरुष के प्रति आसक्त होकर अपने पति से विश्वासघात किया। वाराणसी के प्रधान श्रेष्ठी की विवाहिता कन्या मदनमंजरी अगडदत्तकुमार की ओर कटाक्षयुक्त हाव-भाव प्रदर्शित करती, तथा उसका ध्यान आकर्षित करने के लिए उस पर पुष्प, फल, पत्र आदि फेंकती। यद्यपि अगडदत्त का विवाह राजकुमारी कमलसेना से हो गया था, लेकिन फिर भी वह मदनमंजरी के प्रेम से आकृष्ट हो उसे अपने साथ ले गया। एक-बार की बात है, शंखपुर पहुँचने पर वे दोनों किसी देवकुल में ठहरे हुए थे कि मदनमंजरी किसी दूसरे पुरुष के प्रति आसक्त हो गयी और उसने अगडदत्त को मारने का षड्यंत्र रचा। यह देखकर अगडदत्त को वैराग्य हो आया और उसने श्रमण-दीक्षा स्वीकार की।[७]

दशवैकालिकचूर्णी में किसी सेठानी की कथा आती है। वह अपने पति के साथ रहते हुए भी किसी अन्य पुरुष से प्रेम करने लगी थी। स्त्री के श्वसुर ने अपने पुत्र से यह बात कही, लेकिन उसे विश्वास न हुआ। उसकी परीक्षा के लिए उसे यक्षमंदिर में भेजा गया। स्त्री ने मंदिर में स्थित पिशाच को संबोधित करते हुए कहा—हे पिशाच (उसका प्रेमी पिशाच रूप में वहाँ रहने लगा था), जिस पुरुष के साथ मेरा विवाह हुआ है, उसे छोड़कर यदि मैंने और किसी से प्रेम किया हो तो तुम ही जानते हो। यक्षमंदिर का नियम था कि यदि कोई अपराधी होता तो वह वहीं रह जाता और निर्दोषी बाहर निकल जाता। उक्त सम्बोधन सुनकर पिशाच विचार में पड़ गया कि इसने तो मुझे ही ठग लिया। इस बीच में उसकी प्रेमिका यक्ष-मंदिर से बाहर निकल आयी, और लोगों ने उसके श्वसुर को बहुत बुरा-भला कहा।[८]

---

१. कुछ लोग कांचना को ही चेल्लणा अथवा चेल्लना कहते हैं।

२. २, ३, ४, ५ इन चारों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं मिलती।

६. प्रश्नव्याकरण १६, पृ० ८५–अ–८९–अ।

७. उत्तराध्ययनटीका ४, पृ० ८३–अ आदि।

८. पृ० ८९–९१। शुकसप्तति में भी यह कहानी मिलती है, १५, पृ०

स्त्रियां को दृष्टिवाद सूत्र पढ़ने का निषेध है। इस सूत्र में सर्व-कामप्रद विद्यातिशयों का वर्णन है, तथा स्त्री स्वभाव से दुर्बल, अहंकार-बहुल, चंचल-इन्द्रिय और मानस से दुर्बल होती है, अतएव महापरिज्ञा, अरुणोपपात आदि और दृष्टिवाद पठन करने का उसे निषेध है।[1] वास्तव में देखा जाय तो जैन और बौद्ध धर्म में भिक्षुओं की अपेक्षा भिक्षुणियों के लिए अधिक कठोर संयम और अनुशासन का विधान है। जैनसूत्रों में उल्लेख है कि तीन वर्ष की पर्यायवाला निर्ग्रन्थ तीस वर्ष की पर्यायवाली श्रमणी का उपाध्याय तथा पाँच वर्ष की पर्यायवाला निर्ग्रन्थ साठ वर्ष की पर्यायवाली श्रमणी का आचार्य हो सकता है।[2]

ध्यान रखने की बात है कि स्त्रियों के सम्बन्ध में जो निन्दासूचक उल्लेख ऊपर किये गये हैं, वे सामान्यतया साधारण समाज द्वारा मान्य नहीं हैं, इससे यही जान पड़ता है कि स्त्रियों के आकर्षक सौन्दर्य से कामुकतापूर्ण साधुओं की रक्षा करने के लिए, स्त्री-चरित्र को लांछित करने का यह प्रयत्न है। अन्य धर्मियों के तत्कालीन लेखों के अध्ययन से यह प्रतीत नहीं होता कि स्त्रियां एकदम से कैसे दुनिया भर के दोषों की खान हो गयीं, सो भी विशेषकर जैन और बौद्धकाल में। बृहत्संहिता के कर्ता वराहमिहिर ने बड़े साहसपूर्वक उल्लेख किया है—"जो दोष स्त्रियों में बताये जाते है वे पुरुषों में भी मौजूद हैं। अन्तर इतना ही है कि स्त्रियां उन्हें दूर करने का प्रयत्न करती हैं जब कि पुरुष उनसे बेहद उदासीन रहते हैं। विवाह की प्रतिज्ञाएं वर-वधू दोनों ही ग्रहण करते हैं। लेकिन पुरुष उन्हें साधारण मानकर चलते हैं, जब कि स्त्रियां उन पर आचरण करती हैं। काम-वासना से कौन अधिक पीड़ित होता है? पुरुष—जो वृद्धावस्था में भी विवाह करते हैं—या स्त्री—जो बाल्यावस्था में विधवा हो जाने पर भी

५६, रिचार्ड श्मित द्वारा सम्पादित, लीपज़िग, १८९३। अपनी पत्नी की गुलामी करनेवाले छह अधम पुरुषों के लिये देखिये निशीथभाष्य १३.४४५१।

१. बृहत्कल्पभाष्य पीठिका, १४६; तथा व्यवहारभाष्य ५.१३९।

२. व्यवहार ७.१५-१६; ७.४०७। बौद्धधर्म में आठ गुरुधर्मों के अन्तर्गत बताया गया है कि यदि कोई भिक्खुनी सौ वर्ष की पर्यायवाली हो तो भी उसे अभी हाल के प्रव्रजित भिक्खु का अभिवादन करना चाहिए और उसे देखकर उठना चाहिए, चुल्लवग्ग, १०,१.२ पृ० ३७४–५।

सदाचरण का जीवन व्यतीत करती है ? पुरुष, जब तक उनकी पत्नियां जीवित रहती हैं, तब तक उनके साथ निस्सन्देह प्रेम का वार्तालाप करते रहते हैं, लेकिन उनके मरते ही वे दूसरे विवाह का सोच-विचार करने लगते हैं। इसके विपरीत, स्त्रियां अपने पतियों के प्रति कृतज्ञता का भाव प्रदर्शित करती हैं, तथा उनकी मृत्यु के बाद, दाम्पत्य प्रेम से प्रेरित होकर, उनका अनुगमन करती हुईं चिता पर भस्म हो जाती हैं। तब फिर प्रेम में कौन अधिक निष्कपट है ? स्त्री या पुरुष ? पुरुष के लिए यह कहना कि स्त्रियां चंचल होती हैं, दुर्बल होती हैं और अविश्वसनीय होती हैं, धृष्टता और कृतघ्नता की चरम-सीमा है। इससे उन कुशल चोरों की याद आती है जो पहले तो अपना लूटा हुआ धन अन्यत्र भिजवा देते हैं, और फिर निरपराधी पुरुषों को चुनौती देते हुए उनसे उस धन की मांग करते हैं।"[1]

दूसरा पक्ष

स्त्रियों का दूसरा पक्ष भी है जिसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। हमें ऐसी सती-साध्वी स्त्रियों के अनेक उदाहरण मिलते हैं जो पातिव्रत धारण करती हुई प्रेम और आनन्दपूर्वक जीवन-यापन करती हैं। तीर्थंकर आदि शलाकापुरुषों को जन्म देनेवाली स्त्रियां ही हैं। ऐसी अनेक स्त्रियों के उल्लेख मिलते हैं जो गतपतिका, मृतपतिका, बालविधवा, परित्यक्ता, मातृ-रक्षिता, पितृरक्षिता, भ्रातृरक्षिता, कुलगृहरक्षिता और श्वसुरकुलरक्षिता हैं, नख और केश जिनके बढ़ गये हैं, स्नान न करने के कारण स्वेद आदि से परितप्त हैं, दूध-घी-दही-मक्खन-तेल-गुड़-नमक-मद्य-मांस-मधु का जिन्होंने त्याग कर दिया है, तथा जिनकी इच्छा अत्यन्त अल्प है, फिर भी वे किसी उपपति की ओर मुंह उठाकर नहीं देखतीं।[2]

स्त्रियों को चक्रवर्ती के चौदह रत्नों में गिना गया है।[3] मल्लि-कुमारी ने स्त्री होकर भी तीर्थंकर की पदवी प्राप्त की।[4] स्त्रियों के संबंध

---

१. बृहत्संहिता ७६.६.१२, १४, १६, १६; तथा ए० एस० आल्तेकर, द पोज़ीशन ऑव वीमेन इन हिन्दू सिविल्ज़ेशन, पृ० ३८७।

२. औपपातिकसूत्र ३८, पृ० १६७–६८।

३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ३.६७; उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २४७–अ। देखिए दीघनिकाय १, अम्बट्ठसुत्त पृ० ७७। यहां चक्र, हस्ति, अश्व, मणि, स्त्री, गहपति और परिणायक रत्नों का उल्लेख है।

४. ज्ञातृधर्मकथा ८। ध्यान रखने की बात है कि श्वेताम्बर परम्परा के

में कथन है कि जल, अग्नि, चोर, दुष्काल का संकट उपस्थित होने पर सर्वप्रथम स्त्री की रक्षा करनी चाहिए।[1] इसी प्रकार डूबते समय भिक्षु-भिक्षुणी में से पहले भिक्षुणी को, और क्षुल्लक-क्षुल्लिका में से पहले क्षुल्लिका को बचाना चाहिए।[2] भोजराज उग्रसेन की कन्या राजीमती का नाम जैन आगमों में बड़े आदरपूर्वक लिया जाता है। विवाह के अवसर पर बाड़ों में बंधे हुए पशुओं का चीत्कार सुन, जब अरिष्टनेमि को वैराग्य हो आया तो राजीमती ने भी उनके चरण-चिह्नों का अनुगमन कर श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। एकबार की बात है, अरिष्टनेमि, उनका भाई रथनेमि और राजीमती तीनों गिरनार पर्वत पर तप कर रहे थे। इस समय वर्षा के कारण राजीमती के वस्त्र गीले हो गये। उसने अपने वस्त्रों को निचोड़कर सुखा दिया और वह पास की एक गुफा में खड़ी हो गयी। संयोगवश, इस समय रथनेमि भी उसी गुफा में ध्यान में अवस्थित थे। राजीमती को निर्वस्त्र अवस्था में देख उनका मन चलायमान हो गया। उन्होंने राजीमती को भोग भोगने के लिए निमन्त्रित किया। राजीमती ने इसका विरोध किया। उसने मधु और घृत युक्त पेय का पानकर ऊपर से मदनफल खा लिया, जिससे उसे वमन हो गया। रथनेमि को शिक्षा देने के लिए वमन किये हुए पेय को उसने रथनेमि को प्रदान कर व्रतपालन में दृढ़ता प्रदर्शित की।[3]

इस प्रकार के उदाहरण भी मिलते हैं जब पुरुष अपनी स्त्रियों के सतीत्व के विषय में शंकास्पद रहते थे। एक बार, राजा श्रेणिक भगवान् महावीर की वन्दना करके सायंकाल के समय घर लौट रहे थे। माघ का महीना था। मार्ग में चेल्लणा ने एक साधु को प्रतिमा में स्थित देखा। घर आकर वह सो गयी। रात को सोते-सोते उसका हाथ नीचे लटक गया और वह ठंड से सुन्न हो गया। इससे चेल्लणा के सारे शरीर में शीत व्याप्त हो गयी। यह देखकर रानी के मुंह से अचानक ही निकल पड़ा—"उस बेचारे का क्या हाल होगा ?" राजा ने समझा,

---

अनुसार (कल्पसूत्रटीका २, पृ० ३२ अ–४२ अ), स्त्रियों द्वारा निर्वाण प्राप्त करने को दस आश्चर्यों में गिना गया है। दिगम्बरों के अनुसार मल्लि को मल्लिकुमार माना गया है और इस परम्परा में स्त्रीमुक्ति का निषेध है।

१. बृहत्कल्पभाष्य ४.४२३४–४६।

२. वही ४.४३४९।

३. दशवैकालिकसूत्र २.७–११; दशवैकालिकचूर्णी २, पृ० ८७; उत्तराध्ययनसूत्र २२।

अवश्य ही रानी ने किसी पुरुष को आने का संकेत दे रखा है। बस, क्रोध में आकर उसने अभयकुमार को अंतःपुर में आग लगा देने का आदेश दिया। उसके बाद अपनी शंका की निवृत्ति के लिए श्रेणिक ने भगवान् महावीर के पास पहुँच कर प्रश्न किया—"महाराज, चेल्लणा के एक पति है या अनेक?" महावीर ने उत्तर दिया—"एक।" यह सुनकर श्रेणिक तुरन्त ही वापिस लौटा। आते ही उसने अभयकुमार से पूछा—"क्या तुमने अंतःपुर में आग लगवा दी?" अभयकुमार ने कहा—"हां महाराज।" श्रेणिक ने कहा—"तुम भी उसमें क्यों न जल मरे?" अभय ने उत्तर दिया—"महाराज, मैं तो यह सब कांड देखकर प्रव्रज्या लेने जा रहा हूँ।"[1]

चम्पा के जिनदत्त श्रावक की कन्या सती सुभद्रा का विवाह किसी बौद्ध उपासक से हुआ था। उस पर दोषारोपण किया गया कि श्वेतपट भिक्षुओं के साथ उसका अवैध सम्बन्ध है। यह बात उसके पति से कही गयी, लेकिन उसे विश्वास न हुआ। एकबार, किसी क्षपक (जैन साधु) की आंख में चावल का कण गिर पड़ा। सुभद्रा ने उसकी पीड़ा शान्त करने के लिए उस कण को अपनी जीभ से निकाल दिया। ऐसा करते समय, सुभद्रा और क्षपक का मस्तक एक-दूसरे से स्पर्श कर गया, और सुभद्रा के मस्तक पर लगा हुआ लाल तिलक (चीणपिट्ठ) क्षपक के मस्तक पर भी लग गया। यह चिह्न सुभद्रा के पति को दिखाया गया और उसने लोगों की बातों पर विश्वास कर लिया। अन्त में सुभद्रा के सतीत्व की परीक्षा की गयी, और कहते हैं कि उसके शील के प्रभाव से चम्पा नगरी के चारों द्वार अपने-आप खुल गये, और छलनी में से पानी गिरना रुक गया।[2]

देखा जाय तो जैन और बौद्धधर्म दोनों के ही अनुसार स्त्रीत्व निर्वाणसिद्धि में बाधक नहीं था। जैनसूत्रों में ब्राह्मी, सुंदरी, चंदना, मृगावती आदि ऐसी कितनी ही महिलाओं के उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने संसार का त्याग कर सिद्धि प्राप्त की और जनता को हित का उपदेश दिया।[3] आर्यचन्दना, महावीर की प्रथम शिष्या थी। श्रमणियों में उनका बहुत ऊंचा स्थान था; अनेक साध्वियों ने उनके नेतृत्व में

१. बृहत्कल्पभाष्यपीठिका १७२, पृ० ५८।

२. दशवैकालिकचूर्णी १, पृ० ४९ आदि।

३. देखिए अन्तःकृद्दशा ५, ७, ८; ज्ञातृधर्मकथा २ श्रुतस्कन्ध, १-१०, पृ० २२०-३०।

रहकर, सम्यक्चारित्र का पालन करते हुए मोक्ष की प्राप्ति की।[1] जयन्ती, कौशाम्बी के राजा शतानीक की भगिनी थी। अमूल्य वस्त्रों का त्याग कर वह साध्वी बन गयी थी।[2]

विवाह

हिन्दुओं के अनुसार, विवाह स्त्री और पुरुष में केवल ठेकाभर नहीं, बल्कि एक आध्यात्मिक एकता है और एकता का वह पवित्र बंधन है जो दैवी विधान से सम्पन्न होता है। इस प्रकार के विवाह का एक उद्देश्य यह भी था कि वंश की बेल जारी रहे[3] और इसके लिए यह आवश्यक था कि वर, प्राप्य उत्तम कन्या को, तथा कन्या, प्राप्य उत्तम वर को प्राप्त करे। विवाह के पश्चात् पति और पत्नी में सम्पूर्ण सामंजस्य रहना आवश्यक है।

विवाह की वय

जैन आगमों में विवाह के योग्य निश्चित अवस्था की जानकारी हमें नहीं मिलती। हां, इतना अवश्य कहा गया है कि वर और वधू को समान वय होना चाहिए। जान पड़ता है कि प्राचीन भारत में बड़ी अवस्था में विवाह होना हानिप्रद समझा जाता था। एक लोकश्रुति उद्धृत की गयी है कि यदि कन्या रजस्वला हो जाय तो जितने उसके रुधिर के बिन्दु गिरें, उतनी ही बार उसकी माता को नरक का दुःख भोगना पड़ता है।[4]

विवाह के प्रकार

जैनसूत्रों में विवाह के तीन प्रकारों का उल्लेख मिलता है—वर और कन्या दोनों पक्षों के माता-पिताओं द्वारा आयोजित विवाह, स्वयंवर विवाह तथा गांधर्व विवाह। प्रचलित विवाह दोनों पक्षों के माता-पिताओं द्वारा आयोजित किया जाता था। साधारणतया अपनी ही जाति में विवाह करने का रिवाज था। बौद्ध जातकों की भांति, जैन आगमों में भी समान स्थिति तथा समान व्यवसाय वाले लोगों के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित कर, अपने वंश को शुद्ध रखने का प्रयत्न किया गया है जिससे कि निम्न जातिगत तत्त्वों के सम्मिश्रण से कुल

---

१. देखिए अन्तःकृद्दशा ८; कल्पवृत्र ५.१३५।

२. व्याख्याप्रज्ञप्ति १२.२, पृ० ५५६।

३. पुत्रार्था हि स्त्रियः—अर्थशास्त्र ३.२.५९.५३।

४. पिण्डनिर्युक्तिटीका ५०९।

की प्रतिष्ठा भंग न हो[१]। सामान्यतया वर के माता-पिता समान कुल वाले परिवार से ही कन्या ग्रहण करते थे। मेघकुमार ने समान वय, समान रूप, समान गुण और समान राजोचित पद वाली आठ राजकुमारियों से पाणिग्रहण किया।[२] वैसे इस अपवाद के उदाहरण भी अनेक स्थानों पर मिलते हैं। उदाहरण के लिए, राजमंत्री तेयलिपुत्र ने एक सुनार की कन्या से,[३] क्षत्रिय गजसुकुमाल ने ब्राह्मण की कन्या से,[४] राजा जितशत्रु ने चित्रकार की कन्या से,[५] तथा राजकुमार ब्रह्मदत्त ने ब्राह्मण और वणिकों की कन्याओं से,[६] पाणिग्रहण किया। विविध धर्मावलम्बियों में भी विवाह होते थे। वीतिभय का राजा उद्रायण तापसों का भक्त था और उसकी रानी प्रभावती श्रमणोपासिका थी।[७] इसी तरह श्रमणोपासिका सुभद्रा का विवाह किसी बौद्धधर्मानुयायी के साथ हुआ था।[८]

विवाह-शादी के मामले में प्रायः घर के बड़े-बूढ़े एक-दूसरे से सलाह-मशविरा करते, और फिर अपने निर्णय को अपनी सन्तान से कहते। लड़के का मौन विवाह की स्वीकृति का सूचक समझा जाता। चम्पा नगरी के व्यापारी जिनदत्त ने सागरदत्त की रूपवती कन्या को सोने की गेंद (कणगतिन्दुसय) से खेलते हुए देखा। यह देखकर जिनदत्त अपने लड़के के साथ सागरदत्त की कन्या के विवाह का प्रस्ताव लेकर सागरदत्त के पास पहुँचा। उसके बाद जिनदत्त ने घर जाकर अपने लड़के के सामने यह प्रस्ताव रखा, और उसने अपने मौन से इस सम्बन्ध की अनुमति प्रदान की।[९]

---

१. देखिए पिक, वही, पृ० ५१ आदि।

२. *ज्ञातृधर्मकथा* १, पृ० २३।

३. वही, १४, पृ० १४८।

४. *अन्तःकृद्दशा* ३, पृ० १६।

५. *उत्तराध्ययनटीका* ९, पृ० १४१-अ आदि।

६. वही, पृ० १८८-अ, १९२-अ। मनु के काल में अन्तर्जातीय विवाह आजकल की अपेक्षा बहुत अधिक लचीला था। अनुलोम विवाद ईसवी सन् की ८ वीं शताब्दी तक असाधारण नहीं हुए थे, अल्तेकर, वही, पृ० ८८।

७. *आवश्यकचूर्णी*, पृ० ३९९।

८. *दशवैकालिकचूर्णी*, पृ० ४८-४९।

९. *ज्ञातृधर्मकथा* १६, पृ० १६८ आदि; तथा *अन्तःकृद्दशा* ३, पृ० १६।

विवाह के लिये शुल्क

विवाह में वर अथवा उसके पिता द्वारा, कन्या के पिता अथवा उसके परिवार को शुल्क देना पड़ता था। कनकरथ राजा के मन्त्री तेयलीपुत्र का उल्लेख किया जा चुका है। पोट्टिला मूषिकादारक नामक सुनार की एक सुन्दर कन्या थी। एक दिन स्नान आदि कर और सर्वालंकार भूषित हो, अपने प्रासाद पर बैठी हुई अपनी चेटियों के साथ वह गेंद खेल रही थी। इधर से तेयलिपुत्र अश्व पर आरूढ़ हो, अश्ववाहनिका के लिए जा रहे थे। तेयलिपुत्र पोट्टिला के रूप-लावण्य को देखकर मुग्ध हो गया। उसने अपने विश्वस्त पुरुषों को बुलाकर मूषिकादारक के पास कन्या की मंगनी के लिए भेजा। उन्होंने जब कन्या के शुल्क के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो कन्या के पिता ने उत्तर दिया—"मेरा यही शुल्क है कि स्वयं मंत्री मेरी कन्या से विवाह करना चाहते हैं।" कुछ समय बाद, शुभ तिथि में पोट्टिला को स्नान आदि करा और पालकी में बैठाकर मूषिकादारक अपने इष्ट-मित्रों के साथ तेयलिपुत्र के घर गया। वहां वर और वधू दोनों एक पट्ट पर बैठे, श्वेत और पीत कलशों से उन्हें स्नान कराया गया, अग्निहोम हुआ और तत्पश्चात् दोनों का पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ।[१] कोई व्यापारी अपनी स्त्री से इसलिए अप्रसन्न था कि न तो वह नौकरों से ठीक तरह काम करा सकती थी और न उन्हें ठीक समय पर भोजन ही देती थी। उसने उसे घर से निकाल दिया और बहुत-सा शुल्क देकर दूसरा विवाह किया।[२] किसी चोर के पास बहुत-सा धन था, उसने यथेच्छ शुल्क देकर किसी कन्या से विवाह किया।[३] अंग देश के राजा चन्द्रच्छाय ने मिथिला की राजकुमारी मल्लि की कीमत आंकते हुए बताया कि सारा राज्य उसके लिए पर्याप्त होगा।[४] चंपा के कुमारनंदी सुवर्णकार ने पाँच-पाँच सौ सुवर्ण देकर अनेक सुन्दरी कन्याओं के साथ विवाह किया।[५]

---

१. ज्ञातृधर्मकथा १४, पृ० १४८ आदि; तथा विपाकसूत्र ९, पृ० ५२-५५।
२. उत्तराध्ययनटीका ४, पृ० ९७।
३. उत्तराध्ययनचूर्णी, पृ० ११०।
४. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० १०३।
५. आवश्यकचूर्णी, पृ० ८९।

प्रीतिदान

मेघकुमार का आठ राजकन्याओं के साथ विवाह किये जाने का उल्लेख ऊपर आ चुका है। इस अवसर पर मेघकुमार के माता-पिता ने अपने पुत्र को विपुल धन, कनक, रत्न, मणि, मुक्ता, शंख, विद्रुम, और पद्मराग आदि प्रीतिदान में दिये जिन्हें मेघकुमार ने अपनी आठों पत्नियों में बांट दिये। प्रीतिदान की विस्तृत सूची यहां दी जाती है :—आठ कोटि हिरण्य, आठ कोटि सुवर्ण, आठ मुकुट, आठ कुंडल, आठ हार, आठ अर्धहार, आठ एकावलि, आठ मुक्तावलि, आठ कनकावलि, आठ रत्नावलि, आठ कड़ों (कडय) की जोड़ी, आठ बाजूबंदों (तुडिय) की जोड़ी, आठ कार्पासिक वस्त्रों की जोड़ी, आठ टसर (वडग) के वस्त्रों की जोड़ी, आठ रेशमी वस्त्रों (पट्ट) की जोड़ी, आठ दुकूल वस्त्रों की जोड़ी, आठ श्री-ह्री-धृति-कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्मी इन छह देव-प्रतिमाओं की जोड़ी, आठ गोल लोहे के आसन (नंदा), मूढे (भद्रा), तला (? तालवृक्ष-टोकाकार), और ध्वजाओं की जोड़ी, आठ गायों के व्रज, बत्तीस-बत्तीस पात्रों वाले ८ नाटक, आठ रत्नमय अश्व, आठ रत्नमय हस्ती, आठ यान, आठ युग्य, आठ शिबिका, आठ स्यंदमानी, आठ गिल्ली, आठ थिल्ली, आठ अनाच्छादित वाहन, आठ रथ, आठ ग्राम, आठ दास, आठ दासी, आठ किंकर, आठ कंचुकी, आठ महत्तर, आठ वर्षधर, आठ दीपक, आठ थाल, आठ पात्री, आठ थासग (परात), आठ मल्लग (पात्रविशेष), आठ चमचे (कइविय), आठ अवएज (पात्रविशेष), आठ अवपक्क (तवी), आठ पावीढ (आसन), आठ भिसिका, आठ करोडिआ (लोटा), आठ पल्यंक (पलंग), आठ पडिसिज्जा (छोटी शय्या), आठ हंस-क्रौंच-गरुड़-अवनत-प्रणत-दीर्घ-भद्र-पक्ष-मगर-पद्म-दिसासोत्थिय आसन, आठ तेल-कुष्ठ-पत्र-चोय-तगर-एला-हरताल-हिंगुल-मनशिला-सरसों के समुद्गक (डिब्बे), आठ कुब्जा-किराती-वामना-वडभी-बर्बरी-बकुशी-योनिका-पल्हविया-ईसणिया-धोरुकिनी-लासिया-लकुसिका-द्राविडी-सिंहली-आरबी-पुलिंदी-पक्कणी-मुरुंडी-शबरी-पारसी दासियां, आठ छत्र-चामर-तालवृन्त-स्थगिका (पानदान) धारण करने वाली, आठ क्षीर-मंडन-मज्जन-क्रीडापन-अंक नामक दाइयां, आठ अंगमर्दिका-उन्मर्दिका-विमर्दिका, आठ वर्ण और चूर्ण पीसने वाली, आठ क्रीड़ाकरी, आठ दवगारी (हंसाने वाली), आठ आस्थान-मंडप में खड़ी रहने वाली (उवत्थाणिया अथवा उच्छाविया), आठ नाटक रचाने वाली

(नाडइल्ल), आठ साथ जाने वाली (कोडुंविणी), आठ रसोई करने वाली (महाणसिणी), आठ भण्डार देखने वाली (भण्डारी), आठ बच्चों को ले जाने वाली (अज्झधारिणी), आठ पुप्फधारिणी, आठ पाणीय (जल) धरी, आठ वलिकारी, आठ शय्याकारी, आठ अभ्यन्तरिका, आठ वाहिरिया (वाह्यधारी), आठ प्रतिहारी, आठ मालाकारी और आठ समाचार ले जाने वाली (पेसणकारी) आदि ।[1]

दहेज की प्रथा

उन दिनों दहेज की प्रथा थी, तथा स्त्रियाँ माल और मिल्कियत के रूप में बहुत-सा दहेज शादी में अपने साथ लाती थीं। राजगृह के गृहपति महाशतक के रेवती आदि १३ पत्नियाँ थीं। इनमें रेवती अपने पिता के घर से आठ कोटि हिरण्य और आठ व्रज लेकर आयी, शेष स्त्रियाँ एक-एक कोटि हिरण्य और एक-एक व्रज लेकर आयी थीं।[2] इसी तरह वाराणसी के राजा ने अपने जमाई को १,००० गाँव, १०० हाथी, बहुत-सा माल-खजाना (भण्डार), एक लाख सिपाही और १० हजार घोड़े दहेज में दिये थे।[3]

विवाह-समारम्भ

माता-पिता द्वारा आयोजित विवाह में साधारणतया वर कन्या के घर जाता। अरिष्टनेमि ने सब प्रकार की औषधियों से स्नान कर, कृत-कौतुक मंगलयुक्त हो, दिव्य वस्त्र धारण कर, आभूषणों से विभूषित हो, और गंधहस्ति पर सवार होकर विवाह के लिए प्रस्थान किया।[4] तत्पश्चात् विवाहोत्सव (वारेज्जमहूसव) के अवसर पर राजीमती को सर्वालंकार से विभूषित किया गया, और अरिष्टनेमि भी दिव्य रमणियों के साथ हाथी पर सवार हुए। मंगल वाद्य बजने लगे, ध्वजायें फहरायी गयीं, शंखों की ध्वनि सुनाई दी, मंगल-गीत गाये जाने लगे

---

१. ज्ञातृधर्मकथा १, सूत्र २१, पृ० ४२-अ आदि तथा टीका; व्याख्याप्रज्ञप्ति ३, पृ० २४४ आदि, बेचरदास का संस्करण; ११.११, पृ० ५४५-४६ अ, अभयदेव की टीका; अन्तःकृद्दशा, पृ० ३३-३५, बार्नेट का संस्करण।

२. उपासकदशा ४, पृ० ६१; तथा आल्तेकर, वही, पृ० ८२-४।

३. उत्तराध्ययनटीका, ४ पृ० ८८; तथा रामायण १.७४.४ आदि; मेहता, प्री-बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० २८१।

४. उत्तराध्ययनसूत्र २२.९-१०।

और मागधगण जय-विजय से बधाई देने लगे।[1] यद्यपि ऐसे भी उदाहरण हैं जब कि कन्या को वर के घर जाना पड़ता। उत्सव के लिये शुभ मुहूर्त और शुभ तिथि देखी जाती,[2] तथा वर और बारात को बड़े आदर-सत्कार के साथ भोजन-पान कराया जाता। चम्पा के सागर के विषय में कहा गया है कि स्नान, बलिकर्म, कौतुक और प्रायश्चित्त करने के पश्चात् उसने अपने शरीर को अलंकारों से विभूषित किया, तथा अपने मित्र और सगे-सम्बन्धियों के साथ सुकुमालिया से विवाह करने के लिए वह सागरदत्त के घर पहुँचा। सागर और सुकुमालिया दोनों को एक पट्ट पर बैठाया गया, श्वेत और पीत कलशों द्वारा उन्हें स्नान कराया गया, अग्नि को आहुति दी गयी, तथा सधवा स्त्रियों द्वारा गाये हुए मंगल-गीतों और चुम्बनों के साथ विवाहोत्सव सम्पन्न हुआ।[3]

स्वयंवर विवाह

ऐसे अनेक उदाहरण जैन सूत्रों में उपलब्ध होते हैं जब कि यौवन अवस्था प्राप्त कर लेने पर कन्यायें, सभा में उपस्थित विवाहार्थियों में से किसी एक को अपना पति चुन लेती थीं। द्रौपदी कांपिल्यपुर के राजा द्रुपद की पुत्री थी। एक दिन, अन्तःपुरिकाओं ने विभूषित कर उसे राजा के पाद-वंदनार्थ भेजी। राजा ने बड़े प्रेम से उसे गोद में बैठाया, और उसके रूप-लावण्य से विस्मित हो उसका स्वयंवर रचाने का विचार किया। इसके पश्चात् द्रुपद राजा ने अपने दूतों को बुलवाया, तथा द्वारका, हस्तिनापुर, चम्पा, मथुरा, राजगृह, वैराट आदि नगरों में जाकर कृष्णवासुदेव, समुद्रविजय, बलदेव, उग्रसेन, पाण्डु और उनके पांच पुत्र, दुर्योधन, गांगेय, विदुर, अश्वत्थामा, अंग के राजा कर्ण, शिशुपाल, दमदन्त, जरासंध के पुत्र सहदेव, रुक्मि और कीचक आदि राजाओं-महाराजाओं को स्वयंवर में पधारने का निमंत्रण देने का आदेश दिया। तत्पश्चात् राजा ने गंगा नदी के पास सैकड़ों स्तम्भ गाड़कर, क्रीड़ा करती हुई पुतलियों सहित स्वयंवर-मण्डप सजाने को कहा। अतिथियों के ठहरने के लिए सुन्दर आवासों का प्रबन्ध किया गया। उसके बाद कृष्णवासुदेव आदि का आगमन सुनकर द्रुपद राजा

---

१. वही, पृ० २७८–अ।

२. तथा देखिये निशीथचूर्णी ३.१६८६।

३. ज्ञातृधर्मकथा १६, पृ० १६१।

अपने हाथी पर सवार हो, अर्घ्य आदि ले उनके स्वागत के लिए चला। विपुल अशन, पान, सुरा-मद्य, मांस, सीधु, प्रसन्ना तथा भांति-भांति के सुगंधित पुष्प, वस्त्र, गंध, माल्य और अलंकारों से उनका सत्कार किया गया। इसके पश्चात् नगर-भर में पटह द्वारा द्रौपदी के स्वयंवर की घोषणा की गयी। स्वयंवर-मण्डप भांति-भांति के पुष्पों, पुष्पगुच्छों और सुगंधित मालाओं से महक रहा था; अगर, कुन्दरुक्क और तुरुष्क की गंध सब जगह फैल रही थी तथा अतिथियों के बैठने के लिए सुन्दर गैलरियां (मंचातिमंचकलित) बनायी गयी थीं। शीघ्र ही आगन्तुक राजा-महाराजा अपने-अपने नामांकित आसनों पर आकर बैठ गये और द्रौपदी के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। उधर स्नान आदि करने के पश्चात् द्रौपदी ने जिनगृह में प्रवेश किया और जिन भगवान् की पूजा-उपासना करने के बाद वह अन्तःपुर में गयी। अन्तःपुरिकाओं ने उसे सर्वालंकारों से विभूषित किया। फिर वह अपनी चेटिकाओं के साथ रथ पर सवार हुई, तथा क्रीड़ापनिका और लेखिका दासियों को लेकर स्वयंवर-मण्डप में पहुँची। वहाँ पहुँचकर कृष्णवासुदेव आदि राजाओं को उसने प्रणाम किया। द्रौपदी स्वयंवर माला लेकर आगे बढ़ी। क्रीड़ापनिका दासी भी उसके साथ-साथ चल रही थी। उसके बायें हाथ में एक सुन्दर दर्पण था, और उसमें जिस राजा का प्रतिबिम्ब पड़ता था, उसके वंश, बल, सामर्थ्य, गोत्र, पराक्रम, लावण्य, शास्त्राभ्यास, माहात्म्य, रूप, यौवन तथा कुल और शील का वह परिचय देती चलती थी। चलते-चलते जब द्रौपदी पांच पाण्डवों के पास आयी तो वहां रुकी और उनके गले में उसने वरमाला डाल दी। यह देखकर कृष्णवासुदेव आदि राजाओं ने प्रसन्नता व्यक्त की। इसके बाद द्रौपदी पाँच पाण्डवों के साथ अपने घर आ गयी। वहां उन सबको एक पट्ट पर बैठाकर श्वेत और पीत कलशों द्वारा उनका अभिषेक किया गया, अग्निहोम हुआ, प्रीतिदान दिया गया और इस प्रकार पाणिग्रहण की विधि सम्पन्न हुई।[1]

मथुरा के राजा जितशत्रु ने अपनी कन्या निव्वुइ (निर्वृति) को अपनी मन-पसन्द शादी करने के लिए कहा। अपने पिता का आदेश पाकर निव्वुइ स्वयंवर की सामग्री के साथ इन्द्रपुर नगर में आयी। वहां राजा इन्द्रदत्त अपने बाईस पुत्रों के साथ रहता था। राजा इन्द्रदत्त

१. वही, १६, पृ० १७६–८२।

ने जब यह समाचार सुना तो वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने अनेक राजाओं को स्वयम्वर में उपस्थित होने के लिए निमंत्रण भिजवाया। पताका आदि से नगर को सज्जित किया गया, और वहाँ रंग-मण्डप बनवाया गया। पहिये के एक धुरे (अक्ख) में, आठ चक्रों के ऊपर एक पुतली स्थापित की गयी और घोषणा की गयी कि जो कोई उस पुतली की आंख का छेदन कर दे, वही कन्या का अधिकारी होगा और आधा राज्य उसे दिया जायेगा। राजा इन्द्रदत्त अपने पुत्रों के साथ स्वयंवर-मण्डप में उपस्थित हुआ, लेकिन उसके पुत्रों को धनुर्विद्या का अभ्यास नहीं था। कोई तो धनुष भी ठीक से नहीं पकड़ सकता था। यह देखकर राजा बड़ा निराश हुआ। अन्त में राजा के मन्त्री ने उसका ध्यान राजा के एक अन्य पुत्र की ओर आकर्षित किया जो मंत्री की कन्या से उत्पन्न हुआ था। अन्त में जब उसे खड़ा किया गया तो सभा-भवन में चारों ओर से शोर मचने लगा। एक ओर से आवाज आयी कि यदि पुतली की आंख न बींध सकोगे तो धड़ से सिर उड़ा दिया जायेगा। लेकिन इन सब बातों के कहने-सुनने का कोई असर उस पर न हुआ और उसने पुत्तलिका का वेधन कर वरमाला प्राप्त की।[1]

मालूम होता है कि प्रायः राजा-महाराजा ही अपनी कन्याओं के लिए स्वयंवर रचाते थे। सम्भवतः मध्यम वर्ग के लोगों में स्वयंवर की प्रथा नहीं थी। हां, कुछ ऐसे उल्लेख अवश्य मिलते हैं जिनसे पता लगता है कि निम्न-वर्ग के लोगों में यह प्रथा थी। उदाहरण के लिए, तोसलि देश में स्वयंवरशाला होने का उल्लेख मिलता है। यह शाला गांव के बीचोंबीच बनी थी। इसमें एक अग्नि-कुण्ड स्थापित किया जाता था, जहां स्वयंवर के लिए हमेशा अग्नि जलती रहती थी। इस शाला में एक स्वयंवरा दासचेटी और बहुत से दासचेटक प्रवेश करते थे, और जिस चेटक को कन्या पसन्द कर लेती, उसी के साथ उसका विवाह हो जाता था।[2]

गंधर्व विवाह

इस विवाह में वर और कन्या अपने माता-पिता की अनुमति के बिना ही, बिना किसी धार्मिक विधि-विधान के, एक-दूसरे को पसन्द

---

१. उत्तराध्ययनटीका, ३, पृ० ६५-अ आदि।

२. बृहत्कल्पभाष्य ३.३४४६।

कर लेते थे। सुभद्रा कृष्णवासुदेव की भगिनी थी। वह पांडु के पुत्र अर्जुन को चाहने लगी; इसीलिए जैन परम्परा में उसे रक्तसुभद्रा नाम से कहा गया है। एक दिन रक्तसुभद्रा अर्जुन के समीप चली गयी। कृष्ण ने उसे वापिस बुलाने के लिए सेना भेजी, लेकिन कोई प्रयोजन सिद्ध न हुआ। उसके माता-पिता की अनुमति के बिना ही अर्जुन ने उसके साथ विवाह कर लिया।[1] इसी प्रकार गंधर्व देश के पुंड्रवर्धन नामक नगर के सिंहराजः की कथा का उल्लेख आता है। एक बार उत्तरापथ से उसके यहां दो घोड़े भेजे गये। एक पर स्वयं राजा सवार हुआ, दूसरे पर राजपुत्र। राजा का घोड़ा राजा को बहुत दूर ले गया। राजा ने घोड़े से उतर कर उसे एक वृक्ष के नीचे बांध दिया। वहां पर्वत के शिखर पर सात तल का एक प्रासाद था जिसमें एक युवती रहती थी। राजा ने उसके साथ गंधर्व विवाह कर लिया।[2] तरंगलोला में तरंगवती की कथा आती है। वत्स देश के धनदेव सेठ ने अपने पुत्र पद्मदेव के लिए तरंगवती की मंगनी की। लेकिन तरंगवती के पिता ने इनकार कर दिया। इस पर तरंगवती को बड़ी निराशा हुई। अपनी सखी को लेकर वह पद्मदेव के घर पहुँची। वहां से दोनों नाव में बैठकर यमुना नदी के उस पार चले गये, और वहां दोनों ने गंधर्वविधि से विवाह कर लिया।[3]

विवाहित या अविवाहित कन्याओं को अपहरण करने के उल्लेख भी जैनसूत्रों में उपलब्ध हैं। इस बात को लेकर अनेक बार युद्ध भी हो जाया करते थे। सीताहरण की कथा सुप्रसिद्ध है। पद्मावती अरिष्टनगर के हिरण्यनाभ की कन्या थी। उसके स्वयंवर को सुनकर राम, केशव आदि अनेक राजकुमार उपस्थित हुए। उनमें पद्मावती को लेकर युद्ध होने लगा और उसका अपहरण कर लिया गया।[4]

तारा का विवाह किष्किन्धापुर के विद्याधर राजा आदित्यरथ के पुत्र सुग्रीव के साथ हुआ था। कोई दूसरा विद्याधर सुग्रीव का रूप बनाकर राजा के अन्तःपुर में प्रविष्ट हो गया। तारा को दो सुग्रीव देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। दोनों को नगर से निकाल दिया गया।

---

१. प्रश्नव्याकरणटीका ४, १६, पृ० ८५।
२. उत्तराध्ययनटीका, ९, पृ० १४१; १३, पृ० १९०।
३. तरंगलोला पृ० ४२-५७।
४. प्रश्नव्याकरणटीका, ४.१६ पृ० ८७-अ।

दोनों में युद्ध होने लगा। अन्त में राम ने अपने शर से बनावटी सुग्रीव का वध कर सत्यता का परिचय दिया।[१]

श्रेणिक द्वारा गणराजा चेटक की कन्या चेल्लणा का अपहरण करने का उल्लेख मिलता है। किसी परिव्राजिका ने चेल्लणा का चित्र एक फलक पर चित्रित कर राजा श्रेणिक को दिखाया। श्रेणिक चित्र को देखकर मुग्ध हो गया। उसने यह बात अपने मंत्री अभयकुमार से कही। अभयकुमार राजा चेटक के कन्या-अन्तःपुर के पास एक दुकान लेकर रहने लगा। एक बार, उसने चुपके से सामान के साथ श्रेणिक का चित्र भी दासियों के हाथ अन्तःपुर में भिजवा दिया। सुज्येष्ठा और चेल्लणा चित्र देखकर मुग्ध हो गयीं। अभयकुमार ने अपनी दुकान से लेकर अन्तःपुर तक एक बड़ी सुरंग खुदवाई। उसने श्रेणिक को बुलवा लिया। चेटक की दोनों कन्याएँ श्रेणिक के साथ चलने को तैयार हो गयीं। लेकिन सुज्येष्ठा वहीं रह गयी और चेल्लणा उसके साथ चली आयी। तत्पश्चात् दोनों का विवाह हो गया।[२]

उज्जैनी के राजा प्रद्योत ने कौशाम्बी के उदयन को अपनी कन्या वासवदत्ता को वीणा की शिक्षा देने का आदेश दिया था। लेकिन दोनों में प्रीति हो गयी और उदयन भद्रावती हथिनी पर बैठाकर उसे कौशाम्बी ले आया।[३]

सामन्तवाद के उस युग में कभी ऐसा भी होता था कि किसी रूपवती कन्या के रूप-लावण्य की प्रशंसा सुनकर राजा लोग कन्या के पिता के पास कन्या को मंगनी के लिए दूत भेजते, और यदि कन्या प्राप्त न होती तो युद्ध मच जाता। मल्लि मिथिला के राजा कुम्भक की रूपवती कन्या थी। कोशल के राजा पडिबुद्धि ने अपने मंत्री सुबुद्धि से, अंग के राजा चन्द्रच्छाय ने व्यापारियों से, काशी के राजा शंख ने सुवर्णकारों से, कुणाल के राजा रुक्मि ने अपने वर्षधर से, कुरु के राजा अदीनशत्रु ने चित्रकारों से और पाञ्चाल के राजा जितशत्रु ने किसी तापसी से मल्लि के रूप-गुण की प्रशंसा सुनी, तो उन सबने मिलकर कुम्भक के ऊपर आक्रमण कर दिया। राजा कुम्भक हार गया और उक्त छहों राजाओं ने नगरी के चारों ओर घेरा डाल दिया।[४]

---

१. वही, पृ० ८८।
२. आवश्यकचूर्णी, २, पृ० १६५-६६।
३. वही, पृ० १६१।
४. ज्ञातृधर्मकथा ८।

महर्षि नारद इस तरह के झगड़े-झंझटों को प्रायः उत्साहित करते रहते थे। जैनसूत्रों में उन्हें कच्छुल्ल नारद के नाम से कहा गया है। एक बार वे पाण्डवों की राजसभा में हस्तिनापुर आये। द्रौपदी ने उनका यथोचित सत्कार नहीं किया। इस पर नारदजी को बहुत बुरा लगा और उन्होंने द्रौपदी से बदला लेने की ठानी। उस समय अमरकंका में पद्मनाभ नाम का राजा राज्य करता था। एक-से-एक सुन्दर सात सौ रानियां उसके अन्तःपुर में रहती थीं, इसलिए अपने अन्तःपुर का उसे बहुत गर्व था। एक बार नारदजी भ्रमण करते हुए वहाँ आ पहुँचे। पद्मनाभ ने नारदजी से प्रश्न किया, "महाराज, क्या आपने कहीं ऐसा सुन्दर अन्तःपुर देखा है?" नारदजी ने हँसकर कहा—"तुम तो कूपमंडूक हो। द्रौपदी के छिन्न पादांगुष्ठ के बराबर भी तुम्हारा अन्तःपुर नहीं है।" इतना कहकर नारदजी अदृश्य हो गये। पद्मनाभ नारदजी की बात सुनकर बड़ी चिन्ता में पड़ गया। उसने किसी देव की आराधना की और अवस्वापिनी विद्या के बल से सोती हुई द्रौपदी को अपने अन्तःपुर में उठवा मंगवाया। उधर जब युधिष्ठिर ने द्रौपदी को न देखा तो उसने पण्डु राजा से कहा। कुन्ती को 'कृष्णवासुदेव के पास द्वारका भेजा गया। अन्त में कृष्ण और पद्मनाभ का युद्ध हुआ और द्रौपदी पाण्डवों को वापस मिल गयी।[१]

रुक्मिणी कुण्डिनीनगर के राजा रुक्मी की भगिनी थी। उस समय कृष्णवासुदेव अपनी रानी सत्यभामा के साथ द्वारकापुरी में राज्य करते थे। एक बार जब नारद ऋषि पधारे तो व्यग्रता के कारण सत्यभामा उनका यथोचित आदर-सत्कार न कर सकी। उसे किसी की सपत्नी होने का शाप देकर वे कुण्डिनीनगर में पहुँचे। वहाँ उन्होंने रुक्मिणी को कृष्ण की महादेवी बनने का वर दिया। कृष्ण ने रुक्मिणी की मंगनी की, लेकिन उसका भाई शिशुपाल के साथ उसका विवाह करना चाहता था। इधर रुक्मिणी की फूफी ने रुक्मिणी का अपहरण करके ले जाने के लिए कृष्ण के पास एक गुप्त पत्र भेजा। रुक्मिणी अपनी फूफी के साथ अपनी दासियों से परिवेष्टित हो देवता की अर्चना के लिए जा रही थी कि उधर से कृष्ण अपने रथ में बैठाकर उसे चलते बने।[२]

---

१. वही, १६, पृ० १८४ आदि।

२. प्रश्नव्याकरणटीका ४, पृ० ८७।

बलदेव निसढ के पुत्र सागरचंद और राजकुमारी कमलामेला में नारदजी ने एक-दूसरे के प्रति आकर्षण उत्पन्न कर दिया। कमलामेला नभसेन को दी जा चुकी थी, लेकिन वह सागरचंद से प्रेम करने लगी। सागरचंद ने शंब से किसी तरह उसे प्राप्त करने का अनुरोध किया। उसने प्रद्युम्न से प्रज्ञप्ति विद्या ग्रहण की और उसके विवाह के दिन उसका हरण कर लाया। तत्पश्चात् रैवतक उद्यान में सागरचंद के साथ कमलामेला का विवाह हो गया।[1]

परस्पर के आकर्षण से विवाह

स्त्री और पुरुष एक-दूसरे के सौन्दर्य को देखकर परस्पर आकृष्ट हो जाते, और यह आकर्षण विवाह में परिणत हो जाता था। अपगतगंधा नाम की कन्या को एक अहीरनी ने पालने के लिए ले लिया। जब उसने यौवन में पदार्पण किया तो वह कौमुदी महोत्सव देखने आयी। उस समय राजा श्रेणिक भी अपने मंत्री अभयकुमार के साथ यह महोत्सव देखने के लिए आया हुआ था। अपगतगंधा को देखकर वह मोहित हो गया। उसने चुपचाप अपनी नाम-मुद्रिका अपगतगंधा के कपड़े के छोर में बाँध दी, और अभयकुमार से कह दिया कि उसकी अंगूठी चोरी चली गयी है। अभयकुमार समझ गया, और दोनों का विवाह हो गया।[2]

आचारांगचूर्णी में इन्द्रदत्त और एक राजकुमारी की कथा आती है। इन्द्रदत्त राजकुमारी के ऊपर तांबोल फेंककर चला गया। राजकुमारी ने उसे जाते हुए देख लिया था। राजकर्मचारियों ने इन्द्रदत्त का पीछा किया और उसे पकड़कर उसकी खूब मरम्मत की। राजा को पता लगा तो उसने इन्द्रदत्त के वध की आज्ञा सुनायी। लेकिन राजकुमारी ने उसकी रक्षा की। अन्त में दोनों का विवाह हो गया।[3]

कला-कौशल देखकर विवाह

किसी कन्या के कला-कौशल से प्रभावित होकर भी पुरुष उसके साथ विवाह करने के लिए उत्सुक हो जाते थे। क्षितिप्रतिष्ठित नगर के राजा जितशत्रु ने अपने प्रासाद में एक चित्रसभा बनवानी आरम्भ की। चित्रकारों में चित्रांगद नाम का एक वृद्ध चित्रकार भी था। उसकी

१. बृहत्कल्पभाष्य पीठिका १७२, पृ० ५७।
२. निशीथचूर्णी पीठिका २५, पृ० १७।
३. आचारांगचूर्णी ५, पृ० १८६।

कन्या चित्रकला में निपुण थी। उसने मयूर-पिच्छ को फर्श पर इस खूबी से चित्रित किया कि राजा उसे अपने हाथ से उठाता ही रह गया, और उसके नाखूनों में चोट लग गयी। यह देखकर राजा कन्या की गुण-गरिमा पर मुग्ध हो गया, और अन्तःपुर में अनेक रानियों के होते हुए भी उसने कनकमंजरी को पट्टरानी बना लिया।[1]

भविष्यवाणी से विवाह

साधु-मुनियों और ज्योतिषियों की भविष्यवाणी के आधार पर भी विवाह होते थे। नट्टुमत्त विद्याधर की दो बहनों को किसी मुनि ने कहा था कि उनका विवाह उनके भ्रातृवधक के साथ होगा। संयोग से, कुमार ब्रह्मदत्त उनके भाई का वध करके वहाँ उपस्थित हुआ और उसके साथ दोनों का विवाह हो गया।[2] इस प्रकार के और भी अनेक उल्लेख मिलते हैं।[3]

विवाह के अन्य प्रकार

उपर्युक्त विवाहों के अतिरिक्त, विवाहों के और भी प्रकार जैन-आगमों में उल्लिखित हैं, जो प्रायः ब्राह्मण-परम्परा में मान्य नहीं हैं। मामा की लड़की (माउलदुहिया) के साथ विवाह जायज समझा जाता था। जमालि महावीर का भानजा था और उसका विवाह उनकी पुत्री प्रियदर्शना के साथ हुआ था।[4] ब्रह्मदत्त का विवाह भी उसके मामा की कन्या पुष्पचूला के साथ हुआ था।[5] इस प्रकार का विवाह लाट और दक्षिणापथ में विहित, तथा उत्तरापथ में निषिद्ध माना जाता था।[6] लाट देश में अपने मामा की लड़की से,[7] तथा कहीं-कहीं अपनी बुआ

---

१. उत्तराध्ययनटीका, ६, पृ० १४१–अ आदि।

२. वही, १३, पृ० १९३–अ।

३. देखिए, वही, १३, पृ० १८८-अ; १८, पृ० २३८।

४. वही, ३, पृ० ६८ अ।

५. वही, १३, पृ० १८९–अ।

६. आवश्यकचूर्णी २, पृ० ८१। बौधायन में इस विवाह का उल्लेख है। कुमारिलभट्ट ने दाक्षिणात्यों का मजाक उड़ाया है जो अपने मामा की कन्या से विवाह करते हैं; चकलदार, सोशल लाइफ इन ऐंशियेंट इण्डिया, स्टडीज़ इन वात्स्यायन्स कामसूत्र, पृ० १३३; देखिए सेन्सस इंडिया, १९३१, जिल्द १, भाग १, पृ० ४५८।

७. आवश्यकचूर्णी, वही।

अथवा मौसी की लड़की से भी विवाह होता था।[1] देवर के साथ विवाह होने के उल्लेख मिलते हैं।[2]

जैनसूत्रों में भाई-बहन की शादी के भी उल्लेख मिलते हैं। जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के समय विवाह की यह प्रथा प्रचलित बतायी जाती है। स्वयं ऋषभदेव ने अपनी बहन सुमंगला के साथ विवाह किया था। इसी प्रकार उनके पुत्र भरत और बाहुबलि का विवाह ब्राह्मी और सुन्दरी नाम की उनकी बहनों के साथ हुआ था।[3] पुष्पभद्रिका नगरी के राजा ने अपने पुत्र पुष्पचूल का विवाह अपनी कन्या पुष्पचूला के साथ किया था।[4] उज्जैनी का गर्दभ नाम का युवराज अपनी बहन अडोलिया पर आसक्त हो गया और अपने अमात्य दीर्घपृष्ठ के सुझाव पर, भूमिगृह में उसके साथ रहने लगा।[5] *गोल्ल देश में इस प्रकार के विवाह का प्रचार था।*[6]

गोल्ल देश में ब्राह्मणों को अपनी सौतेली माता (माइसवत्ती) के साथ विवाह करने की छूट थी।[7] अन्यत्र भी माता और पुत्र के परस्पर सम्भोग करने के उदाहरण मिलते हैं।[8] पिता और पुत्री के सम्भोग का उल्लेख भी मिल जाता है। प्रजापति द्वारा अपनी दुहिता की कामना किये जाने का उल्लेख ब्राह्मण ग्रंथों की भाँति जैन ग्रंथों में भी मिलता

१. निशीथचूर्णी पीठिका, पृ० ५१।

२. पिंडनिर्युक्तिटीका १६७।

३. आवश्यकचूर्णी, पृ० १५३।

४. उत्तराध्ययनटीका १३, पृ० १८९-अ।

५. बृहत्कल्पभाष्य १. ११५५-५९।

६. आवश्यकचूर्णी २, पृ० ८१। सुत्तनिपात की टीका (१, पृ० ३५७) में शाक्यों का उल्लेख है जो कुत्तों और गीदड़ों आदि पशुओं की भाँति अपनी बहनों के साथ सम्भोग में रत रहते थे, और इस कारण कोलिय लोगों के उपहास के भाजन बनते थे। तथा देखिए कुणाल जातक (५३६), ५, पृ० ४१८ आदि; दीघनिकाय १, अम्बट्ठसुत्त, पृ० ८०; इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, १९२६, पृ० ५६१ आदि; बी० सी० लाहा, वीमेन इन बुद्धिस्ट लिटरेचर।

७. आवश्यकचूर्णी २, पृ० ८१; तुलना कीजिए आवश्यकटीका (हरिभद्र), पृ० ५८०-अ; कथासरित्सागर, जिल्द ७, पृ० ११६ आदि।

८. बृहत्कल्पभाष्य ४.५२२०-२१; आवश्यकचूर्णी, पृ० १७०।

है।[1] कभी यक्ष बनकर पिता अपनी कन्या का उपभोग करते थे।[2]

घरजमाई की प्रथा

कन्या के माता-पिता अपने जमाई को अपने घर रख लेना भी पसन्द करते थे। बंगाल और उत्तरप्रदेश में आज भी इस प्रथा का चलन है। निम्नलिखित परिस्थितियों में लोग घर-जमाई रखना पसंद करते थे—(१) लड़की का पिता धनवान हो और उस धन की देख-रेख करने वाला कोई पुत्र न हो, (२) कन्या का परिवार बहुत दरिद्र हो और उसे किसी बलवान आदमी की आवश्यकता हो, (३) दरिद्रता के कारण जमाई कन्या का शुल्क देने में असमर्थ हो।[3]

चम्पा नगरी के सागर और सागरदत्त की कन्या सुकुमालिया के पाणिग्रहण की चर्चा की जा चुकी है। सागरदत्त ने सागर के साथ अपनी कन्या का विवाह इस शर्त पर करना स्वीकार किया था कि यदि वह उसका घरजमाई बनकर रहने को तैयार हो। कारण कि सुकुमालिया उसे अत्यन्त प्रिय थी और क्षण भर के लिए वह उसका वियोग सहन नहीं कर सकता था।[4] पारस देश में भी इस प्रथा का चलन था। अश्वों के किसी मालिक ने किसी दरिद्र आदमी को अपने घोड़ों की संभाल के लिए नौकर रख लिया था। उसके यहां प्रतिवर्ष प्रसव करनेवाली घोड़ियां थीं। नौकर को उसकी मजदूरी के बदले एक वर्ष में दो घोड़े देने का वादा किया गया। धीरे-धीरे उस नौकर का अश्वस्वामी की कन्या से परिचय हो गया। इस बीच में जब उसके वेतन का समय आया तो उसने अश्वस्वामी की कन्या से पूछकर सर्वोत्तम लक्षणयुक्त दो घोड़े छाँट लिये। यह देखकर अश्व-स्वामी सोच-विचार में पड़ गया। आखिर उसने नौकर के साथ अपनी कन्या का विवाह कर उसे घरजमाई रख लिया।[5]

साटे में विवाह

ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जब कि विवाह में अपनी बहन देकर

---

१. आवश्यकचूर्णी, पृ० २३२।

२. उत्तराध्ययनचूर्णी २, पृ० ८९।

३. सेन्सस इण्डिया, १९३१, जिल्द १, भाग १, पृ० २५० आदि।

४. ज्ञातृधर्मकथा १६, पृ० १६९।

५. बृहत्कल्पभाष्य ३.३९५९ आदि। तुलना कीजिए कुंडककुच्छिसिंधव जातक, (२५४), २।

दूसरे की बहन ले ली जाती थी। देवदत्त और धनदत्त दोनों एक ही नगर के रहनेवाले थे। देवदत्त की बहन की शादी धनदत्त से और धनदत्त की बहन की शादी देवदत्त के साथ कर दी गयी।[1] आजकल भी मथुरा के चौबों तथा उत्तरप्रदेश के कुछ हिस्सों में यह प्रथा मौजूद है। इस प्रथा का कारण यही है कि अमुक जाति में लड़कियों की कमी रहती है और अपनी जाति से बाहर विवाह किया नहीं जा सकता। इस विवाह को अदला-बदला भी कहा गया है।[2]

बहुपत्नीत्व और बहुपतित्व प्रथा

कहा जा चुका है कि संतानोत्पत्ति हिंदू विवाह का एक मुख्य उद्देश्य समझा जाता था। वंशपरम्परा पुत्र से ही जारी रह सकती है, इसलिए पुत्रोत्पत्ति आवश्यक मानी जाती थी। मोक्ष-प्राप्ति के लिए भी पुत्र का होना आवश्यक था। ऐसी हालत में हिंदू स्मृतिकारों ने एक से अधिक विवाह करने की अनुमति दी है। बहुपत्नीत्व प्रथा का यही मुख्य सिद्धांत था। यद्यपि आगे चलकर इस उद्देश्य का ह्रास हो गया तथा अनेक स्त्रियों से शादी करना, धनवानों का फैशन बन गया।[3]

प्राचीन काल में, साधारणतया लोग एक पत्नी से ही विवाह करते थे, और प्रायः धनी और शासक-वर्ग ही एक से अधिक पत्नियां रखते थे। राजा और राजकुमार अपने अन्तःपुर की रानियों की अधिकाधिक संख्या रखने में गौरव का अनुभव करते थे, और यह अन्तःपुर अनेक राजाओं के साथ उनके मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण, उनकी राजनीतिक सत्ता को शक्तिशाली बनाने में सहायक होता था। धनवान लोग अनेक पत्नियों को धन-सम्पत्ति, यश और सामाजिक गौरव का कारण समझते थे। इस संबंध में विशेषकर भरत चक्रवर्ती, राजा विक्रमयश,[4] राजा श्रेणिक,[5] गृहपति महाशतक[6] आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

---

१. पिंडनिर्युक्ति ३२४ आदि; तथा निशीथचूर्णी १४.४४९५। बौद्ध परम्परा के अनुसार, राजा बिंबसार और प्रसेनजित् की एक दूसरे की बहन ब्याही थीं; धम्मपदअट्ठकथा, १, पृ० ३८५।

२. देखिए सेन्सस इण्डिया, १९३१, जिल्द १, भाग १, पृ० २५२।

३. देखिए वैल्वल्कर, हिन्दू सोशल इन्स्टिट्यूशन्स, पृ० १९३।

४. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २३९।

५. अन्तःकृद्दशा ७, पृ० ४३।

६. उपासकदशा ८, पृ० ६१।

बहुपतित्व प्रथा के उदाहरण भी खोजने से मिल जाते हैं। पंच-भर्तारी पांचाली द्रौपदी का उल्लेख किया जा चुका है।[1] आवश्यकचूर्णी में दो भाइयों की एक ही पत्नी का उल्लेख मिलता है।[2] जौनसार-बावर जाति में अभी भी यह प्रथा पायी जाती है।[3]

विधुर-विवाह

यदि किसी कारणवश कोई पुरुष अपनी स्त्री को भूल जाये, उसे घर से निकाल बाहर करे या कोई कारण उपस्थित होने पर वह स्वयं चली जाये तो ऐसी अवस्था में पुरुष को दूसरा विवाह करने की अनुमति प्राप्त थी। किसी सार्थवाह की पत्नी अपने शरीर को सजाने में इतनी व्यस्त रहती कि वह अपने घर-बार की ओर जरा भी ध्यान न देती थी। परिणाम यह हुआ कि एक के बाद एक घर के सब नौकर घर छोड़कर चले गये। जब स्त्री का पति प्रवास से लौटा तो उसने घर का यह हाल देख स्त्री को घर से निकाल दिया और दूसरा विवाह कर लिया।[4]

विधवा-विवाह

हिन्दू विवाह के आदर्श के अनुसार, पतिव्रता उसी को माना जाता था जो अपने पति की मौजूदगी में और उसकी मृत्यु के बाद भी अपने सतीत्व का पालन कर सके। अतएव साधारणतया प्राचीन भारत में विधवा-विवाह को मान्य नहीं किया गया है। यद्यपि स्मृति-कारों के मत में निम्नलिखित पांच अवस्थाओं में विधवा-विवाह को जायज बताया गया है—यदि पूर्व पति का पता न लगता हो, उसकी मृत्यु हो गयी हो, वह साधु हो गया हो, वह नपुंसक हो, या फिर उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया गया हो;[5] फिर भी कुल मिलाकर विधवा-विवाह को तिरस्कार की दृष्टि से ही देखा जाता था।[6]

---

१. तथा देखिए अल्तेकर, वही, पृ० १३२–३४। पांचालवासी कामशास्त्र के अध्ययन में निष्णात माने गये हैं, चकलदार, स्टडीज़ इन वात्स्यायनस् कामसूत्र, पृ० ६।

२. पृ० ५४९।

३. सेन्सस इण्डिया, १९३१, जिल्द १, भाग १, पृ० २५२।

४. उत्तराध्ययनटीका ४, पृ० ९७।

५. नारदस्मृति, १२.९७।

६. देखिए मालवल्कर, वही, विवाह सम्बन्धी अध्याय; अल्तेकर, वही, पृ० १८१–८३।

दूसरे की बहन ले ली जाती थी। देवदत्त और धनदत्त दोनों एक ही नगर के रहनेवाले थे। देवदत्त की बहन की शादी धनदत्त से और धनदत्त की बहन की शादी देवदत्त के साथ कर दी गयी।[1] आजकल भी मथुरा के चौबों तथा उत्तरप्रदेश के कुछ हिस्सों में यह प्रथा मौजूद है। इस प्रथा का कारण यही है कि अमुक जाति में लड़कियों की कमी रहती है और अपनी जाति से बाहर विवाह किया नहीं जा सकता। इस विवाह को अदला-बदला भी कहा गया है।[2]

बहुपत्नीत्व और बहुपतित्व प्रथा

कहा जा चुका है कि संतानोत्पत्ति हिंदू विवाह का एक मुख्य उद्देश्य समझा जाता था। वंशपरम्परा पुत्र से ही जारी रह सकती है, इसलिए पुत्रोत्पत्ति आवश्यक मानी जाती थी। मोक्ष-प्राप्ति के लिए भी पुत्र का होना आवश्यक था। ऐसी हालत में हिंदू स्मृतिकारों ने एक से अधिक विवाह करने की अनुमति दी है। बहुपत्नीत्व प्रथा का यही मुख्य सिद्धांत था। यद्यपि आगे चलकर इस उद्देश्य का ह्रास हो गया तथा अनेक स्त्रियों से शादी करना, धनवानों का फैशन बन गया।[3]

प्राचीन काल में, साधारणतया लोग एक पत्नी से ही विवाह करते थे, और प्रायः धनी और शासक-वर्ग ही एक से अधिक पत्नियां रखते थे। राजा और राजकुमार अपने अन्तःपुर की रानियों की अधिकाधिक संख्या रखने में गौरव का अनुभव करते थे, और यह अन्तःपुर अनेक राजाओं के साथ उनके मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण, उनकी राजनीतिक सत्ता को शक्तिशाली बनाने में सहायक होता था। धनवान लोग अनेक पत्नियों को धन-सम्पत्ति, यश और सामाजिक गौरव का कारण समझते थे। इस संबंध में विशेषकर भरत चक्रवर्ती, राजा विक्रमयश,[4] राजा श्रेणिक,[5] गृहपति महाशतक[6] आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

---

१. पिंडनिर्युक्ति ३२४ आदि; तथा निशीथचूर्णी १४.४४९५। बौद्ध परम्परा के अनुसार, राजा बिंबसार और प्रसेनजित् की एक दूसरे की बहन ब्याही थी; धम्मपदअट्ठकथा, १, पृ० ३८५।

२. देखिए सेन्सस इण्डिया, १९३१, जिल्द १, भाग १, पृ० २५२।

३. देखिए वैलवल्कर, हिन्दू सोशल इन्स्टिट्यूशन्स, पृ० १९३।

४. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २३९।

५. अन्तःकृद्दशा ७, पृ० ४३।

६. उपासकदशा ८, पृ० ६१।

बहुपतित्व प्रथा के उदाहरण भी खोजने से मिल जाते हैं। पंच-भर्तारी पांचाली द्रौपदी का उल्लेख किया जा चुका है।[1] आवश्यकचूर्णी में दो भाइयों को एक ही पत्नी का उल्लेख मिलता है।[2] जौनसार-बावर जाति में अभी भी यह प्रथा पायी जाती है।[3]

विधुर-विवाह

यदि किसी कारणवश कोई पुरुष अपनी स्त्री को भूल जाये, उसे घर से निकाल बाहर करे या कोई कारण उपस्थित होने पर वह स्वयं चली जाये तो ऐसी अवस्था में पुरुष को दूसरा विवाह करने की अनुमति प्राप्त थी। किसी सार्थवाह की पत्नी अपने शरीर को सजाने में इतनी व्यस्त रहती कि वह अपने घर-बार की ओर जरा भी ध्यान न देती थी। परिणाम यह हुआ कि एक के बाद एक घर के सब नौकर घर छोड़कर चले गये। जब स्त्री का पति प्रवास से लौटा तो उसने घर का यह हाल देख स्त्री को घर से निकाल दिया और दूसरा विवाह कर लिया।[4]

विधवा-विवाह

हिन्दू विवाह के आदर्श के अनुसार, पतिव्रता उसी को माना जाता था जो अपने पति की मौजूदगी में और उसकी मृत्यु के बाद भी अपने सतीत्व का पालन कर सके। अतएव साधारणतया प्राचीन भारत में विधवा-विवाह को मान्य नहीं किया गया है। यद्यपि स्मृति-कारों के मत में निम्नलिखित पांच अवस्थाओं में विधवा-विवाह को जायज बताया गया है—यदि पूर्व पति का पता न लगता हो, उसकी मृत्यु हो गयी हो, वह साधु हो गया हो, वह नपुंसक हो, या फिर उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया गया हो;[5] फिर भी कुल मिलाकर विधवा-विवाह को तिरस्कार की दृष्टि से ही देखा जाता था।[6]

---

१. तथा देखिए अल्तेकर, वही, पृ० १३२–३४। पांचालवासी कामशास्त्र के अध्ययन में निष्णात माने गये हैं, चकलदार, स्टडीज इन वात्स्यायनस् कामसूत्र, पृ० ६।

२. पृ० ५४९।

३. सेन्सस इण्डिया, १९३१, जिल्द १, भाग १, पृ० २५२।

४. उत्तराध्ययनटीका ४, पृ० ९७।

५. नारदस्मृति, १२.९७।

६. देखिए वालवल्कर, वही, विवाह सम्बन्धी अध्याय; अल्तेकर, वही, पृ० १८१–८३।

औपपातिक सूत्र में वैधव्य-जीवन के सम्बन्ध में उल्लेख है। कुछ ऐसी विधवाएँ थीं जिनके पति मर चुके थे, जो बाल्यावस्था से वैधव्य बिता रही थीं, जो परित्यक्ता थीं, अपने माता-पिता आदि द्वारा संरक्षित थीं, गन्ध और अलंकारों का परित्याग कर चुकी थीं, तथा स्नान और दूध, दही, मधु, मद्य और मांस का सेवन जिन्होंने छोड़ दिया था। ये स्त्रियाँ आजीवन ब्रह्मचर्य धारण करतीं और विवाह का कभी नाम भी न लेतीं।[1] अनेक बाल-विधवाएँ (बालरंडा) संसार से संतप्त होकर श्रमणियों की दीक्षा स्वीकार कर लेती थीं। धनश्री[2] और लक्षणावती[3] आदि के नाम इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं।

नियोग की प्रथा

प्राचीन भारत में नियोग-प्रथा के उदाहरण मिलते हैं। इस प्रथा के अनुसार, पुत्रहीन विधवा, अपने पति की मृत्यु हो जाने पर, अपने देवर या अन्य किसी सगे-सम्बन्धी से पुत्र उत्पन्न करा लेती थी।[4] आवश्यकचूर्णी में इस तरह का उल्लेख है, यद्यपि वह नियोग की श्रेणी के अन्तर्गत नहीं आता। कृतपुण्य राजगृह का निवासी था। वेश्यागामी होने के कारण वह निर्धन हो गया और वेश्या ने उसे अपने घर से निकाल दिया। इस बीच में उसके माता-पिता भी परलोक सिधार गये। एक दिन उसने किसी सार्थ के साथ व्यापार के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में वह किसी देवकुलिका में सोया हुआ था। इसी समय किसी वणिक्-पुत्र की माता ने सुना कि जहाज फट जाने के कारण, व्यापार के लिए गये हुए उसके पुत्र की मृत्यु हो गयी है। उसे भय था कि अपुत्र होने से कहीं उसकी धन-सम्पत्ति पर राजा का अधिकार न हो जाये, इसलिए घूमती-फिरती किसी आदमी की खोज में, वह

---

१. ३८, पृ० १६७; मनुस्मृति, ९.६५।

२. आवश्यकचूर्णी, पृ० ५२६।

३. महानिशीथ, पृ० २४।

४. मनुस्मृति (९.५९ आदि) में उल्लेख है कि जिस व्यक्ति की नियोग के लिए नियुक्ति हो, उसे शरीर में मक्खन चुपड़कर सन्तान उत्पन्न करने के लिए किसी विधवा के पास पहुँचना चाहिए, तथा उसे चाहिए कि चुपचाप एक पुत्र उत्पन्न कर दे, दूसरा नहीं। फिर नियोग का प्रयोजन सिद्ध हो जाने के पश्चात् उन दोनों को पिता और पुत्रवधू के समान रहना चाहिए। तथा देखिए गौतम १८.४ आदि; अल्तेकर, वही, पृ० १६८-७६।

उस देवकुलिका में आयी। कृतपुण्य उस समय सोया पड़ा था। वह उसे खटिया समेत उठवा कर अपने घर ले आयी। घर आकर उसने अपनी चारों पतोहुओं से कहा कि यह तुम्हारा देवर बहुत दिनों के पश्चात् आया है। कृतपुण्य ने वहाँ रहकर बारह वर्ष व्यतीत किये और इस बीच में प्रत्येक पुत्रवधू से चार-चार सन्तान पैदा कीं।[1]

सती प्रथा

जैनसूत्रों में स्त्रियों के सती होने के उदाहरण कम ही मिलते हैं। केवल महानिशीथ में एक जगह उल्लेख है कि किसी राजा की विधवा कन्या, अपने परिवार को अपयश से रक्षा करने के लिए, सती होना चाहती थी, लेकिन उसके पिता के कुल में यह रिवाज नहीं था। इसलिए उसने अपना विचार स्थगित कर दिया।[2]

पर्दे की प्रथा

प्राचीन काल में आधुनिक अर्थ में पर्दा-प्रथा का चलन नहीं था, यद्यपि स्त्रियों के बाहर आने-जाने के सम्बन्ध में कुछ साधारण प्रतिबंध अवश्य थे। जैनसूत्रों में यवनिका (जवणिया) का उल्लेख मिलता है। रात्रि के समय स्वप्न देखने के पश्चात् त्रिशला अपने स्वप्न सुनाने के लिए राजा सिद्धार्थ के पास गई। उस समय आस्थानशाला के आभ्यंतर भाग में एक यवनिका लगवायी गयी, और वहां पर बिछे हुए भद्रासन पर त्रिशला बैठ गई। यवनिका के दूसरी ओर स्वप्न के पाठक पण्डित बैठे और स्वप्नों का फल प्रतिपादित किया जाने लगा।[3] शकटाल की कन्याओं द्वारा भी यवनिका के भीतर बैठकर, राजा की प्रशंसा में लोक-काव्य पढ़े जाने का उल्लेख मिलता है।[4] यह सब होने पर भी, यही कहना होगा कि स्त्रियां बिना किसी प्रतिबंध के बाहर आ-जा सकती थीं। अपने सगे-सम्बन्धियों से वे मिलने-जुलने जातीं, नगर के बाहर यक्ष, इन्द्र, स्कंद आदि देवताओं की पूजा-उपासना करतीं,

---

१. आवश्यकचूर्णी, पृ० ४६६–६९।

२. पृ० २९, आदि; सती प्रथा के लिए देखिए अल्तेकर, वही, अध्याय चौथा। यह प्रथा ग्रीस और इजिप्ट आदि देशों में प्रचलित थी, कथासरित्सागर, पेन्ज़र, जिल्द ४, परिशिष्ट १, पृ० २५५ आदि।

३. कल्पसूत्र ४.६३–६९; तथा ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० ८।

४. उत्तराध्ययनटीका २, पृ० २८।

देवदत्ता गणिका

चम्पा नगरी की देवदत्ता नामक गणिका का उल्लेख जैनसूत्रों में मिलता है। वह धन-सम्पन्न, ६४ कलाओं[1] में निष्णात, २९ प्रकार से रमण करने वाली, २१ रतिगुणों से युक्त, ३२ पुरुषोपचार में कुशल, १८ देशी भाषाओं में विशारद, नवयौवना और शृंगार आदि से संपन्न थी। अपनी ध्वजा के साथ वह कर्णीरथ पर सवार होकर चलती थी, एक हजार उसकी फीस थी, राजा ने उसे छत्र और चामर प्रदान किये थे, तथा अनेक गणिकाओं की वह स्वामिनी थी। एक दिन नगर के सार्थवाहपुत्रों ने देवदत्ता के साथ उद्यान में जाकर विहार करने का विचार किया। उन्होंने अपने नौकरों को विपुल अशन, पान आदि लेकर नंदा पुष्करिणी पर पहुँच, एक सुन्दर मंडप बनाने का आदेश दिया। तत्पश्चात् सार्थवाह स्नान आदि से निवृत्त हो, सुंदर बैलों के रथ में सवार होकर देवदत्ता के घर पहुँचे। देवदत्ता ने आसन से उठकर उनका स्वागत किया। उसके बाद, वह वस्त्रादि से विभूषित हो और यान में बैठ, चम्पा नगरी के बीच होती हुई नंदा पुष्करिणी पर आयी। यहां पर जलक्रीड़ा की गयी और फिर सब लोग मंडप में पहुँचे। वहां अशन, पान आदि का उपभोग करते हुए वे देवदत्ता के साथ विहार करने लगे। तत्पश्चात् देवदत्ता के हाथ में हाथ डालकर सुभूमिभाग नाम के उद्यान में गये, और वहां बने हुए कदलीगृह, लतागृह, आसनगृह, प्रेक्षणकगृह, प्रसाधनगृह, मोहनगृह, जालगृह, और कुसुमगृह आदि में भ्रमण करते हुए आनंदपूर्वक समय यापन करने लगे।[2]

वैशिकशास्त्र

वेश्याएं वैशिकशास्त्र[3] की पंडित होती थीं। इस शास्त्र का अध्ययन

---

१. क्षेमेन्द्र ने कलाविलास (वेश्यावृत्त) में वेश, नृत्य, गीत, वक्रवीक्षण, कामपरिज्ञान, मित्रवंचन, पान, केलि, सुरतकला, आलिंगनांतर, चुम्बन, निर्लज्जावेगसंभ्रम, रुदित, मानसंश्रय, स्वेदश्रमकंप, एकान्तप्रसाधन, नेत्रनि-मीलन-निःसहनिस्पंद, मृतोपम, निजजननीकलह, सद्गृहगमनोत्सव, गौरवशैथिल्य, निष्कारणदोषभाषण, शल्यकला, अभ्यर्थकला, केशरंजन, कुट्टनीकला आदि ६४ कलाएं गिनायी हैं। तथा देखिए धम्मपद अट्ठकथा ४, पृ० १९७।

२. ज्ञातृधर्मकथा ३, पृ० ५९ आदि।

३. सूत्रकृतांगचूर्णी (पृ० १४०) में वैशिकतंत्र का उद्धरण दिया गया है—

करने के लिए कितने ही लोग वेश्याओं के पास जाया करते थे। कहा जाता है कि दत्तक या दत्तवैशिक ने, विशेषकर पाटलिपुत्र की वेश्याओं के लिए, इस दुर्लभ ग्रंथ की रचना की थी। एक बार की बात है, किसी वेश्या ने दत्तवैशिक को अनेक प्रकार के हाव-भाव दिखाकर वश में करने की चेष्टा की, किन्तु वह सफल न हुई। इस पर वेश्या ने अग्नि में जलकर मर जाने की धमकी दी। दत्तवैशिक ने कहा कि अवश्य ही इस प्रकार की माया का उल्लेख भी वैशिकशास्त्र में होगा। इसके बाद एक सुरंग के पूर्व द्वार पर लकड़ी के ढेर में आग लगाकर वह सुरंग के पश्चिम द्वार से अपने घर पहुँच गयी। दत्तक चिल्लाता रह गया, और इस बीच में लोगों ने उसे उठाकर चिता में डाल दिया। लेकिन उसने फिर भी वेश्याओं का विश्वास न किया।[1]

कलाओं में निष्णात गणिका

बृहत्कल्पभाष्य में चौंसठ कलाओं में निष्णात एक गणिका का

"दुर्विज्ञेयो हि भावः प्रमदानाम्"। वैशिक का उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र (२३), मृच्छकटिक (१, पृ० २), *शृङ्गारमंजरी*, ललितविस्तर पृ० १५६ आदि ग्रन्थों में मिलता है। भरत के अनुसार, वैशिक शब्द का अर्थ है समस्त कलाओं में विशेषता पैदा करना, अथवा वेश्योपचार का ज्ञान होना। वैशिक-वृत्त का ज्ञाता समस्त कलाओं का जानकार, समस्त शिल्पों में कुशल, स्त्रियों के हृदय को आकृष्ट करने वाला, शास्त्रज्ञ, रूपवान, वीर, धैर्यवान, सुन्दर वस्त्र धारण करनेवाला, मिष्टभाषी और कामोपचार में कुशल होता है। *शृङ्गारमंजरी* के कर्ता भोजदेव ने वैशिक उपनिषद् का रहस्य बताते हुए लिखा है—यद् व्याघ्रादिव प्रेम्णः सावधानतया सर्वदा एवं आत्मा रक्षणीयः। तत्र रागवशात् जगति बहवो भुजंगा वेश्याभिर्विप्रलब्धाः—अर्थात् जैसे किसी व्याघ्र से सदा डरना चाहिए, वैसे ही वेश्याओं को किसी के प्रति सच्चा प्रेम प्रदर्शित करने से डरना चाहिए। संसार में इस प्रेम के कारण कितने ही भुजंग वेश्याओं द्वारा ठगे जा चुके हैं। वैशिकतन्त्र में उल्लेख है कि यदि जीवित कपट से धन की प्राप्ति न हो तो मरण-कपट का प्रयोग करे, देखिए जगदीशचन्द्र जैन, रमणी के रूप, भूमिका, पृ० १५ और 'कामलता का मरण-कपट' कहानी, पृ० ५७।

१. सूत्रकृतांगटीका ४.१.२४। आचारांगचूर्णी २, पृ० ९७ में कहा है—

दशसूना समं चक्रं, दशचक्रसमो ध्वजः।
दशध्वजसमा वेश्या, दशवेश्यासमो नृपः॥

यह श्लोक मनुस्मृति ४.८५ में उल्लिखित है।

उल्लेख है जिसने अपनी चित्रसभा में सब मनुष्यों के जाति-कर्म, शिल्प तथा कुपितों को प्रसन्न करने के सुन्दर चित्र बनवा रक्खे थे। जब कोई उसका प्रेमी उसके घर आता तो पहले वह उससे चित्रसभा का निरीक्षण करने के लिए कहती। उस समय उसे ज्ञात हो जाता कि कौन व्यक्ति किस जाति का है, कौन-सा शिल्प उसे अच्छा लगता है और कुपित-प्रसादन में वह दारुण स्वभाव का है या स्त्रियों के जल्दी ही वश में आ जाता है।[१]

कामध्वजा वेश्या

राजा और राजा के मंत्री भी वेश्यागमन करते थे। वाणियगाम में विविध कलाओं में निष्णात कामज्झया (कामध्वजा) नाम की एक वेश्या रहती थी। उसी नगर में उज्झित नाम का एक सार्थवाह रहता था। जब उसके माता-पिता मर गये तो नगर-रक्षकों ने उसे घर से निकाल बाहर किया और उसका घर दूसरों को दे दिया। उज्झित आवारा होकर फिरने लगा। एक दिन वह कामज्झया वेश्या के घर गया और वहीं रहने लगा। एक बार विजयमित्र राजा की रानी को योनिशूल उत्पन्न हुआ। उसने उज्झित को कामज्झया के घर से निकलवा दिया, और स्वयं उसके साथ रहने लगा। उज्झित को यह बात बहुत बुरी लगी। मौका पाकर फिर वह चुपके से कामज्झया के घर पहुँच गया। राजकर्मचारियों को जब इस का पता लगा तो उज्झित की मुश्कें बांध कर वे उसे वध्यस्थान को ले गये।[२]

वेश्यायें नगर की शोभा

जैन और बौद्ध काल में वेश्याएँ नगर की शोभा मानी जाती थीं। राजा उन्हें आदर की दृष्टि से देखता था और उन्हें अपनी राजधानी का रत्न समझता था।[३] मुख्य-मुख्य नगरों में प्रधान गणिका का बड़ी धूमधाम से अभिषेक किया जाता, तथा उसके न रहने पर दूसरी, और दूसरी के न रहने पर तीसरी को उस पद पर नियुक्त किया जाता।[४]

---

१. पीठिका २६२।

२. विपाकसूत्र २, पृ० १३; तथा ४, पृ० ३१।

३. उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० ६४।

४. किसी रूपवती संवरी को वशीकरण आदि द्वारा वश में करके उसे गणिका के पद पर नियुक्त करने का प्रयत्न भी किया जाता, बृहत्कल्पभाष्य १.२८२५।

नन्दिनी इसी प्रकार की एक गणिका थी जिसके रोग से आक्रान्त होने पर, उसकी जगह दूसरी गणिका स्थापित की गयी, और फिर उसका स्थान तीसरी गणिका को मिला।[1]

इन वेश्याओं के पास हर किसी को जाने की छूट नहीं थी। उनका प्रेम किसी एकाध पुरुष पर ही केन्द्रित होता और उसके परदेश चले जाने पर वे कुल-वधू की भांति एकवेणी बांध कर विरहिणी-व्रत स्वीकार करतीं।[2]

कोशा-उपकोशा

कोशा और उपकोशा पाटलिपुत्र की दो प्रसिद्ध वेश्याएँ थीं; दोनों बहनें थीं। कोशा स्थूलभद्र से और उपकोशा वररुचि से प्रेम करती थी। कोशा ने स्थूलभद्र के साथ बारह वर्ष व्यतीत किये, इसलिए स्थूलभद्र को छोड़कर वह अन्य किसी पुरुष को नहीं चाहती थी। इसी समय स्थूलभद्र घोर तप करने चले गये। लेकिन एक बार अभिग्रह ग्रहण करके वे फिर कोशा के घर लौटे। कोशा ने समझा कि तप से पराजित होकर वे उसके साथ रहने आये हैं। अपने उद्यान-गृह में रहने के लिए उसने उन्हें स्थान दे दिया। तत्पश्चात् वह रात्रि के समय सर्वालंकार विभूषित होकर स्थूलभद्र के पास आयी, लेकिन स्थूलभद्र वहाँ चार महीने रह कर भी अपने व्रत से विचलित न हुए। उल्टे उन्होंने कोशा को उपदेश दिया और उपदेश से प्रभावित होकर कोशा ने श्राविका के व्रत ग्रहण किये। उसने अब निश्चय कर लिया कि राजा के आदेश से ही वह किसी पुरुष के साथ सहवास करेगी, अन्यथा ब्रह्मचारिणी रहेगी।[3]

उज्जैनी की देवदत्ता

देवदत्ता उज्जैनी की दूसरी प्रधान गणिका थी जिसे अपने रूप-लावण्य का बहुत गर्व था और जो साधारण पुरुषों से रंजित नहीं होती थी। इधर पाटलिपुत्र-वासी समस्त कलाओं में कुशल मूलदेव नाम का राजकुमार घूमता-घामता उज्जैनी पहुँचा। जब उसे पता लगा

---

१. आचारांगचूर्णी, पृ० ७१।

२. मृच्छकटिक की वसंतसेना, कुट्टिनीमत की हारलता, कथासरित्सागर की कुमुदिका आदि के उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं।

३. उत्तराध्ययनटीका, २, पृ० ३०।

कि देवदत्ता बड़ी गर्वीली है तो मूलदेव ने उसके घर के समीप पहुँच अपना मधुर संगीत आलापना प्रारम्भ कर दिया। संगीत सुनकर देवदत्ता क्षणभर के लिए पागल बन गयी। उसने तुरन्त ही माधवी नाम की अपनी चतुर दासी को भेजकर मूलदेव को बुलवाया। लेकिन मूलदेव ने कहा—"विचित्र विटों के वश में रहने वाली, मद्यपान और मांस-भक्षण में आसक्त, अति निकृष्ट, तथा वचनों में कोमल और मन से दुष्ट ऐसी गणिका का विशिष्ट पुरुष कभी सेवन नहीं करते। अग्नि की शिखा की भांति वह संताप उत्पन्न करती है, मदिरा की भांति मन को मोहित करती है, छुरी की भांति शरीर को काटती है और सींक की भांति वह निन्दनीय है।" खैर, दासी किसी प्रकार समझा-बुझाकर मूलदेव को अपनी स्वामिनी के पास ले गयी। मूलदेव उसके घर रहने लगा और दोनों में प्रीति बढ़ती गयी।

अचल नाम का एक व्यापारी देवदत्ता का दूसरा प्रेमी था। वह उसे मुँह-मांगे वस्त्र और आभूषण आदि देकर प्रसन्न रखता था। देवदत्ता की माँ अपनी बेटी से कंगाल मूलदेव का परित्याग करने के लिए बहुत कहती-सुनती, लेकिन उसकी बेटी यही उत्तर देती कि वह केवल धन की लोभी नहीं है, गुणों की भी वह कद्र करती है। कुछ समय बाद, अचल ने मूलदेव को अपमानित कर वहाँ से निकाल दिया, और संयोग से वह बेन्यातट नगर का राजा बन गया। इधर देवदत्ता ने अचल के व्यवहार से असन्तुष्ट हो उसे अपने घर से निकाल बाहर किया। उसके बाद, उसने राजा के पास पहुँचकर निवेदन किया कि मूलदेव के सिवाय अन्य किसी पुरुष को उसके घर न आने दिया जाये।[1]

अन्य गणिकाएँ

कृष्णवासुदेव ने जब कांपिल्यपुर के लिए प्रस्थान किया तो उनके साथ अनंगसेना आदि गणिकाएँ भी चलीं; इससे भी यही पता लगता है कि उस समय आजकल की भांति उन्हें निकृष्ट नहीं समझा जाता था।[2] राजगृह के राजा जरासंध की दो सर्वप्रधान गणिकायें थीं; एक

१. वही ३, पृ० ५९–६५।

२. ज्ञातृधर्मकथा १६, पृ० २०८। बौद्ध ग्रन्थों की बिन्दुमती गणिका के सत्य के प्रभाव से गंगा का प्रवाह ही उलट गया था। सम्राट् अशोक ने इसका कारण पूछा तो उसने उत्तर दिया कि महाराज, जो मुझे धन देता है, चाहे वह

का नाम था मगहसुंदरी और दूसरी का मगहसिरि। मगहसिरी मगहसुंदरी से ईर्ष्या करती थी। एक दिन जब मगहसुंदरी के नृत्य का दिन आया तो उसने विषयुक्त सोने की बारीक सुइयों को कनेर के वृक्ष पर डाल दिया। मगहसुंदरी की माँ को पता लगा कि भौंरे कनेर के वृक्ष पर न बैठ कर, आम के वृक्ष पर बैठते हैं तो उसे सन्देह हो गया, और उसने सुइयों को हटाकर अपनी पुत्री की रक्षा की।[1]

गुंडपुरुष

वेश्यागामी गुंड (गोट्ठिल्ल) पुरुषों का भी उल्लेख मिलता है। बड़े-बड़े नगरों में उनकी टोलियां (गोट्ठी=गोष्ठी) रहती थीं। इन टोलियों के सदस्यों को राजा की ओर से परवाना मिला रहता, नगर वासी उनके अनुचित कामों को भी उचित मानते, अपने माता-पिता और स्वजन सम्बन्धियों द्वारा वे उपेक्षा दृष्टि से देखे जाते, वे अपनी मनमानी करते, और किसी के वश में न आते। चम्पा नगरी में ललिता नाम की एक गोष्ठी थी। एक बार इस गोष्ठी के पांच सदस्य किसी गणिका के साथ उद्यान में क्रीड़ार्थ गये। एक ने गणिका को अपनी गोद में बैठाया, दूसरे ने उस पर छाता लगाया, तीसरे ने पुष्प-शेखर बनाकर तैयार किया, चौथे ने पाद-रचना की और पांचवाँ उसके ऊपर चमर डुलाने लगा।[2]

क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र कोई भी हो, वह सबको समान भाव से देखती है, मिलिन्दप्रश्न, पृ० १२१ आदि। कुरुधम्मजातक (२७६) २, पृ० १००-१ में एक सदाचारी गणिका का उल्लेख है जिसने किसी व्यक्ति से एक हजार मुद्राएं स्वीकार कर लीं थीं, लेकिन वह तीन वर्ष तक लौटकर नहीं आया। इस बीच में उस गणिका ने अन्य पुरुष के हाथ से पान का एक बीड़ा तक न लिया। अन्त में जब वह दरिद्र अवस्था को पहुँच गयी तो न्यायालय में जाकर उसने न्यायाधीशों से पहले की तरह जीवन यापन करने की अनुमति मांगी। कथासरित्सागर (जिल्द ३, अध्याय ३८, पृ० २०७-१७) में एक वेश्या की कथा आती है जिसने प्रतिज्ञा की थी कि यदि उसका प्रेमी छः महीने के अन्दर लौटकर न आया तो वह अपनी सब सम्पत्ति का त्याग कर देगी और अग्नि में जलकर प्राण दे देगी। इस बीच में ब्राह्मणों को दान आदि देकर वह अपना समय यापन करती रही। अम्बपालिका के लिए देखिए दीघनिकाय २, महापरिनिब्बाणसुत्त, पृ० ७६ आदि; थेरीगाथा २५२-७०; महावग्ग ६, १७.२९, पृ० २४६।

१. आवश्यकचूर्णी २, पृ० २०९।

२. ज्ञातृधर्मकथा १६, पृ० १७४।

राजगृह की गोष्ठी भी इसी नाम से प्रसिद्ध थी। एक बार उसके छह सदस्य मोग्गरपाणि यक्ष के आयतन में क्रीड़ा करने गये। उन्होंने पुष्पार्चना करने के बाद, यक्ष-मंदिर में से अपनी मालिन के साथ निकलते हुए माली को देखा। उन्हें देखकर वे किवाड़ों के पीछे छिप गये। फिर माली को बाँधकर उसकी मालिन के साथ उन्होंने विषय-भोग किया।[1]

साध्वी स्त्रियाँ

साध्वियाँ महावीर के चतुर्विध संघ की एक महत्वपूर्ण अंग थीं। साधुओं की भाँति साध्वियाँ भी भिक्षा पर निर्भर रहती थीं, यद्यपि उनका जीवन अधिक कठोर था और साधुओं की अपेक्षा उन्हें अधिक अनुशासित और नियंत्रित जीवन बिताना पड़ता था। उनके लिए विधान है कि उन्हें साधुओं द्वारा अरक्षित दशा में अकेले नहीं रहना चाहिए, तथा संदिग्ध चरित्र वाले लोगों के साथ निवास नहीं करना चाहिए। जब वे भिक्षार्थ गमन करतीं तो तरुण लोग तरह-तरह के उपसर्ग करते, और उनके निवास-स्थान (वसति) में घुस बैठते। उनका रक्तस्राव देखकर लोग उनका उपहास करते, कापालिक साधु उन्हें विद्या-प्रयोग द्वारा वश में करने की चेष्टा करते। इसीलिए साध्वियों को आदेश है कि केले की भाँति अपने-आपको वस्त्र आदि से पूर्णतया सुरक्षित रक्खें। लेकिन फिर भी तरुण लोग उन्हें सताने से नहीं चूकते थे। ऐसी दशा में साध्वियों को अपनी वसति का द्वार बन्द रखने का विधान किया गया है। यदि कदाचित् वसति के कपाट न हों तो रक्षा के लिए साधुओं को बैठना चाहिए, या फिर स्वयं साध्वियां को हाथ में डंडा लेकर द्वार पर उपस्थित रहना चाहिए जिससे कि उपद्रवकारी उपद्रव न कर सकें। यदि फिर भी विषयलोलुप दुष्ट लोग किसी तरुण साध्वी का पीछा करने से बाज न आयें तो कोई सहस्रयोधी तरुण साधु साध्वी के वेश में उपस्थित होकर उन लोगों को दंड दे।[2] वाराणसी के राजा जितशत्रु की पुत्री सुकुमालिया ने ससअ और भसअ नाम के अपने दो भाइयों के साथ दीक्षा ग्रहण की थी। सुकुमालिया अत्यन्त रूपवती थी। जब वह भिक्षा के लिए जाती तो कुछ मनचले तरुण उसका पीछा करते

१. अन्तःकृद्दशा, ६, पृ० ३३।

२. बृहत्कल्पभाष्य ३.४१०६ आदि; १.२४४३ आदि; २०८५।

और उसकी वसति में घुसे चले आते। यह देखकर प्रधान गणिनी ने इस बात को आचार्य से निवेदन किया। आचार्य के आदेश से ससअ और भसअ अपनी बहन के साथ उपाश्रय में रहने लगे। यदि एक भिक्षा को जाता तो दूसरा सुकुमालिया की रक्षा करता। दोनों भाई सहस्रमल्ल थे, अतएव यदि कोई उपद्रव करता तो उसे वे ठोक-पीट कर ठीक कर देते।[1]

ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जब कि गृहस्थ लोग साध्वियों को बहकाकर अपने वश में कर लेते, और उनसे बलात्कार कर बैठते। वे उन्हें देखकर हँसी-मजाक करते और तरह-तरह के गाने गाते। कोई उनकी शकल-सूरत की तुलना अपनी साली से और कोई अपनी भानजी से करता। एक बार किसी पुरुष ने किसी रूपवती साध्वी को देखा; उसका एक मित्र भी उसके साथ था। मित्र की पत्नी की मृत्यु हो गयी थी। पुरुष ने अपने मित्र से कहा—"यह तुम्हारे समान वय की है, इसके साथ तुम्हारा सम्बन्ध हो जाय तो कैसा रहे?" उस साध्वी के समक्ष यह प्रस्ताव रक्खा गया गया, लेकिन उसने उन दोनों को फटकार कर भगा दिया। एक दिन, वह साध्वी संयोग से, उस मित्र के घर भिक्षा लेने गयी। मित्र ने धूर्तता वश उसका बड़ा आदर-सत्कार किया। अपनी मृत पत्नी के बाल-बच्चों को उसका चरण-स्पर्श करने को कहा और हमेशा आहार-आदि द्वारा उसका आतिथ्य करने का आदेश दिया। स्त्री-स्वभाव के कारण साध्वी उसके फुसलाने में आ गयी, और फिर बार-बार के गमनागमन से दोनों का सम्बन्ध हो गया।[2]

ऐसी परिस्थिति में विधान है कि इस रहस्य को तुरन्त गुरु से निवेदन करना चाहिए। यदि साध्वी गर्भवती हो गयी हो तो उसे संघ से बहिष्कृत नहीं करना चाहिए, बल्कि उस दुष्ट व्यक्ति को राजा आदि से कहकर दण्ड दिलवाना चाहिए, या स्वयं दण्ड देना चाहिए जिससे कि भविष्य में ऐसी घटना न घटे। यदि वह अज्ञात-गर्भा हो तो किसी श्रावक आदि के घर रख देना चाहिए। यदि कदाचित् उसके गर्भ का पता लग गया हो तो उसे उपाश्रय में रखना चाहिए और उसे भिक्षा के लिए न भेजना चाहिए। यदि फिर भी अगीतार्थ लोग

---

१. वही ४.५२५४-५९।

२. वही १, २६६१-७२।

टीका-टिप्पणी करने से बाज न आयें तो उनको समझाना चाहिए कि ऐसी संकट की स्थिति में उसका परित्याग कैसे किया जा सकता है ? कहना चाहिए कि किसी अनार्य पुरुष का यह कार्य है, हम इसमें क्या कर सकते हैं ? उन्हें समझाने के लिए केशी और सत्यकी[1] के उदाहरण देने चाहिए जो आर्यिकाओं के साथ पुरुष सहवास के बिना ही पैदा हुए थे। इन आर्यिकाओं का व्रतभंग इसलिए नहीं माना जाता, क्योंकि उनके परिणाम विशुद्ध थे[2] तथा जैसे उन्मार्गगामी नदी कालान्तर में अपने मार्ग से बहने लगती है, और कंडे की अग्नि प्रज्वलित होकर कुछ समय बाद शान्त हो जाती है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए।[3]

साध्वियों को अपहरण करने के उदाहरण भी जैनसूत्रों में मिल जाते हैं। कालकाचार्य की साध्वी भगिनी सरस्वती को उज्जैनी के

---

१. सुज्येष्ठा वैशाली के गणराजा चेटक की कन्या थी। प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद, एक दिन वह उपाश्रय में आतापना कर रही थी। इतने में पेढाल नामक कोई परिव्राजक अपनी विद्या देने के लिए किसी योग्य पुरुष की खोज में उपस्थित हुआ। उसने वहाँ कुहासा (धूमिया) पैदा कर सुज्येष्ठा की योनि में बीज डाल दिया। कालान्तर में उसके गर्भ से सत्यकी उत्पन्न हुआ, आवश्यकचूर्णी २, पृ० १७५।

२. पाँच प्रकार से पुरुष के बिना भी स्त्रियाँ द्वारा गर्भधारण करने का उल्लेख है —(१) परिधानवर्जित बैठी हुई स्त्री के शरीर में पुरुष का शुक्र अनायास ही प्रविष्ट हो जाये, (२) कोई पुत्रार्थी पुरुष अपने शुक्र को उसकी योनि में प्रवेश कर दे, (३) यदि पुत्र की इच्छा से कोई श्वसुर इस प्रकार के कार्य में प्रवृत्त हो, (४) यदि रक्तनिरोध के लिए शुक्रकणों से लिप्त किसी वस्त्र को योनि-आच्छादन के काम में लिया जाय (केशी की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई थी), (५) यह शुक्रमिश्रित जल को पीने के काम में लिया जाये, बृहत्कल्पभाष्य ३.४१३८–३९। तुलना कीजिए मातंगजातक (४९७) ४, पृ० ५८६ के साथ। यहाँ उल्लेख है कि किसी मातंग ने अपने अंगूठे से अपनी पत्नी की नाभि का स्पर्श किया और वह गर्भवती हो गयी। तथा देखिए धम्मपद अट्ठकथा २, पृ० १९५। उप्पलवण्णा के साथ श्रावस्ती के अंधवन में किसी ब्रह्मचारी ने बलात्कार किया था, तब से भिक्षुणियों ने अंधवन में रहना छोड़ दिया था, वही २, पृ० ४९, ५२।

३. बृहत्कल्पभाष्य ३.४१४७।

राजा गर्दभिल्ल द्वारा अपहरण कर अपने अन्तःपुर में रखने का उल्लेख किया जा चुका है। भृगुकच्छ के एक बौद्ध वणिक् के सम्बन्ध में कहा है कि कतिपय संयतियों के रूप-लावण्य से आकृष्ट हो, उसने जैन श्रावक बनकर कपटभाव से उन्हें अपने अपने जहाज (वहणट्ठाण) में चैत्यवन्दन के लिए आमन्त्रित किया। लेकिन जैसे ही उन्होंने जहाज में पैर रखा कि जहाज चल पड़ा।[1]

साध्वियों को चोर भी कष्ट पहुँचाते थे। कभी वे बोधिय म्लेच्छों के साथ मिलकर उन्हें उठा ले जाते।[2] कभी वे उनके वस्त्रों का अपहरण कर लेते। ऐसी अवस्था में कहा गया है कि संयतियों को चर्मखण्ड, शाक के पत्ते, दर्भ तथा अपने हाथ द्वारा अपने गुह्य प्रदेश की रक्षा करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में मग्गपाली नाम की संयती का उदाहरण दिया गया है।[3]

साध्वी-परिव्राजिकाओं द्वारा दौत्य-कर्म

जैनसूत्रों में ऐसी कितनी ही परिव्राजिकाओं का उल्लेख है जो प्रेम-संदेश ले जाने का काम करती थीं। मिथिला की चोक्खा परिव्राजिका चार वेद तथा अन्य शास्त्रों की पण्डिता थी और वह अनेक राजा, राजकुमार आदि को दानधर्म, शौचधर्म और तीर्थाभिषेक का उपदेश करती हुई विहार किया करती थी। एक दिन वह त्रिदण्ड, कुण्डिका आदि लेकर परिव्राजिकाओं के मठ से निकली तथा अनेक परिव्राजिकाओं के साथ राजा कुम्भक के कन्या-अन्तःपुर की ओर चली। वहाँ पहुँचकर वह मल्लीकुमारी के पास आयी। जल से सिंचित दर्भ के आसन पर वह बैठ गयी, और दान-धर्म का उपदेश देने लगी। उसने बताया कि जो कोई पदार्थ अशुचि हो वह मिट्टी और जल से साफ करने से शुद्ध हो जाता है। इस समय मल्लीकुमारी ने चोक्खा से कोई प्रश्न किया और उसका उत्तर न देने के कारण उसे अपमानित कर वहाँ से भगा दिया। वहाँ से चोक्खा पाञ्चाल देश के राजा जितशत्रु के अन्तःपुर में पहुँची और वहाँ मल्ली के रूप-लावण्य का बखान कर राजा को उसे प्राप्त करने के लिए उकसाया।[4]

---

१. वही १.२०५४।

२. व्यवहारभाष्य ७.४१६।

३. बृहत्कल्पभाष्य १.२९८६; निशीथचूर्णी ५.१९८२।

४. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० १०८–११०।

बुद्धिल की कन्या रयणावई राजकुमार ब्रह्मदत्त को देखकर उसकी ओर आकृष्ट हुई। किसी परिव्राजिका के हाथ उसने राजकुमार के नाम एक पत्र भेजा। उसने राजकुमार के मित्र वरधणु के पास पहुँच, उसके सिर पर अक्षत और पुष्प फेंककर, उसे सहस्र वर्ष जीवित रहने का आशीर्वाद दिया, और उसे एकान्त में ले जाकर रयणावई की की इच्छा व्यक्त की। ब्रह्मदत्त ने रयणावई के पत्र का उत्तर दिया और उसे लेकर परिव्राजिका वापिस आयी।[1]

पुरुष भी परिव्राजिकाओं द्वारा प्रेम का सन्देश भिजवाते थे। कोई युवती नदी पर स्नान करने गयी हुई थी। एक युवक उसे देखकर मुग्ध हो गया। पहले तो उसने बालकों को फल आदि देकर उसके घर का पता लगाया, और फिर एक परिव्राजिका को उसके घर भेजा। परिव्राजिका जब युवती के घर पहुँची तो वह बर्तन धो रही थी। परिव्राजिका की बात सुनकर उसे गुस्सा आया और बर्तन धोते-धोते उसने स्याही लगे हुए अपने हाथों से उसकी कमर पर एक जोर का थप्पड़ मार उसे भगा दिया।[2]

कभी स्त्रियाँ अपने पति को प्रसन्न करने के लिए अथवा पुत्रोत्पत्ति के लिए भी परिव्राजिकाओं की शरण लेती थीं। तेयलीपुत्र अमात्य की पत्नी पोट्टिला अपने पति को इष्ट नहीं थी। वह विपुल अशन, पान आदि द्वारा श्रमण, ब्राह्मण आदि का सत्कार करके अपना समय यापन किया करती थी। एक दिन सुव्रता नाम की आर्यिका वहाँ आयी। पोट्टिला ने भिक्षा देकर उसका सत्कार किया। तत्पश्चात् उसने निवेदन किया—"आप बहुत अनुभवी हैं, बहुश्रुत हैं, दूर-दूर भ्रमण करती हैं। कोई ऐसा उपाय बताइये जिससे मेरे पतिदेव मुझसे प्रसन्न रहने लगें। यदि आपके पास कोई चूर्ण, मन्त्र, गुटिका, औषधि आदि हो जिससे कि मेरे पति आकृष्ट हो सकें, तो दीजिये।" यह सुनकर सुव्रता ने अपने कानों पर हाथ रक्खे और वहाँ से चलती बनी।[3]

---

१. उत्तराध्ययनटीका १३, पृ० १९१-अ आदि।

२. दशवैकालिकचूर्णी २, पृ० ९०। तथा देखिये चकलदार, वही, अध्याय ५, पृ० १८४।

३. ज्ञातृधर्मकथा १४, पृ० १५१ आदि; निरयावलि ३, पृ० ४८ आदि। तुलना कीजिये कथासरित्सागर जिल्द २, अध्याय १२, पृ० ९९ आदि।

किसी परिव्राजिका ने एक स्त्री को अपने पति को वश में करने के लिए अभिमन्त्रित क्रूर (चावल) खाने के लिये दिया। स्त्री ने सोचा कि कहीं इसके खाने से मेरे पति की मृत्यु न हो जाय। यह सोचकर उसने उस क्रूर को एक कूड़े पर फिंकवा दिया। संयोग से उसे एक गधे ने खा लिया और वह रात-भर उस स्त्री के द्वार पर टक्कर मारता रहा।[1]

सन्तानोत्पत्ति के लिए भी विद्याप्रयोग, मन्त्रप्रयोग, वमन, विरेचन, बस्तिकर्म और औषधि आदि का उपयोग किया जाता था।[2]

---

१. ओघनिर्युक्तिटीका ५९७, पृ० १९३-अ।
२. निरयावलि ३, पृ० ४८ आदि।

चौथा अध्याय

शिक्षा और विद्याभ्यास

अध्यापक और विद्यार्थी

भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति का उद्देश्य था चरित्र का संगठन, व्यक्तित्व का निर्माण, प्राचीन संस्कृति की रक्षा तथा सामाजिक और धार्मिक कर्त्तव्यों को सम्पन्न करने के लिए उदीयमान पीढ़ी का प्रशिक्षण।[1]

अध्यापक बहुत आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। जैनसूत्रों में तीन प्रकार के आचार्यों का उल्लेख है:—कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य। कलाचार्य और शिल्पाचार्य के सम्बन्ध में कहा है कि उनका उपलेपन और संमर्दन करना चाहिए, उन्हें पुष्प समर्पित करने चाहिएँ, तथा स्नान कराने के पश्चात् उन्हें वस्त्राभूषणों से मंडित करना चाहिए। तत्पश्चात् भोजन आदि कराकर जीवन-भर के लिए प्रीतिदान देना चाहिए, तथा पुत्र-पौत्र तक चलने वाली आजीविका का प्रबन्ध करना चाहिए। धर्माचार्य को देखकर उनका सम्मान करना चाहिए और उनके लिए भोजन आदि की व्यवस्था करनी चाहिये।[2] यदि वे किसी दुर्भिक्ष वाले प्रदेश में रहते हों तो उन्हें सुभिक्ष देश में ले जाकर रखना चाहिए, कांतार में से उनका उद्धार करना चाहिए तथा दीर्घकालीन रोग से उन्हें मुक्त करने की चेष्टा करनी चाहिए।[3] इसके साथ ही अध्यापकों में भी विद्यार्थियों को शिक्षा देने के लिए पूर्ण योग्यता होनी चाहिए। जो प्रश्न विद्यार्थियों द्वारा पूछे जायें उनका, अपना बड़प्पन प्रदर्शित किये बिना उत्तर देना चाहिए, तथा कभी असम्बद्ध उत्तर नहीं देना चाहिए।[4]

---

१. अल्तेकर, एजूकेशन इन ऐंशिएण्ट इण्डिया, पृ० ३२६।

२. रायप्रश्नीयसूत्र १९०, पृ० ३२८।

३. स्थानांग ३.१३५; तथा मनुस्मृति २.२२५ आदि।

४. आवश्यकनिर्युक्ति १३६; तथा एच० आर० कापड़िया, द जैन सिस्टम ऑव एजूकेशन, जर्नल ऑव युनिवर्सिटी ऑव बाम्बे, जनवरी, १९४०, पृ० २०६ आदि।

अध्यापक और विद्यार्थियों के सम्बन्ध प्रेमपूर्ण होते थे, और विद्यार्थी अपने गुरुओं के प्रति अत्यन्त श्रद्धा और सम्मान का भाव रखते थे। अच्छे शिष्य के सम्बन्ध में कहा है कि वह गुरुजी के पढ़ाये हुए विषय को हमेशा ध्यानपूर्वक सुनता है, प्रश्न पूछता है, प्रश्नोत्तर सुनता है, उसका अर्थ ग्रहण करता है, उस पर चिन्तन करता है, उसकी प्रामाणिकता का निश्चय करता है, उसके अर्थ को याद रखता है और तदनुसार आचरण करता है।[१] कोई सुयोग्य शिष्य अपने अध्यापक के प्रति कभी अशिष्टता का व्यवहार नहीं करता, कभी मिथ्या भाषण नहीं करता, तथा एक जातिमंत अश्व की भाँति वह उसकी आज्ञा का पालन करता है। यदि उसे पता लगे कि उसका आचार्य कुपित हो गया है तो प्रिय वचनों से उसे प्रसन्न करता है, हाथ जोड़कर उसे शान्त करता है, और अपने प्रमादपूर्ण आचरण की क्षमा मांगता हुआ भविष्य में वैसा न करने का वचन देता है। वह न कभी आचार्य के बराबर में, न उसके सामने और न उसके पीछे की तरफ बैठता है। कभी आसन या शय्या पर बैठकर वह प्रश्न नहीं पूछता, बल्कि यदि कुछ पूछना हो तो अपने आसन से उठकर, पास में आकर, हाथ जोड़कर पूछता है। यदि कभी आचार्य कठोर वचनों द्वारा शिष्य को अनुशासन में रखना चाहे तो वह क्रोध न करके शान्तिपूर्वक व्यवहार करता है, और सोचता है कि इससे उसका लाभ ही होने वाला है। जैसे किसी अविनीत घोड़े को चलाने के लिए बार-बार कोड़ा मारने की आवश्यकता होती है, वैसे ही विद्यार्थी को अपने गुरु से बार-बार कर्कश वचन सुनने की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि जैसे कोई विनीत घोड़ा अपने मालिक का कोड़ा देखते ही दौड़ने लगता है, वैसे ही आचार्य का इशारा पाकर सुयोग्य विद्यार्थी सत्कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। वास्तव में वही विनीत कहा जाता है जो अपने गुरु की आज्ञा का पालन करता है, उसके समीप रहता है और उसका इशारा पाते ही काम में लग जाता है।[२]

लेकिन अविनीत विद्यार्थी भी होते थे। अध्यापक उन्हें अनुशासन में लाने के लिए ठोकर (खड्डुया) और चपत (चवेडा) मारते, दण्ड

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति २२।

२. उत्तराध्ययनसूत्र १.२, ९, १२, १३, १८, २२, २७, ४१।

आदि से प्रहार करते और आक्रोशपूर्ण वचन कहते।[1] अविनीत शिष्यों की तुलना गलिया बैलों (खलुंक) से की गयी है जो धैर्य न रखने के कारण, आगे बढ़ने से जवाब दे देते हैं। ऐसे शिष्यों को यदि किसी कार्य के लिए भेजा जाये तो वे इच्छानुसार, पंख निकले हुए हंस-शावकों की भाँति, इधर-उधर घूमते रहते हैं। ऐसे कुशिष्यों को अत्यन्त कुत्सित गर्दभ (गलिगद्दह) की उपमा दी गयी है। आचार्य ऐसे शिष्यों से तंग आकर, उन्हें उनके भाग्य पर छोड़ देते और स्वयं वन में तप करने चले जाते।[2]

दुर्विनीत शिष्य

दुर्विनीत शिष्य अपने आचार्यों पर भी हाथ उठा देते थे। इन्द्रपुर के राजा इन्द्रदत्त के बाईस पुत्रों का उल्लेख किया जा चुका है। जब उन्हें आचार्य के पास पढ़ने भेजा गया तो उन्होंने कुछ नहीं पढ़ा। आचार्य यदि कभी कुछ कहते-सुनते तो वे आचार्य को मारते-पीटते और दुर्वचन बोलते। यदि आचार्य उनकी ताड़ना करते तो वे अपनी मां से जाकर शिकायत करते। मां आचार्य के ऊपर गुस्सा करती और ताना मारती कि क्या आप समझते हैं कि पुत्र कहीं से ऐसे ही आ जाते हैं।[3]

शिष्य अपने गुरु का आदेश पाकर हाथापाई कर बैठते थे। हरिकेशी मुनि जब किसी ब्राह्मण के यज्ञवाटक में भिक्षा के लिए गये तो अपने अध्यापक का इशारा पाकर छात्रगण (खंडिय) मुनि को डंडों, बेंतों और कोड़ों से मारने-पीटने लगे, जिससे कि उसे खून की उल्टी होने लगी।[4]

अच्छे-बुरे शिष्य

शिष्यों को शैल, कुट, छलनी आदि के समान बताया गया है। कुछ शिष्य शैल (पर्वत) के समान अत्यन्त कठोर होते हैं, और कुछ कृष्णभूमि (काली मिट्टी वाली जमीन) के समान आचार्य के बताये हुए अर्थ को ग्रहण और धारण करने में समर्थ होते हैं। कुट

१. वही १.३८।

२. वही २७.८, १३, १६ आदि। तथा देखिए एच० आर० कापड़िया, वही, पृ० २१२-१५।

३. उत्तराध्ययनटीका ३.६५-अ।

४. उत्तराध्ययनसूत्र १२.१८-१९ आदि।

(घट) चार प्रकार के बताये गये हैं :—छिद्र-कुट (जिस घड़े की तली फूटी हुई हो), खंड-कुट (जिसके कन्ने टूटे हुए हों), बोट-कुट (जिसका एक ओर का कपाल टूटा हुआ हो) और सकल-कुट (जो घड़ा सम्पूर्ण हो)। कुछ शिष्य छिद्र-कुट के समान, कुछ खंड-कुट के समान, कुछ बोट-कुट के समान और कुछ सकल-कुट के समान कहे गये हैं। कुछ शिष्य चालिणी (छलनी) के समान होते हैं। वे एक कान से सुनते हैं और दूसरे से निकाल देते हैं। इसके विपरीत, कुछ शिष्य खउर (खपुर = तापसों का एक पात्र) के समान होते हैं। जैसे खपुर में बेल और भिलावे के रस का लेप करने से, उसमें से पानी नहीं सिरता, इसी प्रकार शिष्य भी आचार्य के कथन को भली-भांति हृदयंगम करता है। शिष्यों की उपमा परिपूणग (घी-दूध छानने का छन्ना) के साथ भी दी गयी है। जैसे छन्ने में घी छानने से घी नीचे चला जाता है और मैल ऊपर रह जाता है, इसी प्रकार कुछ शिष्य केवल दोष ही ग्रहण करते हैं, गुणों की ओर वे दृष्टि नहीं देते। इसके विपरीत, कुछ शिष्य हंस के समान होते हैं जो नीर-मिश्रित क्षीर में से क्षीर को ग्रहण कर लेते हैं और नीर का परित्याग कर देते हैं। कुछ शिष्यों को उस महिष (भैंसा) के समान बताया गया है जो किसी तालाब में घुसकर उसके जल को गंदा कर देता है, और इस जल को न वह स्वयं पी सकता है और न उसके साथी। इसी प्रकार व्याख्यान के प्रारम्भ होने पर, शिष्य अनेक प्रकार की विकथाओं से आचार्य को ऐसा थका देता है कि न तो वे उसे व्याख्यान दे सकते हैं और न किसी अन्य गण को। लेकिन कुछ शिष्य मेंढ़े की भांति भी होते हैं, जो अपने मुंह को आगे की ओर झुकाकर, चुपचाप जल पीकर चले जाते हैं। ऐसे शिष्य आचार्य को उत्तेजित न कर उनसे शिक्षा ग्रहण करते हैं। कुछ शिष्य मच्छर के समान होते हैं जो बैठते ही काट लेते हैं। इसके विपरीत, कतिपय शिष्य शरीर को कष्ट पहुँचाये बिना ही चुपचाप रुधिर का पान करनेवाली जलुगा (जलौका = जोंक) की भाँति होते हैं। ऐसे शिष्य आचार्य को कष्ट पहुँचाये बिना ही, श्रुतज्ञान का पान करते हैं। कुछ शिष्यों की उपमा मार्जारी (बिलाड़ी) से दी गयी है, जो दूध को जमीन पर गिराकर बाद में उसे चाटती है। ऐसे शिष्य अहंकारवश, जब मण्डली में आचार्य का व्याख्यान होता है तब तो ध्यान देते नहीं, और सबके उठ जाने पर, जब लोग आपस में बात करते हैं तब पास में बैठकर सुनने की कोशिश करते

आदि से प्रहार करते और आक्रोशपूर्ण वचन कहते।[1] अविनीत शिष्यों की तुलना गलिया बैलों (खलुंक) से की गयी है जो धैर्य न रखने के कारण, आगे बढ़ने से जवाब दे देते हैं। ऐसे शिष्यों को यदि किसी कार्य के लिए भेजा जाये तो वे इच्छानुसार, पंख निकले हुए हंस-शावकों की भाँति, इधर-उधर घूमते रहते हैं। ऐसे कुशिष्यों को अत्यन्त कुत्सित गर्दभ (गलिगद्दह) की उपमा दी गयी है। आचार्य ऐसे शिष्यों से तंग आकर, उन्हें उनके भाग्य पर छोड़ देते और स्वयं वन में तप करने चले जाते।[2]

दुर्विनीत शिष्य

दुर्विनीत शिष्य अपने आचार्यों पर भी हाथ उठा देते थे। इन्द्रपुर के राजा इन्द्रदत्त के बाईस पुत्रों का उल्लेख किया जा चुका है। जब उन्हें आचार्य के पास पढ़ने भेजा गया तो उन्होंने कुछ नहीं पढ़ा। आचार्य यदि कभी कुछ कहते-सुनते तो वे आचार्य को मारते-पीटते और दुर्वचन बोलते। यदि आचार्य उनकी ताड़ना करते तो वे अपनी मां से जाकर शिकायत करते। मां आचार्य के ऊपर गुस्सा करती और ताना मारती कि क्या आप समझते हैं कि पुत्र कहीं से ऐसे ही आ जाते हैं।[3]

शिष्य अपने गुरु का आदेश पाकर हाथापाई कर बैठते थे। हरिकेशी मुनि जब किसी ब्राह्मण के यज्ञवाटक में भिक्षा के लिए गये तो अपने अध्यापक का इशारा पाकर छात्रगण (खंडिय) मुनि को डंडों, बेंतों और कोड़ों से मारने-पीटने लगे, जिससे कि उसे खून की उल्टी होने लगी।[4]

अच्छे-बुरे शिष्य

शिष्यों को शैल, कुट, छलनी आदि के समान बताया गया है। कुछ शिष्य शैल (पर्वत) के समान अत्यन्त कठोर होते हैं, और कुछ कृष्णभूमि (काली मिट्टी वाली जमीन) के समान आचार्य के बताये हुए अर्थ को ग्रहण और धारण करने में समर्थ होते हैं। कुट

१. वही १.३८।

२. वही २७.८, १३, १६ आदि। तथा देखिए एच० आर० कापड़िया, वही, पृ० २१२–१५।

३. उत्तराध्ययनटीका ३.६५–अ।

४. उत्तराध्ययनसूत्र १२.१८–१९ आदि।

(घट) चार प्रकार के बताये गये हैं :—छिद्र-कुट (जिस घड़े की तली फूटी हुई हो), खंड-कुट (जिसके कन्ने टूटे हुए हों), बोट-कुट (जिसका एक ओर का कपाल टूटा हुआ हो) और सकल-कुट (जो घड़ा सम्पूर्ण हो)। कुछ शिष्य छिद्र-कुट के समान, कुछ खंड-कुट के समान, कुछ बोट-कुट के समान और कुछ सकल-कुट के समान कहे गये हैं। कुछ शिष्य चालिणी (छलनी) के समान होते हैं। वे एक कान से सुनते हैं और दूसरे से निकाल देते हैं। इसके विपरीत, कुछ शिष्य खउर (खपुर = तापसों का एक पात्र) के समान होते हैं। जैसे खपुर में बेल और भिलावे के रस का लेप करने से, उसमें से पानी नहीं सिरता, इसी प्रकार शिष्य भी आचार्य के कथन को भली-भांति हृदयंगम करता है। शिष्यों की उपमा परिपूणग (घी-दूध छानने का छन्ना) के साथ भी दी गयी है। जैसे छन्ने में घी छानने से घी नीचे चला जाता है और मैल ऊपर रह जाता है, इसी प्रकार कुछ शिष्य केवल दोष ही ग्रहण करते हैं, गुणों की ओर वे दृष्टि नहीं देते। इसके विपरीत, कुछ शिष्य हंस के समान होते हैं जो नीर-मिश्रित क्षीर में से क्षीर को ग्रहण कर लेते हैं और नीर का परित्याग कर देते हैं। कुछ शिष्यों को उस महिष (भैंसा) के समान बताया गया है जो किसी तालाब में घुसकर उसके जल को गंदा कर देता है, और इस जल को न वह स्वयं पी सकता है और न उसके साथी। इसी प्रकार व्याख्यान के प्रारम्भ होने पर, शिष्य अनेक प्रकार की विकथाओं से आचार्य को ऐसा थका देता है कि न तो वे उसे व्याख्यान दे सकते हैं और न किसी अन्य गण को। लेकिन कुछ शिष्य मेंढ़े की भांति भी होते हैं, जो अपने मुंह को आगे की ओर झुकाकर, चुपचाप जल पीकर चले जाते हैं। ऐसे शिष्य आचार्य को उत्तेजित न कर उनसे शिक्षा ग्रहण करते हैं। कुछ शिष्य मच्छर के समान होते हैं जो बैठते ही काट लेते हैं। इसके विपरीत, कतिपय शिष्य शरीर को कष्ट पहुँचाये बिना ही चुपचाप रुधिर का पान करनेवाली जलुगा (जलौका = जोंक) की भाँति होते हैं। ऐसे शिष्य आचार्य को कष्ट पहुँचाये बिना ही, श्रुतज्ञान का पान करते हैं। कुछ शिष्यों की उपमा मार्जारी (बिलाड़ी) से दी गयी है, जो दूध को जमीन पर गिराकर बाद में उसे चाटती है। ऐसे शिष्य अहंकारवश, जब मण्डली में आचार्य का व्याख्यान होता है तब तो ध्यान देते नहीं, और सबके उठ जाने पर, जब लोग आपस में बात करते हैं तब पास में बैठकर सुनने की कोशिश करते

हैं। इसके विपरीत, थोड़ा-थोड़ा दूध गिराकर चाटनेवाले जाहग (सेही) के समान शिष्यों को प्रशस्त कहा गया है। ये शिष्य पूर्व-गृहीत अर्थ को याद करके प्रश्न पूछते हैं और आचार्य को कष्ट नहीं देते।

आगे चलकर, चार चतुर्वेदी ब्राह्मणों के साथ शिष्यों की तुलना की गयी है। किसी ने इन ब्राह्मणों को एक गाय दान में दी। वे चारों वारी-वारी से उसे दुहते। लेकिन हर कोई सोचता कि कल इसे दूसरा आदमी दुहेगा, फिर मैं इसे घास-चारा क्यों दूं? यह सोचकर चारों दूध दुहकर उसे छोड़ देते, और घास-चारा न डालते। परिणाम यह हुआ कि उनकी लापरवाही से वह गाय मर गयी। उसके बाद दुबारा उन्हें किसी ने गाय दान में न दी। इसी प्रकार जो शिष्य अपने आचार्य की परिचर्या नहीं करते और उनके बीमार पड़ जाने पर उनकी परवा नहीं करते, वे श्रुतज्ञान से वंचित ही रहते हैं। अतएव शिष्यों को अपने आचार्य के प्रति श्रद्धा और भक्तिपूर्वक व्यवहार करना चाहिए।

दूसरा उदाहरण गोशीर्ष चन्दन-निर्मित अशिवोपशमिनी भेरी का दिया गया है। यह भेरी कृष्ण के पास थी। इसका शब्द सुनने से छः महीने तक रोग नहीं होता था और यदि कोई पहले ही रोग से ग्रस्त हो तो उसका रोग शान्त हो जाता था। एकबार परदेश से कोई वणिक् द्वारका आया। वह सिर की वेदना से अत्यन्त व्याकुल था। वैद्य ने उसे गोशीर्ष चन्दन का लेप बताया था, लेकिन गोशीर्ष चंदन बहुत प्रयत्न करने पर कहीं न मिला। अन्त में उसने बहुत-सा द्रव्य कृष्ण के भेरीपाल को देकर भेरी का एक खण्ड खरीद लिया। इस प्रकार जब उसे आवश्यकता होती, वह उसका खण्ड भेरीपाल से ले जाता। परिणाम यह हुआ कि भेरी खण्डित हो गयी, और उसका बजना बन्द हो गया, और प्रजा रोगी रहने लगी। जब कृष्ण को इसका पता लगा तो उसने भेरीपाल को बुलाकर उसके वंश का मूलोच्छेद कर दिया। इसी प्रकार सूत्रार्थ को खण्डित करनेवाले शिष्यों को कुशिष्य बताया गया है।

कोई आभीरी अपनी गाड़ी में घी के घड़े भरकर अपने पति के साथ, उन्हें किसी नगर में बेचने चली। साथ में और भी आभीर थे; वे भी घी बेचने जा रहे थे। आभीरी का पति गाड़ी के ऊपर था और वह नीचे खड़ी हुई अपनी पत्नी को घी के घड़े पकड़ा रहा था। पति

ने समझा कि आभीरी ने घड़ा पकड़ लिया है। आभीरी ने समझा कि अभी वह उसी के हाथ में है। इतने में घड़ा गिरकर फूट गया। आभीरी कहने लगी—"तुमने ठीक नहीं पकड़ा, इसलिए फूट गया।" आभीर ने कहा—"तुमने ठीक नहीं पकड़ा।" इस तरह दोनों में झगड़ा होने लगा। आभीर ने गाड़ी से उतरकर आभीरी को खूब पीटा। जो घी बाकी बचा था, उसे कुछ कुत्ते चाट गये और कुछ जमीन पी गयी। इस बीच में दूसरे व्यापारी अपना-अपना घी बेचकर चले गये। इन दोनों ने भी अपने बचे हुए घी की बिक्री की, लेकिन उन्हें बहुत कम लाभ हुआ। इसी प्रकार जो शिष्य अपने आचार्य के प्रति निष्ठुर वचन कहता हुआ कलह करता है, वह कभी प्रशस्त नहीं कहा जा सकता।[1]

विद्यार्थी जीवन

प्राचीन युग में विद्यार्थियों के भोजन-वस्त्र और रहने-सहने का क्या प्रबन्ध था, इस विषय का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। लेकिन जान पड़ता है कि विद्यार्थी सादा जीवन व्यतीत करते थे। कुछ विद्यार्थी अध्यापक के घर रहकर पढ़ते, और कुछ नगर के धनवन्तों के घर अपने रहने-सहने और खाने-पीने का प्रबंध कर लेते थे। शंखपुर का अगडदत्त नाम का राजकुमार वाराणसी पहुँचा और कलाचार्य के घर रहता हुआ विविध कलाओं की शिक्षा प्राप्त करने लगा।[2] कौशाम्बी नगरी में जितशत्रु नाम का राजा राज्य करता था। उसने चतुर्दश विद्याओं में पारंगत काश्यप नाम के ब्राह्मण को अपने यहाँ नियुक्त कर रक्खा था। लेकिन उसकी मृत्यु हो गयी और उसकी जगह राजा को दूसरा ब्राह्मण नियुक्त करना पड़ा। काश्यप के पुत्र का नाम कपिल था। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात्, उसने मन लगाकर विद्याध्ययन करने का निश्चय किया, लेकिन वहाँ ईर्ष्या के कारण, उसे कोई पढ़ाने के लिए तैयार न हुआ। उसे श्रावस्ती पढ़ने के लिए भेजा गया। वहाँ भिक्षावृत्ति करने के साथ-साथ विद्याध्ययन उसके लिए कठिन हो गया। अतएव उपाध्याय ने नगर के किसी श्रीमन्त के घर उसके रहने और

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति १३९; आवश्यकचूर्णी, पृ० १२१-२४; बृहत्कल्पभाष्य, पीठिका ३३४-३६१। शिष्य द्वारा आचार्य को वंदन करने के सम्बन्ध में देखिये वही, ३.४४७१-९५।

२. उत्तराध्ययनटीका ४, पृ० ८३ अ आदि।

भोजन का प्रबंध कर दिया। वहाँ उसे एक दासचेटी भोजन परोसती थी, कपिल का उससे प्रेम हो गया।[1]

कभी विद्यार्थी का विवाह अपने ही उपाध्याय की कन्या से हो जाता था। मगध देश के अचल ग्राम में धरणिजढ नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसके पुत्र का नाम कपिल था। वह रत्नपुर नगर में गया और वहाँ उपाध्याय के घर रहकर विद्याभ्यास करने लगा। कुछ समय पश्चात्, उपाध्याय ने अपनी कन्या सत्यभामा का उससे विवाह कर दिया।[2]

अनध्याय

अनध्यायों के दिन पाठशालाएं बन्द रहती थीं। कोई बाह्य कारण उपस्थित हो जाने पर भी पाठशालाओं में छुट्टी हो जाती थी। यदि कभी आकाश में असमय में मेघ दिखायी देते, मेघ गर्जना सुनायी पड़ती, बिजली चमकती, घनघोर वर्षा होने लगती, कुहरा गिरता, अंधड़ चलता, या चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहण लगता, तो पाठशालाओं में अध्यापन का कार्य बन्द रहता। यदि कभी दो सेनाओं या दो ग्रामों में लड़ाई ठन जाती और आस-पास की शान्ति भंग हो जाती, स्त्रियां कलह करने लगतीं, मल्ल-युद्ध होता, या ग्रामस्वामी या ग्रामप्रधान आदि की मृत्यु हो जाती तो भी स्वाध्याय करने का निषेध किया गया है। इसके अतिरिक्त, छोटे-छोटे कारणों को लेकर भी पढ़ाई बन्द हो जाती। उदाहरण के लिए, यदि बिल्ली चूहे को मार देती, मार्ग में अंडा दिखायी दे जाता, मोहल्ले में किसी बालक का जन्म होता तो भी स्वाध्याय बन्द कर दिया जाता।[3]

विद्यार्थियों का सम्मान

विद्यार्थी जब बाहर से विद्याध्ययन समाप्त करके घर लौटते तो उनका धूमधाम से स्वागत किया जाता। दशपुर में सोमदेव ब्राह्मण का रक्षित नाम का एक पुत्र था। जब वह अपने पुत्र को घर न पढ़ा सका तो उसने उसे पाटलिपुत्र पढ़ने के लिए भेज दिया। वहां रक्षित ने

१. वही, पृ० १२३-अ आदि।

२. वही १८, पृ० २४३। तुलना कीजिए महाउमग्ग जातक (५४६), ६, पृ० ३९३।

३. व्यवहारभाष्य ७.२८१-३१९। तुलना कीजिए याज्ञवल्क्यस्मृति १.६. १४६-५३; तथा आल्तेकर, वही, पृ० १०५।

चर्दतुश विद्याओं का अध्ययन किया। विद्याध्ययन के पश्चात् जब वह अपने घर लौटा तो नगर ध्वजा-पताकाओं से सज्जित किया गया। नगर का राजा स्वयं उसका आदर-सत्कार करने के लिए उपस्थित हुआ, और उसने रक्षित के गले में हार पहनाया। हाथी पर सवार होकर रक्षित अपने घर आया। रक्षित का घर चन्दन-कलश आदि से खूब सजाया गया था। उसने घर में प्रवेश किया, तथा बाहर की उपस्थानशाला में बैठकर लोगों के उपहार स्वीकार किये। उसका घर द्विपद, चतुष्पद, हिरण्य और सुवर्ण आदि से भर गया। रक्षित के मित्र और स्वजन सम्बधी उसने मिलकर अत्यन्त प्रसन्न हुए।[1]

महावीर का लेखशाला में प्रवेश

भगवान् महावीर जब आठ वर्ष के हुए तो सिद्धार्थ राजा ने उन्हें लेखशाला में भेजने का महोत्सव मनाया। नैमित्तकों को बुलाकर उसने मुहूर्त निकलवाया और स्वजनों को निमंत्रित कर भोजन आदि से उनका सत्कार किया। तत्पश्चात् वाग्देवी की प्रतिमा के पूजन के के लिए उसने नाना रत्नों से जटित सुवर्ण के आभूषण बनवाये। अध्यापक को बहुमूल्य वस्त्राभूषण तथा नारियल आदि भेंट में दिये। लेखशाला के विद्यार्थियों को मषिपात्र, लेखनी, और पट्टी आदि दी, तथा द्राक्षा, खंडशर्करा, चिरौंजी और खजूर आदि वितरण की। तत्पश्चात् तीर्थजल से स्नान कर, सर्वालंकार से विभूषित हो, महाछत्र धारण किये हुए, चामरों से वीज्यमान, चतुरंग सेना से परिवृत, गाजे-बाजे के साथ महावीर ने शाला में प्रवेश किया।[2]

इसी प्रकार मेघकुमार और दृढ़प्रतिज्ञ आदि के विद्याध्ययन के सम्बन्ध में कहा गया है। ७२ कलाओं की शिक्षा प्राप्त कर जब मेघकुमार घर लौटा तो उसके माता-पिता ने कलाचार्य को विपुल वस्त्र, गंध, माल्य और अलंकार आदि प्रदान कर, मधुर वचनों से उसका सत्कार किया, और उसे जीवन-भर के लिए प्रीतिदान दिया।[3]

पाठ्यक्रम

वेद भारतीय साहित्य की सबसे प्राचीन पुस्तक मानी जाती है, अतएव वेदों का अध्ययन आवश्यक था। प्राचीन जैनसूत्रों में ऋग्वेद,

१. उत्तराध्ययनटीका २, पृ० २२-अ।

२. कल्पसूत्रटीका ५, पृ० १२०।

३. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० २२।

यजुर्वेद और सामवेद इन तीन वेदों का उल्लेख मिलता है।[1] वैदिक ग्रन्थों में निम्नलिखित शास्त्रों का उल्लेख है :—छह वेदों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास (पुराण) और निघंटु; छह वेदांगों में संख्यान (गणित), शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष; छह उपांगों में वेदांगों में वर्णित विषय और षष्ठितंत्र।[2] उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में निम्नलिखित चतुर्दश विद्यास्थानों को गिनाया गया है :—छह वेदांग, चार वेद, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र।[3]

इसके पश्चात्, जैन आगमों में अर्वाचीन माने जाने वाले अनुयोगद्वार[4] और नन्दिसूत्र[5] में नीचे लिखे लौकिक श्रुत का उल्लेख किया गया है:—भारत, रामायण,[6] भीमासुरुक्ख,[7] कौटिल्य (कोडि-

१. स्थानांग ३.१८५। जैन परम्परा के अनुसार, भरत ने आर्य वेदों की रचना की थी जिनमें तीर्थङ्कर की स्तुति, यतिधर्म, श्रावकधर्म और शान्तिकर्म आदि का उल्लेख था। उसके पश्चात् सुलसा, याज्ञवल्क्य, तंतुग्रीव आदि ने अनार्य वेदों का निर्माण किया। ये ही वेद आजकल उपलब्ध हैं, आवश्यकचूर्णी, पृ० २१५; सूत्रकृतांगचूर्णी, पृ० १६; वसुदेवहिण्डी पृ० १८२ आदि। दूसरी परम्परा के अनुसार, द्वादश अंग को ही वेद कहा है, आचारांगचूर्णी, पृ० १८५।

२. व्याख्याप्रज्ञप्ति २.१; औपपातिक ३८, पृ० १७२। देखिये दीघनिकाय १, अंबट्ठसुत्त, पृ० ७६।

३. ३, पृ० ५६–अ। मिलिन्दप्रश्न, पृ० ३ में १९ शिल्पों का उल्लेख है—सुति, सम्मुति, संख्या, योगा, नीति, विसेसिका, गणिका (गणित), गंधब्बा, तिकिच्छा (चिकित्सा), चतुब्बेद, पुराण, इतिहास, जोतिसा, माया, हेतु, मंतणा, युद्ध, छन्दसा, मुद्दा; दीघनिकाय १, ब्रह्मजालसुत्त, पृ० ११। तुलना कीजिए याज्ञवल्क्यस्मृति १. ३; महाभारत १२.१२२.२१ आदि।

४. सूत्र ४० आदि।

५. सूत्र ४२, पृ० १९३–अ।

६. रामायण और महाभारत पूर्वाह्न या अपराह्न में पढ़े जाते थे। दोनों को भावावश्यक (आवश्यक क्रियाएं) के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है, अनुयोगद्वारसूत्र २५, पृ० २५–२६। निशीथचूर्णी ११.१० की चूर्णी में भारत और रामायण को पापश्रुत कहा है।

७. भंभी और आसुरुक्ख का उल्लेख व्यवहारभाष्य, १ पृ० १३२ में मिलता है। यहां माठर कौण्डिन्य की [illegible] का भी उल्लेख है। तथा

ल्लय)।[1] घोटकमुख (घोडयमुह),[2] सगडिभद्दिआउ, कप्पासिअ, णागसुहुम, कनकसप्तति[3] (कणगसत्तरी), वैशिक (वेसिय), वैशेषिक (वइसेसिय), बुद्धशासन, कपिल,[4] लोकायत,[5] षष्ठितंत्र (सट्ठितंत), माठर, पुराण, व्याकरण, नाटक, बहत्तर कलायें और अंगोपांगसहित चार वेद। नन्दिसूत्र में त्रैराशिक, भगवान् पातंजलि और पुरुषदेव का भी उल्लेख मिलता है।[6]

स्थानांगसूत्र नौ पापश्रुत स्वीकार किये हैं :—१. उत्पात-रुधिर की वृष्टि आदि अथवा राष्ट्रोत्पात का प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र, २. निमित्त-अतीतकाल के ज्ञान का परिचायक शास्त्र, जैसे कूटपर्वत आदि, ३. मंत्रशास्त्र, ४. आख्यायिका (आइक्खिय)-मातंगी विद्या जिससे चांडालिनी भूतकाल की बातें कहती है, ५; चिकित्सा (आयुर्वेद), ६. लेख आदि ७२ कलाएं, ७. आवरण (वास्तुविद्या), ८. अण्णाणं (अज्ञान)-भारत, काव्य, नाटक आदि लौकिक श्रुत, ९. मिच्छापवयण (मिथ्याप्रवान) बुद्ध-शासन आदि।[7]

देखिए नेमिचन्द्र, गोम्मटसार, जीवकांड, ३०३, पृ० ११७; मूलाचार, ५, पृ० ६० आदि। मूलाचार में कहा है—असवः प्राणास्तेषां छेदनभेदनताडनत्रा-सनोत्पाटनमारणादिप्रपंचेन वंचनादिरूपेण वा रक्षा यस्मिन् धर्मे स आसुरक्षो धर्मः नगराधारक्षिको पापभूतः।

१. कौडिल्लय को चाणक्ककोडिल्ल भी कहा गया है, सूत्रकृतांगचूर्णी, पृ० २०८। सूत्रकृतांग (९.१७) में अट्ठवय का उल्लेख है जिसका अर्थ टीकाकार ने चाणक्य का अर्थशास्त्र किया है। जैन साधुओं को अर्थशास्त्र के पठन-पाठन का निषेध है। वसुदेवहिण्डी (पृ० ४५) और ओघनिर्युक्ति (पृ० १५२) में अर्थशास्त्र की एक प्राकृत गाथा उद्धृत की गयी है जिससे प्राकृत में अत्यसत्थ होने का अनुमान किया जाता है; आवश्यकचूर्णी पृ० १५६। चूलवंस (६४.३) में कोटल्ल का उल्लेख है।

२. घोटकमुख का उल्लेख चाणक्य के अर्थशास्त्र ५.५.९३,५६, पृ० १९५ में और वात्स्यायन के कामसूत्र (पृ० १८८) में किया गया है। तथा देखिए मज्झिमनिकाय २,४४, पृ० ४१४ आदि।

३. ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका का दूसरा नाम।

४. कपिल और आसुरि के लिये देखिये आवश्यकचूर्णी पृ० २२९।

५. दीघनिकाय १, ब्रह्मजालसुत्त पृ० ११ में लोकायत का उल्लेख है।

६. सूत्र ४२।

७. ९.६७८; तथा सूत्रकृतांग २, २.३०। तुलना कीजिए सम्मोहविनोदिनी

बहत्तर कलाएं

जैनसूत्रों में ७२ कलाओं का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया गया है।[1] इनमें शिल्प तथा ज्ञान-विज्ञान की परम्परागत सूची दी गयी है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हर कोई इन सभी कलाओं में निष्णात होता था। इन कलाओं का सम्पादन करना एक ऐसा उद्देश्य था जिसकी पूर्ति शायद ही कभी हो सकती हो। बहत्तर कलाओं का वर्गीकरण निम्न रूप में किया जा सकता है :—१. लेखन और पठन-पाठन-लेख और गणित[2]। २. काव्य जिसमें पोरकव्व (शीघ्रकवित्व), आर्या, प्रहेलिका, मागधिका, गाथा, गीत और श्लोक की रचना का अन्तर्भाव होता है। ३. रूपविद्या। ४. संगीत जिसमें नृत्य, गीत, वाद्य, स्वरगत (षड्ज, ऋषभ आदि का ज्ञान), पुष्करगत (मृदंग आदि बजाने का ज्ञान) और समताल (गीत आदि के समताल का ज्ञान) का अंतर्भाव होता है। ५. मिश्रित द्रव्यों के पृथक्करण की विद्या—दगमट्टिय (उदकमृत्तिका)। ६. द्यूत आदि खेल, जिसमें द्यूत, जणवाय (एक प्रकार जूआ), पासय (पासा), अष्टापद (चौपड़ का खेल), सुत्तखेड[3] (सूत्रखेल = डोरी टूट गयी हो या जल गयी हो, लेकिन वह टूटी या जली हुई दिखायी न दे, अथवा डोरी से खींचकर दिखाया जानेवाला पुतलियों का खेल), वस्त्रक्रीड़ा और नालिकाखेड (एक प्रकार द्यूत) का अंतर्भाव होता है। स्वास्थ्य,

---

(पृ० ४९०) के साथ जहां भारतयुद्ध और सीताहरणादि को पापक सुत्त कहा है।

१. देखिए ज्ञाताधर्मकथा १, पृ० २१; समवायांग पृ० ७७-अ; औपपातिकसूत्र ४० पृ० १८६; राजप्रश्नीयसूत्र २११; जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका २, पृ० १३६ आदि; बेचरदास, भगवान महावीर नी धर्मकथाओ, पृ० १९३ आदि; अमूल्यचन्द्र सेन, सोशल लाइफ इन जैन लिटरेचर, कलकत्ता रिव्यू, मार्च १९३३, पृ० ३६४ आदि; डी०सी० दास गुप्त, जैन सिस्टम ऑव एजूकेशन, पृ० ७४ आदि, १९४२; तथा देखिए कादम्बरी, पृ० १२६, काले का संस्करण; दशकुमारचरित, पृ० ६६; दिव्यावदान, पृ० ५८, १००, ३९१; ललितविस्तर, पृ० १५६।

२. खेल-खेल में (वट्टेहिं रमंतेण) अक्षरज्ञान और गणित सिखाने का उल्लेख मिलता है, आवश्यकचूर्णी पृ० ५५३।

३. सूत्रक्रीड़ा का उल्लेख कुट्टिनीमत (श्लोक १२४) में मिलता है।

विलेपन और भोजन जिसमें अन्नविधि (पाकविद्या), पानविधि, वस्त्रविधि, विलेपनविधि, शयनविधि, हिरण्ययुक्ति, सुवर्णयुक्ति, आभरणविधि, चूर्णयुक्ति,[1] तरुणीप्रतिकर्म (युवतियों के वर्ण परिवर्तन आदि का परिज्ञान), पत्रच्छेद्य[2] (पत्रछेदन में हस्तलाघव), और कटच्छेद्य (बीच में अंतर वाली तथा एक हार में रहने वाली वस्तुओं के क्रमवार छेदन का ज्ञान) का अन्तर्भाव होता है।

८—विविध प्रकार के लक्षण और चिह्न आदि का ज्ञान जिसमें पुरुष, स्त्री, हय, गज, गाय, कुक्कुट, छत्र, दण्ड, असि, मणि और काकणी[3] के लक्षणों का अन्तर्भाव होता है।

९—शकुनविद्या में शकुनरुत[4] (पक्षियों के शब्द का ज्ञान) का अन्तर्भाव होता है।

१०—ज्योतिषविद्या में चार (ग्रहों की अनुकूल गति का ज्ञान) और प्रतिचार (ग्रहों की प्रतिकूल गति का ज्ञान) का अन्तर्भाव होता है।

११—रसायनविद्या में सुवर्णपाक (सोना बनाने की विद्या), हिरण्यपाक, सजीव (मृत धातुओं को सहज रूप में लाने का ज्ञान) और निर्जीव[5] (सुवर्ण आदि धातुओं के मारण का ज्ञान) का अन्तर्भाव होता है।

---

१. गंधयुक्ति का उल्लेख मृच्छकटिक ८.१३ तथा ललितविस्तर (देखिए बुलेटिन स्कूल ऑव ओरिएिटएल स्टडीज़, जिल्द ६, पृ० ५१५–१७ में ई० जी० थॉमस का लेख) में मिलता है।

२. कुट्टिनीमत (श्लोक २३६) तथा कादम्बरी (वही) में पत्रच्छेद्य का उल्लेख है। काले के अनुसार, यह भित्ति अथवा भूमि पर बनाई हुई चित्रकला थी, जब कि कॉवेल का मानना है कि यह पत्रों के छेदन की विद्या थी, देखिए ई० जी० थॉमस का उपर्युक्त लेख।

३. वराहमिहिर की बृहत्संहिता के ६७, ६५, ६६, ६०, ६२, ७२, ४९ और ७९ वें अध्यायों में क्रमशः पुरुष, हय, गज, गाय, कुक्कुट, छत्र, असि, मणि और काकिणी के लक्षणों का वर्णन है। असिलक्षण के लिए देखिए असिलक्खण जातक (१२६), १ पृ० ६५।

४. बृहत्संहिता के ८७ वें अध्याय में इसका वर्णन है। मूलसर्वास्तिवाद के विनयवस्तु पृ० ३२ में भी सर्वभूतरुत का उल्लेख है। शिवारुत के लिये देखिये आवश्यकचूर्णी पृ० ५६२।

५. चरक और सुश्रुत में धातुओं के मारण की विधि बतायी गयी है। इस विधि द्वारा धातुएं अपना वर्ण और चमक आदि खो देती थीं, पी० सी० रे,

१२—वास्तुकला में वास्तुविद्या, स्कंधावारमान (सेना के परिमाण का ज्ञान) और नगरमान का अन्तर्भाव होता है।

१३—युद्धविद्या में युद्ध, नियुद्ध, युद्धातियुद्ध, दृष्टियुद्ध, मुष्टियुद्ध, बाहुयुद्ध, लतायुद्ध, ईसत्थ (इष्वस्त्र = बाणों और अस्त्रों का ज्ञान), छरुप्पवाय (त्सरुप्रवाद=खड्गविद्या), धनुर्वेद, व्यूह, प्रतिव्यूह, चक्रव्यूह गरुड़व्यूह और शकटव्यूह का अन्तर्भाव होता है।[1]

विद्या के केन्द्र

प्राचीन भारत में राजधानियां, तीर्थस्थान और मठ-मंदिर शिक्षा के केन्द्र थे। राजा-महाराजा तथा सामन्त लोग, साधारणतया, विद्या-केन्द्रों के आश्रयदाता होते थे। समृद्ध राज्यों की राजधानियों में दूर-दूर के विद्वान् लोग आकर बसते, और ये राजधानियां विद्या-केन्द्र बन जाती थीं। वाराणसी शिक्षा का मुख्य केन्द्र था। शंखपुर का निवासी राजकुमार अगडदत्त विद्याध्ययन के लिए वाराणसी गया, और वहां अपने उपाध्याय के घर रहकर उसने शिक्षा प्राप्त की, इसका उल्लेख पहले आ चुका है। श्रावस्ती शिक्षा का दूसरा केन्द्र था। पाटलिपुत्र भी लोग विद्याध्ययन के लिए जाते थे। दक्षिण में प्रतिष्ठान विद्या का बड़ा केन्द्र था।[2] तक्षशिला का उल्लेख बौद्ध-काल में अनेक स्थानों पर मिलता है; जैनसूत्रों में इसका उल्लेख नहीं आता।

साधु और साध्वियों के उपाश्रय और वसति-स्थानों में भी

हिस्ट्री ऑव हिन्दू केमिस्ट्री, भाग १, कलकत्ता, १९०४, पृ० ६२। तथा तुलना कीजिए दशकुमारचरित, २, पृ० ६६, काले का संस्करण, १९२५।

१. हत्थि, अस्स, रथ, धनु, छरु, मुद्दा, गणन, संखाण, लेखा, कावेय्य, लोकायत और खत्तविज्ज नाम के बारह शिल्पों के लिए देखिए उदान की परमत्थदीपनी नाम की अट्ठकथा, पृ० २०५। जैनों की ७२ कलाओं और कामशास्त्र (१.३) में उल्लिखित ६४ कलाओं की तुलना के लिए देखिए बेचरदास, भगवान महावीर नी धर्मकथाओ, पृ० १९३ आदि। तथा देखिए जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की टीका, (२, पृ० १३९ आदि) स्त्रियों की ६४ कलाओं के लिए; तथा डाक्टर वेंकट सुब्बिहा, कलाज़, जनरल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९१४।

२. कल्पसूत्रटीका, ४, पृ० ९०–अ। तथा देखिए डी०सी० दासगुप्त, वही, पृ० २० आदि। जातक ग्रन्थों में बौद्ध शिक्षाप्रणाली के लिए देखिए डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी का बुद्धिस्ट स्टडीज़, पृ० २३६ आदि पर लेख।

उपाध्यायों के द्वारा परम्परागत शास्त्रों की शिक्षा देने के साथ-साथ शब्द, हेतुशास्त्र, छेदसूत्र, दर्शन, शृंगारकाव्य और निमित्तविद्या आदि सिखाये जाते थे। श्रमणों के संघों को चलती-फिरती पाठशालाएँ ही समझना चाहिए। विद्या के विभिन्न क्षेत्रों में शास्त्रार्थ और वाद-विवादों द्वारा सत्य और सम्यग्ज्ञान को आगे बढ़ाना, श्रमणों की शैक्षणिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों की आश्चर्यजनक विशेषता थी। वाद-पुरुष अपनी-अपनी स्थलियों और सभाओं में बैठकर दर्शनशास्त्र की सूक्ष्मातिसूक्ष्म चर्चाएँ किया करते थे। जैन भिक्षुओं और रक्तपटों (बौद्धों) में इस प्रकार के सार्वजनिक शास्त्रार्थ हुआ करते थे। यदि कोई जैन भिक्षु स्वसिद्धांत का प्रतिपादन करने में पूर्णरूप से समर्थ न होता तो उसे दूसरे गण में जाकर तर्कशास्त्र अध्ययन करने के लिए कहा जाता। तत्पश्चात् राजा और महाजनों के समक्ष परतीर्थिकों को निरुत्तर करके भिक्षु वाद में जय प्राप्त करता।[1] कोई परिव्राजक अपने पेट को लोहपट्ट से बांधकर और हाथ में जम्बू वृक्ष की शाखा लेकर परिभ्रमण करता था। प्रश्न करने पर वह उत्तर देता—"ज्ञान से मेरा पेट फट रहा है, इसलिए मैंने पेट पर लोहे का पट्टा बांधा है, और इस जम्बूद्वीप में मेरा कोई प्रतिवादी नहीं, इसलिए मैंने जम्बू की शाखा ग्रहण की है"।[2]

धर्म और नीतिशास्त्र के कथाकारों में काथिकों का नाम उल्लेखनीय है। ये लोग तरंगवती, मलयवती आदि आख्यायिकाओं, धूर्ताख्यान आदि आख्यानकों, गीतपद, शृंगारकाव्य, वसुदेवचरित और चेटककथा आदि कथाओं तथा धर्म, अर्थ और काम संबंधी कथाओं आदि का प्रतिपादन कर निम्न वर्ग के लोगों में घूम-घूमकर धर्म और दर्शन का प्रचार करते थे।[3]

---

१. बृहत्कल्पभाष्य ४.५१७९, ५४२६–५४३१; व्यवहारभाष्य १, पृ० ५७–अ आदि।

२. उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० ७२। तुलना कीजिए सुत्तनिपात की अट्ठकथा २, पृ० ५३८ आदि; चुल्लकालिंग जातक (३०१), ३, पृ० १७२ आदि।

३. बृहत्कल्पभाष्य १.२५६४।

पांचवाँ अध्याय

कला और विज्ञान

(१) लेखन

प्राचीन भारत में लोग लिखने की कला से परिचित थे।[1] लेख की ७२ कलाओं में गिनती की गयी है। राजप्रश्नीय में लेखन-सामग्री के अन्तर्गत पत्र (पत्तग), पुस्तक का पुट्ठा (कम्बिया), डोरी (दोर), गांठ (गंथि), मषीपात्र (लिप्पासन), ढक्कन (चंदण), जंजीर (संकला), स्याही (मषि), लेखनी (लेहणी), अक्षर और पुस्तक[2] (पोत्थय) का उल्लेख मिलता है।[3] लेखशाला में लेखाचार्य विद्याओं को पढ़ाते थे।[4]

समवायांग की टीका में पत्र, वल्कल, काष्ठ, दन्त, लोहा, ताँबा[5] और रजत आदि के ऊपर अक्षरों के लेखन, उत्कीर्णन, सीने और बुनने का उल्लेख किया गया है। ये अक्षर पत्र आदि को छिन्न-भिन्न करके, दग्ध करके और संक्रमण (एक-दूसरे से मिलाना) करके बनाये जाते थे।[6] भोजपत्र पर लिखने का चलन था।[7] चक्रवर्ती दिग्विजय करने के

---

१. डाक्टर गौरीशंकर ओझा के अनुसार भारत में ई० पू० पांचवीं शताब्दी में लेखन का रिवाज था, भारतीय लिपिमाला, पृ० २ आदि।

२. बृहत्कल्पभाष्य ३.३८२२ में गंडी, कच्छवि, मुट्ठि, संपुटफलक और छेदपाटी नामक पांच प्रकार की पुस्तकों का उल्लेख है। इनके विस्तृत विवेचन के लिए देखिए मुनि पुण्यविजयजी, जैनचित्रकल्पद्रुम; एच० आर० कापड़िया, आउटलाइन्स ऑव पैलिओग्राफी, जरनल ऑव यूनिवर्सिटी ऑव बाम्बे, जिल्द ६, भाग ६, पृ० ८७ आदि; तथा ओझा, वही, पृ० ४-६, १४२-१५८।

३. सूत्र १११; आवश्यकटीका (हरिभद्र), पृ० ३८४-अ; निशीथभाष्य १२.४०००।

४. आवश्यकनिर्युक्तिदीपिका १,७६ पृ० ९०-अ; आवश्यकचूर्णी, पृ० २४८।

५. वसुदेवहिण्डी, पृ० १८९ में ताम्रपत्र पर पुस्तक लिखने का उल्लेख है।

६. पृ० ७८।

७. आवश्यकचूर्णी, पृ० ५३०। बैबिलोनिया में मिट्टी पर लिखने का रिवाज

पश्चात् काकिणी रत्न द्वारा अपना नाम पर्वत पर लिखते थे।[1] सार्थ के लोग भी अपनी यात्रा के समय शिला आदि पर मार्गसूचक में निशान बना दिया करते थे जिससे यात्रियों के गमनागमन में सुविधा हो।[2] युद्ध में संलग्न होने के पूर्व शत्रु के पास दूत द्वारा पत्र भेजने का रिवाज था, इसकी चर्चा की जा चुकी है। राजमुद्रा से मुद्रित पत्र[3] और कूटलेख का उल्लेख मिलता है।[4] गुप्त लिपि में प्रेमपत्र लिखे जाते थे।[5]

अष्टादश लिपियां

निम्नलिखित १८ लिपियों का उल्लेख मिलता है :—बंभी (ब्राह्मी), जवणालिया अथवा जवणाणिया (यवनी), दोसाउरिया, खरोट्ठिया (खरोष्ठी), पुक्खरसारिया (पुष्करसारि), पहराइया, उच्चतरिया[6], अक्खरपुट्ठिया, गणितलिपि, भोगवयता, वेणतिया, निण्हइया, अंकलिपि, गंधव्वलिपि (भूतलिपि), आदंसलिपि (आदर्श), माहेसरीलिपि, दामिलीलिपि (द्राविड़ी) और पोलिंदीलिपि।[7]

था। भारत में पत्र और वल्कलों पर लिखा जाता था। ये लेख स्याही का उपयोग किये बिना, उत्कीर्ण करके लिखे जाते थे, राइस डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० ११७।

१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ३.५४। बौद्ध साहित्य के उल्लेखों के लिए देखिए राइस डेविड्स, बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० १०८।

२. आवश्यकटीका (हरिभद्र), पृ० ३८४-अ।

३. बृहत्कल्पभाष्य पीठिका १९५; निशीथचूर्णी ५, पृ० ३६१।

४. उपासकदशा १, पृ० १०।

५. उत्तराध्ययनटीका १३, पृ० १९१-अ; निशीथसूत्र ६. १३; ६.२२६२।

६. प्रज्ञापना १, ७१, पृ० १७६ में उच्चतरिया के स्थान पर अन्तक्खरिया (अन्ताक्षरी), उयन्तरिक्खिया या उयन्तरक्खरिया, तथा आदंस के स्थान पर आयास का उल्लेख है, जैनचित्रकल्पद्रुम, पृ० ६।

७. समवायांग, पृ० ३३। विशेषावश्यकभाष्य की टीका (४६४) में निम्नलिखित लिपियों का उल्लेख है :—हंस, भूत, यक्षी, राक्षसी, उड्डी, यवनी, तुरुष्की, कीरी, द्राविडी, सिंधवीय, मालविनी, नागरी, लाटी, पारसी, अनिमित्ती, चाणक्यी और मूलदेवी। अङ्क, नागरी, चाणक्यी और मूलदेवी लिपियों के लिए देखिए पुण्यविजय, वही, पृ० ६ नोट। अन्य सूची के लिए देखिए लावण्यसमयगणि, विमलप्रबन्ध, पृ० १२३; लक्ष्मीवल्लभ उपाध्याय, कल्पसूत्र, टीका; एच० आर० कापड़िया, वही, पृ० ९४।

है, सब भाषाओं में अपना परिणाम दिखाती है, सब प्रकार से पूर्ण है और जिसके द्वारा सब कुछ जाना और समझा जा सकता है।[1] इससे सिद्ध होता है कि जैसे बौद्धों ने मागधी भाषा को सब भाषाओं का मूल माना है, वैसे ही जैनों ने अर्धमागधी को, अथवा वैयाकरणों ने आर्ष भाषा को मूल भाषा स्वीकार किया है। अर्धमागधी जैन आगमों की भाषा है, नाटकों में इसका प्रयोग नहीं हुआ। ध्वनि तत्त्व की अपेक्षा अर्धमागधी पालि से बाद की है, फिर भी शब्दावली वाक्य-रचना और शैली की दृष्टि से प्राचीनतम जैनसूत्रोंकी यह भाषा पालि के बहुत निकट है। जर्मन विद्वान् रिचार्ड पिशल ने अर्धमागधी के अनेक प्राचीन रूपों का उल्लेख किया है।[2]

भरत के नाट्यशास्त्र में मागधी, आवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, बाह्लीका और दाक्षिणात्या के साथ अर्धमागधी को सात प्राचीन भाषाओं में गिनाया है।[3] निशीथचूर्णी में मगध के आधे भाग में बोली जानेवाली, अथवा अठारह देशी भाषाओं[4] से नियत भाषा को अर्धमागधी कहा है।[5] नवांगी टीकाकार अभयदेव के अनुसार, इस भाषा में कुछ लक्षण मागधी के और कुछ प्राकृत के पाये जाने के कारण इसे अर्धमागधी कहा है।[6]

आचार्य हेमचन्द्र ने यद्यपि जैनआगमों के प्राचीन सूत्रों को अर्धमागधी में लिखे हुए बताया है,[7] लेकिन अर्धमागधी के नियमों का

---

१. अलंकारतिलक १.१।

२. हेमचन्द्र जोशी द्वारा अनूदित प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ० ३३।

३. १७.४८।

४. मगध, मालव, महाराष्ट्र, लाट, कर्णाटक, द्रविड़, गौड़, विदर्भ आदि देशों की भाषाओं को देशी भाषा कहा है, बृहत्कल्पभाष्य १.१२३१ की वृत्ति। उद्योतनसूरि की कुवलयमाला में गोल्ल, मगध, अन्तर्वेदि, कीर, ढक्क, सिंधु, मरु, गुर्जर, लाट, मालवा, कर्णाटक, ताइय (ताजिक), कोशल, मरहट्ठ और आन्ध्र देशों की भाषाओं का देशी भाषा के रूप में उल्लेख किया है। इन भाषाओं के उदाहरण भी दिये गये हैं, जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४२७-२८।

५. मगहद्धविसयभासानिबद्धं अद्धमागहं, अहवा अट्ठारसदेसीभासाणियतं अद्धमागहं, ११. ३६१८ चूर्णी।

६. व्याख्याप्रज्ञप्ति ५.४ पृ० २२१; औपपातिकसूत्रटीका ३४, पृ० १४८।

७. पोराणमद्धमागहभासानिययं हवइ सुत्तं, प्राकृतव्याकरण, ८.४.२८७ वृत्ति।

उन्होंने अलग से विवेचन नहीं किया। उन्होंने अपने प्राकृत-व्याकरण में प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, और अपभ्रंश भाषाओं के ही नियम दिये हैं, अर्धमागधी अथवा आर्य प्राकृत के नहीं। हरिभद्र-सूरि ने जैन आगमों की भाषा को अर्धमागधी न कहकर प्राकृत कहा है।[1] मार्कण्डेय के मतानुसार, शौरसेनी के समीप होने से, मागधी को ही अर्धमागधी कहा जाता है।[2] देखा जाय तो अर्धमागधी का यह लक्षण उचित मालूम देता है। यह भाषा शुद्ध मागधी नहीं थी, तथा पश्चिम में शौरसेनी और पूर्व में मागधी के बीच के क्षेत्र में बोली जाने के कारण इसे अर्धमागधी कहा जाता था।[3]

(२) गणित और ज्योतिष

जैन आचार्यों ने गणित और ज्योतिषविद्या में आश्चर्यजनक प्रगति की थी। जैन आगमों के अन्तर्गत उपांगों में सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति का इस दृष्टि से विशेष महत्व है। चन्द्रप्रज्ञप्ति का वर्णन सूर्यप्रज्ञप्ति के वर्णन से मिलता-जुलता है। सूर्यप्रज्ञप्ति में दो सूर्यों का उल्लेख है।[4] जब सूर्य दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और पूर्व दिशाओं में भ्रमण करता है तो मेरु के दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और पूर्ववर्ती प्रदेशों में दिन होता

---

१. बालस्त्रीवृद्धमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्वज्ञैः सिद्धांतः प्राकृतः स्मृतः ॥
—दशवैकालिकवृत्ति, पृ० २०३।

२. शौरसेन्या अदूरत्वादियमेवार्धमागधी; प्राकृतप्रकाश १२. ३८। तुलना कीजिए क्रमदीश्वर के संक्षिप्तसार ५. ९८ से जहां अर्धमागधी को महाराष्ट्री और मागधी का मिश्रण बताया है।

३. जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० १६–२०, बेचरदास, अर्धमागधी भाषा, पुरातत्व, ३. ४ पृ० ३४६, अहमदाबाद; गुजराती भाषा नी उत्क्रांति, पृ० १०७–२०, बम्बई, १९४३; बी० वी० बापट, इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, १९२८, पृ० २३; ए० बी० कीथ, द होम ऑव पालि, बुद्धिस्ट स्टडीज़, पृ० ७२८ आदि।

४. भास्कर ने अपने सिद्धान्तशिरोमणि और ब्रह्मगुप्त ने अपने स्फुटसिद्धांत में दो सूर्य और दो चन्द्र की मान्यता का खंडन किया है। किन्तु डाक्टर थीबो ने बताया है कि ग्रीक लोगों के भारत में आने के पूर्व जैनों का उक्त सिद्धांत सर्वमान्य था, देखिए जरनल ऑव द एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल, जिल्द ४९, पृ० १०७ आदि, १८१ आदि, 'आन द सूर्यप्रज्ञप्ति' नामक लेख।

हैं, सब भाषाओं में अपना परिणाम दिखाती है, सब प्रकार से पूर्ण है और जिसके द्वारा सब कुछ जाना और समझा जा सकता है।[1] इससे सिद्ध होता है कि जैसे बौद्धों ने मागधी भाषा को सब भाषाओं का मूल माना है, वैसे ही जैनों ने अर्धमागधी को, अथवा वैयाकरणों ने आर्य भाषा को मूल भाषा स्वीकार किया है। अर्धमागधी जैन आगमों की भाषा है, नाटकों में इसका प्रयोग नहीं हुआ। ध्वनि तत्त्व की अपेक्षा अर्धमागधी पालि से बाद की है, फिर भी शब्दावली वाक्य-रचना और शैली की दृष्टि से प्राचीनतम जैनसूत्रों की यह भाषा पालि के बहुत निकट है। जर्मन विद्वान् रिचार्ड पिशल ने अर्धमागधी के अनेक प्राचीन रूपों का उल्लेख किया है।[2]

भरत के नाट्यशास्त्र में मागधी, आवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, बाह्लीका और दाक्षिणात्या के साथ अर्धमागधी को सात प्राचीन भाषाओं में गिनाया है।[3] निशीथचूर्णी में मगध के आधे भाग में बोली जानेवाली, अथवा अठारह देशी भाषाओं[4] से नियत भाषा को अर्धमागधी कहा है।[5] नवांगी टीकाकार अभयदेव के अनुसार, इस भाषा में कुछ लक्षण मागधी के और कुछ प्राकृत के पाये जाने के कारण इसे अर्धमागधी कहा है।[6]

आचार्य हेमचन्द्र ने यद्यपि जैनआगमों के प्राचीन सूत्रों को अर्धमागधी में लिखे हुए बताया है,[7] लेकिन अर्धमागधी के नियमों का

---

१. अलंकारतिलक १.१।

२. हेमचन्द्र जोशी द्वारा अनूदित प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ० ३३।

३. १७.४८।

४. मगध, मालव, महाराष्ट्र, लाट, कर्णाटक, द्रविड़, गौड़, विदर्भ आदि देशों की भाषाओं को देशी भाषा कहा है, बृहत्कल्पभाष्य १.१२३१ की वृत्ति। उद्योतनसूरि की कुवलयमाला में गोल्ल, मगध, अन्तर्वेदि, कीर, ढक्क, सिंधु, मरु, गुर्जर, लाट, मालवा, कर्णाटक, ताइय (ताजिक), कोशल, मरहट्ठ और आन्ध्र देशों की भाषाओं का देशी भाषा के रूप में उल्लेख किया है। इन भाषाओं के उदाहरण भी दिये गये हैं, जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४२७-२८।

५. मगदद्धविसयभासानिबद्धं अद्धमागहं, अहवा अट्ठारसदेसीभासाणियतं अद्धमागहं, ११. ३६१८ चूर्णी।

६. व्याख्याप्रज्ञप्ति ५.४ पृ० २२१; औपपातिकसूत्रटीका ३४, पृ० १४८।

७. पोराणमद्धमागहभासानियतं हवइ सुत्तं, प्राकृतव्याकरण, ८.४.२८७ वृत्ति।

उन्होंने अलग से विवेचन नहीं किया। उन्होंने अपने प्राकृत-व्याकरण में प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, और अपभ्रंश भाषाओं के ही नियम दिये हैं, अर्धमागधी अथवा आर्ष प्राकृत के नहीं। हरिभद्र-सूरि ने जैन आगमों की भाषा को अर्धमागधी न कहकर प्राकृत कहा है।[1] मार्कण्डेय के मतानुसार, शौरसेनी के समीप होने से, मागधी को ही अर्धमागधी कहा जाता है।[2] देखा जाय तो अर्धमागधी का यह लक्षण उचित मालूम देता है। यह भाषा शुद्ध मागधी नहीं थी, तथा पश्चिम में शौरसेनी और पूर्व में मागधी के बीच के क्षेत्र में बोली जाने के कारण इसे अर्धमागधी कहा जाता था।[3]

(२) गणित और ज्योतिष

जैन आचार्यों ने गणित और ज्योतिषविद्या में आश्चर्यजनक प्रगति की थी। जैन आगमों के अन्तर्गत उपांगों में सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति का इस दृष्टि से विशेष महत्व है। चन्द्रप्रज्ञप्ति का वर्णन सूर्यप्रज्ञप्ति के वर्णन से मिलता-जुलता है। सूर्यप्रज्ञप्ति में दो सूर्यों का उल्लेख है।[4] जब सूर्य दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और पूर्व दिशाओं में भ्रमण करता है तो मेरु के दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और पूर्ववर्ती प्रदेशों में दिन होता

---

१. बालस्त्रीवृद्धमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्वज्ञैः सिद्धांतः प्राकृतः स्मृतः॥
—दशवैकालिकवृत्ति, पृ० २०३।

२. शौरसेन्या अदूरत्वादियमेवार्धमागधी; प्राकृतप्रकाश १२. ३८। तुलना कीजिए क्रमदीश्वर के संक्षिप्तसार ५. ९८ से जहां अर्धमागधी को महाराष्ट्री और मागधी का मिश्रण बताया है।

३. जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० १६-२०, बेचरदास, अर्धमागधी भाषा, पुरातत्व, ३. ४ पृ० ३४६, अहमदाबाद; गुजराती भाषा नी उत्क्रांति, पृ० १०७-२०, बम्बई, १९४३; बी० वी० बापट, इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, १९२८, पृ० २३; ए० बी० कीथ, द होम ऑव पालि, बुद्धिस्ट स्टडीज़, पृ० ७२८ आदि।

४. भास्कर ने अपने सिद्धान्तशिरोमणि और ब्रह्मगुप्त ने अपने स्फुटसिद्धांत में दो सूर्य और दो चन्द्र की मान्यता का खंडन किया है। किन्तु डाक्टर थीबो ने बताया है कि ग्रीक लोगों के भारत में आने के पूर्व जैनों का उक्त सिद्धांत सर्वमान्य था, देखिए जरनल ऑव द एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल, जिल्द ४९, पृ० १०७ आदि, १८१ आदि, 'आन द सूर्यप्रज्ञप्ति' नामक लेख।

है। तत्पश्चात् भ्रमण करते हुए दोनों सूर्यों में परस्पर कितना अन्तर रहता है, कितने द्वीप-समुद्रों का अवगाहन करके सूर्य भ्रमण करता है, एक रात-दिन में वह कितने क्षेत्र में घूमता है इत्यादि विषयों का यहाँ वर्णन है। इसके अतिरिक्त, यहाँ सूर्य के उदय-अस्त, ओज तथा चन्द्र-सूर्य के आकार, परिभ्रमण आदि, नक्षत्रों के गोत्र, सीमा और विष्कंभ, तथा सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारों की गति का उल्लेख किया गया है।[1]

विवाहपटल (विवाहपडल) ज्योतिषविद्या का एक ग्रन्थ था जो विवाहवेला के समय काम में आता था। अर्घकांड (अग्घ कंड) में माल के बेचने और खरीदने के सम्बन्ध में चर्चा थी। इनका उल्लेख *निशीथचूर्णी* में किया गया है।[2] योनिप्राभृत[3] (जोणिपाहुड) और चूडामणि का उल्लेख भी प्राचीन जैन ग्रन्थों में मिलता है। ये दोनों निमित्तशास्त्र के ग्रन्थ थे। चूडामणि के द्वारा भूत, भविष्य और वर्तमान काल का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता था।[5] धार्मिक उत्सवों का समय और स्थान निर्धारण करने के लिए ज्योतिष का ज्ञान आवश्यक समझा जाता था।[4]

---

१. देखिए विंटरनीत्स, हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द २, पृ० ४५७; तथा थीबो, आस्ट्रोनोमिक आस्ट्रोलोजिक एण्ड मैथेमैटिक इन बुहलर-फीलहार्नस् ग्राउन्ड्रेस डेर इण्डो-एरिसचेन फाइलोलौजी; जरनल ऑव ऐशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल, जिल्द ४९, भाग १, १८८०; सुकुमार रंजनदास, स्कूल ऑव अस्ट्रोनौमी, इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, जिल्द ८, पृ० ३० आदि, पृ० ५६५ आदि। बौद्धों के ज्योतिष के परिचय के लिए देखिए डाक्टर ई० जे० थॉमस का 'सूर्य, चन्द्र और तारे' नामक लेख (बुद्धिस्ट्स, हेस्टिंग्स की ऐनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड एथिक्स)।

२. १३; पृ० ४००; तथा देखिये बृहत्कल्पभाष्य ४.५११४ टीका।

३. ४, पृ० २८१; बृहत्कल्पभाष्य १.१३०३; तथा पिंडनिर्युक्तिभाष्य ४८–४६ पृ० १४२; सूत्रकृतांगटीका ८, पृ० १६५ अ; जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६७३।

४. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति १.१२१३।

५. जम्बूद्वीपटीका पृ० २; तुलना कीजिए दीघनिकाय १, ब्रह्मजालसुत्त पृ० ११। यहाँ बौद्ध भिक्षुओं के लिए ज्योतिषविद्या तथा अन्य कलाओं का अध्ययन निषिद्ध माना है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति[1] और उत्तराध्ययन[2] में संख्यान (गणित) और जोइस (ज्योतिष) का उल्लेख है; इन दोनों को उपर्युक्त चतुर्दश विद्यास्थानों में गिना गया है।

प्राचीन जैन और बौद्ध सूत्रों के अध्ययन से पता लगता है कि ज्योतिष ने काफी उन्नति की थी। इसे नक्षत्रविद्या[3] भी कहा गया है। ज्योतिषविद्या के पंडित, आगामी घटनाओं के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करते थे। महावीर ने गणित और ज्योतिषविद्या आदि में कुशलता प्राप्त की थी।[4] गणित को ७२ कलाओं में सम्मिलित किया गया है। कहा जाता है कि ऋषभदेव ने अपनी पुत्री सुन्दरी को इसकी शिक्षा दी थी।[5] गणितानुयोग को चार अनुयोगों में गिना गया है,[6] जिसमें सूर्यप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का समावेश होता है। स्थानांगसूत्र में दस प्रकार के संख्यान (गणित) का उल्लेख है :—परिकर्म, व्यवहार, रज्जू (ज्यामिति), कलासवण्ण (कलासवर्ण), जावं तावं, वर्ग, घन, वर्गावर्ग, और विकल्प।[7]

(३) आयुर्वेद

आयुर्वेद को जीवन का विज्ञान और कला कहा गया है। इसमें जीवन की दार्शनिक और जीव-वैज्ञानिक समस्त दशाओं का समावेश होता है, और इसमें रोधक तथा रोगनाशक औषधि और शल्यक्रिया सम्मिलित किये जाते हैं। आयुर्वेद प्राचीन भारत की एक स्वास्थ्यदायक

---

१. २. १, पृ० ११२।

२. २५. ७, ३६।

३. दशवैकालिक ८. ५१।

४. कल्पसूत्र १. १०।

५. आवश्यकचूर्णी, पृ० १५६।

६. दशवैकालिकचूर्णी, पृ० २।

७. १०. ७४७। तथा देखिए विभूतिभूषन दत्त, द जैन स्कूल ऑव मैथेमैटिक्स, द बुलेटिन ऑव द कलकत्ता मैथेमैटिकल सोसायटी, जिल्द २१, पृ० ११५ आदि, १२९; सुकुमार रंजनदास, ए शार्ट क्रोनोलौजी ऑव इंडियन ऑस्ट्रोनौमी, इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, १९३१; एच० आर० कापड़िया, इन्ट्रोडक्शन टू गणिततिलक (गायकवाड़ औरिंटिएल सीरीज, ७८); डी० एम० राय, ऐनैल्स ऑव द भांडारकर इंस्टिट्यूट, १९२६–२७, पृ० १४५ आदि।

कला है जिसका उद्देश्य है मार्ग और साधनों का दिग्दर्शन कराकर, स्वास्थ्य की रक्षा करना, तथा जीवन को सुखी और परोपकारी बनाना।[1]

आयुर्वेद (अथवा तेगिच्छ = चैकित्स्य) को नौ पापश्रुतों में गिना गया है। धन्वन्तरी इस शास्त्र के प्रवर्तक थे।[2] उन्होंने अपने विभंगज्ञान से रोगों का पता लगाकर वैद्यकशास्त्र की रचना की, और जिन लोगों ने इस शास्त्र का अध्ययन किया वे महावैद्य कहलाये।[3] वात, पित्त, श्लेष्म और सन्निपात से होने वाले रोगों का उल्लेख मिलता है।[4] आयुर्वेद की आठ शाखाएँ मानी गयी हैं :—कौमारभृत्य (बालकों के स्तनपान सम्बन्धी रोगों का इलाज), शालाक्य (श्रवण आदि शरीर के ऊर्ध्वभाग के रोगों का इलाज), शाल्यहत्य (तृण, काष्ठ पाषाण, लोहा, अस्थि, नख आदि शल्यों का उद्धरण), कायचिकित्सा (ज्वर, अतिसार आदि का उपशमन), जांगुल (विषघातक तन्त्र), भूतविद्या (भूतों के निग्रह की विद्या), रसायन (आयु, बुद्धि आदि बढ़ाने का तन्त्र) और वाजीकरण (वीर्यवर्धक औषधियों का शास्त्र)।[5]

वैद्यकशास्त्र के पंडित को दृष्टपाठी कहा गया है।[6] वैद्य अपने-अपने घरों से शस्त्रकोश लेकर निकलते थे, और रोग का निदान जानकर अभ्यंग, उबटन, स्नेहपान, वमन, विरेचन, अवदहन (गर्म

---

१. आयुर्वेद को वेदाध्ययन की अपेक्षा भी विशिष्ट कहा है। वेदाध्ययन से केवल स्वर्ग प्राप्ति आदि पारलौकिक श्रेय ही मिलता है, जब कि आयुर्वेद में धन-मान आदि सांसारिक सुख तथा रोगियों को जीवन-दान करने से पारलौकिक सुख भी प्राप्त होता है, भास्कर गोविन्द घाणेकर, सुश्रुतसंहिता, भाग १, सूत्रस्थान १.१.४, पृ० ३।

२. सुश्रुत १. १.१.१८ के अनुसार, सर्वप्रथम ब्रह्माजी ने इसका प्ररूपण किया। उनसे दक्ष प्रजापति ने, दक्ष प्रजापति से अश्विनीकुमार ने, अश्विनीकुमार से इन्द्र ने और इन्द्र से धन्वंतरीजी ने अध्ययन किया।

३. निशीथचूर्णी, १५, पृ० ५१२।

४. आवश्यकचूर्णी पृ० ३८५। तथा देखिये बृहत्कल्पभाष्य ३. ४४०८–१०।

५. स्थानांग ८, पृ० ४०४–अ; विपाकसूत्र ७, पृ० ४१। देखिए सुश्रुतसंहिता १.८, पृ० ४ आदि।

६. नि[illegible]

लोहे को शलाका आदि से दागना), अवस्नान (औषधियों के जल से स्नान करना), अनुवासना (यन्त्र द्वारा तेल आदि को अपान द्वारा पेट मे चढ़ाना), वस्तिकर्म (चर्म वेष्टन द्वारा सिर आदि में तेल लगाना, अथवा गुदाभाग में वत्ती आदि चढ़ाना), निरूह (अनुवासना, एक प्रकार का विरेचन), शिरावेध (नाड़ी वेधकर रक्त निकालना), तक्षण (छुरे आदि से त्वचा काटना), प्रतक्षण (त्वचा का थोड़ा-सा भाग काटना), शिरोबस्ति (सिर में चर्मकोश बांधकर उसमें संस्कृत तेल का पूरना), तर्पण (शरीर में तेल लगाना), पुटपाक (पाकविशेष से तैयार की हुई औषधि), तथा छाल, वल्ली (गुंजा आदि), मूल, कंद पत्र, पुष्प, फल, बीज, शिलिका (चिरायता आदि कड़वी औषध), गुटिका, औषध[1] और भैषज्य से रोगी का उपचार करते थे।

रोगों के प्रकार

आचारांग सूत्र में १६ रोगों का उल्लेख है :—गंडी (गंडमाला, जिसमें ग्रीवा फूल जाती है), कुट्ठ[2] (कोढ़), राजयक्ष्मा, अपस्मार, काणिय (काण्य, अक्षिरोग)[3], झिमिय (जड़ता), कुणिय (हीनांगत्व), खुज्जिय (कुबड़ापन), उदररोग, मूकपना, सूणीय (शरीर का सूज जाना), गिलासणि (भस्मक रोग), वेवइ (कम्पन), पीढसप्पि

१. विपाकसूत्र १, पृ० ८। निशीथचूर्णी ११.३४३६ में प्रतक्षणशस्त्र, अंगुलिशस्त्र, शिरावेधशस्त्र, कल्पनशस्त्र, लौहकंटिका, संडसी, अनुवेधशलाका, व्रीहिमुख और सूचीमुख शस्त्रों का उल्लेख है।

२. कुट्ठ १८ प्रकार का बताया है। इनमें ७ महाकुष्ठ और ११ क्षुद्रकुष्ठ होते हैं। महाकुष्ठ समस्त धातुओं में प्रवेश करने के कारण असाध्य माना जाता है। इसके सात प्रकार :—अरुण, औदुंबर, निश्य (? सुश्रुत में ऋष्य-जिह्व = हरिण की जीभ के समान खुरदुरा), कपाल, काकनाद (सुश्रुत में काकणक), पौण्डरीक (सुश्रुत में पुण्डरीक) और दद्रु। ११ क्षुद्रकुष्ठों में स्थूलारुष्क, महाकुष्ठ, एककुष्ठ, चर्मदल, परिसर्प, विसर्प, सिध्म, विचर्चिका (अथवा विपादिका), किटिभ, पामा (अतिदाह युक्त पामा को कच्छू कहते हैं), और शतारुक (सुश्रुत में रकसा और चरक में शतारु)। देखिये सुश्रुत-संहिता, निदानस्थान, ५.४-५, पृ० ३४२; चरकसंहिता, २,७, पृ० १०४९ आदि।

३. गृहकोकिला (छिपकली) के मूत्र से चक्षुओं की हानि बतायी है, ओघनिर्युक्तिभाष्य १८७, पृ० १२६।

(पंगुत्व), सिलीवय (श्लीपद = फीलपांव का रोग), और मधुमेह।[1]

रोग, व्याधि और आतंक में अन्तर बताया गया है। रोग से मनुष्य देर में मृत्यु को प्राप्त होता है, किन्तु व्याधि से उसका शीघ्र मरण हो जाता है। निम्नलिखित सोलह प्रकार की व्याधियों का उल्लेख किया गया है :—श्वास, कास, (खांसी), ज्वर, दाह, कुक्षि-शूल, भगन्दर, अर्श, अजीर्ण, दृष्टिशूल, मूर्धशूल, अरोचक (भोजन में अरुचि), अक्षिवेदना, कर्णवेदना, कण्डू (खुजली), जलोदर और कुष्ठ (कोढ़)।[2]

अन्य रोगों में दुब्भूय (दुर्भूत = ईति; टिड्डी दल द्वारा धान्य को हानि पहुँचाना), कुलरोग, ग्रामरोग, नगररोग, मंडलरोग, शीर्षवेदना, ओष्ठवेदना, नखवेदना, दंतवेदना, शोष (क्षय), कच्छू, खसर (खसरा), पांडुरोग, एक-दो-तीन-चार दिन के अन्तराल से आने वाला ज्वर, इन्द्रग्रह, धनुर्ग्रह,[3] स्कन्दग्रह, कुमारग्रह, यक्षग्रह, भूतग्रह, उद्वेग, हृदयशूल, उदरशूल, योनिशूल, और महामारी[4] वल्गुली (जी मचलाना), विषकुंभ (फुड़िया)[5] का उल्लेख है।

रोगोत्पत्ति के कारण

रोगोत्पत्ति के नौ कारण बताये हैं :—अत्यन्त भोजन, अहितकर भोजन, अतिनिद्रा, अति जागरण, पुरीष और मूत्र का निरोध, मार्ग-गमन, भोजन की अनियमितता और कामविकार।[7] जैन आगमों में

---

१ ६.१.१७२; विपाकसूत्र १; पृ० ७; निशीथभाष्य ११.३६४६; उत्तराध्ययनसूत्र १०.२७। मुत्तसक्कर के उल्लेख के लिये देखिये निशीथभाष्य १.५९९।

२. विपाकसूत्र, वही; ज्ञातृधर्मकथा १३, पृ० १४४; निशीथभाष्य ११.३६४७।

३. धनुर्ग्रहोऽपि वातविशेषो यः शरीरं कुब्जीकरोति, बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति ३.३८१६।

४. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति २४, पृ० १२०; जीवाभिगम ३, पृ० १५३; व्याख्याप्रज्ञप्ति ३.६, पृ० ३५३।

५. बृहत्कल्पभाष्य ५.५८७०।

६. वही ३.३९०७।

७. स्थानांग ९.६६७। तुलना कीजिए मिलिन्दप्रश्न, पृ० १३५; यहाँ रोग के दस कारण बताये हैं।

कहा है कि पुरीष के रोकने से मरण, मूत्र के निरोध से दृष्टिहानि और वमन के निरोध से कुष्ठरोग की उत्पत्ति होती है।[1]

वैद्यों द्वारा चिकित्सा

अनेक वैद्यों के उल्लेख मिलते हैं जो अपनी औषधियों आदि द्वारा रोगियों को चिकित्सा करते थे। विजयनगर में धन्वन्तरी नाम का एक वैद्य रहता था जो आयुर्वेद के आठ अंगों में कुशल था, तथा राजा, ईश्वर, सार्थवाह, दुर्बल, म्लान, रोगी, अनाथ, श्रमण, ब्राह्मण, भिक्षुक, कार्पाटिक आदि को मत्स्य, कच्छप, ग्राह, मगर, संसुमार, बकरी, मेंढ़ा, सूअर, मृग, खरगोश, गाय, भैंस, तीतर, बतक, कबूतर, कुक्कुट, मयूर आदि के मांस भक्षण का निर्देशन कर उनकी चिकित्सा करता था।[2] द्वारकावासी कृष्ण वासुदेव के धन्वन्तरी और वैतरणी नाम के दो सुप्रसिद्ध वैद्य थे।[3]

विजयवर्धमान नामक खेड़ का निवासी इक्काई नामक राष्ट्रकूट पांच सौ गांवों का मालिक था। जब वह अनेक रोगों से पीड़ित हुआ तो उसने सब जगह घोषणा करा दी कि जो वैद्य (शास्त्र और चिकित्सा दोनों में कुशल), वैद्यपुत्र, ज्ञायक (केवल शास्त्र में कुशल), ज्ञायकपुत्र, चिकित्सक (केवल चिकित्सा में कुशल), और चिकित्सकपुत्र उसके रोग को दूर करेगा, उसका विपुल धन से सत्कार किया जायगा।[4]

राजवैद्य

राजवैद्यों की आजिविका का प्रबन्ध राज्य की ओर से होता था। लेकिन यदि कोई राजवैद्य अपना कार्य ठीक से न करता तो उसकी आजीविका बन्द कर दी जाती थी। एक बार की बात है, किसी राजवैद्य को जूआ खेलने की लत पड़ गयी। उसके वैद्यकशास्त्र और शस्त्रकोश दोनों ही नष्ट हो गये, अतएव रोग का उपचार बताने में वह असमर्थ रहा। पूछने पर उसने कह दिया कि उसकी पुस्तकें चोरी चली गयी हैं

---

१. बृहत्कल्पभाष्य ३.४३८०।

२. विपाकसूत्र ७, पृ० ४१।

३. आवश्यकचूर्णी पृ० ४६०।

४. विपाकसूत्र १, पृ० ७। तथा आवश्यकचूर्णी २. पृ० ६७। सुश्रुत (१.४. ४७-५०; में तीन प्रकार के वैद्यों का उल्लेख है :—केवल शास्त्र में कुशल, केवल चिकित्सा में कुशल, तथा शास्त्र और चिकित्सा दोनों में कुशल।

और उसका वैद्यकशास्त्र नष्ट हो गया है। राजा ने अपने कर्मचारियों से कहा कि यदि उसका वैद्यकशास्त्र नष्ट हो गया है तो उसके शस्त्रकोश की परीक्षा की जाये। पता लगाने पर मालूम हुआ कि उसके औजारों को जर लग गया है। यह देखकर राजा ने उसकी आजीविका बन्द कर दी।[1]

किसी राजा के वैद्य की मृत्यु हो गयी। उसके एक पुत्र था। राजा ने उसे पढ़ने के लिए बाहर भेज दिया। एक बार, बाड़े में चरते समय, एक बकरी के गले में ककड़ी अटक गयी। बकरी वैद्य के पास लायी गयी। वैद्य ने प्रश्न किया "यह कहाँ चर रही थी?" उत्तर मिला—"बाड़े में (पुरोहडे)।" वैद्य समझ गया कि उसके गले में ककड़ी अटक गयी है। उसने बकरी के गले में एक कपड़ा बांधकर उसे इस तरह मरोड़ा कि ककड़ी टूट गयी। वैद्य का पुत्र पढ़-लिखकर राज-दरबार में लौटा। राजा ने समझा कि मेधावी होने के कारण वह बहुत जल्दी विद्या सीखकर लौट आया है, इसलिए उसका आदर-सत्कार किया, और उसे अपने पास रख लिया। एक बार की बात है, रानी को गलगंड हो गया। वैद्यपुत्र ने वही प्रश्न किया जो उसके गुरुजी ने किया था। वही उत्तर मिला। वैद्यपुत्र ने रानी के गले में वस्त्र लपेटकर उसे ऐसा मरोड़ा कि वह मर गयी। यह देखकर राजा को बहुत क्रोध आया; उसने वैद्यपुत्र को दंडित किया।[2]

किसी राजा को अक्षिरोग हो गया। उसने वैद्य को दिखाया। वैद्य ने उसे आँख में आँजने की गोलियाँ दीं। लेकिन गोलियों को आँख में लगाते समय तीव्र वेदना होती थी। वैद्य ने पहले ही राजा से वचन ले लिया कि वेदना होने पर भी वह उसे दण्ड न देगा।[3]

व्याधियों का उपचार

व्याधियों को शान्त करने के लिए वैद्य अनेक उपचार किया करते थे। भगंदर एक भयंकर व्याधि गिनी जाती थी। भगंदर का उपशमन करने के लिए उसमें से कीड़ों को निकालना पड़ता था। इसके लिए व्रण के अंदर मांस डाला जाता जिससे कि कीड़े उस पर चिपट जायें। यदि मांस न हो तो गेहूँ के गीले आटे (समिया) में मधु और घी

---

१. व्यवहारभाष्य ५.२१।
२. बृहत्कल्पभाष्यपीठिका ३७६।
३. वही, १.१२७७।

मिलाकर उसका उपयोग किया जाता था।[1] महामारी फैलने पर लोग फटाफट मरने लगते। जीर्णपुर के किसी सेठ के परिवार में जब सब लोग मर गये तो उसके घर के दरवाजे को लोगों ने कांटों से जड़ दिया।[2]

कोढ़ हो जाने पर, जैन श्रमणों को बहुत कष्ट भोगना पड़ता था। यदि कहीं उन्हें गला हुआ कोढ़ (गलंतकोढ) हो जाता, या उनके शरीर में कच्छू (खुजली) या किटिभ[3] (खाज युक्त क्षुद्र कोढ़) हो जाता, या जूँए पैदा हो जातीं तो उन्हें निर्लोम चर्म पर लिटाया जाता।[4] पामा (एक्जिमा) को शान्त करने के लिए मेंढ़े की पुरीष और गोमूत्र काम में लिया जाता था।[5] किमिकुट्ठ (कृमिकुष्ठ) में कीड़े पड़ जाते थे। एक बार, किसी जैन भिक्षु को कृमिकुष्ठ की बीमारी लग गयी। वैद्य ने तेल, कंबलरत्न और गोशीर्ष चन्दन बताया। तेल तो मिल गया, लेकिन कंबलरत्न और चन्दन न मिला। पता लगा कि ये दोनों वस्तुएँ किसी वणिक् के पास हैं। शतसहस्र लेकर लोग वणिक् के पास उपस्थित हुए, लेकिन उसने बिना कुछ लिए ही कंबल और चंदन दे दिये। साधु के शरीर में तेल की मालिश की गयी जिससे तेल उसके रोमकूपों में भर गया। इससे कृमि संक्षुब्ध होकर नीचे गिरने लगे। साधु को कंबल उढ़ा दिया गया और सब कृमि कंबल पर लग गये। बाद में शरीर पर गोशीर्ष चंदन का लेप कर दिया। दो-तीन बार इस तरह करने से कोढ़ बिल्कुल ठीक हो गया।[6]

वायु आदि का उपशमन करने के लिए पैर में गीध की टाँग बांधी जाती थी। इसके लिए शूकर के दांत और नख तथा मेढ़े के रोमों

१. निशीथचूर्णीपीठिका २८८, पृ० १००। तेल लगाने का भी विधान है, आवश्यकचूर्णी पृ० ५०३।

२. आवश्यकचूर्णी पृ० ४६५।

३. जंघासु कालाभं रसियं वहति, निशीथचूर्णी १.७९८ की चूर्णी।

४. बृहत्कल्पभाष्य ३.३८३९-४०। महावग्ग १.३०.८८, पृ० ७६ में उल्लेख है कि मगध में कुष्ठ, गंड (फोड़ा), किलास (चर्मरोग), शूजन और मृगी रोग फैल रहे थे। जीवक कौमारभृत्य को लोगों की चिकित्सा करने का समय नहीं मिलता था, इसलिये रोग से पीड़ित लोग बौद्ध भिक्षु बनकर चिकित्सा कराने लगे।

५. ओघनिर्युक्ति ३६८, पृ० १३४-अ।

६. आवश्यकचूर्णी, पृ० १३३।

और उसका वैद्यकशास्त्र नष्ट हो गया है। राजा ने अपने कर्मचारियों से कहा कि यदि उसका वैद्यकशास्त्र नष्ट हो गया है तो उसके शस्त्रकोश की परीक्षा की जाये। पता लगाने पर मालूम हुआ कि उसके औजारों को जंग लग गया है। यह देखकर राजा ने उसकी आजीविका बन्द कर दी।[1]

किसी राजा के वैद्य की मृत्यु हो गयी। उसके एक पुत्र था। राजा ने उसे पढ़ने के लिए बाहर भेज दिया। एक बार, बाड़े में चरते समय, एक बकरी के गले में ककड़ी अटक गयी। बकरी वैद्य के पास लायी गयी। वैद्य ने प्रश्न किया "यह कहाँ चर रही थी?" उत्तर मिला—"बाड़े में (पुरोहडे)।" वैद्य समझ गया कि उसके गले में ककड़ी अटक गयी है। उसने बकरी के गले में एक कपड़ा बांधकर उसे इस तरह मरोड़ा कि ककड़ी टूट गयी। वैद्य का पुत्र पढ़-लिखकर राज-दरबार में लौटा। राजा ने समझा कि मेधावी होने के कारण वह बहुत जल्दी विद्या सीखकर लौट आया है, इसलिए उसका आदर-सत्कार किया, और उसे अपने पास रख लिया। एक बार की बात है, रानी को गलगंड हो गया। वैद्यपुत्र ने वही प्रश्न किया जो उसके गुरुजी ने किया था। वही उत्तर मिला। वैद्यपुत्र ने रानी के गले में वस्त्र लपेटकर उसे ऐसा मरोड़ा कि वह मर गयी। यह देखकर राजा को बहुत क्रोध आया; उसने वैद्यपुत्र को दंडित किया।[2]

किसी राजा को अक्षिरोग हो गया। उसने वैद्य को दिखाया। वैद्य ने उसे आँख में आँजने की गोलियाँ दीं। लेकिन गोलियों को आँख में लगाते समय तीव्र वेदना होती थी। वैद्य ने पहले ही राजा से वचन ले लिया कि वेदना होने पर भी वह उसे दण्ड न देगा।[3]

व्याधियों का उपचार

व्याधियों को शान्त करने के लिए वैद्य अनेक उपचार किया करते थे। भगंदर एक भयंकर व्याधि गिनी जाती थी। भगंदर का उपशमन करने के लिए उसमें से कीड़ों को निकालना पड़ता था। इसके लिए व्रण के अंदर मांस डाला जाता जिससे कि कीड़े उस पर चिपट जायें। यदि मांस न हो तो गेहूँ के गीले आटे (समिया) में मधु और घी

---

१. व्यवहारभाष्य ५.२१।

२. बृहत्कल्पभाष्यपीठिका ३७६।

३. वही, १.१२७७।

मिलाकर उसका उपयोग किया जाता था।[1] महामारी फैलने पर लोग फटाफट मरने लगते। जीर्णपुर के किसी सेठ के परिवार में जब सब लोग मर गये तो उसके घर के दरवाजे को लोगों ने कांटों से जड़ दिया।[2]

कोढ़ हो जाने पर, जैन श्रमणों को बहुत कष्ट भोगना पड़ता था। यदि कहीं उन्हें गला हुआ कोढ़ (गलंतकोढ) हो जाता, या उनके शरीर में कच्छू (खुजली) या किटिभ[3] (खाज युक्त क्षुद्र कोढ़) हो जाता, या जूँए पैदा हो जातीं तो उन्हें निर्लोम चर्म पर लिटाया जाता।[4] पामा (एक्जिमा) को शान्त करने के लिए मेंढ़े की पुरीष और गोमूत्र काम में लिया जाता था।[5] किमिकुट्ठ (कृमिकुष्ठ) में कीड़े पड़ जाते थे। एक बार, किसी जैन भिक्षु को कृमिकुष्ठ की बीमारी लग गयी। वैद्य ने तेल, कंबलरत्न और गोशीर्ष चन्दन बताया। तेल तो मिल गया, लेकिन कंबलरत्न और चन्दन न मिला। पता लगा कि ये दोनों वस्तुएँ किसी वणिक् के पास हैं। शतसहस्र लेकर लोग वणिक के पास उपस्थित हुए, लेकिन उसने बिना कुछ लिए ही कंबल और चंदन दे दिये। साधु के शरीर में तेल की मालिश की गयी जिससे तेल उसके रोमकूपों में भर गया। इससे कृमि संक्षुब्ध होकर नीचे गिरने लगे। साधु को कंबल उढ़ा दिया गया और सब कृमि कंबल पर लग गये। बाद में शरीर पर गोशीर्ष चंदन का लेप कर दिया। दो-तीन बार इस तरह करने से कोढ़ बिल्कुल ठीक हो गया।[6]

वायु आदि का उपशमन करने के लिए पैर में गीध की टाँग बांधी जाती थी। इसके लिए शूकर के दांत और नख तथा मेंढ़े के रोमों

१. निशीथचूर्णीपीठिका २८८, पृ० १००। तेल लगाने का भी विधान है, आवश्यकचूर्णी पृ० ५०३।

२. आवश्यकचूर्णी पृ० ४६५।

३. जंघासु कालाभं रसियं वहति, निशीथचूर्णी १.७९८ की चूर्णी।

४. बृहत्कल्पभाष्य ३.३८३९–४०। महावग्ग १.३०.८८, पृ० ७६ में उल्लेख है कि मगध में कुष्ठ, गंड (फोड़ा), किलास (चर्मरोग), सूजन और मृगी रोग फैल रहे थे। जीवक कौमारभृत्य को लोगों की चिकित्सा करने का समय नहीं मिलता था, इसलिये रोग से पीड़ित लोग बौद्ध भिक्षु बनकर चिकित्सा कराने लगे।

५. ओघनिर्युक्ति ३६८, पृ० १३४–अ।

६. आवश्यकचूर्णी, पृ० १३३।

मणिरथ नाम का राजा राज्य करता था; उसका सहोदर भाई युगबाहु युवराज पद पर आसीन था। युगबाहु की स्त्री मदनरेखा को लेकर दोनों में मन-मुटाव हो गया। एक दिन मणिरथ ने युगबाहु पर तलवार का वार किया जिससे वह घायल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसके घावों की चिकित्सा करने के लिए वैद्य बुलाये गये।[1]

विविध घृत और तेल

घावों को भरने के लिए वैद्य अनेक प्रकार के घृत और तेलों का उपयोग करते थे। कल्याणघृत बहुत तिक्त होता था।[2] शतपाक और सहस्रपाक तेल सौ या हजार औषधियों को एक साथ पकाकर बनाया जाता, अथवा एक ही औषधि को सौ या हजार बार पकाया जाता। हंसतेल भी घाव के लिए बहुत उपयोगी था। मरुतेल मरुदेश के पर्वत से मंगाया जाता। ये सब तेल थकावट दूर करने, वात रोग शान्त करने, खुजली (कच्छू) मिटाने और घावों के भरने के उपयोग में आते थे।[3]

शल्यचिकित्सा

शल्यचिकित्सा का बहुत महत्त्व था। नन्दिपुर में सोरियदत्त नाम का एक राजा रहता था। एक बार, मछली भक्षण करते समय उसके गले में मछली का कांटा अटक गया। उसने घोषणा करायी कि जो वैद्य या वैद्यपुत्र कांटे को निकाल देगा उसका विपुल धन आदि से सत्कार किया जायेगा। घोषणा सुनकर बहुत से वैद्य उपस्थित हुए और उन्होंने वमन, छर्दन, अवपीड़न, कवलग्राह (स्थूल ग्रास भक्षण), शल्योद्धरण, और विशल्यकरण द्वारा कांटे को निकालने का प्रयत्न किया, लेकिन सफलता न मिली।[4] पैर में कांटा चुभ जाने पर उसकी चिकित्सा की जाती थी।[5] किसी राजा के सर्वलक्षणयुक्त एक घोड़ा था। कंटक से विद्ध होने के कारण उसे बहुत कष्ट होता था। राजा ने वैद्य को बुलाया। परीक्षा करने के बाद वैद्य ने कहा कि इसे कोई रोग

---

१. उत्तराध्ययनटीका ९, पृ० १३७।

२. कल्लाणघयं तित्तगं महातित्तगं, निशीथचूर्णी ४.१५६६।

३. बृहत्कल्पभाष्य ५.६०२८-२९; १.२९९५ की वृत्ति; निशीथचूर्णी-पीठिका २४८; १०.३१९७।

४. विपाकसूत्र ८, पृ० ४८।

५. आवश्यकचूर्णी पृ० ४६१।

नहीं, लेकिन मालूम होता है कि यह किसी अदृश्य शल्य से पीड़ित है। वैद्य ने घोड़े के शरीर पर कर्दम का लेप कराया। शल्य का स्थान जल्दी ही सूख गया। उसके बाद वैद्य ने शल्य को निकाल दिया।[1] किसी राजा की महादेवी को ककड़ियां खाने का शौक था। एक दिन नौकर घड़े आकार की ककड़ी लाया। रानी ने उसे अपने गुह्य प्रदेश में डाल लिया। ककड़ी का कांटा रानी के गुह्य प्रदेश में चुभ गया, और उसका जहर फैल गया। वैद्य को बुलाया गया। उसने गेहूँ के आटे (समिया = कणिक्का) का लेप कर दिया। काँटेवाले प्रदेश के सूख जाने पर वहां निशान बना दिया। तत्पश्चात् शस्त्रक्रिया द्वारा उसे फोड़ दिया। पीप निकलने के साथ ही कांटा भी बाहर निकल आया।[2]

क्षिप्तचित्तता

भूत आदि द्वारा क्षिप्तचित्त हो जाने पर भी चिकित्सा की जाती थी। ऐसी दशा में कोमल बंधन से रोगी को बांधकर, जहां कोई शस्त्र आदि न हो, ऐसे स्थान में रख देने का विधान है। यदि कदाचित् ऐसा स्थान न मिले, तो रोगी को पहले से खुदे हुए कुएँ में डाल दे, अथवा नया कुआं खुदवाकर उसमें रख दे और कुएँ को ऊपर से ढंकवा दे जिससे रोगी बाहर निकलकर न जा सके। यदि वात आदि के कारण धातुओं का क्षोभ होने से क्षिप्तचित्तता उत्पन्न हो गयी हो तो रोगी को स्निग्ध और मधुर भोजन दे, और उपलों की राख पर सुलाये। यदि कोई साधु क्षिप्तचित्त होकर भाग जाये तो उसकी खोज की जाये, तथा यदि वह राजा आदि का सगा-सम्बन्धी हो तो राजा से निवेदन किया जाये।[3] साध्वी के यक्षाविष्ट होने पर भी भूतचिकित्सा का विधान जैन आगमों में मिलता है।[4]

छोटे-मोटे रोगों का इलाज

इसके अतिरिक्त, और भी छोटे-मोटे रोगों की चिकित्सा की जाती

१. निशीथचूर्णी २०.६३९६।

२. बृहत्कल्पभाष्य १.१०५१। शल्यचिकित्सा के लिये देखिये सुश्रुत, सूत्रस्थान, २६.१३, पृ० १६३।

३. व्यवहारभाष्य २.१२२–२५; निशीथभाष्यपीठिका १७३।

४. बृहत्कल्पभाष्य ६.६२६२। तथा देखिये चरकसंहिता, शारीरस्थान २. अध्याय ९, पृ० १०८८।

मणिरथ नाम का राजा राज्य करता था; उसका सहोदर भाई युगबाहु युवराज पद पर आसीन था। युगबाहु की स्त्री मदनरेखा को लेकर दोनों में मन-मुटाव हो गया। एक दिन मणिरथ ने युगबाहु पर तलवार का वार किया जिससे वह घायल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसके घावों की चिकित्सा करने के लिए वैद्य बुलाये गये।[1]

विविध घृत और तेल

घावों को भरने के लिए वैद्य अनेक प्रकार के घृत और तेलों का उपयोग करते थे। कल्याणघृत बहुत तिक्त होता था।[2] शतपाक और सहस्रपाक तेल सौ या हजार औषधियों को एक साथ पकाकर बनाया जाता, अथवा एक ही औषधि को सौ या हजार बार पकाया जाता। हंसतेल भी घाव के लिए बहुत उपयोगी था। मरुतेल मरुदेश के पर्वत से मंगाया जाता। ये सब तेल थकावट दूर करने, वात रोग शान्त करने, खुजली (कच्छू) मिटाने और घावों के भरने के उपयोग में आते थे।[3]

शल्यचिकित्सा

शल्यचिकित्सा का बहुत महत्त्व था। नन्दिपुर में सोरियदत्त नाम का एक राजा रहता था। एक बार, मछली भक्षण करते समय उसके गले में मछली का कांटा अटक गया। उसने घोषणा करायी कि जो वैद्य या वैद्यपुत्र कांटे को निकाल देगा उसका विपुल धन आदि से सत्कार किया जायेगा। घोषणा सुनकर बहुत से वैद्य उपस्थित हुए और उन्होंने वमन, छर्दन, अवपीड़न, कवलग्राह (स्थूल ग्रास भक्षण), शल्योद्धरण, और विशल्यकरण द्वारा कांटे को निकालने का प्रयत्न किया, लेकिन सफलता न मिली।[4] पैर में कांटा चुभ जाने पर उसकी चिकित्सा की जाती थी।[5] किसी राजा के सर्वलक्षण-युक्त एक घोड़ा था। कंटक से विद्ध होने के कारण उसे बहुत कष्ट होता था। राजा ने वैद्य को बुलाया। परीक्षा करने के बाद वैद्य ने कहा कि इसे कोई रोग

१. उत्तराध्ययनटीका ९, पृ० १३७।

२. कल्लाणघयं तित्तगं महातित्तगं, निशीथचूर्णी ४.१५६६।

३. बृहत्कल्पभाष्य ५.६०२८-३१; १.२९९५ की वृत्ति; निशीथचूर्णी-पीठिका २४८; १०.३१९७।

४. विपाकसूत्र ८, पृ० ४८।

५. आवश्यकचूर्णी पृ० ४६१।

नहीं, लेकिन मालूम होता है कि यह किसी अदृश्य शल्य से पीड़ित है। वैद्य ने घोड़े के शरीर पर कर्दम का लेप कराया। शल्य का स्थान जल्दी ही सूख गया। उसके बाद वैद्य ने शल्य को निकाल दिया।[1] किसी राजा की महादेवी को ककड़ियां खाने का शौक था। एक दिन नौकर बड़े आकार की ककड़ी लाया। रानी ने उसे अपने गुह्य प्रदेश में डाल लिया। ककड़ी का कांटा रानी के गुह्य प्रदेश में चुभ गया, और उसका जहर फैल गया। वैद्य को बुलाया गया। उसने गेहूँ के आटे (समिया = कणिका) का लेप कर दिया। काँटेवाले प्रदेश के सूख जाने पर वहां निशान बना दिया। तत्पश्चात् शस्त्रक्रिया द्वारा उसे फोड़ दिया। पीप निकलने के साथ ही कांटा भी बाहर निकल आया।[2]

क्षिप्तचित्तता

भूत आदि द्वारा क्षिप्तचित्त हो जाने पर भी चिकित्सा की जाती थी। ऐसी दशा में कोमल बंधन से रोगी को बांधकर, जहां कोई शस्त्र आदि न हो, ऐसे स्थान में रख देने का विधान है। यदि कदाचित् ऐसा स्थान न मिले, तो रोगी को पहले से खुदे हुए कुएँ में डाल दे, अथवा नया कुआं खुदवाकर उसमें रख दे और कुएँ को ऊपर से ढंकवा दे जिससे रोगी बाहर निकलकर न जा सके। यदि वात आदि के कारण धातुओं का क्षोभ होने से क्षिप्तचित्तता उत्पन्न हो गयी हो तो रोगी को स्निग्ध और मधुर भोजन दे, और उपलों की राख पर सुलाये। यदि कोई साधु क्षिप्तचित्त होकर भाग जाये तो उसकी खोज की जाये, तथा यदि वह राजा आदि का सगा-सम्बन्धी हो तो राजा से निवेदन किया जाये।[3] साध्वी के यक्षाविष्ट होने पर भी भूतचिकित्सा का विधान जैन आगमों में मिलता है।[4]

छोटे-मोटे रोगों का इलाज

इसके अतिरिक्त, और भी छोटे-मोटे रोगों की चिकित्सा की जाती

---

१. निशीथचूर्णी २०.६३९६।

२. बृहत्कल्पभाष्य १.१०५१। शल्यचिकित्सा के लिये देखिये सुश्रुत, सूत्रस्थान, २६.१३, पृ० १६३।

३. व्यवहारभाष्य २.१२२–२५; निशीथभाष्यपीठिका १७३।

४. बृहत्कल्पभाष्य ६.६२६२। तथा देखिये चरकसंहिता, शारीरस्थान २. अध्याय ९, पृ० १०८८।

मृदंग, नंदीमृदंग,[1] आलिंग, कुस्तुंब,[2] गोमुखी, मर्दल, वीणा, विपंची (त्रितंत्री वीणा), वल्लकी (सामान्य वीणा), महती (शततंत्रिका वीणा), कच्छभी, चित्रवीणा, बद्धीसा, सुघोषा, नंदीघोषा, भ्रामरी, षड्भ्रामरी, परवादनी (सप्ततंत्री वीणा), तूणा, तुंबवीणा, आमोद, झंझा, नकुल, मुकुंद, हुडुक्की, विचिक्की, करटा, डिंडिम, किणित, कडंब, दर्दरिका (गोहिया भी), दर्दरक, कलशी, मड्डुक, तल, ताल, कांस्यताल, रिंगिसिया, लत्तिया, मगरिका, सुंसुमारिया, वंश, वेणु, वाली, परिल्ली और बद्धगा।[3]

गेय, नाट्य और अभिनय

वाद्यों की भांति गेय, नाट्य और अभिनय का भी संगीत और नाट्यशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। गेय के चार प्रकार बताये हैं :—उक्खित्त (उत्क्षिप्त), पत्तय (पादात्त), मंदय (मंदक) और रोविंदय अथवा रोइयावसाण (रोचितावसान)।[4]

---

१. एकतः संकीर्ण अन्यत्र विस्तृतो-मुरजविशेषः, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ३, पृ० २७१, बेचरदास संस्करण।

२. चर्मावनद्धपुटो वाद्यविशेषः।

३. सूत्र ६४। बृहत्कल्पभाष्यपीठिका २४ वृत्ति में बारह वाद्यों का उल्लेख है:—भंभा, मुकुन्द, मद्दल, कडंब, झल्लरि, हुडुक्क, कांस्यताल, काहल, तलिमा, वंश, पणव, और शंख। तथा देखिए व्याख्याप्रज्ञप्तिटीका ५.४ पृ० २१६ अ; जीवाभिगम ३, पृ० १४५-अ; जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति २, पृ० १००-अ आदि; अनुयोगद्वारसूत्र १२७; निशीथसूत्र १७.१३५-१३८। निशीथसूत्र में डमरुग, ढंकुण आदि वाद्यों की अतिरिक्त संख्या गिनायी गयी है। यहां अनेक नाम अशुद्ध जान पड़ते हैं। आचारांग (२,११.३९१ पृ० ३७९) में किरिकिरिया (बांस आदि की लकड़ी से बना वाद्य), और सूत्रकृतांग (४.२.७) में कुक्कयय और वेणुपलासिय (दांतों में बायें हाथ से पकड़कर, वीणा की भांति दाहिने हाथ से बजायी जानेवाली बांसुरी) नामक बांसुरियों का उल्लेख है। तथा देखिए संगीतरत्नाकर, अध्याय; ६; रामायण ५.१०.३८ आदि में मड्डुक, पटह, वंश, विपंची, मृदङ्ग, पणव, डिंडिम, आडम्बर और कलशी का उल्लेख है; महाभारत ७. ८२. ४।

४. उत्क्षिप्तं-प्रथमतः आरभ्यमाणं। पादात्तं-पादवृद्ध वृत्तादि चतुर्भागरूपपादबद्ध इति भावः। मंदाय-मध्यभागे मूर्छनादि गुणोपेततया मंदं मंदं घोलनात्मकं। रोचितावसान-रोचितं यथोचितलक्षणोपेततया भावितं सत्यापितं इति यावत् अवसानं यस्य तत्तथा, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका, ५, पृ० ४१३-अ।

नाट्य के अंचिय (अंचित), रिभिय (रिभित), आरभड (आरभट) और भसोल ये चार प्रकार बताये हैं। नाट्यविधि में अभिनय का होना आवश्यक है, इसलिए दिट्टंतिय (दार्ष्टान्तिक), पांडुसुत, सामंतोवायणिय (सामंतोपपातनिक) और लोगमज्झावसित (लोकमध्यावसित) नाम के चार अभिनयों का उल्लेख जैनसूत्रों में किया है।[1] इनमें से एक अथवा एकाधिक अभिनय द्वारा अभिनेतव्य वस्तु के भावों को प्रकट किया जाता था। कभी अभिनयशून्य नाटक भी दिखाये जाते थे। उदाहरण के लिए उत्पात (आकाश में उछलना), निपात, संकुचित, प्रसारित, भ्रान्त, संभ्रान्त आदि नाटकों के नाम लिये जा सकते हैं।[2]

बत्तीस प्रकार की नाट्यविधि

राजप्रश्नीयसूत्र में निम्नलिखित बत्तीस प्रकार की नाट्यविधि[3] का उल्लेख मिलता है :—

(१) स्वस्तिक (भरत के नाट्यशास्त्र में उल्लिखित), श्रीवत्स, नंद्यावर्त, वर्धमानक (नाट्यशास्त्र में भी), भद्रासन, कलश, मत्स्य और दर्पण के प्रतीकों का प्रतिनिधित्व करने वाले दिव्य अभिनय। प्रस्तुत अभिनय में, भरत के नाट्यशास्त्र में उल्लिखित आंगिक अभिनय द्वारा नाटक करने वाले, स्वस्तिक आदि आठ मंगलों का आकार बनाकर खड़े हो जाते हैं, और फिर हस्त आदि द्वारा उस आकार का प्रदर्शन करते हैं। ये लोग वाचिक अभिनय के द्वारा उस मंगल शब्द का उच्चारण करते हैं जिससे कि दर्शकों के मन में उस मंगल के प्रति रति का भाव उत्पन्न होता है।[4]

(२) आवर्त,[5] प्रत्यावर्त, श्रेणी, प्रश्रेणी, स्वस्तिक, सौवस्तिक, पूस (पुष्य), माणवक, वर्धमानक (कंधे पर बैठे हुए पुरुष का अभिनय), मत्स्यंड, मकरंड, जार, मार, पुष्पावलि, पद्मपत्र (नाट्यशास्त्र में

१. स्थानांग ४, पृ० २७१—अ। भरत के नाट्यशास्त्र में आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनयों का उल्लेख है।

२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका ५, पृ० ४१८।

३. नाट्यविधि नामक प्राभृत में इन विधियों के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, किंतु वह आजकल उपलब्ध नहीं है, राजप्रश्नीयटीका, पृ० १३६।

४. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका ५, पृ० ४१४।

५. भ्रमद्भ्रमरिकादानैर्नर्त्तनम् आवर्तः, तद्विपरीतः प्रत्यावर्तः, वही।

भी), सागरतरंग, वसंतलता और पद्मलता (नाटयशास्त्र में भी) के चित्रों का अभिनय।

(३) ईहामृग, वृषभ, नरतुरग, मगर (नाटयशास्त्र में भी), विहग, व्याल, किंनर, रुरु, शरभ, चमर, कुंजर (नाटयशास्त्र में गजदंत), वनलता और पद्मलता के चित्रों का अभिनय।

(४) एकतो वक्र,[1] द्विधा वक्र, एकतश्चक्रवाल, द्विधा चक्रवाल, चक्रार्ध चक्रवाल के चित्रों का प्रदर्शन।

(५) चन्द्रावलिका[2]-प्रविभक्ति, सूर्यावलिका-प्रविभक्ति, वलयावलिका-प्रविभक्ति, हंसावलिका-प्रविभक्ति (नाटयशास्त्र में हंसवक्त्र और हंसपक्ष), एकावलिका-प्रविभक्ति, तारावलिका-प्रविभक्ति, मुक्तावलिका-प्रविभक्ति, कनकावलिका-प्रविभक्ति और रत्नावलिका-प्रविभक्ति का प्रदर्शन।

(६) चन्द्रोद्गम और सूर्योद्गम दर्शन का अभिनय।

(७) चन्द्रागम और सूर्यागमदर्शन का अभिनय।

(८) चन्द्रावरण और सूर्यावरण के दर्शन का अभिनय।

(९) चन्द्रास्त और सूर्यास्तदर्शन का अभिनय।

(१०) चन्द्रमंडल-प्रविभक्ति, सूर्यमंडल-प्रविभक्ति, नागमंडल-प्रविभक्ति, यक्षमंडल-प्रविभक्ति, भूतमंडल-प्रविभक्ति, राक्षसमंडल-प्रविभक्ति, महोरगमंडल-प्रविभक्ति और गंधर्वमंडल-प्रविभक्ति (नाट्यशास्त्र में मंडल में २० प्रकार बताये हैं) के अभिनय का प्रदर्शन।

(११) ऋषभमंडल-प्रविभक्ति, सिंहमंडल-प्रविभक्ति, हयविलंबित-प्रविभक्ति, गजविलंबित-प्रविभक्ति, हयविलसित-प्रविभक्ति, गजविलसित-प्रविभक्ति, मत्तहय-प्रविभक्ति, मत्तगज-प्रविभक्ति, मत्तहयविलंबित-प्रविभक्ति, मत्तगजविलंबित-प्रविभक्ति और द्रुतविलंबित के अभिनय का प्रदर्शन।

(१२) सागर-प्रविभक्ति और नागर-प्रविभक्ति के अभिनय का प्रदर्शन।

---

१. एकतो वक्रं—नटानां एकस्यां दिशि धनुराकारश्रेण्या नर्तनं। द्विधातो वक्रं—द्वयोः परस्पराभिमुखदिशोः धनुराकारश्रेण्या नर्तनं। एकतश्चक्रवाल—एकस्यां दिशि नटानां मण्डलाकारेण नर्तनं, वही।

२. चन्द्राणां आवलिः श्रेणिः तस्याः प्रविभक्तिः—विच्छित्तिरचनाविशेष-स्तदभिनयात्मकं, वही।

(१३) नंदा (शाश्वत पुष्पकरिणी)-प्रविभक्ति और चम्पा-प्रविभक्ति के अभिनय का प्रदर्शन।

(१४) मत्स्यंड, मकरंड, जार, मार-प्रविभक्ति के अभिनय का प्रदर्शन (सबके अभिनय का अलग-अलग प्रदर्शन, पहले बताया हुआ अभिनय मिश्रित था)।

(१५) क-ख-ग-घ-ङ की प्रविभक्ति के अभिनय का प्रदर्शन (यहां ब्राह्मी लिपि का क-वर्ग समझना चाहिए। इस लिपि में 'क' की आकृति है +)।

(१६) च-वर्ग की प्रविभक्ति के अभिनय का प्रदर्शन।

(१७) ट-वर्ग की प्रविभक्ति के अभिनय का प्रदर्शन।

(१८) त-वर्ग की प्रविभक्ति के अभिनय का प्रदर्शन।

(१९) प-वर्ग की प्रविभक्ति के अभिनय का प्रदर्शन।[1]

(२०) अशोकपल्लव-प्रविभक्ति, आम्रपल्लव-प्रविभक्ति, जम्बूपल्लव-प्रविभक्ति और कोशंबपल्लव-प्रविभक्ति के अभिनय का प्रदर्शन।

(२१) पद्मलता-प्रविभक्ति, नागलता-प्रविभक्ति, अशोकलता-प्रविभक्ति, चंपकलता-प्रविभक्ति, आम्रलता-प्रविभक्ति, वनलता-प्रविभक्ति, वासंतीलता-प्रविभक्ति, कुन्दलता-प्रविभक्ति, अतिमुक्तकलता-प्रविभक्ति और श्यामलता-प्रविभक्ति के अभिनय का प्रदर्शन।

(२२) द्रुत[2] नाट्य (नाट्यशास्त्र में द्रुत नामक लय और द्रुता नामक चाल का उल्लेख है) का अभिनय।

(२३) विलंबित[3] नाट्य के अभिनय का प्रदर्शन।

(२४) द्रुतविलंबित नाट्य के अभिनय का प्रदर्शन।

(२५) अंचित[4] नाट्य (नाट्यशास्त्र में मस्तक संबंधी और पाद संबंधी अभिनयों में इसका उल्लेख है) के अभिनय का प्रदर्शन।

---

१. यहां स्वरों तथा य, र, ल, व आदि व्यञ्जनों का उल्लेख नहीं किया गया, यह विचारणीय है।

२. द्रुतं शीघ्रं गीतवाद्यशब्दयोर्यमकसमकप्रपातेन पादतलशब्दस्यापि समकालमेव निपातो यत्र, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका ५, पृ० ४१७।

३. यत्र विलंबिते—गीतशब्दे स्वरघोलनाप्रकारेण यतिभेदेन विश्रान्ते तथैव वाद्यशब्दोऽपि यतितालरूपेण वाद्यमाने तदनुयायिना पादसञ्चारेण नर्तनं, वही।

४. पुष्पाद्यलंकारैः पूजितस्तदीयं तदभिनयपूर्वकं नाट्यमपि अंचितं। अनेन कौशिकवृत्तिप्रधानाद्यांभिनयपूर्वकं नाट्यं सूचितं, वही।

(२६) रिभित[1] नाट्य के अभिनय का प्रदर्शन ।

(२७) अंचितरिभित नाट्य के अभिनय का प्रदर्शन ।

(२८) आरभट[2] (नाट्यशास्त्र में उल्लेख) नाट्य के अभिनय का प्रदर्शन ।

(२९) भसोल[3] नाट्यविधि (नाट्यशास्त्र में भ्रमर) के अभिनय का प्रदर्शन ।

(३०) आरभटभसोल नाट्यविधि के अभिनय का प्रदर्शन ।

(३१) उत्पात, निपात, प्रवृत्त, संकुचित, प्रसारित, रइयारइयं अथवा रियारिय (रेचक-रेचित[4] जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में; नाट्यशास्त्र में रेकरचित), भ्रान्त, सम्भ्रान्त क्रियाओं की नाटयविधि के अभिनय का प्रदर्शन ।

(३२) इस नाट्यविधि में नट और नटी एक पंक्ति में खड़े होकर महावीर के पूर्वभव, उनका च्यवन, गर्भ-संहरण, जन्म, अभिषेक, बालक्रीड़ा, यौवनावस्था, कामभोग लीला, निष्क्रमण, तपश्चरण, ज्ञान की प्राप्ति, तीर्थ प्रवर्तन और परिनिर्वाण सम्बन्धी अभिनयों का प्रदर्शन करते हैं ।

अन्य नाट्यविधियाँ

इसके अतिरिक्त अन्य नाट्यविधियों का उल्लेख भी जैनसूत्रों में उपलब्ध होता है । ब्रह्मदत्त के चक्रवर्ती का पद प्राप्त करने के पश्चात् किसी नट ने उन्हें मधुकरीगीत नामक नाट्यविधि का प्रदर्शन किया ।[5] सौधर्म सभा में सौधर्म इन्द्र द्वारा सौदामिनी (सोयामणि) नाम के

---

१. मृदुपदसञ्चाररूपमिति वृद्धाः, अथवा रेभितं कलस्वरेण गीतोद्गानत्वं, अनेन वाचिकाभिनययुक्तं भारतीवृत्तिप्रधानं नाट्यं सूचितं, वही ।

२. आरभटाः—सोत्साहाः सुभटास्तेषामिदं आरभटं । अयमर्थः महाभटानो स्कंधास्फालनहृदयोल्वणनादिका या उद्धतवृत्तिरतदभिनयं । अनेन आरभटी वृत्तिप्रधानं आंगिकाभिनयपूर्वकं नाट्यं उक्तं, वही ।

३. भसः—शृंगारः पंक्तिरथन्यायेन शृङ्गाररस इत्यर्थः, तं अवंताति भसोलं रतिभावाभिनयेन लाति-गृह्णाति इति भसोलो नटस्ततो धर्मधर्मिणोरभेदोपचारात् भसोलो नाम नाट्यं, एतेन शृङ्गाररससात्विकभावः सूचितः, वही ।

४. रेचकैः—भ्रमरिकाभिः रेचितं निष्पन्नं, वही ।

५. उत्तराध्ययनटीका १३, पृ० १९६ ।

नाटक देखे जाने का भी उल्लेख किया गया है ।[1] पिंडनिर्युक्ति में राष्ट्रपाल नाटक का उल्लेख है जो आषाढ़भूति नामक जैन श्रमण के द्वारा पाटलिपुत्र में खेला गया था । इसमें चक्रवर्ती भरत के जीवन के अभिनय का प्रदर्शन था जिसे देखकर अनेक राजा और राजकुमारों ने संसार का त्याग कर श्रमण-दीक्षा स्वीकार की थी । बाद में यह नाटक इसलिए नष्ट कर दिया गया कि कहीं यह पृथ्वी क्षत्रियों से खाली न हो जाये ।[2] नट लोग स्त्री का वेष धारण कर नृत्य करते थे ।[3] रास (रासपेक्खण) का उल्लेख आता है ।[4]

(६) चित्रकला

प्राचीन भारत में चित्रकला का पर्याप्त विकास हुआ था ।[5] चित्रकार चित्रों के बनाने में अपनी कूंची (तुलिया) और विविध रंगों का उपयोग करते थे । सर्वप्रथम वे भूमि को तैयार करते और फिर उसे सजाते । मिथिला के मल्लदत्त कुमार ने हाव, भाव, विलास और शृंगार चेष्टाओं से युक्त एक चित्रसभा बनवायी थी । उसने चित्रकार श्रेणी को बुलाया और वह चित्रसभा बनाने में संलग्न हो गयी । इनमें एक चित्रकार बड़ा विलक्षण था जो द्विपद, चतुष्पद और अपद (वृक्ष आदि) के एक हिस्से को देखकर उसके सम्पूर्ण रूप को चित्रित कर देता था ।[6] आलेखन विद्या में निपुण किसी नटपुत्र का उल्लेख आता है जिसने शिप्रा नदी के किनारे गली-मुहल्लों सहित उज्जैनी नगरी को चित्रित कर दिखाया था ।[7]

---

१. वही १८, पृ० २४०-अ ।

२. ४७४-८० ।

३. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २५० ।

४. वही १८, पृ० २५१ ।

५. कुट्टिनीमत (१२४, २३६) में चित्र का उल्लेख है; इसकी गणना वेश्याओं द्वारा सीखने योग्य कलाओं में की गयी है । कामसूत्र में चित्रकला के निम्नलिखित छह आवश्यक गुण बताये गये हैं :—दृश्य आकृतियों का ज्ञान, यथार्थ दृश्य दर्शन, रूपों का परिमाण और उनका गठन, रूपों पर मनोभावों का प्रभाव, लालित्य का निवेशन, कलात्मक प्रतिरूपण, तथा कूची और रंगों के उपयोजन में सादृश्य और कलात्मक विधि । तथा ए० के० कुमारस्वामी, मैडिवल सिंहलीज़ आर्ट, पृ० १६४ आदि ।

६. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० १०६ आदि; उत्तराध्ययन ३५.४ ।

७. आवश्यकचूर्णी पृ० ५४४ ।

निर्दोष और सदोष चित्रकर्म का प्रतिपादन किया गया है। वृक्ष, पर्वत, नदी, समुद्र, भवन, वल्लि और लतावितान, तथा पूर्ण कलश और स्वस्तिक आदि मांगलिक पदार्थों के आलेखन को निर्दोष चित्रकर्म और स्त्रियों आदि के आलेखन को सदोष चित्रकर्म कहा है।[1]

चित्र, भित्तियों और पट्टफलक के ऊपर बनाये जाते थे। चौंसठ कलाओं में निष्णात एक वेश्या का उल्लेख किया जा चुका है जिसने अपनी चित्रसभा में मनुष्यों के जातिकर्म, शिल्प और कुपित-प्रसादन का आलेखन कराया था। पट्टफलक पर बनाये हुए चित्र प्रेम को उत्तेजित करने में कारण होते थे। किसी परिव्राजिका ने चेटक की कन्या राजकुमारी सुज्येष्ठा का चित्र एक फलक पर चित्रित कर राजा श्रेणिक को दिखाया, जिसे देखकर राजा अपनी सुध-बुध भूल गया।[2] सागरचन्द्र भी कमलामेला के चित्र को देखकर उससे प्रेम करने लगा था।[3]

चित्रसभाएँ प्राचीन काल के राजाओं के लिए गर्व की वस्तु होती थीं। सैकड़ों खम्भों पर ये खड़ी की जाती थीं। राजगृह में इस प्रकार की चित्रसभा बनायी गयी थी। यह काष्ठकर्म, मसाले से बनायी गयी वस्तुओं (पोत्थकम्म),[4] गुंथी हुई (गंठिम = ग्रंथिम), वेष्टित की हुई (वेढिम = वेष्टिम), भरकर बनायी हुई (पूरिम), तथा जोड़ और मिलाकर बनाई हुई मालाओं (संघाइम = संघातिम) से सजायी गयी थी।[5] क्षितिप्रतिष्ठित नगर के राजा जितशत्रु की चित्रसभा में अनेक चित्रकार काम करते थे। उनमें चित्रांगद नाम का एक वृद्ध चित्रकार भी था। एक बार, उसकी कन्या कनकमंजरी ने बैठे-बैठे फर्श (कोट्टिम-तल) पर रंगों से एक मयूरपिच्छ बना दिया। मयूरपिच्छ की रचना इतनी सुन्दर और स्वाभाविक थी कि राजा ने उसे सचमुच का पंख

---

१. बृहत्कल्पभाष्य १.२४२९।

२. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १६५।

३. बृहत्कल्पभाष्यपीठिका १७२।

४. कुट्टनीमत (१२४) में भी इसका उल्लेख है—पुस्तं काष्ठपुत्रलकादि-रचनं। तदुक्तं—मृदा वा दारुणा वाऽथ वस्त्रेणाप्यथ चर्मणा। लोहरत्नैः कृतं वाऽपि पुस्तमित्यभिधीयते।

५. ज्ञातृधर्मकथा १३, पृ० १४२।

जानकर हाथ से उठाने का प्रयत्न किया, और इस प्रयत्न में उसके नख क्षत हो गये।[1] राजा दुर्मुख ने बढ़इयों (थवइ) को बुलवाकर चित्रसभा का कार्य आरम्भ किया। तथा उच्च शिखरवाली चित्रसभा तैयार हो जाने पर, शुभ मुहूर्त देखकर उसमें प्रवेश किया।[2]

(७) मूर्तिकला

मूर्तिकला प्राचीन भारत में बहुत समय से चली आती है।[3] भारत के शिल्पकार तराशने के लिए काष्ठ का उपयोग करते थे। काष्ठकर्म का उल्लेख ऊपर आ चुका है। काष्ठ की पुतलियां बनायी जाती थीं। स्कन्द और मुकुन्द आदि की प्रतिमाएँ भी काष्ठ से बनती थीं इसलिये देवकुल में जलनेवाले दीपक से उनमें आग लग जाने की सम्भावना रहती थी।[4] व्यवहारभाष्य में वारत्तक ऋषि का उल्लेख है; उसके पुत्र अपने पिता की रजोहरण और मुखवस्त्रिका वाली काष्ठमयी मूर्ति बनाकर उसकी पूजा किया करते थे।[5] इसके अतिरिक्त, पुस्त (पलस्तर आदि का लेप), दन्त, शैल (पाषाण) और मणि आदि से भी प्रतिमाएँ तैयार होती थीं।[6] वणकुट्टग लोग काष्ठ से प्रतिमा बनाते थे।[7]

विदेह की राजकुमारी मल्ली की सुवर्णमय प्रतिमा का उल्लेख मिलता है। यह एक मणिपीठिका के ऊपर स्थापित की गयी थी, तथा

---

१. उत्तराध्ययनटीका ९, पृ० १४१-अ।

२. वही ९, पृ० १३५। धनपाल ने तिलकमञ्जरी में तीन प्रकार की चित्रशालाओं का उल्लेख किया है, देखिए सी० सिवराममूर्ति का आर्ट नोट्स फ्रॉम धनपाल्स तिलकमञ्जरी, इण्डियन कल्चर, जिल्द २, पृ० १९९-२१०; तथा कल्चरल हेरिटेज ऑव इण्डिया, जिल्द ३, पृ० ५५५ आदि; उपर्युक्त लेखक का इण्डियन पेण्टर एण्ड हिज़ आर्ट नामक लेख।

३. मूर्तिकला के विशिष्ट लक्षणों के लिए देखिए गोपीनाथ, द एलीमेंट्स ऑव हिन्दू इकोनोमाफी, पृ० ३३-३७; ओ० सी० गंगोली, इण्डियन स्कल्प्चर, द कल्चरल हेरिटेज ऑव इण्डिया जिल्द ३, पृ० ५३६-५५४।

४. बृहत्कल्पभाष्य २.३४६५।

५. २.११। आवश्यकचूर्णी २, पृ० २०० के अनुसार वारत्तक ऋषि की मूर्ति चौराहे पर स्थित किसी यक्षगृह में स्थापित थी। तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के लिये देखिये आवश्यकचूर्णी पृ० २२५।

६. बृहत्कल्पभाष्य १.२४६१।

७. निशीथचूर्णी १०.३१८२, पृ० १४२।

वय, लावण्य और यौवन आदि में हूबहू मल्लीकुमारी जैसी लगती थी। इसके मस्तक में एक छिद्र था और उसे पद्मपत्र से ढँक रक्खा था।[1] यन्त्रमय प्रतिमाओं का निर्माण किया जाता था; ये प्रतिमाएँ चलती-फिरती और पलक मारती थीं। पादलिप्त आचार्य ने किसी राजा की बहन की प्रतिमा बनायी थी, जो भ्रमण करती थी, पलक मारती थी और हाथ में व्यजन लेकर आचार्य के समक्ष उपस्थित हो जाती थी। यवन देश में भी कहते हैं कि आगन्तुकों का इसी प्रकार स्त्री बनाकर छोड़ दिया जाता था।[2] यन्त्रमय हस्तियों का निर्माण किया जाता था। गन्धर्वकला में निष्णात उदयन का उल्लेख किया जा चुका है। उज्जैनी का राजा प्रद्योत राजकुमारी वासवदत्ता को गन्धर्व-विद्या की शिक्षा देना चाहता था। उसने यन्त्र से चलने वाला एक हाथी बनवाया और उसे वत्सदेश के सीमाप्रान्त पर छोड़ दिया। उधर से उदयन गाता हुआ निकला और उसका गाना सुनकर हाथी वहीं रुक गया। प्रद्योत के आदमी उदयन को पकड़कर राजा के पास ले आये।[3]

(८) स्थापत्यकला

गृहनिर्माण-विद्या (वत्थुविज्जा) का प्राचीन भारत में बहुत महत्त्व था। जैन आगमों में वास्तुपाठकों का उल्लेख मिलता है जो नगर-निर्माण के लिए इधर-उधर स्थान की खोज में भ्रमण किया करते थे।[4] बढ़ई (वड्ढइ) का स्थान समाज में महत्वपूर्ण समझा जाता था, और उसकी गणना चौदह रत्नों में की जाती थी।[5] गृह-निर्माण करने के पूर्व सबसे पहले भूमि की परीक्षा की जाती थी। फिर, भूमि को इकसार किया जाता, और फिर जो भूमि जिसके योग्य हो, उसे देने के लिए अक्षर से अंकित मोहर (उंडिया) डाली जाती थी। तत्पश्चात् भूमि को खोदा जाता, और ईंटों को मुंगरी से कूटकर, उसके ऊपर ईंटें चिनकर नींव रक्खी जाती। उसके बाद पीठिका तैयार हो जाने

१. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० ९५।

२. बृहत्कल्पभाष्य ४.४९१५।

३. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १६१।

४. वही पृ० १७७।

५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ३.५५, पृ० २२९; तथा देखिए रामायण २.८०.१ आदि।

पर उस पर प्रासाद खड़ा किया जाता।[1] गृहमुख में कोष्ठ, सुविधि (चौंतरा), तथा मंडपस्थान (आँगन), गृहद्वार और शौचगृह (वच) बनवाये जाते।[2]

वास्तु तीन प्रकार का बताया गया है :—खात (भूमिगृह), ऊसिय (उच्छ्रित; प्रासाद आदि), और उभय (भूमिगृह से सम्बद्ध प्रासाद आदि)।[3] रायप्रश्नीयसूत्र में सूर्याभदेव के विमान (प्रासाद) का वर्णन किया गया है, जिससे पता लगता है कि वास्तुविद्या उन दिनों पर्याप्त रूप से विकसित हो चुकी थी। यह विमान चारों ओर से प्राकार (दुर्ग) से वेष्टित था जो सुन्दर कपिशीर्षकों (कंगूरों) से अलंकृत था। उसके चारों ओर द्वार बने हुए थे, जो ईहामृग, वृषभ, नरतुरग (मनुष्य के सिरवाला घोड़ा), मगर, विहग (पक्षी), सर्प, किन्नर,[4] रुरु (हरिण), शरभ, चमर, कुंजर, वनलता और पद्मलता की आकृतियों से शोभित शिखर (थूभियां) से अलंकृत थे। इनके ऊपर विद्याधर-युगल की आकृति वाली वेदिकाएँ बनी हुई थीं। ये द्वार उत्तरण (णिम्म)[5], नींव (पइट्ठाण)[6], खम्भे, देहली (एलुया), इन्द्रकील, द्वारशाखा (चेडा), उत्तरंग (द्वार के ऊपर का काष्ठ), सूची (दो तख्तों को जोड़नेवाली कील), संधि (संधान), समुद्गक[7] (सूचिकागृह), अर्गला (किवाड़ों में लगाने का मूसल), अर्गलप्रासाद-

१. बृहत्कल्पभाष्यपीठिका ३३१–३३; तुलना कीजिए मिलिंदप्रश्न, पृ० ३३१, ३४५।

२. निशीथचूर्णी ३.१५३४–३५।

३. बृहत्कल्पभाष्य १.८२७। प्रासादभूमि को डायाल कहा है, निशीथचूर्णी १.६३१।

४. इसका सिंहल के चित्रकारों ने उल्लेख किया है। किन्नर ऊपर से मनुष्यों के समान और नीचे से पक्षियों के समान होते हैं, देखिए ए० के० कुमारस्वामी, मैडिवल सिंहलीज आर्ट, पृ० ८१ आदि।

५. नेमा नाम द्वाराणां भूमिभागाद् ऊर्ध्वं निष्क्रामन्तः प्रदेशाः, राजप्रश्नीयटीका।

६. प्रतिष्ठानानि मूलपादाः, वही।

७. सूचिकागृहाणि, वही।

८. यत्र अर्गलाः नियम्यन्ते, वही।

यय, लावण्य और यौवन आदि में हूबहू मल्लीकुमारी जैसी लगती थी। इसके मस्तक में एक छिद्र था और उसे पद्मपत्र से ढंक रक्खा था।[1] यन्त्रमय प्रतिमाओं का निर्माण किया जाता था; ये प्रतिमाएँ चलती-फिरतीं और पलक मारती थीं। पादलिप्त आचार्य ने किसी राजा की बहन की प्रतिमा बनायी थी, जो भ्रमण करती थी, पलक मारती थी और हाथ में व्यजन लेकर आचार्य के समक्ष उपस्थित हो जाती थी। यवन देश में भी कहते हैं कि आगन्तुकों का इसी प्रकार स्त्री बनाकर छोड़ दिया जाता था।[2] यन्त्रमय हस्तियों का निर्माण किया जाता था। गन्धर्वकला में निष्णात उदयन का उल्लेख किया जा चुका है। उज्जैनी का राजा प्रद्योत राजकुमारी वासवदत्ता को गन्धर्व-विद्या की शिक्षा देना चाहता था। उसने यन्त्र से चलने वाला एक हाथी बनवाया और उसे वत्सदेश के सीमाप्रान्त पर छोड़ दिया। उधर से उदयन गाता हुआ निकला और उसका गाना सुनकर हाथी वहीं रुक गया। प्रद्योत के आदमी उदयन को पकड़कर राजा के पास ले आये।[3]

(८) स्थापत्यकला

गृहनिर्माण-विद्या (वत्थुविज्जा) का प्राचीन भारत में बहुत महत्त्व था। जैन आगमों में वास्तुपाठकों का उल्लेख मिलता है जो नगर-निर्माण के लिए इधर-उधर स्थान की खोज में भ्रमण किया करते थे।[4] थे। बढ़ई (वड्ढइ) का स्थान समाज में महत्त्वपूर्ण समझा जाता था, और उसकी गणना चौदह रत्नों में की जाती थी।[5] गृह-निर्माण करने के पूर्व सबसे पहले भूमि की परीक्षा की जाती थी। फिर, भूमि को इकसार किया जाता, और फिर जो भूमि जिसके योग्य हो, उसे देने के लिए अक्षर से अंकित मोहर (डंडिया) डाली जाती थी। तत्पश्चात् भूमि को खोदा जाता, और ईंटों को मुगरों से कूटकर, उनके ऊपर ईंटें चिनकर नींव रक्खी जाती। उसके बाद पीठिका तैयार हो जाने

१. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० ९५।

२. बृहत्कल्पभाष्य ४.४९१५।

३. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १६१।

४. वही पृ० १७७।

५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र ३.५५, पृ० २२३; तथा देखिए रामायण २.८०.१ आदि।

पर उस पर प्रासाद खड़ा किया जाता।[1] गृहमुख में कोष्ठ, सुविधि (चौंतरा), तथा मंडपस्थान (आँगन), गृहद्वार और शौचगृह (वच्च) बनवाये जाते।[2]

वास्तु तीन प्रकार का बताया गया है :—खात (भूमिगृह), ऊसिय (उच्छ्रित; प्रासाद आदि), और उभय (भूमिगृह से सम्बद्ध प्रासाद आदि)।[3] राजप्रश्नीयसूत्र में सूर्याभदेव के विमान (प्रासाद) का वर्णन किया गया है, जिससे पता लगता है कि वास्तुविद्या उन दिनों पर्याप्त रूप से विकसित हो चुकी थी। यह विमान चारों ओर से प्राकार (दुर्ग) से वेष्टित था जो सुन्दर कपिशीर्षकों (कंगूरों) से अलंकृत था। उसके चारों ओर द्वार बने हुए थे, जो ईहामृग, वृषभ, नरतुरग (मनुष्य के सिरवाला घोड़ा), मगर, विहग (पक्षी), सर्प, किन्नर,[4] रुरु (हरिण), शरभ, चमर, कुंजर, वनलता और पद्मलता की आकृतियों से शोभित शिखर (थूभिया) से अलंकृत थे। उनके ऊपर विद्याधर-युगल की आकृति वाली वेदिकाएँ बनी हुई थीं। ये द्वार उत्तरण (णिम्म)[5], नींव (पइट्ठाण)[6], खम्भे, देहली (एलुया), इन्द्रकील, द्वारशाखा (चेडा), उत्तरंग (द्वार के ऊपर का काष्ठ), सूची (दो तख्तों को जोड़नेवाली कील), संधि (संधान), समुद्गक[7] (सूचिकागृह), अर्गला (किवाड़ों में लगाने का मूसल), अर्गलप्रासाद[8]

---

१. बृहत्कल्पभाष्यपीठिका ३३१–३३; तुलना कीजिए मिलिंदप्रश्न, पृ० ३३१, ३४५।

२. निशीथचूर्णी ३.१५३४–३५।

३. बृहत्कल्पभाष्य १.८२७। प्रासादभूमि को डायाल कहा है, निशीथचूर्णी १.६३१।

४. इसका सिंहल के चित्रकारों ने उल्लेख किया है। किन्नर ऊपर से मनुष्यों के समान और नीचे से पक्षियों के समान होते हैं, देखिए ए० के० कुमारस्वामी, मैडिवल सिंहलीज आर्ट, पृ० ८१ आदि।

५. नेमा नाम द्वाराणां भूमिभागाद् ऊर्ध्वं निष्क्रामन्तः प्रदेशाः, राजप्रश्नीयटीका।

६. प्रतिष्ठानानि मूलपादाः, वही।

७. सूचिकागृहाणि, वही।

८. यत्र अर्गलाः नियम्यन्ते, वही।

वय, लावण्य और यौवन आदि में हूबहू मल्लीकुमारी जैसी लगती थी। इसके मस्तक में एक छिद्र था और उसे पद्मपत्र से ढँक रक्खा था।[१] यन्त्रमय प्रतिमाओं का निर्माण किया जाता था; ये प्रतिमाएँ चलती-फिरती और पलकें मारती थीं। पादलिप्त आचार्य ने किसी राजा की बहन की प्रतिमा बनायी थी, जो भ्रमण करती थी, पलक मारती थी और हाथ में व्यजन लेकर आचार्य के समक्ष उपस्थित हो जाती थी। यवन देश में भी कहते हैं कि आगन्तुकों का इसी प्रकार की बनाकर छोड़ दिया जाता था।[२] यन्त्रमय हस्तियों का निर्माण किया जाता था। गन्धर्वकला में निष्णात उदयन का उल्लेख किया जा चुका है। उज्जैनी का राजा प्रद्योत राजकुमारी वासवदत्ता को गन्धर्व-विद्या की शिक्षा देना चाहता था। उसने यन्त्र से चलने वाला एक हाथी बनवाया और उसे वत्सदेश के सीमाप्रान्त पर छोड़ दिया। उधर से उदयन गाता हुआ निकला और उसका गाना सुनकर हाथी वहीं रुक गया। प्रद्योत के आदमी उदयन को पकड़कर राजा के पास ले आये।[३]

(८) स्थापत्यकला

गृहनिर्माण-विद्या (वत्थुविज्जा) का प्राचीन भारत में बहुत महत्त्व था। जैन आगमों में वास्तुपाठकों का उल्लेख मिलता है जो नगर-निर्माण के लिए इधर-उधर स्थान की खोज में भ्रमण किया करते थे।[४] थे। बढ़ई (वड्ढई) का स्थान समाज में महत्वपूर्ण समझा जाता था, और उसकी ग

कि पूर्व समसे

इकसार किया

लिए अक्षर से

भूमि की खोद

ईंट चिनकर न

१. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० ९५।

२. बृहत्कल्पभाष्य ४.४९१५।

३. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १६१।

४. वही पृ० १७७।

५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र ३.५५, पृ० २२९। तथा देखिए रामायण २.८०.१ आदि।

पर उस पर प्रासाद खड़ा किया जाता।[1] गृहमुख में कोष्ठ, सुविधि (चौतरा), तथा मंडपस्थान (आँगन), गृहद्वार और शौचगृह (वच्च) बनवाये जाते।[2]

वास्तु तीन प्रकार का बताया गया है :—खात (भूमिगृह), ऊसिय (उच्छ्रित; प्रासाद आदि), और उभय (भूमिगृह से सम्बद्ध प्रासाद आदि)।[3] राजप्रश्नीयसूत्र में सूर्याभदेव के विमान (प्रासाद) का वर्णन किया गया है, जिससे पता लगता है कि वास्तुविद्या उन दिनों पर्याप्त रूप से विकसित हो चुकी थी। यह विमान चारों ओर से प्राकार (दुर्ग) से वेष्टित था जो सुन्दर कपिशीर्षकों (कंगूरों) से अलंकृत था। उसके चारों ओर द्वार बने हुए थे, जो ईहामृग, वृषभ, नरतुरग (मनुष्य के सिरवाला घोड़ा), मगर, विहग (पक्षी), सर्प, किन्नर,[4] रुरु (हरिण), शरभ, चमर, कुंजर, वनलता और पद्मलता की आकृतियों से शोभित शिखर (थूभियां) से अलंकृत थे। उनके ऊपर विद्याधर-युगल की आकृति वाली वेदिकाएँ बनी हुई थीं। ये द्वार उत्तरण (णिम्म)[5], नींव (पइट्ठाण)[6], खम्भे, देहली (एलुया), इन्द्रकील, द्वारशाखा (चेडा), उत्तरंग (द्वार के ऊपर का काष्ठ), सूची (दो तख्तों को जोड़नेवाली कील), संधि (संधान), समुद्गक[7] (सूचिकागृह), अर्गला (किवाड़ों में लगाने का मूसल), अर्गलप्रासाद[8]

---

१. बृहत्कल्पभाष्यपीठिका ३३१–३३; तुलना कीजिए, मिलिंदप्रश्न, पृ० ३३१, ३४५।

२. निशीथचूर्णी ३.१५३४–३५।

३. बृहत्कल्पभाष्य १.८२७। प्रासादभूमि को डोयाल कहा है, निशीथचूर्णी १.६३१।

४. इसका सिंहल के चित्रकारों ने उल्लेख किया है। किन्नर ऊपर से मनुष्यों के समान और नीचे से पक्षियों के समान होते हैं, देखिए ए० के० कुमारस्वामी, मैडिवल सिंहलीज आर्ट, पृ० ८१ आदि।

५. नेमा नाम द्वाराणां भूमिभागाद् ऊर्ध्वं निष्क्रामन्तः प्रदेशाः, राजप्रश्नीयटीका।

६. प्रतिष्ठानानि मूलपादाः, वही।

७. सूचिकागृहाणि, वही।

८. यत्र अर्गलाः नियम्यन्ते, वही।

(मूसल लगाने का स्थान), आवर्तनपीठिका[1] (फन्जे) और उत्तरपार्श्वक[2] (बाईं ओर के पार्श्व) से शोभित थे। द्वारों में अन्तररहित घने कपाट (णिरंतरियघणकवाड) लगे हुए थे। उनके दोनों पार्श्वों के पट्टों (भित्ति) में गोलाकार पीठक (भित्तिगुलिया) और बैठकें (गोमाणसीया) बनी हुई थीं। क्रीड़ा करती हुई अनेक शालभंजिकाएं[3] वहाँ सुशोभित थीं। द्वार के ऊपर के भाग शिखर (कूड), उत्सेध, उल्लोक, जालियों से युक्त गवाक्ष (जालपंजर), पक्ष, पक्षबाहु, बांस (वंस), कवलु (वंसकवेल्लुय),[4] बांस के ऊपर लगायी जानेवाली पट्टियां (पट्टिया),[5] पट्टियों को आच्छादन करनेवाली पिधानी (ओहाडणी),[6] और पिधानी को ढंकनेवाली तृणों की बनी हुई पूंछनी (उवरिपुंछणी)[7] से अलंकृत थे। इन द्वारों के ऊपर अनेक प्रकार के तिलक और अर्धचन्द्र बनाये हुए थे। द्वारों के दोनों ओर खूंटियां (णागदन्तपरिवाडी) और उन खूंटियों पर क्षुद्रघण्टिकाएं टंगी थीं। खूंटियों पर लम्बी-लम्बी मालाएं और छींके (सिक्कग) लटक रहे थे और इन छींकों पर धूपघड़ियां (धूवघडी) टंगी थीं।[8]

नाट्यशाला

यहां की नाट्यशाला (प्रेक्षागृहमण्डप) अनेक स्तम्भों के ऊपर बनायी गयी थी, तथा वेदिका, तोरण और शालभंजिकाओंसे शोभित

---

१. यन्नेन्द्रकीलको भवति, वही।

२. चुल्लवग्ग ५.८.१८, पृ० २०९ में आलंबनबाह, उग्घरपासक, अग्गळवट्टिक, कपिसीसक, सूचिक, घटिक आदि का उल्लेख है।

३. शालभंजिकाओं के वर्णन के लिए देखिए सूत्र १०१। अवदानशतक ६,५३, पृ० ३०२ में उल्लेख है कि शालभंजिका का उत्सव श्रावस्ती में मनाया जाता था।

४. महान्तो पृष्ठवंशानामुभयतस्तिर्यक्स्थाप्यमाना वंशाः।

५. वंशानामुपरि कंबास्थानीयाः।

६. आच्छादनहेतुकंबोपरिस्थाप्यमानमहाप्रमाणकिलिचस्थानीयाः।

७. अवघाटीनामुपरिपुंछन्यो निबिडतराच्छादनहेतुश्लक्ष्णतरतृणविशेषस्थानीयाः।

८. राजप्रश्नीयसूत्र ९७ आदि। निशीथसूत्र १३.९ में थूणा (छोटा स्तम्भ), गिहेलुय (देहली), उसुकाल (ओखली) और कामजल (स्नानपीठ) का उल्लेख मिलता है।

थी। इसमें एक-से-एक सुन्दर वैडूर्य रत्न जड़े हुए थे और पूर्वोक्त ईहामृग, वृषभ, नरतुरग आदि के चित्र निर्मित थे। यहां पर सुवर्ण और रत्नमय अनेक स्तूप थे तथा रंग-बिरंगी घण्टियों और पताकाओं से उनके शिखर शोभायमान थे। विद्याधर-युगल बने हुए थे जो यन्त्र की सहायता से चलते-फिरते थे। मण्डप को लीप-पोत कर साफ-सुथरा बनाया गया था। इसके बाहर और भीतर गोशीर्ष और रक्तचन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों के छापे लगे हुए थे। जगह-जगह चंदन-कलश स्थापित किये हुए थे, और द्वारों पर तोरण लटक रहे थे। सुगन्धित मालाएं शोभायमान हो रही थीं, विविध वर्णों के पुष्प महक रहे थे, और अगर आदि पदार्थों की सुगंधित धूप इधर-उधर फैल रही थी। चारों ओर वादित्रों की ध्वनि सुनायी दे रही थी और अप्सराएं अपनी टोलियों में इधर-उधर भ्रमण कर रही थीं। प्रेक्षामंडप के मध्य में एक सुंदर नाट्यगृह (अक्खाडग) था जो मणिपीठिका से अलंकृत था। मणिपीठिका के ऊपर मणियों से जटित एक सुन्दर सिंहासन बना हुआ था जो चक्र (चक्कल), सिंह, पाद, पादशीर्षक, गात्र और संधियों से सुशोभित था। इस पर पूर्वोक्त ईहामृग, वृषभ और नरतुरग आदि के चित्र बने हुए थे। इसका पादपीठ मणिमय और रत्नमय था, जिसका आसन (मसूरय) कोमल अस्तर (अत्थरग) से आच्छादित था। आसन की लटकती हुई सुन्दर झालर कोमल और केसर के तन्तुओं के समान प्रतीत होती थी। यह आसन रजस्राण से ढंका हुआ था और इस रजस्राण के ऊपर दूकूलपट्ट बिछा था।[1] यहां के सुन्दर सोपान उत्तरण (णिम्म), प्रतिष्ठान (मूल प्रदेश), स्तम्भ, फलक, सूची, संधि, अवलम्बन और अवलम्बनवाहु से शोभित थे।[2]

रानी धारिणी का शयनागार

राजा श्रेणिक की रानी धारिणी का शयनगृह (वरगृह) बाह्य द्वार के चौकठे (छक्कट्ठग) से अलंकृत था, और उसके पालिश किये हुए

१. राजप्रश्नीयसूत्र ४१ आदि। सुधर्मा सभा तथा अन्य भवनों का भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है, वही, सूत्र १२०–३१। ज्ञातृधर्मकथा में राजा के प्रासाद का भी लगभग यही वर्णन है, १, पृ० २२। शिविका के वर्णन के लिए देखिए वही, पृ० ३१। तथा मानसार, अध्याय ४७।

२. राजप्रश्नीयसूत्र ३०। चुल्लवग्ग ५.१८.१८ पृ० २०९ में ईंट, पत्थर और काष्ठ के बने सोपानों का उल्लेख है।

खम्भों में सुंदर पुत्तलिकाएं (शालभंजिकाएं), स्तूपिकाएं, सर्वोच्च शिखर (विडंक = विटंक = कपोतपाली = कबूतरों के रहने की छतरी), गवाक्ष (जाल), अर्धचन्द्र के आकारवाले सोपान[1], खूंटी (णिज्जूह), झरोखे (कणयालि) और अट्टालिका (चंदसालिया) बनी हुई थी। वासगृह खनिज पदार्थों के रंगों से पुता हुआ था और बाहर सफेद चूने से पोता गया (दूमिय) था। अन्दर के भाग में सुन्दर चित्रकारी हो रही थी, और इसका फर्श (कोट्टिमतल) अनेक प्रकार के रंगीन मणि और रत्नों से जटित था। इसकी छत (उल्लोय) पद्मलता, पुष्पवल्लि और श्रेष्ठ पुष्पों से शोभित थी। इसके द्वार कनक कलशों से रमणीय थे जिनमें सुन्दर कमल शोभायमान हो रहे थे। ये प्रतरकों (गोल पत्राकार आभूषण) से रम्य थे और इन पर मणिमुक्ताओं की मालाएं लटक रही थीं। कपूर, लवंग, चंदन, अगर, कुंदुरुक्क, तुरुक्क और धूप से यह वासगृह महक रहा था, तथा उपधान (तकिये) और श्वेत रजस्त्राण वाली शय्या से अत्यन्त रमणीय जान पड़ता था।[2]

प्रासाद-निर्माण

धनी और सम्पन्न लोगों के लिए ऊंचे प्रासाद (अवतंसक) बनाये जाते थे। सात तल वाले[3] प्रासादों का उल्लेख किया गया है। प्रासादों के शिखर गगन-तल को स्पर्श करते थे, अपनी श्वेत प्रभा से वे हंसते हुए से जान पड़ते थे, तथा मणि, कनक और रत्नों से निर्मित होने के कारण बड़े चित्र-विचित्र मालूम होते थे। उनके ऊपर वायु से चंचल पताका फहरा रही थी तथा छत्र और अतिछत्र से वे अत्यन्त शोभायमान जान पड़ते थे[4]। प्रासादों के स्कंध, स्तंभ, मंच, माल और तल (हर्म्यतल) का उल्लेख किया गया है।[5] राजगृह अपने पत्थर और ईंटों (फाणिट्ट) के भवनों के लिए विख्यात था।[6]

भरत चक्रवर्ती का प्रासाद अपने आदर्शगृह (सीसमहल) के लिए

---

१. निशीथचूर्णी में सोपान को पदमार्ग कहा गया है। ये दो प्रकार से बनाये जाते थे—भूमि को खोदकर और ईंट-पत्थर आदि को चिनकर १.६२०।

२. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० ३–४।

३. उत्तराध्ययनटीका १३, पृ० १८९।

४. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० २२।

५. आचारांग २, १.७.२६०।

६. बृहत्कल्पभाष्य ३.४७६८।

प्रसिद्ध था।[1] वर्धकी रत्न (बढ़ई) के द्वारा निर्मित शीतघर में वर्षा, गर्मी और सर्दी का असर नहीं होता था।[2] भूमिगृह,[3] अपद्वार[4] (गुप्तद्वार), सुरंग[5] और जतुगृह (लाक्षागृह) का उल्लेख मिलता है। जतुगृह को अनेक स्तम्भों पर प्रतिष्ठित और गूढ़ निर्गम-प्रवेश वाला कहा गया है।[6]

स्वयंवरमंडप, व्यायामशाला आदि

स्वयंवरमंडप का उल्लेख किया जा चुका है। द्रौपदी के स्वयंवर के लिए बनाया हुआ मंडप सैकड़ों खम्भों पर अवस्थित था, और अनेक पुत्तलिकाओं से वह रमणीय जान पड़ता था। व्यायामशाला (अट्टणशाला) में लोग वल्गन, व्यामर्दन और मल्लयुद्ध (कुश्ती) आदि अनेक प्रकार के व्यायाम द्वारा थककर, शतपाक और सहस्रपाक तेलों द्वारा अपने शरीर का मर्दन कराते थे। राजा-महाराजाओं के मज्जणघर (स्नानगृह)[7] का फर्श मणि, मुक्ता और रत्नों से जटित रहता था। उसमें रत्नजटित स्नानपीठ[8] पर बैठकर राजा सुखपूर्वक पुष्पों के सुगन्धित जल आदि से स्नान करता, और तत्पश्चात् सुगंधित मुलायम तौलियों से शरीर को पोंछता। उवट्ठाणसाला[9] (उपस्थानशाला = अस्थानमंडप), पोसहसाला[10] (प्रोषधशाला), कूडागार साला[11] (कूटागारशाला = शिखर के आकारवाला घर) और पोक्ख-

१. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २३२-अ।

२. निशीथचूर्णी १०.२७९४ की चूर्णी। महावग्ग १.८.२५ पृ० १८ में हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षाकाल में उपयोग में आनेवाले तीन प्रसादों का उल्लेख है।

३. उत्तराध्ययनटीका १३, पृ० १८५-अ।

४. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० १११।

५. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १६५।

६. उत्तराध्ययनटीका १३, पृ० १८८। लाक्षागृह के निर्माण के लिए देखिए महाभारत १.१५६।

७. गर्म पानी के स्नानगृहों (जंताघर) का उल्लेख चुल्लवग्ग ५.७.१७, पृ० २०८ में मिलता है।

८. कल्पसूत्र ४.६२ आदि; ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० ६-७।

९. कल्पसूत्र ४.५८; ज्ञातृधर्मकथा, वही। तथा देखिए उदान की परमत्थदीपनी टीका, पृ० १०२।

१०. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० १९।

११. राजप्रश्नीय ९४, पृ० १५०।

रिणी[1] (पुष्करिणी) आदि का उल्लेख मिलता है। पानी के पुल के लिये दगवीणिय, दगवाह अथवा दगपरिगाल शब्दों का प्रयोग किया गया है[2]।

धार्मिक स्थापत्यकला

धार्मिक स्थापत्यकला में देवकुलों का उल्लेख है। इनके सम्बन्ध में हम इतना ही जानते हैं कि यात्री लोग यहां आकर ठहरा करते थे। किसी वसति का निर्माण करने के लिये पहले दो धरन (धारणा) रक्खे जाते थे, उन पर एक खंभा (पट्टीवंस) तिरछा रखते थे। फिर दोनों धरनों के ऊपर दो-दो मूलवेलि (छप्पर का आधारभूत स्तम्भ) रक्खी जातीं। तत्पश्चात् मूलवेलि के ऊपर बांस रखे जाते और पृष्ठवंश को चटाई से ढक कर रस्सी बांध दी जाती। उसके बाद उसे दर्भ आदि से ढक दिया जाता, मिट्टी या गोबर का लेप किया जाता और उसमें दरवाजा लगा दिया जाता।[3]

चैत्य-स्तूपनिर्माण

चैत्यों और स्तूपों का उल्लेख किया गया है। मृतक का अग्नि-संस्कार करके, उसकी भस्म के ऊपर या आसपास में वृक्ष का आरोपण करते, या कोई शिलापट्ट स्थापित करते; इसे चैत्य कहा जाता था।[4] मथुरा नगरी अपने मंगल चैत्य के लिए प्रसिद्ध थी। यहां पर गृह निर्माण करने के बाद, उत्तरंगों में अर्हत्-प्रतिमा का स्थापन किया जाता था। लोगों का विश्वास था कि इससे गृह के गिरने का भय नहीं रहता।[5] जीवंतस्वामी की प्रतिमा को चिरंतन चैत्य में गिना गया है।[6] मृतक के स्थान पर स्तूप[7] भी निर्मित किये जाते थे। अष्टापद पर्वत पर भरत द्वारा आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव की स्मृति में स्तूप बनाने

---

१. ज्ञातृधर्मकथा १३, पृ० १४२ आदि। राजगृह में वास्तुशास्त्रियों द्वारा बताई हुई भूमि में पुष्करिणी का निर्माण किया गया था।

२. निशीथचूर्णी १.६३४।

३. बृहत्कल्पभाष्यपीठिका ५८२-३; १.१६७५-७७।

४. चैत्य के लिये देखिये इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली सितम्बर, १९३८ में वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार का लेख।

५. बृहत्कल्पभाष्य १, १७७४ वृत्ति।

६. वही १, २७५३ वृत्ति।

७. इट्टगादिचिया चिया (चिच्चा) थूभो भण्णति, निशीथचूर्णी ३. १५३५।

का उल्लेख है।[1] देवों द्वारा निर्मित स्तूप का भी उल्लेख आता है। इस प्रकार का एक स्तूप मथुरा में निर्मित किया गया था। इसे लेकर जैन और बौद्धों में विवाद छिड़ा था।[2] वर्धमानक ग्राम में ग्रामवासियों की हड्डियों पर एक यक्ष-मंदिर बनाया गया था जिससे गांव का नाम ही अट्ठियगाम (अस्थिग्राम) हो गया था।[3] मृतक के स्थान पर बनाये हुए देवकुल को मृतक-लयन अथवा मृतक-गृह के नाम से भी कहा जाता था। म्लेच्छों के घरों के अन्दर ही मृतक को गाड़ देते थे, जलाने की प्रथा उनमें नहीं थी।[4]

पर्वत में उत्कीर्ण घर (गुफा) को लयन कहा गया है।[5] कार्पटिक आदि साधु यहां निवास करते थे।[6]

विविध आसन आदि

विवाह की प्रीतिदान की सूची में पीढ़ा (पावीढ), आसन (भिसिय), पलंग (पल्लंक) और शय्या (पडिसिज्जा) का उल्लेख किया जा चुका है। विविध आसनों के नाम आ चुके हैं।[7] दंड-संपुच्छणी और वेणुसंपुच्छणी नाम की लम्बी झाडुओं के नाम आते

---

१. आवश्यकचूर्णी पृ० २२३ आदि। तुलना कीजिए तित्तिर जातक (४३८), ३, पृ० १९८ के साथ। विहार-निर्माण के लिए अवदानशतक २,१५, पृ० ८७; महावंस, अध्याय २८; ए० के० कुमारस्वामी, इण्डियन आर्किटैक्चरल टर्म्स, जे० ए० ओ० एस०, पृ० ४८–५३, १९२८।

२. व्यवहारभाष्य ५.२७ आदि। राजमल्ल के जम्बूस्वामीचरित में मथुरा में ५०० से अधिक स्तूपों का उल्लेख है। तथा देखिए वृहत्कथाकोश १२.१३२। रामायण ७.७०.५ में मथुरा को देवनिर्मिता कहा गया है।

३. आवश्यकचूर्णी, पृ० २७२।

४. निशीथचूर्णी, ३.१५३५; आचारांगचूर्णी, पृ० ३७०।

५. मडयस्स उवरिं जं देवकुलं तं लेणं भण्णति, निशीथचूर्णी, वही।

६. अनुयोगद्वारटीका, पृ० १४५।

७. तथा देखिए राजप्रश्नीयसूत्र ११३; कल्पसूत्र ४.४९,६३। उपधान, रजस्त्राण, आसन आदि के लिए देखिए महावग्ग ५.९.२०, पृ० २११; चुल्ल-वग्ग ६.१.४, पृ० २४३; इण्डियन कल्चर जिल्द २, जुलाई, १९३५, पृ० २७१ आदि, गिरिजाप्रसन्नकुमार मजूमदार का 'फर्नीचर' के ऊपर लेख; मानसार, अध्याय ४४,४५; आर० एल० मित्र, इण्डो-आर्यन, जिल्द १, पृ० २४९ आदि।

हैं, इन्हें बांस में बांधकर घर की सफाई की जाती थी।[1] घर के अन्य सामान में पंखा (वीजन), छत्त (छत्र),[2] दंड,[3] चमर, शीशा (आदंस), सन्दूकची (मंजूषा), डिब्बा (समुग्ग), टोकरी (पिडय) और पिंजरे (पंजर) का उल्लेख मिलता है।[4]

किलेबंदी

नगरों की क़िलेबन्दी की जाती थी। नगर के चारों ओर विशाल परिखा (फलिहा) बनायी जाती जो ऊपर और नीचे से बराबर खुदी हुई रहती। इसमें चक्र, गदा, मुसुंढि, अवरोध, शतघ्नी और जुड़े हुए निश्छिद्र कपाट लगे रहते जिससे नगर में कोई प्रवेश न कर पाता। इसके चारों तरफ धनुष के समान वक्र आकार वाला प्राकार बना रहता, जो विविध आकार वाले गोलाकार कपिशीर्षक, अट्टालिका, चरिका (किले और नगर के बीच का मार्ग), द्वार, गोपुर और तोरणों से शोभित होता। नगर के परिघ (अर्गला) और इन्द्रकील (द्वार का एक अवयव) चतुर शिल्पियों द्वारा निर्मित किये जाते थे।[5]

---

१. राजप्रश्नीयसूत्र २१।

२. तीन प्रकार के छत्र बताये गये हैं—कंबल आदि की तह करके सिर पर रखना, सिर को वस्त्र से अवगुण्ठित करना, और वस्त्र को हाथ से उठाकर सिर पर तानना, निशीथभाष्य ३.१५२७।

३. बृहत्कल्पभाष्य ३.४०९७। छत्र, जूते, और दण्ड के लिए देखिए गिरिजाप्रसन्न मजूमदार का 'ड्रेस' पर लेख, इण्डियन कल्चर, १, १-४, पृ० २०३-२०८।

४. उत्तराध्ययन १४.४१।

५. वही ९.१८-२४; औपपातिक १।

छठा अध्याय

रीति-रिवाज

जादू-टोना और अन्ध-विश्वास

जैन साधु और मंत्र-विद्या

आदिकाल से जादू-टोना और अंध-विश्वास प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण रहे हैं। कितने ही मंत्र, मोहनी, विद्या, जादू, टोटका आदि का उल्लेख जैनसूत्रों में आता है जिनके प्रयोग से रोगी चंगे हो जाते, भूत-प्रेत भाग जाते, शत्रु हथियार डाल देते, प्रेमी और प्रेमिका एक-दूसरे की ओर आकर्षित होते, स्त्रियों का भाग्य उदय हो जाता, युद्ध में विजय-लक्ष्मी प्राप्त होती और गुप्त धन मिल जाता।

जैन आगमों के अन्तर्गत चतुर्दश पूर्वों में विद्यानुवाद पूर्व का नाम आता है जिसमें विविध मंत्र और विद्याओं का वर्णन किया गया है।[1] मंखलि गोशाल को आठ महानिमित्तों[2] में निष्णात कहा है; लोगों के हानि-लाभ, सुख-दुख और जीवन-मरण के सम्बन्ध में वह भविष्यवाणी करता था। कहते हैं कि महानिमित्तों का ज्ञान उसने छह दिशाचरों से प्राप्त किया था। पंचकल्पचूर्णी में उल्लेख है कि आर्य कालक अपने शिष्यों को तपश्चर्या में स्थिर रखने के लिए निमित्तशास्त्र के अध्ययन के वास्ते आजीविकों के पास गये थे। आगे चलकर कालक आचार्य ने प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन की सभा में अपनी विद्या का प्रदर्शन

---

१. समवायांगटीका १४, पृ० २५-अ।

२. भौम, उत्पात, स्वप्न, अन्तरीक्ष, अङ्ग, स्वर, लक्षण और व्यञ्जन, स्थानांग ८.६०८। उत्तराध्ययन १५.७ में छिन्न, स्वर, भौम, अन्तरिक्ष, स्वप्न, लक्षण, दण्ड, वास्तुविद्या, अंगविचार और स्वरविजय का उल्लेख है। इन्हें सूत्र, वृत्ति और वार्तिक के भेद से २४ प्रकार का कहा है। तथा देखिए सूत्रकृतांग १२.९; समवायांगटीका २९,४७; पिंडनिर्युक्तिटीका ४०८। आवश्यकटीका (हरिभद्र), पृ० ६६०। तथा दीघनिकाय १, ब्रह्मजालसुत्त पृ० १०; बी० सी० लाहा, हिस्ट्री ऑव पालिलिटरेचर, १, पृ० ८२, आदि; मनुस्मृति ६.५०।

किया जिससे राजा ने प्रसन्न होकर उन्हें आभूषण देने चाहे, लेकिन आचार्य ने लेने से इन्कार कर दिया।[1] आचार्य भद्रबाहु एक महान् नैमित्तिक माने गये हैं जो मंत्रविद्या में वे कुशल थे। उन्होंने उपसर्गहर स्तोत्र की रचना करके उसे संघ के पास भिजवा दिया जिससे कि व्यंतर देव का उपद्रव शान्त हो सके।[2] पादलिप्त आचार्य का उल्लेख किया जा चुका है। उन्होंने अपनी विद्या के बल से राजा की भगिनी की यंत्र-प्रतिमा बनाकर तैयार की थी। उन्होंने प्रतिष्ठान के राजा मुरुण्ड की शिरोवेदना दूर की थी।[3] आर्य खपुट विद्याबल, बाहुबली औरस्य (आभ्यंतर) बल, ब्रह्मदत्त तेजोलब्धि और हरिकेश सहायलब्धि से सम्पन्न माने गये हैं।[4] श्रीगुप्त आचार्य वृश्चिक, सर्प, मूषक, मृगी, वाराही, काकी और शकुनिका नामक सात विद्याओं के धारी बताये गये हैं।[5] आचार्य रोहगुप्त भी मयूरी, नकुली, बिडाली, व्याघ्री, सिंही, उलूकी और उलावकी नामक विद्याओं से सम्पन्न थे। उन्होंने अभिमंत्रित रजोहरण के बल से विद्याधारी किसी परिव्राजक के साथ शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त की।[6] सिद्धसेन आचार्य द्वारा योनिप्राभृत की सहायता से अश्व उत्पादन करने का उल्लेख किया गया है।[7] विष्णुकुमार मुनि को तो निर्ग्रंथ प्रवचन के अनुपम रक्षक के रूप में स्वीकार किया है।[8]

विद्या और मंत्र-तंत्र का निषेध

यद्यपि बौद्धसूत्रों की भांति जैनसूत्रों में भी विद्या और मंत्र-तंत्र का निषेध किया गया है,[9] फिर भी संकट आदि उपस्थित होने पर

१. देखिए कल्याणविजय, श्रमण भगवान् महावीर, पृ० २६० आदि।

२. गच्छाचारवृत्ति, पृ० ९३–९६।

३. पिंडनिर्युक्ति ४९७–९८।

४. निशीथचूर्णी १०.२८६०।

५. उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० ७२; निशीथभाष्य १६.५६०२–४।

६. वही।

७. निशीथचूर्णी ४, पृ० २८१; बृहत्कल्पभाष्य १.२६८१।

८. व्यवहारभाष्य १. ९०–१, पृ० ७६ आदि।

९. मंत्र, मूल, विविध प्रकार की वैद्यसम्बन्धी चिन्ता, वमन, विरेचन, धूम, नेत्रसंस्कार, स्नान, आतुर का स्मरण और चिकित्सा को त्यागकर संयम के मार्ग में संलग्न होने का उपदेश है उत्तराध्ययन १५.८ .१५.७; समवायांग-

जैन श्रमणों को उनका उपयोग करना पड़ता था। उदाहरण के लिए, संकटकालीन परिस्थितियों में मंत्र और योग की सहायता से भिक्षा ग्रहण करने के लिए वे बाध्य होते, इसे विद्यापिंड कहा जाता था[1]। जैनसूत्रों में कहा है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त के समकालीन दो क्षुल्लक अपनी आंखों में अदृश्य होने का अंजन लगाकर चन्द्रगुप्त के साथ भोजन करते थे[2]। यदि कभी महामारी अथवा गलगंड आदि के कारण लोग मरने लगते, शत्रु के सैनिक नगर के चारों ओर घेरा डाल लेते, या भुखमरी फैल जाती तो ऐसी दशा में यदि पुरवासी आचार्य की शरण में जाकर रक्षा के लिए प्रार्थना करते तो आचार्य अशिव आदि के उपशमन के लिए एक पुतला[3] बनाते और मंत्रपाठ द्वारा उसका छेदन करते। इससे कुल-देवता के शान्त हो जाने से उपद्रव मिट जाता।[4] नवकार मंत्र को व्याधि, जल, अग्नि, तस्कर, डाकिनी, वैताल और राक्षस आदि का उपद्रव शांत करने के लिये परम शक्तिशाली कहा गया है।[5] आवश्यकता होने पर आचार्य गर्भधारण और गर्भशातन आदि के लिए भी औषध आदि का प्रयोग बताते थे।[6]

कभी अटवी में गमन करते समय श्रमणों का गच्छ यदि मार्ग-भ्रष्ट हो जाता तो कार्योत्सर्ग द्वारा वनदेवता का आसन कंपित करके उससे मार्ग पूछा जाता।[7] यदि कभी कोई प्रत्यनीक सार्थवाह साधुओं के

टीका २९,४७। लेकिन अन्यत्र अतिशयसम्पन्न, ऋद्धिदीक्षित, धर्मकथावादी, वादी, आचार्य, क्षपक, अष्टांगनिमित्तसंपन्न, विद्यासिद्ध, राजवल्लभ, गणवल्लभ—इन आठ व्यक्तियों को तीर्थ का प्रकाशक कहा गया है, निशीथचूर्णीपीठिका ३३।

१. मनुस्मृति ६.५० में नक्षत्रांगविद्या आदि द्वारा भिक्षा ग्रहण करने का निषेध है।

२. पिंडनिर्युक्ति ४९७–५११। निशीथसूत्र १३.७२ इत्यादि में मायापिंड, लोभपिंड, विद्यापिंड, मंत्रपिंड, चूर्णपिंड, अन्तर्धानपिंड और योगपिंड आदि का उल्लेख है।

३. शत्रु को मर्दन करने, दण्डित करने अथवा वश में करने के लिये पुतला बनाने का उल्लेख मिलता है, निशीथचूर्णीपीठिका १६७।

४. बृहत्कल्पभाष्य ४.५११२–१३, ५११६।

५. उत्तराध्ययनसूत्र ९, पृ० १३३।

६. पिंडनिर्युक्ति, ५१०–११।

७. बृहत्कल्पभाष्य, १.३१०८।

गच्छ को निकाल देता, या उनका भक्त-पान बन्द कर देता तो आभिचारुका[1] विद्या पढ़कर उसे लौटाया जाता।[2] इसी प्रकार वसति में रहते हुए यदि जल, अग्नि अथवा आंधी का उपद्रव होता तो स्तंभनी विद्या का प्रयोग किया जाता।[3] यदि सर्प आदि कोई विषैला जन्तु वसति में घुस जाता तो अपद्रावण (उद्दवण) विद्या द्वारा उसे अन्यत्र पहुंचाया जाता। स्तंभनी और मोहनी विद्याओं द्वारा चोरों का स्तंभन और मोहन किया जाता।[4] आभोगिनी विद्या अपने पर दूसरे के मन की बात का पता लग जाता, तथा प्रश्न, देवता और निमित्त द्वारा चोरों का पता लगाया जाता।[5]

प्रवचन को हास्यास्पद होने की स्थिति से बचाने के लिए भी अनेक बार मंत्र और विद्या का प्रयोग करना पड़ता। एक बार, किसी राजा ने जैन श्रमणों को ब्राह्मणों के पादवंदन करने का आदेश दिया। इस पर संघ की आज्ञा से, एक मंत्रविद् साधु ने कनेर की लता को अभिमंत्रित कर ब्राह्मणों के ऊपर छोड़ा जिससे उनके शिरच्छेद होने लगे। यह देखकर राजा भयभीत हो उठा और वह श्रमणसंघ के पैरों में गिर पड़ा।[6] किसी पुरोहित ने प्रासाद के ऊपर बैठ अपने पांव लटकाकर किसी जैन साधु का अपमान करना चाहा, किन्तु विद्या के प्रयोग द्वारा इसका बदला लिया गया।[7] कितनी ही बार धनार्जन आदि के लिए भी जैन श्रमणों को मंत्र आदि का आश्रय लेना पड़ता था।[8]

जैन श्रमणों की ऋद्धियां

जैन श्रमणों की ऋद्धि-सिद्धियों के उल्लेख जैनसूत्रों में मिलते हैं। कोष्ठबुद्धि का धारक श्रमण एक बार सूत्र का अर्थ जान लेने पर उसे

१. अभिचारकं णाम वसीकरणं उच्चाटणं वा रायणो वसीकरणं मंतेण होमं कायव्वं, निशीथचूर्णीपीठिका ४९० ।

२. बृहत्कल्पभाष्य ५.५९८२ ।

३. वही, १.२७८४ ।

४. वही, ३.४८०९ ।

५. वही, ३.४६३३ ।

६. निशीथचूर्णीपीठिका ४८७ चूर्णी ।

७. उत्तराध्ययनचूर्णी, पृ० २,८२ ।

८. धातुवाद से अर्थोपार्जन करने और महाकाल मंत्र से निधि के दर्शन कराने का उल्लेख आता है, निशीथचूर्णी ४.१५७७ की चूर्णी ।

नहीं भूलता था। एक सूत्रपद का श्रवण करके शेष अश्रुत पदों को धारण करने वाला पदानुसारि कहा जाता था। मूल अर्थ को जानकर शेष अर्थों को जाननेवाला बीजबुद्धि कहलाता था। जंघाचारण[1] मुनि अपने तपोबल से आकाश में गमन कर सकते थे, और विद्याचारण मुनि अपनी विद्या के बल से दूर-दूर तक जा सकते थे। महावीर के शिष्यों को अनेक लब्धियों का धारक बताया गया है। किसी साधु के स्पर्शमात्र से रोग शान्त हो जाता (आमर्शौषधि), किसी की विष्ठा और मूत्र औषधि का काम करते (विप्रौषधि), तथा कोई अपने शरीर के मल (जल्लौषधि) और पसीने आदि से रोगों को दूर कर देता। इसी प्रकार कोई शिष्य अपने शरीर को इच्छानुसार परिवर्तित कर लेता (वैकुर्विक), कोई थोड़े से भिक्षान्न से सैकड़ों का पेट भर सकता (अक्षीणमहानसी) और किसी की वाणी दुग्ध के समान मिठासवाली बन जाती (क्षीरास्रवलब्धि)।[2]

विद्या, मंत्र और योग

विद्या, मंत्र और योग को तीन अतिशयों में गिना गया है। तप आदि साधनों से सिद्ध होने वाली को विद्या, और पठन-मात्र से सिद्ध होने वाले को मंत्र कहा है। विद्या प्रज्ञाप्ति आदि स्त्री-देवता से, और मंत्र हरिणेगमेषी आदि पुरुष देवता से अधिष्ठित होते हैं। विद्वेष, वशीकरण, उच्छेदन और रोग शान्त करने के लिए योग का प्रयोग करते थे। योग सिद्धि होने के पश्चात् चरणों पर लेप करने से आकाश में उड़ा जा सकता था।[3] जैनसूत्रों में उल्लेख है कि आर्यवज्र पादो-पलेप द्वारा में गमन करते थे और पर्यूषण पर्व के अवसर पर पुष्प लाने के लिए वे पुरीय से माहेश्वरी गये थे।[4] जैनसंघ के उद्धारक मुनि विष्णुकुमार ने गंगामंदिर पर्वत से गजपुर के लिए आकाश मार्ग से

---

१. हेमचन्द्र, योगशास्त्र १०.२; १२.२। गौतम गणधर को यह लब्धि प्राप्त थी, उत्तराध्ययनटीका १०, पृ० १५४–अ।

२. औपपातिकसूत्र १५, पृ० ५२; गच्छाचारवृत्ति ७१–अ–७५; प्रज्ञापना-सूत्रटीका २१, पृ० ४२४ आदि; आवश्यकचूर्णी पृ० ६८, ७०–१; ३९५ आदि; प्रवचनसारोद्धार, पृ० १६८।

३. बृहत्कल्पभाष्य १.१२३५; निशीथचूर्णी ११.३०१३; ज्ञातृधर्मटीका १, पृ० ७। तुलना कीजिए दधिवाहन जातक (१८६) २, पृ० २६४।

४. आवश्यकचूर्णी, पृ० ३९६।

विहार किया था।[1] निशीथभाष्य में उल्लिखित ब्रह्मद्वीपवासी एक तापस कुलपति पादलेप-योग में कुशल होने के कारण प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को वेण्या नदी पर चलकर नदी के उस पार जाता था।[2] दशवैकालिकचूर्णी में किसी परिव्राजक का उल्लेख है जिसे आकाशगामी विद्या प्राप्त थी।[3]

आकर्षण, वशीकरण आदि

विद्याप्रयोग और मंत्रचूर्ण के अतिरिक्त, लोग हृदय को आकर्षित करके (*हिययउड्डावण*), तथा सगोपन (*णिण्हवण*), आकर्षण (*पण्हवण*), वशीकरण और अभियोग द्वारा भी जादू-मन्तर का प्रयोग करते थे।[4] पोट्टिला जब प्रयत्न करने पर भी अपने पति का प्रेम प्राप्त न कर सकी तो उसने किसी चूर्णयोग, मन्त्रयोग, कार्मणयोग (कुष्ठादि रोग उत्पन्न करने वाला), काम्ययोग, (कमनीयता में कारण), हिययउड्डावण (हृदय को वश में करने वाला), काउड्डावण (कायोड्डावन = शरीर का आकर्षण), आभियोगिक (दूसरे के पराभव में कारण), वशीकरण, मूल, कन्द, छाल, वल्ली, सिलिया (शिलिका = चिरायता आदि औषधि), गुटिका,[5] औषधि और भैषज्य द्वारा उसे वश में करना चाहा।[6]

मंत्र आदि की शक्ति

विद्या, मन्त्र, तपोलब्धि, इन्द्रजाल, निमित्त, अन्तर्धान और पादले-

---

१. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २४८-अ।

२. निशीथचूर्णी १३.४४७०।

३. ३, पृ० १००।

४. विपाकसूत्र २, पृ० १९। निशीथसूत्र ३.७० और भाष्य ३.१५२९ में वशीकरणसूत्र (ताबीज) बनाने का उल्लेख है।

५. किसी परिव्राजक द्वारा दी हुई गुटिका को मुंह में रखने से प्रगाढ़ अचेतन जैसा दिखाई दिया, और राजपुरुषों ने उसे मृत समझकर छोड़ दिया, उत्तराध्ययनटीका, १३, पृ० १९०-अ। राजा उद्रायण की दासी गोली के प्रभाव से सुन्दर बन गयी थी और तब से वह सुवर्णगुलिका नाम से कही जाने लगी, वही, १८, पृ० २५३-अ। राजकुमार मूलदेव गुटिका के प्रभाव से बौना हो गया और उसने देवदत्ता की कुबड़ी दासी का कुबड़ापन दूर कर दिया, वही ३, पृ० ५९-अ।

६. ज्ञातृधर्मकथा १४, पृ० १५२।

प्रयोग आदि को अत्यन्त शक्तिशाली बताया गया है।[1] विधिपूर्वक मन्त्र से परिगृहीत यदि विष का भी भक्षण कर लिया जाये तो उससे कोई हानि नहीं होती।[2] मन्त्र शक्ति का प्रयोग करके होम और जप आदि द्वारा वेताल को भी बुलाया जा सकता है।[3] विद्या, मन्त्र और औषधि की शक्ति से सम्पन्न कोई परिव्राजक नगर की सुन्दरियों का अपहरण कर लेता था। जब यह समाचार राजा के पास पहुँचाया गया तो राजा ने परिव्राजक को पकड़ कर सब नगरवासियों को स्त्रियाँ लौटा दीं, केवल एक ही ऐसी बची जो वापिस नहीं जाना चाहती थी। लेकिन परिव्राजक की हड्डियां दूध में घिसकर पिलाने से वह भी अपने पति को चाहने लगी।[4] कोई सरजस्क साधु किसी बगीचे में एक कुइया के पास रहता था। वहाँ बहुत-सी पनिहारिन पानी भरने आया करती थीं। मौका पाकर उसने उनमें से एक स्त्री को विद्या से अभिमन्त्रित पुष्प दिये। स्त्री ने उन पुष्पों को घर ले जाकर एक पटरे पर रख दिया। लेकिन पुष्पों के अभिमन्त्रित होने के कारण रात्रि के समय गृहद्वार पर खट-खट की आवाज होने लगी।[5] विद्या से अभिमन्त्रित घट का उल्लेख आता है।[6] लोगों में मान्यता थी कि मुर्गे का सिर भक्षण करने से राजपद प्राप्त हो जाता है।[7]

विविध विद्यायें

अनेक विद्याओं के नाम जैनसूत्रों में आते हैं। ओणामणी (अवनामनी) विद्या के प्रभाव से वृक्ष आदि की डालें झुक जाती थीं, और उण्णामिणी (उन्नामिनी)[8] के प्रभाव से वे स्वयमेव ऊपर चली जाती थीं। राजगृह का कोई मातंग अपनी स्त्री के आम खाने के अकाल

---

१. निशीथचूर्णी ११.३३३७ की चूर्णी। तापस लोग कोंटलवेंटल (मंत्र, *निमित्त आदि) से आजीविका चलाते थे, आवश्यकचूर्णी, पृ० २७५। इसे* पापश्रुत माना गया है, व्यवहारभाष्य ४, ३.३०३, पृ० ६३।

२. निशीथचूर्णी १५.४८६६।

३. वही १५.४८७०।

४. सूत्रकृतांग २, २.३३६ टीका।

५. निशीथचूर्णी १५.५०७४।

६. उत्तराध्ययनटीका ६, पृ० १११।

७. आवश्यकचूर्णी पृ० ५५८।

८. उत्पतिनी का उल्लेख कथासरित्सागर ८६, १५८ में मिलता है।

दोहद को पूर्ण करने के लिए राजा श्रेणिक के बगीचे में आया, और अपने विद्याबल से आम तोड़-तोड़ कर अपनी स्त्री को खिलाने लगा। राजा को पता लगा तो उसने अपने मन्त्री अभयकुमार से कहा। अभयकुमार ने अपनी चतुराई से चोर पकड़ लिया। चोर को पकड़कर राजा के पास लाया गया। राजा ने उससे कहा—"यदि तुम अपनी विद्या मुझे देने को तैयार हो तो तुम्हें छोड़ा जा सकता है।" मातंग ने यह बात स्वीकार कर ली। मातंग खड़ा होकर राजा को विद्या देने लगा। लेकिन उसका कोई असर न हुआ। कारण पूछने पर मातंग ने उत्तर दिया—"महाराज, मैं जमीन पर हूँ और आप आसन पर विराजमान हैं, फिर भला विद्या सिद्ध कैसे हो सकती है?"[1]

मुख्य विद्याओं में गौरी, गांधारी, रोहिणी और प्रज्ञप्ति[2] के नाम गिनाये गये हैं।[3] तालोद्घाटिनी (ताला खोलने की), अवस्वापिनी[4] (सुलाने वाली), अन्तर्धान (अदृश्य करने वाली), और मानसी विद्याओं का उल्लेख मिलता है।[5] व्यवहारभाष्य में सर्पविष के उपशमन के लिए दूती, आदर्श, वस्त्र,[6] अंतःपुरिकी, दर्भविषया, व्यंजनविषया,[7] तालवृन्त और चपेटी विद्याओं के नाम मिलते हैं।[8] आथर्वणी (आहव्वणी),[9] कालिंगी, पाकशासनी, वैताली,[10] कुहेड-

---

१. दशवैकालिकचूर्णी १, पृ० ४५। तुलना कीजिये छवक जातक (३०९), ३, पृ० २९७-८।

२. कथासरित्सागर में इसका उल्लेख है, मोनियर विलियम्स, संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी।

३. कल्पसूत्रटीका, ७ पृ० २०३।

४. देवानन्दा ब्राह्मणी को अवस्वापिनी विद्या से सुलाकर हरिणेगमेषी ने महावीर का गर्भहरण किया था, कल्पसूत्र २,२७ पृ० ४४-अ। द्रौपदी का हरण भी इसी विद्या के द्वारा किया गया था, ज्ञातृधर्मकथा १६, पृ० १८६।

५. निशीथभाष्यपीठिका ३४७, ४०९।

६. मोनियर विलियम्स, संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९१२ के अनुसार यह वास्तुविद्या होना चाहिए।

७. व्यंजनहारिका का उल्लेख मार्कण्डेयपुराण में है, मोनियर विलियम्स, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी।

८. व्यवहारभाष्य ५. १३६-३८।

९. आथर्वण का उल्लेख सुत्तनिपात, तुवट्टकसुत्त ४. १४. १३ में मिलता है।

१०. सूत्रकृतांग २, २-१३, पृ० ३१७-अ।

विज्जा[1] आदि अनेक विद्याओं के उल्लेख हैं।[2] गर्दभी विद्या उज्जैनी के राजा गर्दभिल्ल को सिद्ध थी। जब यह गर्दभी शब्द करती तो जिसके कानों में उसका शब्द पड़ जाता, वह रुधिर वमन करता हुआ भय से विह्वल होकर गिर पड़ता।[3]

उच्छिष्ट विद्यायें

विद्याओं में कुछ विद्याओं को उच्छिष्ट भी कहा गया है। गौरी,[4] गांधारी[5] आदि विद्याएँ मातंगविद्या मानी गयी हैं।[6] सूत्रकृतांग में दामिली (द्राविडी), सोवागी[7] (श्वपाकी अथवा मातंगी), और सोवरी (शंबरी) विद्याओं का उल्लेख है।[8] प्रत्यनीक सार्थवाह के द्वारा जैन साधुओं को बहिष्कृत किये जाने का उल्लेख किया जा चुका है। ऐसी दशा में कहा है कि यदि कोई साधु शौच गया हुआ हो और शौच शुद्धि के लिए उसे प्राशुक जल न मिल सके तो उच्छिष्ट विद्या का जाप करके, मूत्र आदि द्वारा शौच-शुद्धि की जा सकती है। इसी प्रकार उत्कट शूल होने पर अथवा सर्पदंश होने पर प्राशुक जल आदि के अभाव में उच्छिष्ट मन्त्र या विद्या जपकर मूत्र (मोय=मोक) के आचमन द्वारा रोगी को अच्छा करने का विधान है।[9] सर्प का विष उतारने के लिये किनारीदार वस्त्र का उपयोग किया जाता था।[10]

विद्याधर

प्राचीन जैन साहित्य में विद्याधरों का स्थान महत्वपूर्ण बताया गया है[11]। विद्याधरों को खेचर (आकाशगामी) भी कहा है; वे अपनी

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र २०.४५।

२. तथा देखिए वसुदेवहिंडी, पृ० ७, १६४।

३. निशीथचूर्णी १०. २८६० की चूर्णी।

४. दिव्यावदान ३३, ६३६ इत्यादि में उल्लिखित।

५. इसका उल्लेख दीघनिकाय १, केवट्टसुत्त, पृ० १८४ तथा दिव्यावदान में मिलता है। इस विद्या की सहायता से मनुष्य अदृश्य हो सकता था।

६. बृहत्कल्पभाष्य १. २५०८।

७. भरतेश्वरबाहुबलिवृत्ति १, पृ० १३२-अ में उल्लेख है।

८. सूत्रकृतांग २, २. १३, पृ० ३१७-अ।

९. बृहत्कल्पभाष्य ५. ५९८२-८३।

१०. वही ३. ३९०७।

११. विद्याधरों का उल्लेख भरहुत के शिलालेखों (२०९) में मिलता है।

दोहद को पूर्ण करने के लिए राजा श्रेणिक के बगीचे में आया, और अपने विद्याबल से आम तोड़-तोड़ कर अपनी स्त्री को खिलाने लगा। राजा को पता लगा तो उसने अपने मन्त्री अभयकुमार से कहा। अभयकुमार ने अपनी चतुराई से चोर पकड़ लिया। चोर को पकड़कर राजा के पास लाया गया। राजा ने उससे कहा—"यदि तुम अपनी विद्या मुझे देने को तैयार हो तो तुम्हें छोड़ जा सकता है।" मातंग ने यह बात स्वीकार कर ली। मातंग खड़ा होकर राजा को विद्या देने लगा। लेकिन उसका कोई असर न हुआ। कारण पूछने पर मातंग ने उत्तर दिया—"महाराज, मैं जमीन पर हूँ और आप आसन पर विराजमान हैं, फिर भला विद्या सिद्ध कैसे हो सकती है ?"[1]

मुख्य विद्याओं में गौरी, गांधारी, रोहिणी और प्रज्ञप्ति[2] के नाम गिनाये गये हैं।[3] तालोद्घाटिनी (ताला खोलने की), अवस्वापिनी[4] (सुलाने वाली), अन्तर्धान (अदृश्य करने वाली), और मानसी विद्याओं का उल्लेख मिलता है।[5] व्यवहारभाष्य में सर्पविष के उपशमन के लिए दूती, आदर्श, वस्त्र,[6] अंतःपुरिकी, दर्भविषया, व्यंजनविषया,[7] तालवृन्त और चपेटी विद्याओं के नाम मिलते हैं।[8] आथर्वणी (आहव्वणी),[9] कालिंगी, पाकशासनी, वैताली,[10] कुहेड-

१. दशवैकालिकचूर्णी १, पृ० ४५। तुलना कीजिये धवक जातक (३०९), ३, पृ० १९७-८।

२. कथासरित्सागर में इसका उल्लेख है, मोनियर विलियम्स, संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी।

३. कल्पसूत्रटीका, ७ पृ० २०३।

४. देवानंदा ब्राह्मणी को अवस्वामिनी विद्या से सुलाकर हरिणेगमेषी ने महावीर का गर्भहरण किया था, कल्पसूत्र २,२७ पृ० ४४-अ। द्रौपदी का हरण भी इसी विद्या के द्वारा किया गया था, ज्ञातृधर्मकथा १६, पृ० १८६।

५. निशीथभाष्यटीका ३४७, ४०९।

६. मोनियर विलियम्स, संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९३२ के अनुसार यह वास्तुविद्या होना चाहिए।

७. व्यंजनहारिका का उल्लेख मार्कण्डेयपुराण में है, मोनियर विलियम्स, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी।

८. व्यवहारभाष्य ५. १३६-३८।

९. आथमण का उल्लेख सुत्तनिपात, तुवटकसुत्त ४. १४. १३ में मिलता है।

१०. सूत्रकृतांग २, २-१३, पृ० ३१७-अ।

विज्जा[1] आदि अनेक विद्याओं के उल्लेख हैं।[2] गर्दभी विद्या उज्जैनी के राजा गर्दभिल्ल को सिद्ध थी। जब यह गर्दभी शब्द करती तो जिसके कानों में उसका शब्द पड़ जाता, वह रुधिर वमन करता हुआ भय से विह्वल होकर गिर पड़ता।[3]

उच्छिष्ट विद्यायें

विद्याओं में कुछ विद्याओं को उच्छिष्ट भी कहा गया है। गौरी,[4] गांधारी[5] आदि विद्याएँ मातंगविद्या मानी गयी हैं।[6] सूत्रकृतांग में दामिली (द्राविडी), सोवागी[7] (श्वपाकी अथवा मातंगी), और सोवरी (शंबरी) विद्याओं का उल्लेख है।[8] प्रत्यनीक सार्थवाह के द्वारा जैन साधुओं को बहिष्कृत किये जाने का उल्लेख किया जा चुका है। ऐसी दशा में कहा है कि यदि कोई साधु शौच गया हुआ हो और शौच शुद्धि के लिए उसे प्राशुक जल न मिल सके तो उच्छिष्ट विद्या का जाप करके, मूत्र आदि द्वारा शौच-शुद्धि की जा सकती है। इसी प्रकार उत्कट शूल होने पर अथवा सर्पदंश होने पर प्राशुक जल आदि के अभाव में उच्छिष्ट मन्त्र या विद्या जपकर मूत्र (मोय=मोक) के आचमन द्वारा रोगी को अच्छा करने का विधान है।[9] सर्प का विष उतारने के लिये किनारीदार वस्त्र का उपयोग किया जाता था।[10]

विद्याधर

प्राचीन जैन साहित्य में विद्याधरों का स्थान महत्वपूर्ण बताया गया है[11]। विद्याधरों को खेचर (आकाशगामी) भी कहा है; वे अपनी

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र २०.४५।

२. तथा देखिए वसुदेवहिंडी, पृ० ७, १६४।

३. निशीथचूर्णी १०. २८६० की चूर्णी।

४. दिव्यावदान ३३, ६३६ इत्यादि में उल्लिखित।

५. इसका उल्लेख दीघनिकाय १, केवट्टसुत्त, पृ० १८४ तथा दिव्यावदान में मिलता है। इस विद्या की सहायता से मनुष्य अदृश्य हो सकता था।

६. बृहत्कल्पभाष्य १. २५०८।

७. भरतेश्वरबाहुबलिवृत्ति १, पृ० १३२-अ में उल्लेख है।

८. सूत्रकृतांग २, २. १३, पृ० ३१७-अ।

९. बृहत्कल्पभाष्य ५. ५९८२-८३।

१०. वही ३. ३९०७।

११. विद्याधरों का उल्लेख भरहुत के शिलालेखों (२०९) में मिलता है।

इच्छानुसार निर्मित श्रेष्ठ विमानों (वरविमान) में यात्रा किया करते थे। उन्हें प्रायः जैनधर्म के भक्तों के रूप में चित्रित किया गया है। जिन भगवन् की वन्दना के लिए नन्दीश्वर द्वीप अथवा अष्टापद (कैलाश) पर्वत की यात्रा करते हुए वे दिखायी देते हैं।[१] कितने ही विद्याधर श्रमण-दीक्षा ग्रहण करते हुए पाये जाते हैं।[२] विवाह के अवसर पर कुमारी कन्याओं का वे अपहरण कर लेते हैं।[३] वैताढ्य पर्वत विद्याधरों का मुख्य निवासस्थान बताया है।

कितने ही विद्याधर-राजाओं का उल्लेख जैन आगम-साहित्य में मिलता है।[४] कच्छ और महाकच्छ के पुत्र नमि और विनमि का ऋषभदेव ने अपने पुत्रों की भांति पालन-पोषण किया था। लेकिन जब ऋषभदेव दीक्षा ग्रहण करने को उद्यत हुए और उन्होंने अपने राज्य को अपने पुत्रों में बाँटा तो नमि और विनमि उस समय उपस्थित नहीं थे। बाद में जब वे ऋषभदेव के पास अपना हिस्सा मांगने पहुँचे तो कहते हैं कि धरण ने उन्हें बहुत-सी विद्याएं दीं, जिनमें महारोहिणी, पण्णत्ति, गौरी, विज्जुमुही, महाज्वाला, तिरक्खमणी और बहुरूवा मुख्य थीं। आगे चलकर वैताढ्य के उत्तर और दक्षिण में उन्होंने अनेक नगरों को बसाया।[५]

विद्याधर अर्धमानव जाति का राजा होता है; विद्याधरों को मंत्र विद्याओं का ज्ञान होता है, और वे हिमालय पर्वत के वासी होते हैं, हौर्नल, रीडिंग्स फ्रॉम द भरहुत स्तूप। धजविहेठ जातक (३९१), ३, पृ० ४५३ इत्यादि में उन्हें रात्रि के समय प्रेमालाप और मोहनी विद्या का प्रयोग करते हुए, तथा दिन में प्रायश्चित्त स्वरूप सूर्य की धूप में टांग उठाकर तप करते हुए दिखाया है। तथा तुलना कीजिए समुग्ग जातक (४३६), ३, पृ० १८७। वायुपुराण (६९) में मुख्यरूप से विद्याधरों के तीन गण बताये हैं, और इन्हीं से व्योमचारियों के अनेक गणों की उत्पत्ति हुई, भरहुत इंस्क्रिप्शन्स, पृ० ८९ इत्यादि; तथा मार्कण्डेयपुराण, पृ० ४०१–४।

१. उत्तराध्ययनटीका ९, पृ० १३७ अ; १३, पृ० १९६–अ।

२. वही ९, पृ० १३८।

३. वही ९, पृ० १३७–अ; १३, पृ० १८९–अ; १८, पृ० २३८।

४. देखिए वही, १८, पृ० २४१–अ; १८, पृ० २३८, १३, पृ० १९३–अ; ९, पृ० १३८; १८, पृ० २४७।

५. कल्पसूत्रटीका, पृ० २०३; वसुदेवहिण्डी, पृ० १६४; तथा पउमचरिय ३, १४४ आदि; ५. १३ आदि; आवश्यकचूर्णी, पृ० १६१ आदि।

जैन आगम-साहित्य के अध्ययन से पता लगता है कि विद्याधरों और मानवों के बीच सहानुभूतिपूर्ण सम्बन्ध थे; उनमें शादी-विवाह भी होते थे। राजा श्रेणिक की किसी विद्याधर से मित्रता थी, और श्रेणिक ने उससे अपनी बहन का विवाह किया था।[1] ब्रह्मदत्त,[2] सनत्कुमार[3] और महापद्म नामक[4] चक्रवर्तियों द्वारा भी विद्याधर-कन्याओं के साथ विवाह किये जाने का उल्लेख आता है। कहते हैं कि जब नट्टुमत्त नाम का विद्याधर किसी राजकुमारी के तेज को सहन न कर सका तो उसे विद्यानिर्मित प्रासाद में छोड़, वह वंश के कुंज में विद्या सिद्ध करने चला गया।[5] विद्याधर मनुष्यों की सेवा में उपस्थित रहते और संकट के समय उनकी सहायता करते थे।[6] कभी किसी बात को लेकर दोनों में युद्ध भी ठन जाता था।[7]

विद्याधर अनेक विद्याओं का प्रयोग करने में अत्यन्त कुशल थे। नट्टुमत्त विद्याधर का उल्लेख किया जा चुका है। वह अपनी विद्या के बल से पुप्पचूल राजा की कन्या को उठाकर ले गया था। नट्टुमत्त ने राजकुमारी को संकरी विद्या प्रदान करते हुए कहा—"यह विद्या पठित-सिद्ध है तथा स्मरणमात्र से सखी और दासी सहित उपस्थित होकर तुम्हारी आज्ञा का पालन करेगी। यह शत्रु को पास आने से रोकेगी और प्रश्न करने पर मेरी प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में तुम्हें सूचित करेगी।"[8] वैताली विद्या का भी ये लोग प्रयोग करते थे। कहते हैं कि इस विद्या के प्रभाव से अचेतन काष्ठ भी खड़ा हो जाता और चेतन वस्तु की भांति प्रवृत्ति करने लगता था। अशनिघोष विद्याधर अपनी कन्या सुतारा को इस विद्या के द्वारा हरण करके लाया था।[9] वेगवती विद्या भी अपहरण करने के काम में आती थी।[10]

१. आवश्यकचूर्णी २. पृ० १६०।
२. उत्तराध्ययनटीका १३, पृ० १९४।
३. वही, १८, पृ० २३७।
४. वही, पृ० २४७।
५. वही १३, पृ० १८९–अ।
६. वही १८, पृ० २३८–अ; तथा वसुदेवहिंडी, पृ० २४३।
७. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २३८–अ; १८, पृ० २४७–अ।
८. वही १३, पृ० १८९–अ।
९. वही १८, पृ० २४२–अ।
१०. वही १८, पृ० २४७।

जादू-टोना और झाड़-फूंक

जादू-टोना और झाड़-फूंक आदि का विधान मिलता है। लोग स्नान करने के पश्चात्, प्रायः कौतुक (काजल का तिलक आदि लगाना), मंगल (सरसों, दही, अक्षत, और दूर्वा आदि का उपयोग) और प्रायश्चित्त आदि किया करते थे।[1] प्राचीन सूत्रों में कौतुक, भूतिकर्म, प्रश्न, प्रश्नातिप्रश्न, लक्षण, व्यंजन और स्वप्न आदि का उल्लेख मिलता है।[2] कौतुक के नौ भेद बताये गये हैं—(१) विस्नपन—बालकों की रक्षा के लिए, अथवा स्त्रियों को सौभाग्यवती बनाने के लिए श्मशान अथवा चौराहों पर स्नान कराना, (२) होम—शान्ति के लिए अग्नि का होम करना, (३) शिरपरिरय—सिर (टीका में हाथ ?) को हिलाते हुए मंत्रपाठ करना, (४) क्षारदहन—व्याधि को शान्त करने के लिए अग्नि में नमक प्रक्षेपण करना, (५) धूप—अग्नि में धूप डालना, (६) असदृशवेषग्रहण—आर्य द्वारा अनार्य अथवा पुरुष द्वारा स्त्री का वेष धारण किया जाना, (७) अवयासन—वृक्ष आदि का आलिंगन करना, (८) अवत्तोभन—अनिष्ट की शान्ति के लिए थू-थू करना, (९) बंध—नजर से बचने के लिए ताबीज आदि बाधना।[3] शरीर की रक्षा के लिये अभिमंत्रित की हुई भस्म मलने अथवा डोरा आदि बाँधने को भूतिकर्म कहते हैं। कभी भस्म की जगह गीली मिट्टी का भी उपयोग किया जाता था। जैन श्रमण अपनी वसति, शरीर और उपकरण आदि की रक्षा के लिए, चोरों से बचने के लिए अथवा ज्वर आदि का स्तंभन करने के लिए भूति का उपयोग करते थे।[4] कहीं भूतिकर्म के पश्चात् नवजात शिशु के गले में रक्षापोटली (रक्खापोट्टलिय) बांधी जाती थी।[5] प्रश्न में अंगूठे, उच्छिष्ट (कंसार आदि जो खाने से बाकी रह गया

१. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० ८; कल्पसूत्र ४.६७।

२. निशीथसूत्र १३. १७-२७।

३. बृहत्कल्पभाष्य १.१३०९ और टीका; निशीथभाष्य १३, पृ० ३८३ आदि। व्यवहारभाष्य १, पृ० ११६-अ में कौतुक का अर्थ आश्चर्य किया गया है। इसके द्वारा कोई मायावी मुंह में लोहे के गोले रखकर उन्हें कानों से निकालता है। मह नाक और मुंह से अग्नि निकालता है। अथवा सौभाग्य आदि के लिए स्नान आदि करने को कौतुक कहा गया है।

४. बृहत्कल्पभाष्य १.१३१०।

५. आवश्यकचूर्णी, पृ० १४०। रक्षाविधि का वर्णन चरक, शारीरस्थान, १, ८.५१, पृ० ७२९ आदि में किया गया है।

हो), पट, दर्पण, खड्ग, जल, भित्ति अथवा बाहु आदि में अवतरित देवता से प्रश्न पूछा जाता था। प्रश्नातिप्रश्न में स्वप्न में अवतीर्ण विद्या द्वारा अथवा विद्या से अधिष्ठित देवता द्वारा प्रश्न का उत्तर दिया जाता था; अथवा डोम्बी (आइंखिणिया) के कुलदेवता घंटिक यक्ष द्वारा, प्रश्न का उत्तर कान में कहा जाता था। यह उत्तर वह डोम्बी दूसरों से कहती थी। निमित द्वारा भूत, भविष्य और वर्तमान में लाभ और हानि का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता था। चूड़ामणि निमित्तशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ था।[1] निमित्तोपजीवी कल्क (लोध्र आदि से जंघाओं का घिसना, अथवा शरीर पर लोध्र आदि का उबटन मलना),[2] कुरुकुचा (शरीर का प्रक्षालन),[3] लक्षण (स्त्री-पुरुषों के हस्त, पाद आदि के लक्षणों का कथन), व्यंजन (मसा, तिल आदि सम्बन्धी कथन), स्वप्न[4] (शुभ-अशुभ स्वप्न का फल), मूलकर्म (रोग की शान्ति के लिए कंदमूल अथवा गर्भादान और गर्भशातन के लिए औषधि आदि का उपदेश), तथा मंत्र और विद्या आदि द्वारा अपनी आजीविका चलते थे।[5]

विद्यासिद्धि

विद्या और मंत्र की सिद्धि के लिए अनेक जप-तप आदि करने पड़ते थे। इसके लिए कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी अथवा अष्टमी की रात को साधक लोग श्मशान में जाकर तप करते थे। कोई श्रावक श्मशान में जाकर खेचरी विद्या सिद्ध करना चाहता था। पहले तो उसने तीन पांव का छींका तैयार कर उसके नीचे खदिर वृक्ष का एक त्रिशूल गाड़कर आग जलायी। फिर, १०८ बार मंत्र का जाप कर छींके की एक-एक रस्सी काटता गया और इस विधि से उसने चार रस्सियां काटकर

---

१. बृहत्कल्पभाष्य १.१३११-१३; निशीथचूर्णी, वही।

२. व्यवहारभाष्य १, पृ० ११७; निशीथचूर्णी १३.४३४५ की चूर्णी।

३. नेमिचन्द्र के प्रवचनसारोद्धार में कक्कुरुका शब्द का अर्थ 'निहृत्या-शाठ्येन परेषां दंभनं' किया गया है।

४. यथातथ्य, प्रदान, चिन्ता, विपरीत और अव्यक्त नाम के स्वप्नों के लिए देखिये निशीथभाष्य १३.४३००।

५. निशीथचूर्णी १३.४३४५ की चूर्णी। यहां निमित्त से आजीविका चलाने वाले साधुओं को कुशील कहा है।

आकाशगामी विद्या सिद्ध की ।[1] सत्यकी का उल्लेख किया जा चुका है। महारोहिणी सिद्ध करने के लिए उसने श्मशान में जाकर किसी अनाथ मुर्दे की चिता में आग दी, और गीला चर्म ओढ़कर, बायें पैर के अंगूठे से तब तक चलता रहा जब तक कि चिता प्रज्वलित न हो गयी। सात रात्रियाँ व्यतीत हो जाने पर उसे विद्या सिद्ध हुई।[2] लक्षणयुक्त पुरुष को मारकर उसके शरीर से विद्या-मंत्र की सिद्धि की जाती थी।[3] नट्टुमत्त का उल्लेख आ चुका है। वह बांस के एक कुंज में अपने पैरों को ऊपर बांधकर, उल्टे लटक, धूम्रपान करता हुआ विद्या सिद्ध करने लगा।[4] राजा श्रेणिक जब तक सिंहासन पर बैठा रहा और मातंग भूमि पर खड़ा रहा, तब तक विद्या सिद्ध नहीं हुई। लेकिन राजा ज्यों ही अपना आसन छोड़कर मातंग के स्थान पर आया, और मातंग को उसने अपने स्थान पर बैठा दिया, तो विद्या सिद्ध होने में देर न लगी।[5] कहते हैं कि मिथ्या भाषण करने से विद्या की शक्ति नष्ट हो जाती थी।[6]

देव-आराधना

कार्य सिद्धि के लिए अलौकिक शक्ति सम्पन्न देवताओं की आराधना की जाती थी। राजा श्रेणिक की रानी का दोहद पूरा करने के लिए मंत्री अभयकुमार देव की आराधनार्थ पौषधशाला में गया। वहां पहुँचकर मणि, सुवर्ण, माला, चन्दन विलेपन, तथा क्षुरिका और मुशल आदि का त्यागकर, वह दर्भ के आसन पर आसीन हुआ, और अष्टम भक्त (तीन दिन का उपवास) पूर्वक देवता की आराधना करने लगा। कुछ समय पश्चात् देवता का आसन चलायमान हुआ और उसने फौरन ही राजगृह की ओर प्रस्थान किया। शीघ्र ही आकाश मेघों से आच्छन्न हो गया और वर्षा होने लगी। तत्पश्चात् रानी ने हाथी पर सवार होकर वैभार पर्वत के आसपास भ्रमण करते हुए अपना दोहद

१. निशीथचूर्णीपीठिका २४ की चूर्णी, पृ० १६।
२. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १७५।
३. आचारांगटीका १.६, पृ० ६५-अ।
४. उत्तराध्ययनटीका १३, पृ० १८९-अ।
५. दशवैकालिकचूर्णी पृ० ४५। तुलना कीजिए छवजातक (३०९), ३, पृ० १९८-९९ के साथ।
६. दशवैकालिकचूर्णी, पृ० १००। तुलना कीजिए अंबजातक (४७४), ४, पृ० ४०२ के साथ।

पूर्ण किया।[1] अवरकंका का राजा पद्मनाभ भी अपने किसी पूर्व संगिक देव की आराधना करने के लिए प्रौषधशाला में पहुँचा, और उसके सिद्ध हो जाने पर उसे द्रौपदी का अपहरण कर लाने को कहा। देव लवणसमुद्र से होकर सीधा हस्तिनापुर पहुँचा और अवस्वापिनी विद्या की सहायता से द्रौपदी को हर लाया।[2] द्रौपदी को अवरकंका से लौटा लाने के लिए कृष्ण-वासुदेव ने भी सुस्थित देव की आराधना की। उनका अष्टम भक्त समाप्त होने पर देव ने उपस्थित होकर आदेश मांगा। कृष्ण ने रथ द्वारा अवरकंका पहुँचने के लिए लवणसमुद्र का पुल बांधने का आदेश दिया।[3]

शुभाशुभ शकुन

जैनसूत्रों में अनेक शुभ-अशुभ शकुनों का उल्लेख मिलता है। यहाँ जगह-जगह स्नान, बलिकर्म, कौतुक, मंगल प्रायश्चित्त का उल्लेख है। जब लोग किसी मंदिर, साधु-संन्यासी, राजा या महान् पुरुष के दर्शनों के लिए जाते तो पहले स्नान करते, गृह-देवताओं को बलि देते, तिलक आदि लगाते, सरसों, दही, अक्षत और दूर्वा आदि ग्रहण करते और प्रायश्चित्त (पायच्छित्त, अथवा पादच्छुप्त = नेत्र रोग दूर करने के लिए पैरों में तेल लगाना) करते।[4] राजगृह के धन्य सार्थवाह की पत्नी भद्रा के सन्तान नहीं होती थी; वह स्नान करके आर्द्र वस्त्र पहन पुष्करिणी से निकली और नाग आदि देवताओं की आराधना करने चली।[5] सूर्योदय होने पर लोग दंतप्रक्षालन करते, फिर सिर में तेल लगा, बालों में कंघी (फणिह) कर, सरसों को सिर पर प्रक्षिप्त कर, हरताल लगा, तांबूल का भक्षण कर, तथा सुगंधित माला आदि धारण करके राजकुल, देवकुल, उद्यान, और सभा आदि के लिए प्रस्थान करते।[6]

अनेक वस्तुओं का दर्शन शुभ और अनेक का अशुभ माना गया है। उदाहरण के लिए, यदि बारह प्रकार के वाद्यों की ध्वनि एक साथ

---

१. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० १५ आदि।

२. वही १६, पृ० १८६।

३. वही पृ० १९०।

४. वही १, पृ० ८। महामंगल जातक (४५३), ४, पृ० २७८ में मैत्री भावना को मंगल बताया गया है।

५. ज्ञातृधर्मकथा २, पृ० ५०।

६. अनुयोगद्वारसूत्र १९, पृ० २१।

सुनाई दे (नन्दितूर्य), शंख और पटह का शब्द सुन पड़े, तथा पूर्ण कलश, भृंगार, छत्र, चमर, वाहन, यान, श्रमण, पुष्प, मोदक, दही, मत्स्य, घंटा और पताका का दर्शन हो तो उसे शुभ बताया है।[२] यद्यपि सामान्यतया श्रमणों के दर्शन को प्रशस्त कहा है,[३] लेकिन रक्तपट (बौद्ध), चरक (काणाद) और तापसों (सरजस्क) के दर्शन को अच्छा नहीं बताया। इसके सिवाय, रोगी, विकलांग, आतुर, वैद्य, काषाय वस्त्रधारी, धूलि से धूसरित, मलिन शरीर वाले, जीर्ण वस्त्रधारी, बायें हाथ से दाहिने हाथ की ओर जाने वाले स्नेहाभ्यक्त श्वान, कुब्जक और बौने, तथा गर्भवती नारी, वड्डकुमारी (बहुत समय तक जो कुंवारी हो), काष्ठभार को वहन करने वाले और कुचंधर (कूंचंधर) के दर्शन को अपशकुन कहा है; इनके दर्शन से उद्देश्य को सिद्धि नहीं होती।[४] यदि चक्रचर का दर्शन हो जाय तो बहुत भ्रमण करना पड़ता है, पांडुरंग का दर्शन हो तो भूखे मरना होता है, तच्चन्निक (बौद्ध साधु) का हो तो रुधिरपात होता है और बोटिकका दर्शन होने से निश्चय मरण ही समझना चाहिए। पाटलिपुत्र में राजा मुरुण्ड राज्य करता था। एक बार, उसने अपने दूत को पुरुषपुर भेजा। लेकिन वहां रक्तपट साधुओं को देख, उसने राजभवन में प्रवेश नहीं किया। एक दिन राजा के अमात्य ने उसे बताया कि यदि रक्तपट गली के भीतर या बाहर मिलें तो उन्हें अपशकुन नहीं समझना चाहिए।[५]

पक्षियों में जंबूक,[६] चास,[७] मयूर, भारद्वाज और नकुल शुभ

१. लेकिन चोर और किसान के लिए खाली घड़े को प्रशस्त कहा गया है, वृहत्कल्पभाष्यपीठिका १० टीका।

२. बृहत्कल्पभाष्य १.१५४९–५०; ओघनिर्युक्तिभाष्य १०८–११०।

३. लेकिन वाइल नामक वणिक् ने यात्रा के लिए प्रस्थान करते समय भगवान् महावीर के दर्शन को अमंगल सूचक ही माना, आवश्यकचूर्णी, पृ० ३२०।

४. बृहत्कल्पभाष्य १५४७–४८; ओघनिर्युक्तिभाष्य ८२–४।

५. बृहत्कल्पभाष्य १.२२९२–९३।

६. तुलना कीजिए आवश्यकचूर्णी २, पृ० १७९। तथा देखिए बृहत्संहिता के शिवारुत (८९ वां अध्याय), वायसविरुत (अध्याय ९४) और मृगचेष्टित (अध्याय ९०) नामक अध्याय।

७. जहां चास पक्षी बैठा हो वहां गृहनिर्माण करने से राजा को रत्नों की

माने गये हैं। यदि वे दक्षिण दिशा में दिखायी पड़ जायें तो सर्व सम्पत्ति का लाभ समझना चाहिए।[1] वृक्षों में पत्ररहित वबूल, कांटों वाले वृक्ष और झाड़ियां (जैसे वेर और वबूल आदि), बिजली गिरने से भग्न हुए वृक्ष, और कडुए रसवाले रोहिणी, कुटज और नीम आदि वृक्षों को अमनोज्ञ बताया है।[2] एक पोरी वाले दंड को शुभ, दो पोरी वाले को कलहकारक, तीन पोरी वाले को लाभदायक और चार पोरी वाले दंड को मृत्यु का हेतु बताया है।[3]

तिथि, करण और नक्षत्र

प्राचीन जैनसूत्रों में तिथि, करण और नक्षत्र का जगह-जगह उल्लेख आता है। लोग शुभ तिथि, करण और नक्षत्र देखकर ही किसी कार्य के लिए प्रस्थान करते थे।[4] यात्रा के अवसर पर इनका विशेषरूप से ध्यान रक्खा जाता था। चम्पा नगरी के अर्हन्नग आदि व्यापारियों का उल्लेख पहले आ चुका है। इन लोगों ने शुभ मुहूर्त में विपुल अशन, पान आदि तैयार कराकर अपने स्वजन-सम्बन्धियों को खिलाया और फिर बन्दरगाह के लिए रवाना हुये। शुभ शकुन ग्रहण करने के बाद सब लोग जहाज पर सवार हो गये। उस समय स्तुति-पाठक मंगल-वचनों का उच्चारण करने लगे, और पुण्य नक्षत्र में महा-विजय का मुहूर्त समझ, जहाज का लंगर खोल दिया गया।[5] जैन साधु भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर विहार करते समय तिथि, करण और नक्षत्र का विचार करते थे। गमन के लिए चतुर्थी, षष्ठी, अष्टमी, नवमी और द्वादशी को शुभ बताया है, और सन्ध्याकालीन नक्षत्र को वर्जित कहा है।[6]

प्राप्ति होती है, देखिये आवश्यकचूर्णी २, पृ० १७९। सर्प के भक्षण करने से पशु-पक्षियों की भाषाएँ समझ में आने लगती हैं, कथासरित्सागर, जिल्द २, अध्याय २०, पृ० १०८ फुटनोट।

१. ओघनिर्युक्तिभाष्य १०८ आदि।

२. व्यवहारभाष्य १, २ गाथा १२५-३०, पृ० ४० आदि।

३. उत्तराध्ययनटीका ९, पृ० १३३ अ।

४. पसत्थेसु निमित्तेसु पसत्थाणि समारभे।
अप्पसत्थनिमित्तेसु सव्वकज्जाणि वज्जए ॥—गणिविद्या ७५।

५. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० ९७ आदि।

६. व्यवहारभाष्य, वही।

शुभ-अशुभ दिशाएँ

दिशाओं को भी शुभ और अशुभ माना गया है।[1] तीर्थंकर पूर्व की ओर मुँह करके बैठते हैं। जब कोई व्यक्ति दीक्षा ग्रहण करने के लिए तीर्थंकर के पास पहुँचता तो उसे पूर्वाभिमुख ही बैठाया जाता। क्षत्रियकुमार जामालि को उसके माता-पिता ने सिंहासन पर पूर्व की ओर मुँह करके बैठाया था।[2] शव को जलाते समय भी दिशा का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक था। किसी साधु के कालगत हो जाने पर, उसके क्रिया-कर्म के वास्ते, सर्वप्रथम नैऋत दिशा देखनी चाहिए, नहीं तो फिर दक्षिण, पश्चिम, आग्नेय, वायव्य, पूर्व, उत्तर और उत्तर-पूर्व दिशा भी चुनी जा सकती है। मान्यता है कि नैऋत दिशा में शवस्थापन करने से साधुओं को प्रचुर अन्न, पान और वस्त्र का लाभ होता है। लेकिन नैऋत दिशा के होने पर यदि दक्षिण दिशा चुनी जाय तो अन्न और पान प्राप्त नहीं होते, पश्चिम दिशा चुनी जाय तो उपकरण नहीं मिलते, आग्नेयी चुनी जाय तो साधुओं में परस्पर कलह होने लगती है, वायव्य चुनी जाय तो संयत, गृहस्थ तथा अन्य तीर्थिकों के साथ खटपट की सम्भावना है, पूर्व दिशा को पसन्द करने से गण या चारित्र में भेद हो जाता है, उत्तर दिशा को पसन्द करने से रोग हो जाता है, और उत्तर-पूर्व दिशा को पसन्द करने से दूसरे साधु के मरण की संभावना रहती है।[3] उत्तर और पूर्व दिशाओं को लोक में पूज्य कहा गया है, अतएव शौच के समय इन दिशाओं की ओर पीठ करके नहीं बैठना चाहिये।[4]

शुभाशुभ विचार

साधु के कालगत होने पर शुभ नक्षत्र में ही उसे ले जाने का विधान है। नक्षत्र देखने पर यदि सार्धक्षेत्र (४५ मुहूर्त भोग्य) हो तो डाभ के दो पुतले बनाने चाहिए, अन्यथा अन्य दो साधुओं का अपकर्षण होता है। यदि समक्षेत्र (३० मुहूर्त भोग्य) हो तो एक ही पुतला बनाना चाहिए और यदि अपार्ध-क्षेत्र (१५ मुहूर्त भोग्य) हो

---

१. दिसापोक्खी सम्प्रदाय के अस्तित्व से भी दिशाओं का महत्व सूचित होता है।

२. व्याख्याप्रज्ञप्ति ९.६।

३. बृहत्कल्पभाष्य ४.५५०५ आदि; तथा भगवती आराधना १९७०आदि।

४. बृहत्कल्पभाष्यपीठिका ४५६–५७।

तो एक भी पुतला बनाने की आवश्यकता नहीं।[1] इसके अतिरिक्त जिस दिशा में शव स्थापित किया गया हो, वहाँ गीदड़ आदि द्वारा खींचकर ले जाये जाने पर भी, यदि शव अक्षत रहता है तो उस दिशा में सुभिक्ष और सुख-विहार होता है। जितने दिन जिस दिशा में शव अक्षत रहे, उतने ही वर्ष तक उस दिशा में सुभिक्ष रहने और परचक्र के उपद्रव का अभाव बताया है। यदि कदाचित् शव क्षत हो जाये तो दुर्भिक्ष आदि की संभावना है।[2]

किसी साधु के रुग्ण हो जाने पर यदि अन्य साधुओं को वैद्य के घर जाना पड़े तो उस समय भी शकुन विचार कर प्रस्थान करने का विधान है। उदाहरण के लिए, वैद्य के पास अकेले, दुकेले या चार की संख्या में न जाये, तीन या पाँच की संख्या में ही गमन करना चाहिये। यदि चलते समय द्वार में सिर लग जाये और साधु गिर पड़े, या जाते समय कोई टोक दे, या कोई छींक दे तो इसे अपशकुन समझना चाहिये।[3]

स्वाध्यायसम्बन्धी शकुन

साधुओं के स्वाध्याय के सम्बन्ध में भी अनेक विधान हैं। पूर्व संध्या, अपर संध्या, अपराह्न और अर्धरात्रि में स्वाध्याय करने का निषेध है। संध्या के समय स्वाध्याय करने से गुह्यकों से ठगे जाने का भय बताया गया है।[4] चार महामह और चार महाप्रतिपदाओं के दिन स्वाध्याय का निषेध किया है।[5] यदि कुहरा पड़ रहा हो अथवा धूल, मांस, रुधिर, केश, ओले आदि की वर्षा हो रही हो, भूकम्प आया हो, चन्द्र या सूर्य ग्रहण लग रहा हो, बिजली चमक रही हो, लुका (उल्का) गिर रही हो, सन्ध्याप्रभा और चन्द्रप्रभा मिलकर एक हो गयी हो (जूवग), मेघगर्जन की ध्वनि सुनायी पड़ रही हो, दो सेनापतियों, ग्राम-महत्तरों, स्त्रियों और पहलवानों (मल्ल) में युद्ध हो रहा हो, राज्य पर बोधिक चोरों का आक्रमण हुआ हो तो ऐसी दशा में स्वाध्याय का निषेध है।[6] इसी प्रकार यदि वसति में मांस

---

१. बृहत्कल्पभाष्य ४.५५२७।

२. वही ४.५५५४–५६।

३. वही १.१९२१–२४।

४. निशीथसूत्र १९.८; भाष्य १९.६०५४–५५।

५. वही १९.११–१२।

६. निशीथभाष्य १९.६०७९–६०९५; आवश्यकचूर्णी २, पृ० २१८ आदि।

पड़ा हो, बिल्ली चूहे को मारकर डाल गयी हो, अंडा फूटकर गिर गया हो, मांस से लिप्त श्वान वसति के पास आ बैठा हो, टूटा हुआ दांत पड़ा हुआ हो, अथवा मातंगों के आडम्बर यक्ष के नीचे किसी हाल में ही मरे हुए की हड्डियां गाड़ी गयी हों, तो स्वाध्याय न करे।[1]

वस्त्रसम्बन्धी शकुन

साधुओं के वस्त्रों के सम्बन्ध में भी बहुत से विधान हैं। यदि वस्त्र के चारों कोने अंजन, खंजन (दीपमल=काजल) और कीचड़ आदि से युक्त हों तो उसे लाभकारी बताया है। यदि वस्त्र को चूहों ने खा लिया हो, अग्नि से वह जल गया हो, धोबी के कूटने-पीटने से उसमें छेद हो गया हो, अति जीर्ण होने से वह फट गया हो तो उसे शुभ और अशुभ परिणाम वाला कहा गया है।[2]

अन्य शुभाशुभ शकुन

अन्य भी अनेक प्रकार के शुभ और अशुभ शकुनों का प्रचार तत्कालीन समाज में था। उदाहरण के लिए, किसी महोत्सव आदि में आते समय जैन श्रमण का दर्शन अमंगल-सूचक माना जाता था।[3] कभी ध्यान में अवस्थित नग्न साधुओं को देखकर कर्मकर लोग मजाक में कहते—"आज तो दर्पण के देखने से हमारा मुख ही पवित्र हो गया है!" या फिर सुबह ही सुबह उन्हें देखकर कुछ लोग आपस में बातचीत करते—"आज तो प्रभात में ही हम लोगों को दर्पण के दर्शन हुए हैं, फिर हमें सुख कहां नसीब हो सकता है?"[4] लेकिन श्रद्धालु भक्तगण उन्हें अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखते और नूतन गृह आदि में उनका प्रवेश कराकर अपना अहोभाग्य समझते।[5]

राजा लोग पापनाशन के लिए पुरोहितों को नियुक्त करते थे। सूतक और पातक दस दिन चलते थे।[6] सिंधु देश में अग्नि को और

---

१. निशीथभाष्य ६१००–६११२। अनध्याय के लिये देखिये याज्ञवल्क्य स्मृति १.१४४–५३।

२. बृहत्कल्पभाष्य १.२८३०–३१। शार्पेण्टियर, उत्तराध्ययन सूत्र, पृ० ३३६। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता के ७० वें अध्याय में वस्त्रच्छेदलक्षण का कथन किया है। तथा देखिए मंगल जातक (८७), १, पृ० ४८५ आदि।

३. बृहत्कल्पभाष्य १.१४५१।

४. वही १.२६३६।

५. वही १.१६७९।

६. व्यवहारभाष्यटीका १८।

लाट देश में रस्सी के जलने को शुभ माना जाता था।[1] नूतन गृह में कबूतरों का प्रवेश अमंगलक सूचक समझा जाता था।[2] नवजात शिशु को कूड़ी पर डालना, या उसे गाड़ी के नीचे रख देना उसकी दीर्घायु का कारण समझा जाता था।[3] मेघकुमार की माता ने अपने पुत्र के निष्क्रमण महोत्सव के अवसर पर उसके अग्र केशों को एकत्रित कर एक श्वेत वस्त्र में बांध, उसे अपने रत्नों की पिटारी में रखकर एक मंजूषा में रख दिया। अनेक त्योहारों और उत्सवों के अवसर पर इन्हें देख-देख कर वह अपने पुत्र को याद किया करती थी।[4] लोगों का विश्वास था कि सुवर्ण रस के पान करने से दरिद्रता दूर हो जाती है।[5]

आमोद-प्रमोद और मनोरंजन

प्राचीन भारत के निवासी अनेक प्रकार से आमोद-प्रमोद और मनबहलाव किया करते थे। मह, छण (क्षण), उत्सव, यज्ञ, पर्व, पर्वणी, गोष्ठी, प्रमोद और संखडि आदि ऐसे कितने ही उत्सव और त्यौहार थे जबकि लोग जी-भरकर आनन्द मंगल मनाते थे। क्षण निश्चित समय के लिए होता, और उस दिन पकवान तैयार किया जाता था, जबकि उत्सव का समय कोई निश्चित नहीं था और उस दिन कोई विशेष भोजन बनाया जाता था। नामकरण, चूडाकरण और पाणिग्रहण आदि को उत्सव में ही सम्मिलित किया गया है।[6]

खेल-खिलौने

छोटे बालक और बालिकाओं के लिए अनेक खेल-खिलौनों का उल्लेख आता है। खुल्लय (कपर्दक = एक प्रकार की कौड़ी), वट्टय

---

१. आवश्यकटीका, पृ० ५-अ।

२. व्यवहारभाष्य ७.४८। तथा देखिए ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑव पञ्जाब एण्ड नौर्थ वैस्टर्न प्रोविन्स, जिल्द १, पृ० २२३ आदि।

३. देखिए पीछे, पृ० २४१।

४. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० ३०।

५. निशीथचूर्णी १०.२७९२, पृ० ४३।

६. बृहत्कल्पभाष्यवृत्तिपीठिका ६४४। वात्स्यायन ने कामसूत्र में पाँच प्रकार के उत्सवों का उल्लेख किया है—विविध देवताओं सम्बन्धी उत्सव (समाज, यात्रा और घट), स्त्री-पुरुषों की गोष्ठियाँ, आपानक, उद्यान-यात्रा और समस्याक्रीड़ा, सूत्र २६, पृ० ४४।

(वर्तक=लाख की गोली), अंडोलिया (गिल्ली), तिन्दूस (गेंद), पोत्तुल्ल (गुड़िया), और साडोल्लय (शाटक=वस्त्र) का उल्लेख मिलता है।[१] इसके अतिरिक्त शरपात (धनुष), गोरहग (बैल), घटिक (छोटा घड़ा), डिंडिम और चेलगोल (कपड़े की गेंद) के नाम आते हैं।[२] हाथी, घोड़ा रथ और बैल के खिलौनों से भी बच्चे खेला करते थे।[३]

क्रीडा-उद्यान

प्रौढ़ों के क्रीड़ा करने के लिए अनेक उद्यान और आराम आदि होते थे। उद्यान में विट लोग विविध प्रकार के वस्त्र आदि धारण कर, हस्त आदि के अभिनयपूर्वक शृंगार-काव्य का पठन करते, तथा सुन्दर वस्त्र और आभूषणों से अलंकृत स्त्री और पुरुष वहां क्रीड़ा करने जाते। श्रेष्ठीपुत्र वहां अपने-अपने अश्वों, रथों, गोरथों, युग्यों और डगणों (यान विशेष) पर आरूढ़ होकर इतस्ततः भ्रमण किया करते।[४] राजाओं के उद्यान अलग होते और वे अपने अन्तःपुर की रानियों को साथ लेकर क्रीड़ा के लिए वहाँ जाते।[५] आराम में दंपति आदि माधवीलता के गृहों में क्रीड़ा किया करते थे।[६] चम्पा के दो व्यापारियों का उल्लेख किया जा चुका है। वे देवदत्ता नाम की वेश्या के साथ सुभूमिभाग उद्यान में आकर आनन्दपूर्वक विहार करने लगे। राजा अपनी रानियों के साथ पाँसों (वुकाण्णय) से खेलते।[७] खोटे पासों से जूआ खेलते थे।[८] अष्टापद का उल्लेख मिलता है।[९] इसके

१. ज्ञातृधर्मकथा १८, पृ० २०७।

२. सूत्रकृतांग ४.२.१३ आदि। आवश्यकचूर्णी पृ० २४६ में सुंकलिकडय नाम की क्रीड़ा का उल्लेख है। महावीर यह खेल बालकों के साथ खेल रहे थे। अन्य आमोद-प्रमोदों के लिए देखिए दीघनिकाय १, ब्रह्मजालसुत्त, पृ० ८; चूलवग्ग १.३.२१ पृ० २०; सुमंगलविलासिनी, १, पृ० ८४ आदि।

३. आवश्यकचूर्णी पृ० ३९२।

४. बृहत्कल्पभाष्य १.३१७०–७१।

५. पिंडनिर्युक्ति २१४–१५।

६. राजप्रश्नीयटीका, पृ० ५।

७. निशीथचूर्णीपीठिका २५।

८. आवश्यकचूर्णी पृ० ५६५।

९. निशीथसूत्र १३.१२।

अतिरिक्त, लोग नदीमह, तडागमह, वृक्षमह, चैत्यमह, पर्वतमह, गिरियात्रा, कूपमह, वृक्षारोपणमह, चैत्यमह और स्तूपमह के उत्सवों में सम्मिलित होकर आनन्द मनाते थे।[1]

पर्व और उत्सव

जैनसूत्रों में अनेक उत्सवों और पर्वों के उल्लेख मिलते हैं। पुणमासिणी (पौर्णमासी) का उत्सव कार्तिक पूर्णमासी के दिन मनाया जाता था। इसे कौमदी-महोत्सव भी कहते थे। उत्सव में जाते समय यदि कदाचित् जैन श्रमणों के दर्शन हो जाते तो लोग अमंगल ही समझते।[2] सूर्यास्त के बाद, स्त्री-पुरुष किसी उद्यान आदि में जाकर रात व्यतीत करते।[3] मदनत्रयोदशी के दिन कामदेव की पूजा की जाती।[4] उज्जाणिया-महोत्सव के अवसर पर नगर के नर-नारी मत्त होकर विविध प्रकार से क्रीड़ा करते थे। एक बार यह उत्सव सिंधुनंदन नगर में मनाया जा रहा था। उस समय नर-नारियों का कोलाहल सुनकर राजा का प्रधान हस्ती अपने महावत को मारकर जुलूस की भीड़ में आ घुसा।[5] इन्द्र, स्कंद, यक्ष और भूतमह ये चार महाउत्सव माने गये हैं। इन महोत्सवों पर लोग विविध प्रकार के अशन-पान का उपभोग करते हुए आमोद-प्रमोद में अपना समय व्यतीत करते थे।[6] मथुरा के लोग भंडीर यक्ष की यात्रा के लिए जाते थे।[7] बहुमिलक्खमह

---

१. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० २३; जीवाभिगम ३, पृ० १५१–अ। निशीथसूत्र १२.१९ में ग्राम, नगर, खेड, कब्बड, मडंब, द्रोणमुह, पट्टण, आगार, संवाह और सन्निवेसमह का उल्लेख है। पर्वतपूजा का अर्थशास्त्र, ४.३.७८.४४, पृ० ११४ में उल्लेख है। नदी और वृक्ष पूजा के लिए देखिए रोज़ का ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑव द पञ्जाब एण्ड नौर्थ-वैस्टर्न प्रॉविन्स, जिल्द १, पृ० १३४ आदि।

२. बृहत्कल्पभाष्य १.१४५१। तथा देखिए वट्टक जातक (११८), १, पृ० ३३ आदि।

३. सूत्रकृतांगटीका २.७५, पृ० ४१३। देखिए चकलदार, कामसूत्र, पृ० १७०।

४. ज्ञातृधर्मकथाटीका २, पृ० ८०–अ।

५. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २४६–अ।

६. निशीथसूत्र १९.११।

७. आवश्यकचूर्णी, पृ० २८१।

(बहुम्लेच्छमह) में अनेक म्लेच्छ इकट्ठे होते थे।[1] श्रावस्ती में दासियों का त्यौहार मनाया जाता था जिसे दासीमह कहते थे।[2] थाणुप्पाइय (स्थानौत्पातिक) नामक मह अचानक किसी अतिथि के आ जाने पर मनाया जाता था।[3] इट्टगा (सेवकिकाक्षण-टीका) सेवइयों का त्यौहार था,[4] जिसकी तुलना उत्तर भारत के रक्षाबंधन या सलूनों से की जा सकती है। खेत में हल चलाते समय सीता (हलपद्धतिदेवता=हल से पड़ने वाली रेखायें) की पूजा की जाती थी। इस अवसर पर भात आदि पका कर यतियों को दिया जाता था।[5]

पुत्रोत्सव

पुत्रोत्पत्ति का उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था। यह दस दिन चलता था और इस बीच में कर आदि वसूल करने के लिए कोई राज-कर्मचारी किसी के घर में प्रवेश नहीं कर सकता था।[6] श्रावस्ती के राजा रुप्पी की कन्या सुबाहु द्वारा चाउम्मासियमज्जणय (चातुर्मासिक-मज्जनक) मनाने का उल्लेख मिलता है। इस अवसर पर राजमार्ग पर एक पुष्पमंडप बनाकर उसे पुष्प-मालाओं से शोभित श्रीदामगंड (मालाओं का समूह) द्वारा अलंकृत किया गया। विविध प्रकार के पंचरंगी तंदुलों से नगर को सजाया गया। पुष्पमंडप के बीचों बीच एक पट्ट स्थापित किया गया। तत्पश्चात् राजकुमारी को पट्ट पर बैठाकर श्वेत-पीत कलशों से उसका अभिषेक किया गया।[7] संवच्छरपडिलेहण (संवत्सर-प्रतिलेखन) एक प्रकार का जन्मदिन था जो प्रतिवर्ष मनाया जाता था। मिथिला के राजा कुंभक की कन्या मल्लिकुमारी का जन्मदिन बहुत धूमधाम से मनाया गया था।[8] पुरिमताल के राजा महाबल को कूटागारशाला के तैयार हो जाने पर नगर में दस दिन का

१. निशीथचूर्णी १२.४१३९ की चूर्णी।
२. उत्तराध्ययनटीका ८, पृ० १२४।
३. बृहत्कल्पभाष्य १.१८१४।
४. पिंडनिर्युक्ति ३६६; निशीथचूर्णी १३.४४४३।
५. बृहत्कल्पभाष्य २.३६४७।
६. देखिए पीछे, पृ० २४२।
७. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० १०२।
८. वही ८, पृ० ९६।

प्रमोद घोषित किया गया। इस अवसर पर प्रजा का कर माफ कर दिया गया और सब लोग हर्षातिरेक से झूमने लगे।[1]

पर्यूषण आदि पर्व

धार्मिक उत्सवों में पज्जोसण[2] (पर्यूषण) पर्व का सबसे अधिक महत्व था। यह पर्व पूर्णिमा, पंचमी और दसमी आदि पर्व के दिनों में मनाया जाता था। लेकिन आर्यकालक के समय से यह पचमी के स्थान पर चतुर्थी को मनाया जाने लगा। एक बार, कालक उज्जैनी से निर्वासित होकर प्रतिष्ठान पधारे। राजा सातवाहन ने बहुत ठाठ के साथ उनका स्वागत किया। कालक ने भाद्रसुदी पंचमी को पर्यूषण मनाये जाने की घोषणा की। लेकिन राज्य की ओर से यह तिथि इन्द्र-महोत्सव के लिए निश्चित की जा चुकी थी। इस पर युगप्रधान आर्य-कालक ने पंचमी को बदल कर चतुर्थी कर दी, और तबसे चतुर्थी को ही पर्यूषण मनाया जाने लगा। महाराष्ट्र में यह पर्व श्रमणपूजा (समणपूय) के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[3] जैनधर्म के महान् प्रचारक कहे जाने वाले राजा सम्प्रति के समय अनुयान (रथयात्रा) महोत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता था। इस अवसर पर सम्प्रति स्वयं अपने भट और भोजिकों को लेकर रथ के साथ-साथ चलता और रथ पर विविध वस्त्र, फल और कौड़ियाँ चढ़ाता।[4]

घरेलू त्योहार

अनेक घरेलू त्योहार भी मनाये जाते थे। विवाह के पूर्व तांबूल आदि प्रदान करने को आवाह कहा गया है।[5] विवाह के पश्चात् वर के घर प्रवेश कर, वधू के भोजन करने को आहेणग कहते हैं। कुछ समय वर के घर रहने के पश्चात् जब वह अपने पिता के घर लौटती

१. विपाकसूत्र ३, पृ० २७।

२. इसे परियायवत्थणा, पज्जोसवणा, परिवसणा, पज्जुसणा, वासावास, पदमसमोसरण, टवणा और जेट्ठोग्गह नाम से भी कहा गया है, निशीथभाष्य १०.३१३८–३९।

३. निशीथचूर्णी १०.३१५३ की चूर्णी, पृ० १३१।

४. बृहत्कल्पभाष्य १.३२८५।

५ जीवाभिगम ३, पृ० २८०-अ; बृहत्कल्पभाष्य ३.४७१६। रियदसि के ९ वें आदेशपत्र में पुत्र के विवाह को अवाह और कन्या के विवाह को विवाह कहा गया है; तथा दीघनिकाय १, अंबट्ठसुत्त, पृ० ८६।

है तो उसे पहेणग कहते हैं। प्रति मास मृतक के लिए दिये जाते हुए भोजन को हिंगोल अथवा करडुयभक्त कहा है।[१] पिंडणिगर में पिता का श्राद्ध किया जाता था।[२] देवताओं को अर्पित किये जाने वाले अन्न को निवेदनापिंड कहा है।[३] जैन परम्परा के अनुसार, राजा श्रेणिक के समय से इसका चलन आरम्भ हुआ था।[४] सम्मेल अथवा गोष्ठी में अपने सम्बन्धियों और मित्रों को भोजन के लिए निमंत्रित किया जाता था। इस समय गांव के अनेक लोग इकट्ठे होते, तथा भोजन आदि करते।[५] गोष्ठियों को राजा की ओर से परवाना मिला रहता था और गोष्ठी के सदस्य माता-पिता की परवा न कर अवारागर्दी में घूमा करते थे।[६] गोष्ठी में महत्तर, अनुमहत्तर, ललितासनिक, कटुक (दंड का निर्णायक) और दंडपति का प्रमुख स्थान रहता था।[७] पाणागार (मद्यशाला) और द्यूतगृह में लोग मद्यपान करते और जूआ खेलते थे। उज्जाणिया का त्योहार उद्यान में जाकर मनाया जाता था।[८]

संखडि (भोज)

संखडि[९] अथवा भोज[१०] एक महत्वपूर्ण त्योहार था। अधिक संख्या में जीवों की हत्या होने के कारण[११] इसे संखडि कहते थे। यह त्योहार एक दिन (एगदिवसम्) अथवा अनेक दिनों (अणेगदिवसम्) तक मनाया जाता था। अनेक पुरुष मिलकर एक दिन को अथवा

---

१. आचारांग २, १.३.२४५, पृ० ३०४; निशीथसूत्र ११.८० की चूर्णी।

२. निशीथसूत्र ८.१४ की चूर्णी। पितृपिंडनिवेदना का उल्लेख आवश्यकचूर्णी २, पृ० १७२ में मिलता है।

३. निशीथसूत्र ११.८१।

४. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १७२।

५. निशीथसूत्र ११.८० की चूर्णी; आचारांग, वही।

६. ज्ञातृधर्मकथा १६, पृ० १७४।

७. बृहत्कल्पभाष्य ३.३५७४-७६।

८. निशीथचूर्णी ८, पृ० ४३३; आवश्यकचूर्णी पृ० २९५।

९. पालि में संखति कहा गया है, मज्झिमनिकाय २,१६ पृ० १३१।

१०. भोज्जं ति वा संखडित्ति वा एगट्ठं, बृहत्कल्पभाष्य १.३१७९ की चूर्णी।

११. संखडिज्जंति जहिं आउणि जियाण, बृहत्कल्पभाष्य १.३१४०; तथा निशीथसूत्र ३.१४ की चूर्णी; आचारांग २,१.२, पृ० २९८—अ-३०४।

अनेक दिन की संखडि करते थे।[1] सूर्य के पूर्व दिशा में रहने के काल में पुरः संखडि और सूर्य के पश्चिम दिशा में रहने के काल में पश्चात् संखडि मनायी जाती थी। अथवा विवक्षित ग्राम आदि के पास पूर्व दिशा में मनाये जाने वाले उत्सव को पुरःसंखडि और पश्चिम दिशा में मनाये जाने वाले उत्सव को पश्चिम संखडि कहा जाता था।[2]

यावन्तिका, प्रगणिता, क्षेत्राभ्यंतरवर्तिनो आदि के भेद से संखडि कई प्रकार की बतायी गयी है। यावन्तिका में तटिक (कार्पटिक) आदि से लेकर चांडाल तक समस्त भिक्षुओं को भोजन मिलने की व्यवस्था होती थी। प्रगणिता में शाक्यों, परिव्राजकों और श्वेतपटों की जाति अथवा नाम से गणना करके उन्हें भिक्षा दी जाती थी। सक्रोश (कोस) योजन के भीतर मनायी जानेवाली संखडि को क्षेत्राभ्यंतर-वर्तिनी, और उसके बाहर मनायी जानेवाली को क्षेत्रबहिर्वर्तिनी संखडि कहा है। चरक, परिव्राजक और कार्पटिक आदि साधुओं से व्याप्त संखडि को आकीर्ण कहा गया है। इसमें बहुत धक्का-मुक्की होने से हाथ, पैर अथवा पात्र आदि के भंग होने का डर रहता था। पृथ्वी-कायिक और जलकायिक आदि जीवों के कारण मार्ग शुद्ध नहीं रहता, इसलिए इसे अविशुद्धपंथगमना संखडि कहा गया है। प्रत्यपाय संखडि में चोर, श्वापद आदि से व्याघात होने का भय रहता है। इसमें प्रमत्त हुई चरिका और तापसी आदि भिक्षुणियों द्वारा ब्रह्मचर्य भंग होने की शंका बनी रहती है।[3]

संखडियां अनेक स्थानों पर मनायी जाती थीं। तोसलि देश के शैलपुर नगर में ऋषितडाग नामक तालाब के किनारे लोग प्रतिवर्ष आठ दिन तक संखडि मनाते थे।[4] भृगुकच्छ के पास कुण्डलमेण्ठ नाम के व्यंतर देव की यात्रा के समय, प्रभास तीर्थ पर और अर्बुदाचल (आबू) पर भी संखडि मनाने का रिवाज था। आनंदपुर के निवासी सरस्वती नदी के पूर्वाभिमुख प्रवाह के पास शरद् ऋतु में यह त्यौहार मनाते थे।[5] गिरियज्ञ आदि[*] में सायंकाल में मनायी जानेवाली

१. बृहत्कल्पभाष्य १.३१४१-४२।

२. वही १.३१४३।

३. वही १.३१८४-८६; निशीथभाष्य ३.१४७२-७७।

४. बृहत्कल्पभाष्य १.३१५०।

५. लाट देश में इसे वर्षा ऋतु में मनाते थे, बृहत्कल्पभाष्य १.२८५५।

संखडि में रात्रि को भोजन किया जाता था और प्रातःकाल सूर्योदय के समय दुग्धपान आदि का रिवाज था।[1] उज्जयंत (गिरनार), ज्ञातृखंड और सिद्धशिला आदि सम्यक्त्व-भावित तीर्थों पर प्रतिवर्ष संखडि मनायी जाती थी।[2] शय्यातर (गृहस्वामी) की देवकुलिका के[3] और नये घर के व्यंतर को प्रसन्न करने के लिए भी संखडि मनायी जाती थी।[4]

जैन श्रमणों को यथासंभव संखडियों में जाने का निषेध है। कारण कि संखडि का नाम सुनकर शाक्य, भौत और भागवत आदि परतीर्थिक संखडि में सम्मिलित होते हैं और उनके साथ वाद-विवाद होने की आशंका रहती है।[5] इसके अतिरिक्त, प्रत्यनीक उपासक कभी श्रमणों के भोजन में विष आदि मिश्रित कर देते हैं। कभी ब्राह्मण संखडि के स्वामी से नाराज होकर भोजन नहीं करते, अथवा उत्कृष्ट द्रव्य श्रमणों को पहले क्यों दिया गया, यह सोचकर घर में आग लगा देते हैं, या किसी श्रमण पर गुस्सा होकर उसे मार डालते हैं। यह भी संभव है कि संखडि का स्वामी पहले ब्राह्मणों को भोजन कराकर बाद में श्रमणों को दे।[6] संखडि में उपस्थित जैन श्रमणों को देखकर लोग यह भी कह देते हैं कि रूक्ष भोजन से ऊबकर अब ये यहां आये हैं और उससे प्रवचन का उपहास होता है।[7] संखडि के समय कुत्तों द्वारा भोजन अपहरण किये जाने की और चोरों के उपद्रव की आशंका रहती है। ऐसे अवसरों पर उन्मत्त हुए विट लोग विविध प्रकार के वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो, अनेक अभिनयों से पूर्ण शृंगाररस के काव्य पढ़ते हैं, और मत्त हुए स्त्री-पुरुष विविध प्रकार की क्रीड़ाएं करते हैं।[8] संखडि में सम्मिलित होने के लिए लोग दूर-दूर से आते हैं और बहुत-सा

आदि शब्द से कूप, तडाग, नाग, गण और यक्ष सम्बन्धी यक्ष-संखडी समझना चाहिए, निशीथचूर्णी ११.३४०२ की चूर्णी।

१. बृहत्कल्पभाष्य ४.४८८१। तुलना कीजिए महाभारत २.५१.२२; हरिवंशपुराण २.१७.११ आदि।

२. बृहत्कल्पभाष्य १.३१९२।

३. वही २.३५८६।

४. वही ३.४७६९।

५. वही १.३१६०।

६. निशीथभाष्य ३.१४८० की चूर्णी।

७. बृहत्कल्पभाष्य १.३१५६।

८. वही १.३१६८-७०।

भोजन कर वमन कर देते हैं और विकाल में सोते रहते ।[1] अतएव ग्लान आदि अपवाद अवस्था में ही जैन साधुओं को संखडियों में सम्मिलित होने का विधान है। मांसप्रचुर संखडि में मांस को काट-काट कर सुखाया जाता है ।[2]

मल्लयुद्ध

मल्लयुद्ध, कुक्कुटयुद्ध, अश्वयुद्ध आदि कितने ही युद्धों का उल्लेख जैनसूत्रों में आता है जिससे पता लगता है कि लोग युद्धों के द्वारा भी अपना मनोरंजन किया करते थे। अट्टिय और पव्वट्टिय आदि के द्वारा मल्लयुद्ध किया जाता था।[3] मल्लयुद्ध के लिए राजा लोग अपने-अपने मल्ल रखते थे। सिंहगिरि सोप्पारय (शूर्पारक=नाला सोपारा, जिला ठाणा) का राजा था, जो विजयी मल्लों को बहुत-सा धन देकर प्रोत्साहित किया करता था। उज्जैनी का अट्टण नाम का मल्ल प्रतिवर्ष शूर्पारक पहुंचकर पताका जीत कर ले जाता था। सिंहगिरि को वह अच्छा न लगा। उसने एक मछुए को मल्लयुद्ध सिखाकर तैयार किया। अब की बार अट्टण फिर आया लेकिन वह पराजित हो गया। वह सौराष्ट्र के भरुकच्छहरणी नामक गांव में पहुंचा और वहां उसने वमन-विरेचन आदि देकर एक किसान को मल्लयुद्ध की शिक्षा दी। इसका नाम रक्खा गया फलहिय (कपास वाला) मल्ल। अब की बार अट्टण फलहिय को लेकर शूर्पारक पहुंचा। फलहिय और मच्छिअ (मछुआ) में युद्ध होने लगा। पहले दिन दोनों बराबर रहे। फलहिय के जहां-जहां दुखन हो गयी थी, वहां मालिश और सेक की गयी। मच्छिय के पास राजा ने अपने संमर्दकों को भेजा। दूसरे दिन फिर मल्लयुद्ध हुआ, लेकिन फिर दोनों बराबर रहे। तीसरे दिन युद्ध की फिर घोषणा हुई। अब की बार अशक्त होकर मच्छिय दही मथने के आसन (वइसाहठाण) से खड़ा हो गया। अट्टण ने फलहिय को ललकारा और उसने मच्छिय को पकड़कर पटक दिया। यह देखकर राजा ने फलहिय का आदर-सत्कार किया। कुछ समय बाद अटटण कौशांबी पहुँचा और रसायन आदि का सेवन कर वह फिर से बलिष्ठ हो गया। यहां के युद्धमह में उसने राजमल्ल निरंगण को हरा

---

१. वही ५.५८३८; निशीथचूर्णी १०.२९३७।

२. आचारांग २, १-२, पृ० ३०४।

३. निशीथचूर्णी ११.२३ की चूर्णी।

दिया। इस पर राजा ने प्रसन्न होकर उसकी मरणपर्यन्त आजीविका बांध दी।[1]

मल्लों में कुछ मल्ल ऐसे भी होते थे जो एक हजार आदमियों के साथ युद्ध कर सकते थे; इन्हें सहस्रमल्ल कहा जाता था। ऐसे मल्लों की परीक्षा कर लेने के पश्चात् ही राजा उन्हें नियुक्त करता था। एक बार की बात है, अवन्तीपति प्रद्योत के दरबार में कोई सहस्रमल्ल आया। राजा ने उसकी परीक्षा के लिए, उसे कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि को महाकाल श्मशान में भेजा और कहा कि यदि वह बकरे का मांस भक्षण कर और सुरा का पान करके पिशाच से भयभीत न हो तो ही वह उसे रख सकता है। सहस्रमल्ल ने राजा के आदेश का पालन किया और वह राज-दरबार में रहने लगा।[2] रथवीरपुर के सहस्रमल्ल शिवभूति को भी नियुक्त करने के पहले उसकी इसी प्रकार परीक्षा ली गयी थी।[3]

कुक्कुटयुद्ध

कुक्कुटयुद्ध द्वारा भी मनोरंजन किया जाता था। कौशांबी के सागरदत्त और बुद्धिल नामक दो श्रेष्ठीपुत्रों ने शत-सहस्र की होड़ लगाकर कुक्कुटयुद्ध कराया था। पहली बार सागरदत्त के कुक्कुट ने बुद्धिल के कुक्कुट को हरा दिया। लेकिन दूसरी बार पासा उलट गया, और सागरदत्त को एक लाख देने पड़े। लेकिन पता चला कि युद्ध के पहले बुद्धिल ने अपने कुक्कुट के पैरों में लोहे की बारीक कीलें जड़ दी हैं। सागरदत्त ने चुपचाप इन कीलों को निकाल दिया, और उसका कुक्कुट जीत गया।[4]

मयूरपोत-युद्ध

मयूरपोतों से भी युद्ध कराया जाता था। एक बार चम्पा के दो सार्थवाह उद्यान में क्रीड़ा के लिए गये हुए थे। उन्होंने देखा कि वन-मयूरी ने दो अण्डे दिये हैं। उन्होंने सोचा अपनी कुक्कुटी के अण्डों

१. उत्तराध्ययनटीका ४, पृ० ७८-अ आदि। चाणूर और मुष्टिक के युद्ध के लिये देखिये घट जातक (४५४), ४, पृ० २८१; तथा हरिवंशपुराण १.५४.७६।

२. व्यवहारभाष्य १,३, पृ० ९२-अ-९३।

३. उत्तराध्ययनटीका ४, पृ० ७४-अ।

४. वही १३, पृ० १९१।

के साथ इनका भी पालन-पोषण करेंगे। इनमें से एक अण्डा तो मर गया, लेकिन दूसरे अण्डे में से मयूरपोत निकल आने पर, उसे मयूर-पोषकों को पालने के लिए दे दिया। मयूरपोषकों ने उसे नाट्य आदि सिखाकर तैयार कर दिया। उसके बाद नगर के मयूरपोतों के साथ वह युद्ध करने लगा, और अपने मालिक को धन कमाकर देने लगा।[१]

अन्य खेल-तमाशे

इसके अतिरिक्त, प्राचीन सूत्रों में अश्वयुद्ध, हस्तियुद्ध, उष्ट्रयुद्ध, गोणयुद्ध, महिषयुद्ध और शूकरयुद्धों का भी उल्लेख किया गया है।[२] ऐसे कितने ही लोगों के नाम आते हैं जो खेल-तमाशे आदि दिखाकर प्रजा का मनोरञ्जन किया करते थे। उदाहरण के लिए, नट, नर्तक, जल्ल, मल्ल, मौष्टिक, विदूषक, कथावाचक, उछलने-कूदनेवाले, तैराक, ज्योतिषी, गायक, भाँड, बाँस पर खेल दिखाने वाले (लंख), चित्रपट दिखाकर भिक्षा मांगने वाले (मंख), तुंब वीणा बजाने वाले, विट, मागध (भाट) आदि विविध प्रकार से मन-बहलाव किया करते थे।[३] लंख बाँस के ऊपर एक तिरछी लकड़ी रख कर उसमें दो कील गाड़ लेते। इन कीलों में अपनी खड़ाऊं फंसा लेते और हाथ में ढाल-तलवार ले ऊपर उछलते और फिर से बांस में लगी हुई लकड़ी पर कूद जाते। राजा-रानी इन खेलों को देखने जाते थे।[४]

अन्त्येष्टि क्रिया

मृतक का दाह-कर्म करने के पश्चात् उसके ऊपर चैत्य और स्तूप बनाने का रिवाज था। शव को चंदन, अगुरु, तुरुष्क, घी और मधु डाल कर जलाया जाता, तथा मांस और रक्त के जल जाने पर, हड्डियों को इकट्ठाकर उनपर स्तूप बना दिये जाते। ऋषभदेव का निर्वाण होने पर नंदनवन से गोशीर्ष चंदन और क्षीरोदधि से क्षीरोदक लाया गया। इस जल से तीर्थंकर को स्नान कराने के पश्चात् उनके शरीर पर

---

१. ज्ञातृधर्मकथा ३, पृ० ६१–२।

२. आचारांग २, ११. ३९२, पृ० ३७९ अ; निशीथसूत्र १२.२३। तुलना कीजिए दीघनिकाय १, ब्रह्मजालसुत्त १०८; याज्ञवल्क्यस्मृति १७, पृ० २५५।

३. राजप्रश्नीयसूत्र १।

४. आवश्यकचूर्णी, पृ० ४८५। तुलना कीजिए धम्मपद-अट्ठकथा जिल्द ४, पृ० ५९ आदि।

गोशीर्ष चंदन का लेप किया गया। फिर शिबिका द्वारा वहनकर उन्हें चिता पर रख दिया गया, और अग्नि द्वारा शरीर भस्म हो जाने पर उनकी अस्थियों पर चैत्य-स्तूपों का निर्माण किया। इस समय से लोग राख को इकट्ठी कर उसके छोटे-छोटे डूंगर (डांगर) बनाने लगे।[1] मृतक-पूजन और रोदन (रुण्णसद्द) का उल्लेख मिलता है।[2] अनाथ मृतक की हड्डियों को घड़े में रखकर गंगा में सिराया जाता था।[3]

शव को पशु-पक्षियों के भक्षण के लिए जंगल आदि में भी रखकर छोड़ दिया जाता था।[4] राजा का आदेश होने पर साधु के शव को गड्ढे (अगड), प्राकार के द्वार, दीर्घिका, बहती हुई नदी अथवा जलती हुई आग में रख दिया जाता था।[5] गृध्रस्पृष्ट नामक मरण में मनुष्य अपने-आपको पुरुष, हाथी, ऊँट अथवा गधों के मृत कलेवर के साथ डाल देता और फिर उसे गीध आदि नोंचकर खा जाते। अथवा लोग अपने पृष्ठ या उदर आदि पर अलते का लेपकर, अपने आपको गीधों से भक्षण कराते।[6] अपराधियों को भी गीध और गीदड़ आदि से भक्षण कराने के लिए छोड़ दिया जाता था।[7]

मुर्दों को गाड़ देने का रिवाज भी था; यह विशेषकर म्लेच्छों में प्रचलित था। ये लोग मुर्दों को मृतक-गृह या मृतक-लयन

---

१. आवश्यकचूर्णी, पृ० २२२-२४। तुलना कीजिए तित्तिरजातक (४३८), पृ० ११८ में चाटुकाथूप का उल्लेख है। तथा देखिए परमत्थदीपनी नाम की अट्ठकथा, पृ० ९७, रामायण ४.२५.१६ आदि; । दीघनिकाय २.३, पृ० ११०, १२६; बी. सी. लाहा. इंडिया डिस्क्राइब्ड, पृ० १९३।

२. आवश्यकभाष्य २६, २७, हरिभद्रटीका, पृ० १२३; आवश्यकचूर्णी, पृ० १५७, २२२ आदि।

३. वृहत्कल्पभाष्यटीका ४.५२१५।

४. महानिशीथ, पृ० २५। तुलना कीजिए ललितविस्तर, पृ० २६५।

५. वृहत्कल्पभाष्य ३.४८२४।

६. औपपातिकसूत्र ३८, पृ० १६२-६३; निशीथसूत्र ११.९२: निशीथभाष्य ११.३८०६ की चूर्णी। यह प्रथा तक्षशिला के आसपास मौजूद थी, इसका उल्लेख स्ट्रैबो ने किया है। पुसाल्करमान, अध्याय २०, पृ० ४६९।

७. देखिये पीछे, पृ० ८९।

में गाड़ देते थे। द्वीव और यवन देशों में यह रिवाज था।[1]

जैन श्रमणों की नीहरण क्रिया

जैन साधु के कालगत होने पर उसकी नीहरण क्रिया की विस्तृत विधि का उल्लेख छेदसूत्रों में मिलता है।[2] सर्वप्रथम शव को ले जाने के लिए सागारिक (उपाश्रय का मालिक) के वहनकाष्ठ[3] और स्थंडिल[4] (मृतक का दग्धस्थान) का निरीक्षण करना चाहिए। मृतक को अढ़ाई हाथ लम्बे धवल सुगन्धित वस्त्र से ढंकना चाहिए। एक वस्त्र को उसके नीचे बिछाना चाहिए, दूसरा उसके ऊपर डालना चाहिए, और शव को रस्सी से बाँधकर, फिर उसे तीसरे वस्त्र से ढंक देना चाहिए। साधारणतया दिन या रात्रि में जब भी साधु कालगत हो, उसे उसी समय निकालना चाहिए। लेकिन यदि रात्रि में भयंकर हिम गिरता हो, चोर या जंगली जानवरों का भय हो, नगर के द्वार बन्द हों, नगर में महान् कोलाहल मचा हुआ हो, रात्रि के समय मृतक को न निकालने की नागरिक व्यवस्था हो, मृतक के सम्बन्धियों ने कहा हो कि उनसे बिना कहे मृतक को न निकाला जाय, अथवा मृतक कोई लोक-विश्रुत महातपस्वी हो, तो उसे रात्रि के समय नहीं ले जाना चाहिए। इसी प्रकार यदि शुचि और श्वेत वस्त्रों का अभाव हो, राजा अथवा नगर का स्वामी नगर में प्रवेश कर रहा हो, अथवा वह भट-भोजिक आदि के साथ नगर से बाहर जा रहा हो, तो मृतक को दिन में ले जाने का निषेध है। यदि साधु अभी हाल में कालगत हुआ हो और उसका शरीर जकड़ न गया हो तो उसके हाथ और पैरों को लम्बे करके फैला दे और उसकी आँख और मुँह बन्द कर दे।

ऐसी दशा में साधुओं को रात्रि में जागरण करना चाहिए। हाथ और पैरों के अंगूठों को रस्सी से बाँधकर मुखपोतिका से मृतक का मुँह ढंक देना चाहिए तथा यदि रात्रि को जागरण करना पड़े तो मृतक की अक्षत देह में, उसकी उँगली को चीरकर उसे अन्दर तक

---

१. आचारांगचूर्णी, पृ० ३७०; निशीथसूत्र ३.७२; निशीथभाष्य ३. १५३५–३६।

२. बृहत्कल्पसूत्र ४.२९ और भाष्य।

३. सूत्रकृतांग २, १.९, पृ० २७५–अ में इसे आसंदीपंचमा कहा है।

४. छारचितिवज्जितं केवलं मडयदड्ढट्ठाणं थंडिलं भण्णति, निशीथचूर्णी ३.१५३६।

छेद देना चाहिए। फिर भी यदि शरीर में कोई व्यंतर या प्रत्यनीक देवता प्रविष्ट कर जाय, तो बायें हाथ में उसका मूत्र (कायिकी) लेकर मृतक के शरीर का सिंचन करना चाहिए, और कहना चाहिए—हे गुह्यक, सचेत हो, सचेत हो, प्रमाद मत कर, संस्तारक से मत उठ।[1]

मृतक को ले जाते समय, किसी कोरे पात्र (पात्रक) में चार अंगुल प्रमाण, समान काटे हुए कुश लेकर, पीछे की ओर न देखते हुए, आगे स्थंडिल की ओर गमन करना चाहिए। यदि दर्भ न मिलें तो उसकी जगह केशर का उपयोग किया जा सकता है। यदि वहाँ किसी गृहस्थ का शव हो तो उसे रखकर हाथ-पैर आदि धोने चाहिए। जिस दिशा में गाँव हो उस ओर शव के पैर रखने से अमंगल समझा जाता है, अतएव गाँव की ओर शव का सिर रखना चाहिए।

स्थंडिल में पहुँचकर वहाँ दर्भ की मुष्टि से संस्तारक तैयार करना चाहिए। यदि दर्भ न मिलें तो चूर्ण, नागकेशर अथवा लेप आदि के द्वारा ककार और उसके नीचे तकार बनाना चाहिए। तत्पश्चात् मृतक को उस पर स्थापित करके उसके पास रजोहरण,[2] मुखपत्ती और चोलपट्ट रखना चाहिए। इन चिह्नों के न रखने से कालगत साधु मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकता है, अथवा यदि राजा को पता लग जाय तो यह समझकर कि इसे किसी ने मार दिया है, वह आसपास के ग्रामों को उच्छेद करने की आज्ञा दे सकता है।[3]

यदि कालगत साधु के शरीर में यक्ष प्रविष्ट हो जाय तो उपाश्रय, निवेशन, मोहल्ला (साही), गामार्ध, ग्राम, मंडल, देशखण्ड (कंड), देश और राज्य के परित्याग करने का विधान है। यदि कदाचित् यक्षाविष्ट साधु एक-दो या सब साधुओं के नामों का उच्चारण करे तो उन्हें लोच, तप और उपवास आदि करना चाहिए। मंगल के लिए अजित नाथ और शांतिनाथ के स्तोत्रों का पाठ करना चाहिए।[4]

---

१. बृहत्कल्पभाष्य ४.५४९९-५५२६; शिवार्य, भगवतीआराधना १९७३।

२. शिवार्य की भगवतीआराधना की विजयोदया टीका में 'सलिंगं शरीरं व्युत्स्रष्टव्यं' उल्लेख है, लेकिन मूल गाथा में चिह्नों की बात नहीं कही गयी है। पण्डित आशाधर ने लिखा है—अन्ये तु दक्षिणहस्ते लिंगं स्थापयंति, गाथा १९८६; तथा १९८२।

३. बृहत्कल्पभाष्य ४.५५३०-३७।

४. वही ४.५५४१-४७।

यदि साधु महामारी आदि किसी छूत की बीमारी (छेवइओ) से कालगत हुआ हो तो जिस संस्तारक द्वारा उसे ले गये हों, उसके टुकड़े करके उसका परिष्ठापन करना चाहिए। इसी प्रकार उसकी अन्य उपधि या और कोई वस्तु जो उसके शरीर से छू गयी हो उसका भी परित्याग-कर देना चाहिए।[1]

यदि साधु रात्रि के समय कालगत हुआ हो तो उपाश्रय के मालिक गृहस्थ को उठाकर उसका वहनकाष्ठ प्राप्त करने की आज्ञा लेनी चाहिए। यदि गृहस्थ न उठे तो वहनकाष्ठ से मृतक का कर्म करके उसे वापिस लाकर रख देना चाहिए।[2]

आनन्दपुर में संयत मुनियों को उत्तर दिशा में स्थापित करने का रिवाज था। किसी गांव में यदि सब जगह खेत हों तो राजपथ में अथवा दो गांवों के बीच की सीमा में शव का स्थापन करना चाहिए। यदि ऐसा स्थान न मिले तो मृतक को श्मशान में ले जाना चाहिए। यदि वहाँ श्मशान-पालक द्वार पर खड़ा होकर कर मांगे तो पहले तो उसे उपदेश देकर समझाये, अन्यथा मृतक के वस्त्र देकर शान्त करे। यदि वह नये वस्त्रों के लिए आग्रह करे तो मृतक को उसे सौंपकर गांव में से वस्त्रों की याचना कर उसे लाकर देना चाहिए। यदि फिर भी न माने तो राजकुल में उपस्थित होकर इस बात को कहना चाहिए। यदि राजा का उत्तर मिले कि श्मशान-पालक स्वतंत्र है, हम इसमें क्या कर सकते हैं तो फिर अस्थंडिल हरितकाय आदि के ऊपर धर्मास्तिकाय की कल्पना कर, मृतक के शरीर को स्थापित कर देना चाहिए।[3]

साधु के मृत शरीर को वहन करके ले जाने का काम भी कम संकटों से भरा नहीं था। सर्वप्रथम साधुओं को शव को वहन करना चाहिये, उनके न होने पर गृहस्थ ले जायें, अथवा बैलगाड़ी द्वारा उसका प्रबन्ध किया जाये, नहीं तो मल्लों की सहायता ली जानी चाहिए। गृहस्थों को राजकुल में पहुँचकर सहायता के लिये निवेदन करना चाहिए। यदि चांडालों[4] से मृतक को उठवाने की व्यवस्था की जाये

---

१. वही ४.५५५२।

२. वही ४.५५६०–६५।

३. व्यवहारभाष्य ७.४४२–४६, पृ० ७५–अ आदि।

४. मनुस्मृति (१०.५५) में अनाथ व्यक्तियों के शव को चांडालों द्वारा उठवाकर ले जाने का उल्लेख है।

तो प्रवचन के उपहासास्पद होने की आशंका रहती है। यदि वहन करने वाले सब मिलाकर चार हों और उनमें एक वसति का स्वामी हो तो शेष तीन बीच-बीच में विश्राम करते हुए मृतक को ले जायें। आवश्यकता होने पर परलिंग धारण करके भी मृतक को परिष्ठापना करने का विधान है। यदि वहन करने वाला अकेला हो तो दूसरे गांव से असंवेगी साधु, सारूपिक, सिद्धपुत्र या श्रावकों को बुलवायें। यदि ये न मिलें तो स्त्रियों की सहायता लें, नहीं तो मल्लगण,[1] हस्तिपालगण और कुम्भकारगण के पास जाना चाहिए। यदि यह भी संभव न हो तो फिर भोजिक (ग्राम-महत्तर), संवर (कचरा उठाने वाले), नख-शोधक और स्नान कराने वालों आदि की सहायता प्राप्त करनी चाहिए। यदि बिना कुछ मेहनत-मजदूरी के ये लोग काम करने से इन्कार करें तो उन्हें धर्मोपदेश दें, अथवा वस्त्र देकर सन्तुष्ट करना चाहिए।[2]

अन्य मृतक कृत्य

मृतकों की-यतों की भी-नीहरण क्रिया बड़े ठाट से होती और उनके अनेक मृत-कृत्य किये जाते थे।[3] सुभद्रा ने जब सुना कि उसके पति का जहाज लवणसमुद्र में डूब गया है तो वह अपने सगे-सम्बन्धी और परिजनों के साथ रोने और विलाप करने लगी। तत्पश्चात् उसने अपने पति के लौकिक मृत-कृत्य किये।[4] विजय चोर-सेनापति के काल-धर्म को प्राप्त होने पर भी बड़े सजधज के साथ (इड्डिसक्कार) उस की अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की गयी।[5] पितृपिंड का उल्लेख किया जा चुका है। मृतक का वार्षिक दिवस मनाया जाता और दिन ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था[6]।

---

१. मल्लगण-धर्म और सारस्वतगण-धर्म आदि को कुधर्म बताया गया है, निशीथचूर्णी ११.३३५४।

२. व्यवहारभाष्य ७.४८९-९२। तथा देखिये आवश्यकनिर्युक्ति-दीपिका भाग २, ९५ आदि पृ० ७१-अ आदि, आवश्यकचूर्णी २, पृ० १०२-१०९, भगवतीआराधना १९७४-२०००। तथा देखिये बी० सी० लाहा, इण्डिया डिस्क्राइब्ड, पृ० १९३।

३. देखिये ज्ञातृधर्मकथा १४, पृ० १५१।

४. विपाकसूत्र २, पृ० १७।

५. वही ३, पृ० २४।

६. उत्तराध्ययनटीका १३, पृ० १८८-अ। तथा देखिए मनवमस्सजातक (१८), १, पृ० २१६; महाभारत १.१३४; रामायण १.११४.१०१ आदि।

आत्मघात के प्रकार

आत्मघात के अनेक प्रकारों का उल्लेख जैनसूत्रों में मिलता है। जब राजा ने अपने मंत्री तेयलिपुत्त का यथोचित सन्मान नहीं किया तो उसने तालपुट[1] विष का भक्षण कर, अपने कंधे पर तलवार चलाकर, वृक्ष में बांधे हुए पाश में लटक कर, शिला को ग्रीवा में बांध अथाह जल में कूद कर, तथा सूखे तृण की अग्नि में जलकर मरने की[2] ठानी।[3] मरण के अन्य प्रकारों में पहाड़ से गिरने,[4] वृक्ष से गिरने, छिन्न पर्वत से झूल जाने (*गिरिपक्खंदोलय*), वृक्ष से झूल जाने, जल में कूद पड़ने, विष भक्षण करने,[5] शस्त्र का प्रहार करने, और वृक्ष की शाखा आदि से लटक जाने का उल्लेख किया गया है। इसके सिवाय, कोई उपसर्ग उपस्थित होने पर, दुर्भिक्ष पड़ने पर, बुढ़ापा आने पर और असाध्य रोग आदि से पीड़ित होने पर अन्न-पान का त्याग शरीर-त्याग करने को सल्लेखना कहा है। कितने ही जैन साधुओं द्वारा इस व्रत को स्वीकार करके निर्वाण-प्राप्ति का उल्लेख है।[6]

---

१. जेणंतरेण ताला संपुडिज्जंति तेणंतरेण मारयतीति तालपुडं, दशवैकालिकचूर्णी ८, पृ० २.९२। शतसहस्रवेधी विष का उल्लेख आवश्यकचूर्णी पृ० ५५४ में आता है।

२. चाणक्य के सम्बन्ध में कहा है कि उसने जंगल में जाकर धूप जलायी, और उसके एक तरफ कंडे रखकर उसके ऊपर अंगारे रख दिये। कंडे जल उठे और चाणक्य अग्नि में भस्म हो गया. दशवैकालिकचूर्णी २, पृ० ८१-२।

३. ज्ञातृधर्मकथा १४, पृ० १५६।

४. कौशाम्बी के राजा उदयन के सम्बन्ध में उक्ति है कि वह अपनी रानी के साथ किसी पहाड़ी की चोटी से गिर पड़ा, प्रधान, क्रॉनोलोजी ऑव एँशियेंट, इंडिया, पृ० २४६; चुल्लपदुमजातक (१९३), पृ० २८१ आदि।

५. देखिए स्थानांग ४.३४१; ६.५३३: तथा बृहत्कल्पभाष्य ३.४२०८; पिंडनिर्युक्ति २७४; प्रज्ञापना १, ५३ पृ० १४४; जीवाभिगम १, पृ० ३६-अ; अर्थशास्त्र, २.१७.३५. १२-१३, पृ० २२१।

६. निशीथसूत्र ११.९२, देखिए अन्तःकृद्दशा, पृ० ८ आदि।

पाँचवाँ खण्ड

धार्मिक व्यवस्था

पहला अध्याय

श्रमण सम्प्रदाय

भारतवर्ष आदिकाल से धर्मों का देश रहा है। प्रारम्भ काल से ही धर्म प्राचीन भारतीय जीवन के आदर्श में एक केन्द्रीय भावना रही है।

श्रमण-ब्राह्मण

मेगस्थनीज़ ने भारतीय ऋषियों को ब्राह्मण और श्रमण इन दो भागों में बांटा है; श्रमण जंगलों में रहते थे और वे लोगों की परम श्रद्धा के पात्र थे।[1] जैसे कहा चुका है, समण (श्रमण) और माहण (ब्राह्मण) का उल्लेख जैनसूत्रों में बहुत आदर के साथ किया गया है।[2] वस्तुतः प्रजा के भौतिक और आध्यात्मिक जीवन को गढ़ने में श्रमणों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। सामान्य जनता ही नहीं, बल्कि राजे-महाराजे तक उनसे अत्यधिक प्रभावित थे। श्रमण चातुर्मास को छोड़कर वर्ष में लगभग आठ महीने एक जनपद से दूसरे जनपद में विहार (जणवयविहार) करते हुए धर्म का उपदेश देते फिरते।[3] वे

---

१. देखिये मेक्रिण्डल, द इन्वेज़न ऑव एलेक्ज़ेण्डर द ग्रेट, पृ० ३५८। देखिए परमत्थिदीपनी नामक उदान की अट्ठकथा, पृ० ३३८। अंगुत्तरनिकाय (४, पृ० ३५; १, ३, पृ० २४१) में दो प्रकार के परिव्राजकों का उल्लेख है—अञ्ञतित्थिय परिव्राजक और ब्राह्मण परिव्राजक, बी० सी० लाहा, हिस्टोरिकल ग्लीनिंग्स, पृ० ९; लाहा, गौतम बुद्ध एण्ड द परिव्राजकाज़, बुद्धिस्ट स्टडीज़, पृ० ८९ आदि; विंटरनित्ज़, जैनाज़ इन इंडियन लिटरेचर, इंडियन कल्चर, जिल्द १, १-४, पृ० १४५।

२. आचारांगचूर्णी २, पृ० ६३ में श्रमण, ब्राह्मण और मुनि को एक अर्थ का द्योतक बताया है।

३. जब ईख अपनी बाड़ के बाहर निकलने लगें, तुंबी पर फल लग जायें, बैलों में ताकत आ जाये, गाँवों की कीचड़ सूख जाये, रास्तों का पानी कम हो जाये और राहगीर रास्ता चलने लगें तो जैन भिक्षुओं को समझना चाहिये कि विहार का समय आ गया है, ओघनिर्युक्ति १७०-७१।

पहला अध्याय

श्रमण सम्प्रदाय

भारतवर्ष आदिकाल से धर्मों का देश रहा है। प्रारम्भ काल से ही धर्म प्राचीन भारतीय जीवन के आदर्श में एक केन्द्रीय भावना रही है।

श्रमण-ब्राह्मण

मैगस्थनीज ने भारतीय ऋषियों को ब्राह्मण और श्रमण इन दो भागों में बांटा है; श्रमण जंगलों में रहते थे और वे लोगों की परम श्रद्धा के पात्र थे।[1] जैसे कहा चुका है, समण (श्रमण) और माहण (ब्राह्मण) का उल्लेख जैनसूत्रों में बहुत आदर के साथ किया गया है।[2] वस्तुतः प्रजा के भौतिक और आध्यात्मिक जीवन को गढ़ने में श्रमणों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। सामान्य जनता ही नहीं, बल्कि राजे-महाराजे तक उनसे अत्यधिक प्रभावित थे। श्रमण चातुर्मास को छोड़कर वर्ष में लगभग आठ महीने एक जनपद से दूसरे जनपद में विहार (जणवयविहार) करते हुए धर्म का उपदेश देते फिरते।[3] वे

---

१. देखिये मैक्रिण्डल, द इन्वेज़न ऑव एलेक्ज़ेण्डर द ग्रेट, पृ० ३५८। देखिए परमत्थिनी नामक उदान की अट्ठकथा, पृ० ३३८। अंगुत्तरनिकाय (४, पृ० ३५; १, ३, पृ० २४१) में दो प्रकार के परिव्राजकों का उल्लेख है—अञ्ञतित्थिय परिब्बाजक और ब्राह्मण परिब्बाजक, बी० सी० लाहा, हिस्टोरिकल ग्लीनिंग्स, पृ० ९; लाहा, गौतम बुद्ध एण्ड द परिव्राजकाज़, बुद्धिस्ट स्टडीज, पृ० ८९ आदि; विंटरनीज़, जैनाज़ इन इंडियन लिटरेचर, इंडियन कल्चर, जिल्द १, १-४, पृ० १४५।

२. आचारांगचूर्णी २, पृ० ६३ में श्रमण, ब्राह्मण और मुनि को एक अर्थ का द्योतक बताया है।

३. जब ईख अपनी बाड़ के बाहर निकलने लगें, तुंबी पर फल लग जायें, बैलों में ताकत आ जाये, गाँवों की कीचड़ सूख जाये, रास्तों का पानी कम हो जाये और राहगीर रास्ता चलने लगें तो जैन भिक्षुओं को समझना चाहिये कि विहार का समय आ गया है, ओघनिर्युक्ति १७०-७१।

प्रायः सामान्य जनों द्वारा, पथिकों और यात्रियों के लिए नगर अथवा ग्राम के पास बनाये हुए चैत्यों अथवा उद्यानों में ठहरा करते। सामान्य जन उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते, उद्यानों में उनके दर्शनों के लिए जाते, उनसे जिज्ञासा करते, उनके लिए अन्न-पान का प्रबन्ध करते, तथा उन्हें रहने के लिए स्थान (वसति), आसन (पीठ, काष्ठपट्ट फलक), शय्या और संस्तारक आदि आवश्यक वस्तुएं प्रदान करते।

भगवान् महावीर का चंपा में आगमन

भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम विहार करते हुए चम्पा में आकर जब पूर्णभद्र नामक चैत्य में उतरे और इस बात का पता राजा कूणिक (अजातशत्रु) के वार्तानिवेदक को चला तो वह फौरन ही, प्रसन्नचित्त हो, स्नान और बलिकर्म आदि से निवट, शुद्ध वस्त्र धारण कर घर से निकला, और हाथ जोड़कर राजा कूणिक को महावीर के आगमन का उसने शुभ सन्देश सुनाया। कूणिक इस समाचार से बहुत प्रसन्न हुआ। हर्षोत्कर्ष से उसके कंकण, मुकुट, कुंडल और हार आदि कम्पित होने लगे। वह शीघ्र ही सिंहासन से उठा, पादपीठ से उतरा, उसने पादुकाएँ उतारीं, अपने खड्ग, छत्र आदि पाँच राजचिह्नों को एक तरफ रक्खा, एक शाटिक उत्तरासंग धारण किया, हाथ जोड़कर सात-आठ पग तीर्थंकर के अभिमुख गमन किया, फिर बायें घुटने को मोड़, दायें को पृथ्वी पर रक्खा, तीन बार मस्तक को जमीन पर टेक कर उठा और फिर हाथ जोड़कर नमस्कार करने लगा।[१]

किसी तीर्थंकर या महान् पुरुष के नगरी में पधारने पर नगरी में कोलाहल मच जाता, तथा अनेक उग्र, उग्रपुत्र, भोग, भोगपुत्र, राजन्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण, शूर, योद्धा, धर्मशास्त्रपाठी, मल्लकी, लिच्छवी, राजा, ईश्वर आदि तीर्थंकर के दर्शनों के लिए उतावले हो जाते। कुछ लोग पूजा के लिए, कुछ वन्दना के लिए, कुछ कौतूहल के लिए, कुछ प्रश्नों का समाधान करने के लिए, कुछ अश्रुत को सुनने के लिए, और कुछ सुनी हुई बात का निश्चय करने के लिए उसके पास जाते। लोग वस्त्राभूषण पहन और चंदन का लेपकर अपने-अपने हाथी, घोड़ों, और पालकियों में सवार होकर, और कुछ पैदल चलकर चैत्य में उपस्थित होते, तथा प्रदक्षिणा कर, अभिवादनपूर्वक तीर्थंकर के पास बैठ जाते।

१. औपपातिकसूत्र ११-२, पृ० ४२-४७।

राजा भी अपनी चतुरंगिणी सेना तैयार कराता, तथा स्नान आदि से निवृत्त हो, सुन्दर वस्त्राभूषण धारण कर, आभिषेक्य हस्तिरत्न पर सवार हो, जय-जय शब्द के साथ प्रस्थान करता। उसकी रानियां अपनी दासियों और कंचुकियों आदि के साथ यानों में सवार होतीं और तीर्थंकर के पास पहुँच अत्यन्त विनयपूर्वक उपासना करतीं।[1] ऐसे महान् पुरुषों के नामगोत्र (नामगोय) का श्रवण भी अहोभाग्य समझा जाता, और यदि कहीं उनके साक्षात् दर्शन हो गये और उनकी पर्युपासना करने का अवसर मिल गया तो फिर बात ही क्या थी।[2]

श्रमणों के प्रकार

निशीथभाष्य में श्रमणों के पाँच प्रकार बताये गये हैं—णिग्गंथ (खमण), सक्क (रत्तपड), तावस (वणवासी), गेरुअ (परिव्वायअ) और आजीविय (पंडराभिक्खु; गोशाल के शिष्य)।[3]

१ समणणिग्गंथ (श्रमणनिर्ग्रन्थ)

जो व्यक्ति संसार का त्यागकर साधु या साध्वी का जीवन व्यतीत करने की इच्छा रखते थे, उन्हें किसी जाति-पांति के भेदभाव के बिना, जैन संघ में प्रविष्ट कर लिया जाता था। संसार-परिभ्रमण से व्यथित हुए केवल सामान्य स्त्री-पुरुष ही संसार का त्याग नहीं करते थे, बल्कि ऐश्वर्य, विद्वत्ता, शूरवीरता और पराक्रम से सम्पन्न उच्चवर्गीय क्षत्रिय, श्रेष्ठी तथा राजा और राजकुमार आदि भी श्रमण-दीक्षा स्वीकार करने के लिए उत्सुक रहते थे। ये लोग सांसारिक विषयभोगों को तुच्छ समझ, धन, धान्य और कुटुम्ब-परिवारका त्याग कर देते, तथा जीवन को जल के बुद्बुदों और ओसकण के समान क्षणभंगुर जान, दुनिया की तड़क-भड़क और शान-शौकत की जगह अनगारिक श्रमणों के जीवन को स्वीकार करते।[4]

सामाजिक व्यवस्था संतोषजनक न होने के कारण चारों ओर

---

१. वही, सूत्र २७–३३, पृ० १०७–४५; ज्ञातृधर्मकथा ५, पृ० ७३।

२. औपपातिक २७, पृ० १०८।

३. १३.४४२०; आचारांगचूर्णी २:१, पृ० ३३०; बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति १.१४६०। आजीवक, तापस, परिव्राजक, तच्चनिय (बौद्ध) और बोटिक इन पाँचों को वंदन करने का निषेध है, आवश्यकचूर्णी २, पृ० २०।

४. औपपातिकसूत्र १४, पृ० ४९।

दीक्षा का निषेध

यद्यपि निर्ग्रन्थ-श्रमणों की दीक्षा का द्वार हर किसी के लिए खुला था,[1] फिर भी कुछ अपवाद नियम भी थे। जैसे कि पंडक (नपुंसक), वातिक (वात का रोगी) और क्लीव को दीक्षा का निषेध किया गया है। इसी प्रकार बाल, वृद्ध, जड़, व्याधिग्रस्त, स्तेन, राजापकारी, उन्मत्त, अदर्शन (अन्धा), दास, दुष्ट, मूढ, ऋणपीड़ित, जात्यंगहीन, अवबद्ध (सेवक), शैक्षनिष्फेटित (अपहृत किया हुआ), गुर्विणी (गर्भवती) और बालवत्सा को दीक्षा देने की मनायी है।[2]

कम-से-कम छ वर्ष की अवस्था में प्रव्रज्या दी जा सकती है, वैसे साधारणतया आठ वर्ष से कम अवस्थावाले को प्रव्रज्या देने का निषेध है।[3] बालक को प्रव्रज्या देने में अनेक दोष बताये गये हैं—(क) लोग बालक को श्रमणों के साथ देखकर उपहास करने लगते हैं कि यह इनके ब्रह्मचर्य व्रत का फल मालूम होता है। (ख) जैसे लोहे के गोले को अग्नि में डालने से जहाँ-जहाँ वह घूमता है, वहाँ वहाँ जलने लगता है, उसी प्रकार बालक को जहाँ भी छोड़ दिया जाय, वहीं पर वह छ काय के जीवों की विराधना करने लगता है, (ग) रात्रि में वह भोजन मांगता है, (घ) लोग कहते हैं कि बचपन से ही इसे जेल में डाल दिया है, और ये श्रमण जेलर (चारगपालग) का काम कर रहे हैं, (ङ) इससे श्रमणों का अपयश होता है। (च) बालक के कारण विहार करने में अन्तराय होता है। (छ) आठ वर्ष से कम अवस्थावाले बालक में चारित्र नहीं होता, अतएव उसे प्रव्रज्या देनेवाला चरित्र से भ्रष्ट होता है।[4]

बाल-प्रव्रज्या

इतना सब होने पर भी अमुक परिस्थितियों में बालक को प्रव्रज्या देने का विधान है—(क) यदि समस्त परिवार प्रव्रज्या लेने के लिए तैयार हो, (ख) यदि किसी साधु के सगे-सम्बन्धी महामारी आदि

१. व्यवहारभाष्य भाग ४, २.२०१ आदि में गणिका द्वारा दीक्षा ग्रहण करने का उल्लेख है।

२. स्थानांग ३.२०२; निशीथभाष्य ११.३५०३–७। तथा देखिये महावग्ग, १.३१,८८ आदि, पृ. ७६ आदि, उपसंपदा और प्रव्रज्या के नियम।

३. छव्वरिसो पव्वइओ, व्याख्याप्रज्ञप्तिटीका ५.३।

४. निशीथभाष्य ११.३५३१–३२; देखिये महावग्ग १.४१.९९, पृ० ८०–१।

के कारण कालधर्म को प्राप्त हो गये हों, केवल एक बालक ही बचा हो, (ग) किसी सम्यग्दृष्टि के पास कोई अनाथ बालक हो, (घ) किसी शय्यातर के पास कोई अनाथ बालक हो, (ङ) किसी कामातुर द्वारा किसी आर्या को भ्रष्ट कर देने पर बालक पैदा हुआ हो, (च) यदि किसी मंत्री द्वारा कुल, गण और संघ के लाभ होने की सम्भावना हो।[१] इन्हीं परिस्थितियों में महावीर द्वारा अतिमुक्तक को, चतुर्दश पूर्वधारी शय्यंभव द्वारा मणग को और सिंहगिरि द्वारा वज्रस्वामी को प्रव्रजित किया गया था।[2]

वृद्ध-प्रव्रज्या

बालक की भांति वृद्ध को भी प्रव्रज्या देने का निषेध है। फिर भी महावीर द्वारा अपने पूर्व पिता सोमिल ब्राह्मण को, जम्बू द्वारा अपने पिता ऋषभदत्त को, और नवपूर्वधारी आर्यरक्षित द्वारा अपने पिता सोमदेव को जो प्रव्रज्या देने का उल्लेख है; उसे अपवाद के ही अन्तर्गत समझना चाहिए।[3]

गर्भावस्था में प्रव्रज्या

यदि संयतियाँ किसी कारण से गर्भवती (डिंडिमबंध) हो जायें तो उनकी बहुत सम्हाल रखनी पड़ती थी, यह बात पहले कही जा चुकी है। चम्पा के राजा दधिवाहन की रानी पद्मावती ने गर्भावस्था में ही प्रव्रज्या ग्रहण कर ली थी। लेकिन जब संघ की प्रवर्तिनी को इसका पता लगा तो पद्मावती ने सब बातें बता दीं। पद्मावती को छिपाकर रक्खा गया। बाद में प्रसूति के समय नाममुद्रा और कम्बलरत्न के साथ बालक को एक श्मशान में रख दिया गया। अन्य संयतियों के पूछने पर पद्मावती ने कह दिया कि मरा हुआ बालक पैदा हुआ था। आगे चलकर यही बालक राजा करकंडु के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[४]

प्रव्रज्या के लिये माता-पिता की अनुज्ञा

प्रव्रज्या, केशलोच और उपदेश आदि के लिए द्रव्य की अपेक्षा शालि अथवा ईख के खेत अथवा चैत्य वृक्ष को, और क्षेत्र की अपेक्षा

१. निशीथभाष्य ११.३५३७-३९।

२. वही ११.३५३६।

३. वही ११.३५३६।

४. उत्तराध्ययनटीका ९, पृ० १३३ आदि।

कमलों के तालाब या शिखर वाले चैत्यगृह को प्रशस्त कहा है। तिथियों में चतुर्थी और अष्टमी को छोड़कर शेष तिथियों में प्रव्रज्या ग्रहण करने का विधान है।[1] प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए माता-पिता अथवा अभिभावकों की अनुज्ञा प्राप्त करना आवश्यक है। द्रौपदी की अनुज्ञा मिलने के पश्चात् ही पाण्डव दीक्षा ग्रहण कर सके,[2] और भगवान् महावीर को जब तक उनके गुरुजनों और ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञा न मिली तब तक वे गृहवास में ही रहे।[3] मेघकुमार प्रव्रजित होने के लिए जब भगवान् महावीर के समीप उपस्थित हुए तो उनके माता-पिता ने शिष्य-भिक्षा दी।[4]

निष्क्रमण-सत्कार

निष्क्रमण-सत्कार बहुत ठाट-बाट से मनाया जाता था। इस पुनीत अवसर पर लोगों में अत्यन्त उत्साह दिखायी पड़ता, और राजा-महाराजा भी इसमें सक्रिय रूप से सम्मिलित होते। किसी लकड़हारे ने संभवतः दरिद्रता से तंग आकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली थी। लेकिन प्रव्रजित होने के बाद जब वह भिक्षा के लिए जाता तो लोग उसे चिढ़ाते। लकड़हारे ने आचार्य से कहीं अन्यत्र ले चलने का अनुरोध किया। श्रेणिक के मन्त्री अभयकुमार को जब इस बात का पता लगा तो उसने लोगों की परीक्षा ली, तथा अग्नि, जल और अपनी महिला का त्याग करके दीक्षा ग्रहण करने वालों को बहुत-सा सोना पुरस्कार में दिया।[5]

थावच्चापुत्र ने जब निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश श्रवण कर प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की तो उसकी माता राजा के योग्य भेंट ग्रहण कर, अपने मित्र आदि के साथ, कृष्णवासुदेव के दरबार में उपस्थित हुई। उसने निवेदन किया—"महाराज, मैं अपने पुत्र का निष्क्रमण-सत्कार करना चाहती हूँ, अतएव आपका अत्यन्त अनुग्रह हो यदि आप छत्र, मुकुट और चमर देने का कष्ट करें।" कृष्णवासुदेव ने उत्तर दिया—"तुम निश्चिन्त रहो, तुम्हारे पुत्र का निष्क्रमण-सत्कार मैं करूँगा।"

---

१. बृहत्कल्पभाष्यपीठिका ४१३।

२. ज्ञातृधर्मकथा १६, पृ० १६८।

३. कल्पसूत्र ५.११०, पृ० १२१ अ। राहुल की प्रव्रज्या के लिये देखिये महावग्ग १.४६.१०५, पृ० ८६।

४. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० ३३; अन्तःकृद्दशा ५, पृ० २८।

५. दशवैकालिकचूर्णी, पृ० ८३।

तत्पश्चात् चतुरंगिणी सेना के साथ विजय हस्तिरत्न पर आरूढ़ हो, वे थावच्चापुत्र के घर आये और उसे बहुत समझाया-बुझाया। जब किसी हालत में वह अपने इरादे से न डिगा तो कृष्ण ने द्वारका में घोषणा करायो कि जो कोई राजा, युवराज, रानो, राजकुमार, ईश्वर, तलवर, कौटुम्बिक, माडंबिक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति और सार्थवाह श्रमण-दीक्षा ग्रहण करेगा, उसके कुटुम्ब-परिवार की देखभाल राज्य की ओर से की जायगी। यह सुनकर कितने ही स्त्री-पुरुष अपनी-अपनी पालकियों में सवार होकर दीक्षा ग्रहण करने के लिए उपस्थित हुए।[1]

ज्ञातृधर्मकथा में मेघकुमार के निष्क्रमण-सत्कार का विस्तार से वर्णन मिलता है। महावीर भगवान् का उपदेश श्रवण करने के पश्चात् मेघकुमार के हृदय में संसार से वैराग्य हो आया। अपने माता-पिता की अनुज्ञा प्राप्त करने के वास्ते वह अपने भवन में आया और माता-पिता के चरणों में गिरकर कहने लगा—"हे माता-पिता, मुझे महावीर का धर्म अत्यन्त रुचिकर हुआ है, अतएव आपकी अनुज्ञापूर्वक मैं श्रमण-धर्म में प्रव्रजित होना चाहता हूँ।" यह सुनकर मेघकुमार की माता मूर्च्छित होकर धरणीतल पर गिर पड़ी।[2] फिर कुछ समय बाद होश में आने पर विलाप करती हुई बोली—"मेघ, तुम मेरे इकलौते पुत्र हो, उदुम्बर के पुष्प की भाँति दुर्लभ हो, मैं क्षणभर के लिए भी तुम्हारा वियोग सहन नहीं कर सकती, अतएव हम लोगों की मृत्यु के पश्चात् ही, परिणत वय होने पर, तुम दीक्षा धारण करना।" लेकिन मेघकुमार ने उत्तर दिया—"यह जीवन क्षणभंगुर है, न जाने पहले कौन काल की चपेट में आ जाये, इसलिए आप मुझे अभी दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति प्रदान करें।" बहुत ऊहापोह होने के पश्चात्, दूकान (कुत्तियावण) से रजोहरण और पात्र (पडिग्गह) मँगवाये गये, तथा चार अंगुल छोड़कर निष्क्रमण के योग्य अग्र केश काटने के लिए नाई को बुलाया। सुरभि गन्धोदक से हाथ और पैरों का प्रक्षालन कर, चार तहवाले शुद्ध वस्त्र से अपना मुँह ढँककर नाई ने मेघकुमार के केश काटे। इन केशों को मेघकुमार की माता ने हंसचिह्न वाले

१. ज्ञातृधर्मकथा ५, पृ० ७०-७१। पद्मावती के महानिष्क्रमण-अभिषेक के लिये देखिये अन्तःकृद्दशा, पृ० २७ आदि।

२. राजीमती जब अपनी माता से दीक्षा-ग्रहण करने की अनुमति प्राप्त करने गई तो उसकी माता का शरीर काँपने लगा, उसके कंकण टूट गये और वह पृथ्वी पर गिर पड़ी। उत्तराध्ययन २२, पृ० २७९ अ।

पट-शाटक में ग्रहण किया। फिर उनका गन्धोदक से प्रक्षालन कर, गोशीर्ष चन्दन के छींटों से चर्चित कर, श्वेत वस्त्र में बांधा और फिर रत्नों की पिटारी में बन्द कर अपने सिरहाने (उस्सीसामूले) रख लिया। तत्पश्चात् जल के श्वेत-पीत कलशों से मेघकुमार को स्नान कराया गया, गोशीर्ष चन्दन का शरीर पर लेप किया गया, नाक की श्वास से उड़ जानेवाले हंस-लक्षण पटशाटक पहनाये गये, तथा चतुर्विध माल्य और आभूषणों से उसे अलंकृत किया गया। इसके बाद शिविका (पालकी) तैयार की गयी। मेघकुमार को पूर्वाभिमुख सिंहासन पर बैठाया गया। उसकी माता स्नान आदि से अलंकृत हो अपने पुत्र के दाहिनी ओर भद्रासन पर बैठी। उसकी बायीं ओर रजोहरण और पात्र लेकर अम्बाधात्री बैठी। दोनों ओर दो सुन्दर तरुणियाँ चमर डुलाने लगीं; एक सामने की ओर तालवृन्त लेकर और दूसरी शृंगार (झारी) लेकर खड़ी हो गयी। प्रजाजन की ओर से अभिनंदन के शब्द सुनायी देने लगे और गुरुजनों की ओर से आशीर्वाद की बौछार होने लगी। मेघकुमार गुणशिल चैत्य में पहुँच कर शिविका से उतरे और उन्हें शिष्य-भिक्षा के रूप में भगवान् महावीर के सामने प्रस्तुत किया गया। मेघकुमार ने अपने वस्त्र और आभूषण उतार डाले, तथा पञ्चमुष्टि से अपने केशों का लोच करके भगवान की प्रदक्षिणा की और हाथ जोड़कर उनकी पर्युपासना में लीन हो गये। महावीर ने मेघकुमार को अपने शिष्य के रूप में स्वीकार किया।[1]

नमि राजर्षि और शक्र का संवाद

नमि राजर्षि और शक्र का एक सुन्दर संवाद उत्तराध्ययनसूत्र में आता है जिससे पता लगता है कि राजा लोग भी बिना किसी वस्तु की परवा किये, निर्ममतापूर्वक संसार का त्याग करके वन की शरण लेते थे। इस संवाद का कुछ अंश देखिए—

शक्र—हे भगवन्, यह अग्नि और यह वायु आपके भवन को जला रही है। अपने अन्तःपुर की ओर आप क्यों ध्यान नहीं देते?

नमि—हे इन्द्र, हम तो बहुत सुख से हैं, क्योंकि हमारा किसी

---

१. १, पृ० २४–३४। जमालि के निष्क्रमण के लिए देखिए व्याख्याप्रज्ञप्ति ९. ६; तथा देखिए आवश्यकचूर्णी पृ० २६६–७; उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २५७-अ आदि। बौद्धमतानुयायी राष्ट्रपाल की प्रव्रज्या के लिये देखिये मज्झिमनिकाय, रट्ठपालसुत्तन्त।

वस्तु में ममत्व भाव नहीं है। अतएव मिथिला के जलने से मेरा कुछ भी नहीं जलता।[1]

शक्र—हे राजर्षि, अपने नगर में प्राकार, गोपुर, अट्टालिका, खाई (उस्सूलग) और शतघ्नी आदि का प्रबन्ध करने के पश्चात्, निराकुल होकर आप संसार का त्याग करें।

नमि—श्रद्धा रूपी नगर का निर्माण कर, उसमें तप और संवर के मूसले (अर्गल) लगाकर, क्षमा का प्राकार बनाकर, तीन गुप्तियां रूपी अट्टालिका, खाई और शतघ्नी का प्रबन्ध कर, धनुष रूपी पराक्रम तानकर, ईर्यासमिति की प्रत्यञ्चा बांध कर, धैर्य की मूठ (केतन) लगाकर और तप के बाण से कर्मरूपी कंचुक को भेदकर, मैंने संग्राम में विजय प्राप्त की है, अतएव अब मैं संसार से छुटकारा पा गया हूँ।

इस प्रकार शक्र के अनेक प्रकार से समझाने-बुझाने पर भी नमि अपने व्रत में दृढ़ रहे और उन्होंने श्रमण दीक्षा ग्रहण की।[2]

श्रमण संघ

प्राचीन भारत में जैन श्रमणों का संघ एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और अद्वितीय संगठन था। वस्तुतः समस्त भारत के इतिहास में, बौद्ध धर्म के उदय से भी पहले, जैन संघ एक संगठित संघ रहा। जैसा कि कहा जा चुका है, जैन संघ चार भागों में विभक्त था—श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका। प्राचीन जैनसूत्रों में इस प्रकार के अनेक उल्लेख हैं जिनसे पता लगता है कि जैन साधु अपने संघ या गण बनाकर किसी आचार्य के नेतृत्व में,[3] नियमों और व्रतों का पालन करते हुए, किसी उपाश्रय या वसति में एक साथ रहते थे। पार्श्वनाथ और महावीर के इस प्रकार के अनेक अनुयायी थे जो संघबद्ध होकर उनके साथ भ्रमण किया करते थे। आचार्य वज्रस्वामी के गण में ५०० साधु एकत्र विहार करते थे।[4] जैन श्रमण अपने-अपने पदों के भेद से आचार्य,

---

१. तुलना कीजिये महाभारत शांति पर्व (१२.१७८); सोनक जातक (५२९), ५, पृ० ३३७-३८।

२. उत्तराध्ययनसूत्र, ९ वाँ अध्याय।

३. व्यवहारभाष्य में कहा है कि जैसे नृत्य के बिना नट नहीं होता, नायक के बिना स्त्री नहीं होती, धुरे के बिना गाड़ी का पहिया नहीं चलता, वैसे ही आचार्य (गणी) के बिना गण नहीं चलता, जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० २१८।

४. आवश्यकचूर्णी, पृ० ३९४।

वृषभ, अभिषेक और भिक्षु इन चार भेदों में विभक्त किये गये हैं।[1]

व्रत-नियम पालन की दुश्चरता

श्रमण निर्ग्रन्थों के व्रत और नियमों का पालन परम दुश्चर (परमदुश्चर) बताया गया है। जैसे, गंगा के प्रतिस्रोत को पार करना, समुद्र को भुजाओं से तैरना, वालू के ग्रास को भक्षण करना, असि की धार पर चलना, लोहे के चने चबाना, प्रज्वलित अग्नि की शिखा पकड़ना, और मंदरगिरि को तराजू पर तोलना महादुष्कर है, इसी प्रकार श्रमणधर्म का आचरण भी महादुष्कर बताया गया है। इस धर्म के पालने में सर्प की भांति एकान्त दृष्टि और छुरे की भांति एकान्त धार रखते हुए, यत्नपूर्वक आचरण करना पड़ता है।[2] इसीलिए कहा है कि निर्ग्रन्थ प्रवचन में क्लीव, कायर और कापुरुषों, तथा इहलौकिक इच्छाओं में रचे-पचे और परलोक के प्रति उदासीन लोगों का काम नहीं। इसका पालन तो कोई धीर, दृढ़चित्त और व्यवसायी पुरुष ही कर सकते हैं।[3]

निर्ग्रन्थ श्रमणों की तपस्या अत्यन्त विकट होती थी। भिक्षु-भिक्षुणियों के सम्बन्ध में कहा है कि आहार करते समय उन्हें चाहिये कि आहार को दांये जबड़े से बांये जबड़े की ओर और बांये जबड़े से दांये जबड़े की ओर न ले जाकर बिना स्वाद लिये ही उसे निगल जायें, तथा मांस और रक्त का शोषण करते हुए मच्छर आदि जन्तुओं को न हटायें।[4] जब मेघकुमार तप तपने लगे तो उनका शरीर सूखकर कांटा हो गया तथा उसमें मांस और रक्त का नाममात्र भी न रहा। इसलिए जब वे चलते या उठते-बैठते तो उनकी हड्डियों में से किटकिट की आवाज निकलती। बड़ी कठिनतापूर्वक वे चल पाते और कुछ बोलते हुए या बोलने का प्रयत्न करते हुए उन्हें चक्कर आ जाता। जिस प्रकार अंगार, काष्ठ, पत्र, तिल और एरंड की गाड़ी सूर्य की गर्मी से सूख जाने पर कड़कड़ आवाज करती है, उसी प्रकार मेघकुमार के अस्थिचर्मावशेष शरीर में से आवाज सुनायी देने लगी।[5]

---

१. निशीथभाष्य १५.४६३३।
२. उत्तराध्ययनसूत्र १६. ३६–४३।
३. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० २८।
४. आचारांग ७.४.२१२, पृ० २५२।
५. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० ४३।

धन्य अनगार की तपस्या

धन्य अनगार की तपस्या का वर्णन करते हुए कहा है कि उसके पाद, जंघा और ऊरु सूखकर रूक्ष हो गये थे, पेट पिचक कर कमर से जा लगा था और दोनों ओर से उठ कर विकराल कढ़ाई के समान हो गया था। उसकी पसलियां दिखायी दे रही थीं। कमर की हड्डियां अक्षमाला की भांति एक-एक करके गिनी जा सकती थीं, वक्षःस्थल की हड्डियां गंगा की लहरों के समान अलग-अलग दिखायी पड़ती थीं, भुजाएँ सूखे हुए सर्प की भांति कृश हो गयी थीं, और हाथ घोड़े के मुँह पर बांधने के तोबरे को भांति शिथिल होकर लटक गये थे। उसका सिर वातरोगी के समान कांप रहा था, मुँह मुरझाये हुए कमल की भांति म्लान हो गया था और घट के समान खुला होने से बड़ा विकराल प्रतीत होता था, नयन-कोश अन्दर को धँस गये थे, और बोलते समय उसे मूर्च्छा आ जाती थी। इस प्रकार राख से आच्छन्न अग्नि की भांति अपने तप और तेज से वह शोभित हो रहा था।[1] किसी तपस्वी के सम्बन्ध में कहा है कि तप्त शिला पर आरूढ़ होते ही उसका कोमल शरीर नवनीत की भांति पिघल कर बहने लगा।[2] चिलात मुनि के शरीर को चींटियां ने खाकर छलनी बना दिया था।[3]

जिनकल्प और स्थविरकल्प

निर्ग्रन्थ श्रमण दो प्रकार के बताये गये हैं—जिनकल्पी औरस्थविरकल्पी। जिनकल्पी पाणिपात्रभोजी और प्रतिग्रहधारी के भेद से दो प्रकार के होते हैं। कुछ पाणिपात्रभोजी ऐसे होते हैं जो वस्त्र नहीं रखते, केवल रजोहरण और मुखवस्त्रिका ही रखते हैं; कुछ ऐसे होते हैं जो रजोहरण और मुखवस्त्रिका के साथ-साथ एक, दो अथवा तीन वस्त्र (कप्प = कल्प) धारण करते हैं। जो प्रतिग्रहधारी होते हैं, यदि वे वस्त्र धारण नहीं करते, तो निम्नलिखित बारह उपकरण रखते हैं— पात्र, पात्रबन्ध, पात्रस्थापन, पात्रकेसरिका (पात्रमुखवस्त्रिका), पटल, रजस्त्राण, गोच्छक, तीन प्रच्छादक (वस्त्र), रजोहरण और मुखवस्त्रिका।

---

१. अनुत्तरोपपातिकदशा ३.१। बुद्ध की तपस्या के लिए देखिये मज्झिमनिकाय १, १२, पृ० ११२।

२. उत्तराध्ययनटीका १, पृ० २१।

३. आवश्यकचूर्णी पृ० ४६७; तथा देखिये निदानकथा, पृ० ८७-८८।

इनमें मात्रक और चोलपट्ट मिला देने से स्थविरकल्पियों[1] के चौदह उपकरण हो जाते हैं।[2] अन्य पात्रों में नंदीभाजन, पतद्ग्रह, विपतद्ग्रह, कमढक, विमात्रक और प्रश्रवणमात्रक के नाम आते हैं।[3] वर्षा ऋतु के योग्य उपकरणों में डगल (टट्टी पोंछने के मिट्टी आदि के ढेले), क्षार (राख), कुटमुख (घड़े जैसा पात्र), तीन प्रकार के मात्रक, लेप, पादलेखनिका, संस्तारक, पीठ और फलक के नाम[4] उल्लेखनीय हैं।

श्रमण निर्ग्रन्थ प्रतिदिन भिक्षा के लिए जाते और केशलोच करते। किसी प्रकार की ग्रंथि न रहने के कारण वे निर्ग्रन्थ कहे जाते थे। वे निम्नलिखित व्रतों का पालन करते थे—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और रात्रिभोजन त्याग; पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस जीवों की रक्षा; अभक्ष्य वस्तुओं का त्याग, गृहस्थ के पात्र में भोजन करने का त्याग, खाट (पलियंक) और आसन (निसज्जा= निषद्या), तथा स्नान और शरीरभूषा का त्याग।[5]

निर्ग्रन्थों को निम्नलिखित भोजन-पान ग्रहण करने का निषेध किया गया है—जो भोजन-पान खासतौर से उनके लिए तैयार किया गया हो (आधाकर्म), जो उद्दिष्ट हो, खरीदा गया हो (क्रीतकृत), उठाकर रक्खा हुआ हो, और उनके लिए बनाया गया हो। इसी प्रकार दुर्भिक्ष-भोजन (दुर्भिक्ष-पीड़ितों के लिए रक्खा हुआ), कांतार-भोजन (जंगल के लोगों के लिए तैयार किया हुआ), वर्दलिका-भोजन (वर्षा ऋतु में तैयार किया हुआ), ग्लान-भोजन (बीमारों का

---

१. निशीथभाष्य २.१३९०-९७; बृहत्कल्पभाष्य ३.३९६२ आदि; उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० ७५; ओघनिर्युक्ति ६६६-७४६। स्थविरकल्पियों के लिए देखिए आचारांगसूत्र ७.४.२०८ आदि। पटल और चोलपट्ट का उपयोग जननेन्द्रिय को ढँकने के लिए भी किया जाता था, बृहत्कल्पभाष्य १.२६५९। दिगम्बर मान्यता के लिए देखिए देवसेन, भावसंग्रह ११९-२३; कामताप्रसाद जैन, जैन एंटीक्वेरी, जिल्द ६, नं० ११।

२. शिथिल साधुओं में साम्पिक, सिद्धपुत्र, असंविग्न, पार्श्वस्थ आदि का उल्लेख है। देखिये निशीथचूर्णीपीठिका ३४६; १४.४५८७; व्यवहारभाष्य ८.२८८; गच्छाचारटीका, पृ० ८४ अ।

३. व्यवहारभाष्य ८.२५० आदि।

४. बृहत्कल्पभाष्य ३.४२६३।

५. दशवैकालिकसूत्र ६.८।

भोजन), तथा मूल, कंद, फल, बीज और हरित भोजन-पान।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन श्रमणों को संयम में स्थिर रखने के लिए सूक्ष्मातिसूक्ष्म नियमों का उल्लेख किया गया है, और संयम-पालन में थोड़ा भी प्रमाद होने से उनके लिए प्रायश्चित का विधान है। इन व्रतों और नियमों की सूक्ष्म चर्चा यहां अपेक्षित नहीं है, किन्तु इतना अवश्य है कि साधु को किस तरह भिक्षावृत्ति करना, कहां रहना, कैसे रहना, बीमार हो जाने पर किस प्रकार चिकित्सा कराना, तथा उपसर्ग अथवा दुर्भिक्ष उपस्थित होने पर, राज्य में अव्यवस्था होने पर और महामारी आदि फैलने पर किस प्रकार अपने चारित्र और संयम को सुरक्षित रखना, इन सब बातों का प्राचीन जैनसूत्रों—विशेषकर छेदसूत्रों—में खूब विस्तार से वर्णन किया गया है। निस्सन्देह इस वर्णन से तत्कालीन भारतीय जीवन पर प्रकाश पड़ता है।

निर्ग्रन्थ श्रमणों का संकटमय जीवन

संघ-व्यवस्था की स्थापना के पहले जैन श्रमणों को अपने चारित्र की रक्षा के लिए एक से एक कठिन संकटों का सामना करना पड़ता था। उन दिनों एक स्थान से दूसरे स्थान पर आवागमन की अनेक कठिनाइयां थीं, चोर-डाकू और जंगली जानवरों के भीषण उपद्रव हुआ करते थे, विरुद्ध राज्य होने पर सर्वत्र अव्यवस्था फैल जाती थी, दुर्भिक्ष और महामारी आदि रोग सर्वनाश कर डालते थे, वसति (ठहरने) की कठिन समस्या थी, जैन श्रमणों तथा अन्य तीर्थिकों—खासकर ब्राह्मणों—में वाद-विवाद हुआ करते थे, और रोग से पीड़ित होने पर साधुओं को भयंकर कष्ट सहने पड़ते थे।[2] ऐसी संकटकालीन स्थिति में भी जैन श्रमण व्रत, नियम और संयम का दृढ़तापूर्वक पालन करने के लिए दत्तचित्त रहते थे। ऐसा करते हुए कितने ही नाजुक क्षण ऐसे आते कि जीवन-मरण की स्थिति उत्पन्न हो जाती, और उस समय सुख-दुख के प्रति समभाव रखते हुए, शांतिपूर्वक प्राणों का त्याग करने में वे अपना परम सौभाग्य समझते।

अध्वप्रकरण

श्रमणों का गमनागमन धर्मप्रचार का एक महत्वपूर्ण अंग माना

१. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० २८।

२. साधुद्रोही मनुष्यों के वर्णन के लिए देखिये सूत्रकृतांग २,२.३२, पृ० ३२२ आदि।

इनमें मात्रक और चोलपट्ट मिला देने से स्थविरकल्पियों[1] के चौदह उपकरण हो जाते हैं।[2] अन्य पात्रों में नंदीभाजन, पतद्ग्रह, विपतद्ग्रह, कमढक, विमात्रक और प्रश्रवणमात्रक के नाम आते हैं।[3] वर्षा ऋतु के योग्य उपकरणों में डगल (टट्टी पोंछने के मिट्टी आदि के ढेले), क्षार (राख), कुटमुख (घड़े जैसा पात्र), तीन प्रकार के मात्रक, लेप, पादलेखनिका, संस्तारक, पीठ और फलक के नाम[4] उल्लेखनीय हैं।

श्रमण निर्ग्रन्थ प्रतिदिन भिक्षा के लिए जाते और केशलोच करते। किसी प्रकार की ग्रंथि न रहने के कारण वे निर्ग्रन्थ कहे जाते थे। वे निम्नलिखित व्रतों का पालन करते थे—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और रात्रिभोजन त्याग; पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस जीवों की रक्षा; अभक्ष्य वस्तुओं का त्याग, गृहस्थ के पात्र में भोजन करने का त्याग, खाट (पलियंक) और आसन (निसज्जा-निषद्या), तथा स्नान और शरीरभूषा का त्याग।[5]

निर्ग्रन्थों को निम्नलिखित भोजन-पान ग्रहण करने का निषेध किया गया है—जो भोजन-पान खासतौर से उनके लिए तैयार किया गया हो (आधाकर्म), जो उद्दिष्ट हो, खरीदा गया हो (क्रीतकृत), उठाकर रक्खा हुआ हो, और उनके लिए बनाया गया हो। इसी प्रकार दुर्भिक्ष-भोजन (दुर्भिक्ष-पीड़ितों के लिए रक्खा हुआ), कांतार-भोजन (जंगल के लोगों के लिए तैयार किया हुआ), वर्दलिका-भोजन (वर्षा ऋतु में तैयार किया हुआ), ग्लान-भोजन (बीमारों का

---

१. निशीथभाष्य २.१३९०-९७; बृहत्कल्पभाष्य ३.३९६२ आदि; उत्तराध्ययनटीका २, पृ० ७५; ओघनिर्युक्ति ६६६-७४६। स्थविरकल्पियों के लिए देखिए आचारांगसूत्र ७.४.२०८ आदि। पटल और चोलपट्ट का उपयोग जननेन्द्रिय को ढँकने के लिए भी किया जाता था, बृहत्कल्पभाष्य १.२६५९। दिगम्बर मान्यता के लिए देखिए देवसेन, भावसंग्रह ११९-३३; कामताप्रसाद जैन, जैन एंटीक्वेरी, जिल्द ६, नं० ११।

२. शिथिल साधुओं में सारूपिक, सिद्धपुत्र, असंविग्न, पार्श्वस्थ आदि का उल्लेख है। देखिये निशीथचूर्णीपीठिका ३४६; १४.४५८७; व्यवहारभाष्य ८.२८८; गच्छाचारटीका, पृ० ८४ अ।

३. व्यवहारभाष्य ८.२५० आदि।

४. बृहत्कल्पभाष्य ३.४२६३।

५. दशवैकालिकसूत्र ६.८।

भोजन), तथा मूल, कंद, फल, बीज और हरित भोजन-पान।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन श्रमणों को संयम में स्थिर रखने के लिए सूक्ष्मातिसूक्ष्म नियमों का उल्लेख किया गया है, और संयम-पालन में थोड़ा भी प्रमाद होने से उनके लिए प्रायश्चित का विधान है। इन व्रतों और नियमों की सूक्ष्म चर्चा यहां अपेक्षित नहीं है, किन्तु इतना अवश्य है कि साधु को किस तरह भिक्षावृत्ति करना, कहां रहना, कैसे रहना, बीमार हो जाने पर किस प्रकार चिकित्सा कराना, तथा उपसर्ग अथवा दुर्भिक्ष उपस्थित होने पर, राज्य में अव्यवस्था होने पर और महामारी आदि फैलने पर किस प्रकार अपने चारित्र और संयम को सुरक्षित रखना, इन सब बातों का प्राचीन जैनसूत्रों—विशेषकर छेदसूत्रों—में खूब विस्तार से वर्णन किया गया है। निस्सन्देह इस वर्णन से तत्कालीन भारतीय जीवन पर प्रकाश पड़ता है।

निर्ग्रन्थ श्रमणों का संकटमय जीवन

संघ-व्यवस्था की स्थापना के पहले जैन श्रमणों को अपने चारित्र की रक्षा के लिए एक से एक कठिन संकटों का सामना करना पड़ता था। उन दिनों एक स्थान से दूसरे स्थान पर आवागमन की अनेक कठिनाइयां थीं, चोर-डाकू और जंगली जानवरों के भीषण उपद्रव हुआ करते थे, विरुद्ध राज्य होने पर सर्वत्र अव्यवस्था फैल जाती थी, दुर्भिक्ष और महामारी आदि रोग सर्वनाश कर डालते थे, वसति (ठहरने) की कठिन समस्या थी, जैन श्रमणों तथा अन्य तीर्थिकों—खासकर ब्राह्मणों—में वाद-विवाद हुआ करते थे, और रोग से पीड़ित होने पर साधुओं को भयंकर कष्ट सहने पड़ते थे।[2] ऐसी संकटकालीन स्थिति में भी जैन श्रमण व्रत, नियम और संयम का दृढ़तापूर्वक पालन करने के लिए दत्तचित्त रहते थे। ऐसा करते हुए कितने ही नाजुक क्षण ऐसे आते कि जीवन-मरण की स्थिति उत्पन्न हो जाती. और उस समय सुख-दुख के प्रति समभाव रखते हुए, शांतिपूर्वक प्राणों का त्याग करने में वे अपना परम सौभाग्य समझते।

अध्वप्रकरण

श्रमणों का गमनागमन धर्मप्रचार का एक महत्वपूर्ण अंग माना

१. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० २८।

२. साधुद्रोही मनुष्यों के वर्णन के लिए देखिये सूत्रकृतांग २,२.३२, पृ० ३२२ आदि।

जाता था। ये लोग एक वर्ष में आठ महीने एक स्थान से दूसरे स्थान पर विहार करते रहते। जनपद-परीक्षा प्रकरण में कहा गया है कि जैन श्रमणों को नाना देशों की भाषाओं में कुशल होना चाहिए जिससे वे देश-देश के लोगों को उनकी भाषा में धर्मोपदेश दे सकें। तथा उन्हें इस बात की भी जानकारी होनी चाहिए कि किस देश में किस प्रकार से धान्य आदि की उत्पत्ति होती है, और कहां वनिज-व्यापार से आजीविका चलती है।[1] जनपद-विहार के समय श्रमण, विद्वान् आचार्यों के पादमूल में बैठकर सूत्रों के अर्थ का भी निश्चय कर सकते थे। लेकिन इसके लिए श्रमणों को बहुत दूर-दूर की यात्राएं करनी पड़ती थीं, तथा कहने की आवश्यकता नहीं कि उन दिनों मार्ग बड़े अरक्षित और खतरे से खाली नहीं थे। मार्गजन्य कष्टों से आक्रान्त हो कितने ही साधु भीषण जंगलों में पथभ्रष्ट हो जाते, जंगली जानवर उन्हें मारकर खा जाते, बड़े-बड़े रेगिस्तान, पहाड़ों और नदियों को उन्हें लांघना पड़ता, बर्फीले पहाड़ और कंटकाकीर्ण दुर्गम पथों पर चलना पड़ता, चोर-डाकुओं और जंगल में रहने वाली जातियों का उपद्रव सहन करना पड़ता,[2] तथा भोजन-पान के अभाव में अपने शरीर का त्याग करना पड़ता था। वात आदि रोग से ग्रस्त होने के कारण, साधु के घुटनों को वायु पकड़ लेती और उसकी जंघाओं में दर्द होने लगता था। कभी उपकरणों के भार से उसे चलने में कष्ट होता और बहुत से उपकरण देखकर चोर आदि पीछे लग लेते थे।[3] कभी अत्यधिक वर्षा के कारण नदी में बाढ़ आ जाने से बहुत दिन तक मार्ग रुक जाता, और कभी जंगली हाथी मार्ग रोक कर खड़ा हो जाता था।[4] रास्ता चलते हुए उनके पैरों में कांटे, गुठलियाँ और लकड़ी के ठूँठ घुस

---

१. बृहत्कल्पभाष्य १.१२२६–३९।

२. देखिये वही १.२३९२–९४; २७३६; २८४१–२६६८। मज्झिमनिकाय २, लकुटिकोपमसुत्त, पृ० १६२ (राहुल सांकृत्यायन, हिन्दी अनुवाद) में रात्रिभोजन-त्याग का उपदेश देते हुए कहा है कि मार्ग में चोरों का डर, गड्ढे में गिरने का डर और व्यभिचारिणी स्त्रियों का डर रहता है, अतएव भिक्षु को विकालभोजन से विरत रहना चाहिये।

३. बृहत्कल्पभाष्य १.३०५५–५७।

४. वही १.३०७३। वर्षावास के नियमों के लिये देखिये महावग्ग ३.१.३, पृ० १४४।

जाते, तथा कीचड़, ऊँचे-नीचे मार्ग, गुफा और गहरे गड्ढों में गिरने से वे मूर्च्छित हो जाते या उनके दर्द होने लगता; अनार्यों का डर रहता और उनको स्त्रियों द्वारा उपसर्ग किये जाने की संभावना रहती।[1]

कितनी ही बार साधुओं को किसी सार्थ के साथ गमन करना पड़ता था। कभी सार्थ के लोग जंगली जानवरों से रक्षा करने के लिए बाड़ लगाते, तो साधुओं को भी अपनी रक्षा के लिए सूखे कांटों की बाड़ लगानी पड़ती, अथवा सूखी लकड़ियां आदि जलाकर रक्षा करनी पड़ती। इसी प्रकार चोरों से रक्षा करने के लिए उन्हें वागाडंबर (वयणचडगर) का आश्रय लेना पड़ता था। कभी ऐसे भी अवसर आते कि किसी महाटवी में श्वापद अथवा चोरों आदि के भय से सार्थ के लोग इधर-उधर भाग जाते और साधु मार्ग-भ्रष्ट हो[2] जाते, अथवा वृक्ष आदि पर चढ़कर उन्हें अपनी रक्षा करनी पड़ती। ऐसी हालत में वनदेवता का आसन कम्पायमान करके मार्ग पूछना पड़ता। कभी भोजन आदि कम हो जाने पर सार्थ के लोगों को कंद, मूल और फल का भक्षण करना पड़ता और साधुओं से भी वे इन्हीं वस्तुओं को खाने का आग्रह करते। यदि साधु भक्षण कर लेते तो ठीक, नहीं तो वे उन्हें डराने के लिए रस्सी दिखाते कि यदि हमारा साथ न दोगे तो रस्सी से लटका कर प्राण हरण कर लेंगे।[3] अध्वगमन के उपयोगी पदार्थों में साधुओं के लिये शक्कर अथवा गुड़मिश्रित केले, खजूर, सत्तू अथवा पिण्याक (पिन्नी) भक्षण करने का विधान है।[4]

नाव-गमन

यदि कभी जैन श्रमणों को नाव द्वारा नदी पार करने की आवश्यकता पड़ती तो यह भी एक समस्या हो जाती। कभी अनुकम्पाशील नाव के व्यापारी, पहले से नाव पर बैठे हुए यात्रियों को उतार कर, उनकी जगह साधुओं को बैठा लेते, अथवा नदी के दूसरे किनारे पर साधुओं को देखकर वे अपनी नाव वहां ले जाते। ऐसी हालत में नाव से उतारे हुए यात्री साधुओं से द्वेष करने लगते, और उनसे बदला लेने का प्रयत्न करते। एक बार पाटलिपुत्र में मुरुंड राजा गंगा

---

१. बृहत्कल्पभाष्य १.८८१।

२. देखिए आवश्यकचूर्णी २, पृ० १५४।

३. बृहत्कल्पभाष्य १.३१०३-१४; निशीथचूर्णीपीठिका २९५।

४. निशीथभाष्य १६.५६८४।

में स्नान कर रहा था। इस बीच में दूसरे किनारे पर साधुओं को खड़ा देख, अपनी नाव लेकर वह स्वयं उन्हें लाने चला। उधर से लौटते हुए नदी के पार पहुँचने तक राजा ने एक साधु से कोई कथा सुनाने के लिए कहा। साधु ने कथा सुनायी। राजा को कथा अच्छी लगी। बाद में राजा ने उस साधु की तलाश करवाकर उसे अपने अन्तःपुर में कथा सुनाने के लिए बुलवाया।[1]

कभी कोई श्रमण-विद्वेषी, द्वेष के कारण, साधुओं के नाव पर आरूढ़ होने के पश्चात् उन्हें कष्ट पहुँचाने के लिए अपनी नाव को नदी के प्रवाह में या समुद्र में डाल देता था। कभी कोई नाविक साधुओं अथवा उनकी उपधि पर जल के छींटे डालता, या साधु को जल में फेंक देता। ऐसी हालत में मगर आदि जलचर जीवों और समुद्र में फिरनेवाले चोरों का उन्हें डर रहता।[2]

कभी नाव में बैठे हुए यात्री नाविक से कहते कि यह साधु पात्र के समान निश्चेष्ट बैठा हुआ है जिससे नाव भारी हो गयी है, इसलिए इसका हाथ पकड़कर इसे पानी में फेंक दो। यह सुनकर साधु अपने चीवर को ठीक तरह से बांध लेता या उसे सिर पर लपेट लेता। नाव के यात्रियों से वह कहता कि आप लोग इस तरह मुझे क्यों फेंक रहे हैं, मैं स्वयं नाव से उतरा जाता हूँ। यदि वे लोग फिर भी उसकी बात न सुनकर उसे जबर्दस्ती पानी में धकेल ही दें, तो बिना रोष किये हुए, उसे जल को तैर कर पार कर लेना चाहिए। यदि ऐसा न कर सके तो उपधि का त्याग कर कायोत्सर्ग करना चाहिए; नहीं तो किनारे पर पहुँचकर गीले शरीर से बैठ जाना चाहिए। यदि जल को जंघा से पार किया जा सके तो जल को आलोड़न करता हुआ न जाये; एक पांव जल में और दूसरा ऊपर रखकर जल को पार करे। यदि कदाचित् जल के प्रवाह में बह जाय तो कायोत्सर्गपूर्वक शरीर का त्याग करे।[3] भगवान महावीर के नावारूढ़ होने पर उन्हें अनेक

---

१. बृहत्कल्पभाष्य ४.५६२३-२६; निशीथभाष्य १२.४२१५।

२. बृहत्कल्पभाष्य ४.५६२९-३३।

३. आचारांग २, ३. २, पृ० ३८७-अ आदि। भायस्ती की ऐरावती (अचिरावती = राप्ती) नदी में आधी जंघा तक जल रहता था। इस नदी को एक पैर जल में और दूसरा आकाश में रखकर पार करने का विधान है, बृहत्कल्पसूत्र ४.३३; निशीथभाष्य १२.४२२८ आदि। जैन साधु को नाव के

उपसर्ग सहन करने पड़े थे। साधुओं को कीचड़ पार करके भी जाना पड़ता था। लत्तगपथ (थोड़ी कीचड़वाला मार्ग; इस मार्ग में इतनी कीचड़ होती थी जितनी कि अलते से पैर रचाने के लिये पर्याप्त हो), खलुगमात्र (पैर की घुंटी तक आनेवाली कीचड़), अर्धजंघामात्र, जानुमात्र और नाभि तक आनेवाली कर्दमयुक्त पथों का उल्लेख किया गया है।[२]

चोर-डाकुओं का उपद्रव (हृताहृतप्रकरण)[३]

चोर-डाकुओं के उपद्रव भी कुछ कम न थे। ये लोग जल और स्थल द्वारा व्यापार करने वाले सार्थवाहों को लूट लेते, साधुओं को मार डालते और साध्वियों को भगाकर ले जाते। कभी बोधिक चोर (म्लेच्छ) किसी आचार्य या गच्छ का वध कर डालते, संयतियों को जबर्दस्ती हर ले जाते तथा चैत्यों और उनकी सामग्री को नष्ट कर डालते।[४] इस प्रकार के प्रसंग उपस्थित होने पर, अपने आचार्य की रक्षा के लिए कोई वयोवृद्ध साधु गण का नेता बन जाता, और गण का आचार्य सामान्य भिक्षु का वेप धारण कर लेता।[५] कभी ऐसा भी होता कि आक्रान्तिक चोर चुराये हुए वस्त्र को दिन में ही साधुओं को वापिस कर जाते, किन्तु अनाक्रांतिक चोर रात्रि के समय वस्त्रों को उपाश्रय के बाहर मूत्रस्थान (प्रश्रवणभूमि) में डालकर भाग जाते।[६] यदि कभी कोई चोर सेनापति उपधि के लोभ के कारण आचार्य की हत्या करने के लिए उद्यत होता तो धनुर्वेद का अभ्यासी कोई साधु अपने भुजाबल से, अथवा धर्मोपदेश देकर, या मंत्र, विद्या, चूर्ण और निमित्त आदि का प्रयोग कर उसे शान्त करता।[७] यदि कभी

अग्र भाग अथवा पृष्ठभाग में न बैठकर मध्य भाग में बैठने का विधान है, निशीथचूर्णीपीठिका १९८-९९।

१. निशीथभाष्य १२.४२१८।

२. वही १२.४२३४।

३. बृहत्कल्पसूत्र १.४५ तथा भाष्य।

४. निशीथचूर्णीपीठिका २८९ की चूर्णी। ऐसे समय कहा गया है—एयं ते सव्वे अणुसठीए अठायमाणा ववरोवेयव्वा।

५. बृहत्कल्पभाष्य १.३००५-६; निशीथभाष्यपीठिका ३२१।

६. बृहत्कल्पभाष्य १.३०११।

७. वही १.३०१४ आदि।

में स्नान कर रहा था। इस बीच में दूसरे किनारे पर साधुओं को खड़ा देख, अपनी नाव लेकर वह स्वयं उन्हें लाने चला। उधर से लौटते हुए नदी के पार पहुँचने तक राजा ने एक साधु से कोई कथा सुनाने के लिए कहा। साधु ने कथा सुनायी। राजा को कथा अच्छी लगी। बाद में राजा ने उस साधु की तलाश करवाकर उसे अपने अन्तःपुर में कथा सुनाने के लिए बुलवाया।[1]

कभी कोई श्रमण-विद्वेषी, द्वेष के कारण, साधुओं के नाव पर आरूढ़ होने के पश्चात् उन्हें कष्ट पहुँचाने के लिए अपनी नाव को नदी के प्रवाह में या समुद्र में डाल देता था। कभी कोई नाविक साधुओं अथवा उनकी उपधि पर जल के छींटे डालता, या साधु को जल में फेंक देता। ऐसी हालत में मगर आदि जलचर जीवों और समुद्र में फिरनेवाले चोरों का उन्हें डर रहता।[2]

कभी नाव में बैठे हुए यात्री नाविक से कहते कि यह साधु पात्र के समान निश्चेष्ट बैठा हुआ है जिससे नाव भारी हो गयी है, इसलिए इसका हाथ पकड़कर इसे पानी में फेंक दो। यह सुनकर साधु अपने चीवर को ठीक तरह से बांध लेता या उसे सिर पर लपेट लेता। नाव के यात्रियों से वह कहता कि आप लोग इस तरह मुझे क्यों फेंक रहे हैं, मैं स्वयं नाव से उतरा जाता हूँ। यदि वे लोग फिर भी उसकी बात न सुनकर उसे जबर्दस्ती पानी में धकेल ही दें, तो बिना रोष किये हुए, उसे जल को तैर कर पार कर लेना चाहिए। यदि ऐसा न कर सके तो उपधि का त्याग कर कायोत्सर्ग करना चाहिए; नहीं तो किनारे पर पहुँचकर गीले शरीर से बैठ जाना चाहिए। यदि जल को जंघा से पार किया जा सके तो जल को आलोड़न करता हुआ न जाये; एक पांव जल में और दूसरा ऊपर रखकर जल को पार करे। यदि कदाचित् जल के प्रवाह में बह जाय तो कायोत्सर्गपूर्वक शरीर का त्याग करे।[3] भगवान महावीर के नावारूढ़ होने पर उन्हें अनेक

---

१. बृहत्कल्पभाष्य ४.५६२३-२६; निशीथभाष्य १२.४२१५।

२. बृहत्कल्पभाष्य ४.५६२९-३३।

३. आचारांग २, ३. २, पृ० ३४७-अ आदि। श्रावस्ती की ऐरावती (अचिरावती = राप्ती) नदी में आधी जंघा तक जल रहता था। इस नदी को एक पैर जल में और दूसरा आकाश में रखकर पार करने का विधान है, बृहत्कल्पसूत्र ४.३३; निशीथभाष्य १२.४२२८ आदि। जैन साधु को नाव के

उपसर्ग सहन करने पड़े थे। साधुओं को कीचड़ पार करके भी जाना पड़ता था। लत्तगपथ (थोड़ी कीचड़वाला मार्ग; इस मार्ग में इतनी कीचड़ होती थी जितनी कि अलते से पैर रचाने के लिये पर्याप्त हो), खलुगमात्र (पैर की घुंटी तक आनेवाली कीचड़), अर्धजंघामात्र, जानुमात्र और नाभि तक आनेवाली कर्दमयुक्त पथों का उल्लेख किया गया है।[२]

चोर-डाकुओं का उपद्रव (हृताहृतप्रकरण)[३]

चोर-डाकुओं के उपद्रव भी कुछ कम न थे। वे लोग जल और स्थल द्वारा व्यापार करने वाले सार्थवाहों को लूट लेते, साधुओं को मार डालते और साध्वियों को भगाकर ले जाते। कभी बोधिक चोर (म्लेच्छ) किसी आचार्य या गच्छ का वध कर डालते, संयतियों को जबर्दस्ती हर ले जाते तथा चैत्यों और उनकी सामग्री को नष्ट कर डालते।[४] इस प्रकार के प्रसंग उपस्थित होने पर, अपने आचार्य की रक्षा के लिए कोई वयोवृद्ध साधु गण का नेता बन जाता, और गण का आचार्य सामान्य भिक्षु का वेष धारण कर लेता।[५] कभी ऐसा भी होता कि आक्रान्तिक चोर चुराये हुए वस्त्र को दिन में ही साधुओं को वापिस कर जाते, किन्तु अनाक्रांतिक चोर रात्रि के समय वस्त्रों को उपाश्रय के बाहर मूत्रस्थान (प्रस्रवणभूमि) में डालकर भाग जाते।[६] यदि कभी कोई चोर सेनापति उपधि के लोभ के कारण आचार्य की हत्या करने के लिए उद्यत होता तो धनुर्वेद का अभ्यासी कोई साधु अपने भुजाबल से, अथवा धर्मोपदेश देकर, या मंत्र, विद्या, चूर्ण और निमित्त आदि का प्रयोग कर उसे शान्त करता।[७] यदि कभी

अग्र भाग अथवा पृष्ठभाग में न बैठकर मध्य भाग में बैठने का विधान है, निशीथचूर्णीपीठिका १९८-९९।

१. निशीथभाष्य १२.४२१८।

२. वही १२.४२३४।

३. बृहत्कल्पसूत्र १.४५ तथा भाष्य।

४. निशीथचूर्णीपीठिका २८९ की चूर्णी। ऐसे समय कहा गया है—एवं ते सव्वे अणुसट्ठीए अट्ठायमाणा ववरोवेयव्वा।

५. बृहत्कल्पभाष्य १.३००५-६; निशीथभाष्यपीठिका ३२१।

६. बृहत्कल्पभाष्य १.३०११।

७. वही १.३०१४ आदि।

बोधिक चोरों का उपद्रव हो और कोई भी उपाय न हो सके तो देश छोड़कर जाने का विधान है।[1] साधुओं के कंबलरत्न (कीमती कंबल) के ऊपर भी चोरों की नजर रहती थी, और अनेक बार वे छुरा दिखाकर, खंडित किये हुए कंबल को उनसे सिलवा कर ले लेते थे।[2] चोरों द्वारा सर्वस्व हरण कर लिए जाने पर, भयंकर शीत के समय, उन्हें अपने हाथ-पांव को आग में तापना पड़ता था।[3]

वैराज्य-विरुद्ध राज्य प्रकरण

वैराज्य अथवा विरुद्ध राज्य में गमनागमन से जैन श्रमणों को दारुण कष्टों का सामना करना पड़ता था। वैराज्य चार प्रकार का बताया गया है—(क) राजा की मृत्यु हो जाने पर यदि दूसरे राजा और युवराज का अभिषेक न हुआ हो (अणराय), (ख) पहले राजा द्वारा नियुक्त युवराज से अधिष्ठित राज्य; अभी तक दूसरा युवराज अभिषिक्त न किया गया हो (जुवराय), (ग) दूसरे राजा की सेना ने राज्य को घेर लिया हो (वेरज्जय = वैराज्य), (घ) एक ही गोत्र के दो व्यक्तियों में राज्यप्राप्ति के लिए कलह हो रही हो (वेरज्ज=द्वैराज्य)। यदि किसी जनपद में व्यापारियों का गमनागमन रहता तो साधु को भी उस जनपद में विहार कर सकने की अनुज्ञा थी, अन्यथा विरुद्ध राज्य होने से वहां गमनागमन का निषेध किया गया है।[4]

ऐसी दशा में कंधे पर लाठी रखकर चलनेवाले मुसाफिरों (अत्ताण), चोरों, शिकारियों (मेय), राजा की आज्ञा के बिना सपरिवार भागकर जानेवाले भटों, राहगीरों, और गुप्तचरों के साथ गमन करने की आज्ञा है।[5] लेकिन कभी नगररक्षक (गोम्मिय = गौल्मिक), चोर और गुप्तचरों[6] आदि के भय से मार्गों को रोककर रखते थे, ऐसी हालत में

---

१. वही १.२११७।

२. वही ३.३९०३-४।

३. निशीथचूर्णीपीठिका ३२४।

४. बृहत्कल्पभाष्य १.२७६४-६५।

५. वही १.२७६६।

६. एकलविहारी श्रावस्ती के राजकुमार भद्र को वैराज्य में गुप्तचर समझकर पकड़ लिया गया था। उसे अनार्यों से कंपवाकर उसके शरीर में तीक्ष्ण दर्भों का प्रवेश कर, उसे असह्य वेदना पहुँचाई गयी, उत्तराध्ययनटीका २, पृ० ४७।

यदि साधु किसी उन्मार्ग से जनपद में प्रवेश करते तो उन्हें वध-बंधन आदि का भागी होना पड़ता। किन्तु दर्शन और ज्ञान के प्रसार के लिए, आहार-शुद्धि के लिए, ग्लान साधु की चिकित्सा के लिए अथवा किसी आचार्य से मिलने आदि के लिए साधु वैराज्य और विरुद्ध राज्य में भी संक्रमण कर सकते थे। ऐसी दशा में नगररक्षक (आरक्खिय), श्रेष्ठी, सेनापति, अमात्य, अथवा राजा की अनुमति प्राप्त कर गमन करना ही उचित बताया है। कभी दो राजाओं में कलह होने पर, कोई राजा अपने प्रतिद्वन्द्वी राजा द्वारा प्रतिष्ठित आचार्य का राजपुरुषों द्वारा अपहरण करा लेता था। ऐसी हालत में धनुर्वेदी साधु को पराक्रम दिखाकर आचार्य को छुड़ाने का विधान है।[1]

राजा यदि निर्ग्रन्थ श्रमणों के प्रति सद्भाव रखता तब तो ठीक था, लेकिन यदि वह उनसे द्वेष रखता तो साधुओं को दारुण कष्टों का सामना करना पड़ता था। यदि साधुओं ने राजा के अन्तःपुर में घर्षण किया हो, राजा अथवा अमात्य के पुत्र को दीक्षित कर लिया हो, राजभवन में साधु के वेष में धन आदि के लोभी साहसी लोग (अभिमर) घुस आये हों, साधुओं का दर्शन अनिष्ट समझा जाता हो, किसी साधु को किसी अविरतिका के साथ अनाचार करते देखा गया हो, तो ऐसी दशा में प्रद्विष्ट होने के कारण राजा साधुओं को देश-निकाला दे सकता है, उनका भोजन-पान बन्द कर सकता है, उनके उपकरणों का हरण कर सकता है तथा उनके चारित्र अथवा जीवन का सत्यानाश कर सकता है। ऐसी हालत में राजपुरुष भिक्षा के लिए आये हुए साधुओं को रोककर देश से बाहर कर देते हैं। भक्त-पान रोक दिये जाने पर साधुओं को रात्रि के रक्खे हुए बासी भोजन, तक्र, खली (पिंडी), और वायसपिंडिका आदि का आश्रय लेना पड़ता है। राजा के द्वारा वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों का अपहरण कर लिए जाने पर, देवकुल आदि में कापालिक साधुओं द्वारा त्यागे हुए अथवा कूड़ी आदि पर पड़े हुए वस्त्रों को ग्रहण करने का विधान है। शीत लगने पर तृणों को ओढ़ने या आग में तापने का आदेश है। रजोहरण के स्थान पर मयूरपिच्छ, और प्रस्तरण आदि के स्थान पर चर्म का उपयोग करें, पलाश के पत्तों अथवा हाथ में भोजन ग्रहण करे तथा हंसतैल आदि के उत्पादन की भाँति अवस्वापन और तालोद्घाटन आदि के प्रयोग द्वारा वस्त्र और पात्र आदि को प्राप्त करे।

---

१. बृहत्कल्पभाष्य १.२७५५-८७।

यदि राजा ने जीवन से वंचित करने का निश्चय ही कर लिया हो तो उसे विद्या, निमित्त अथवा चूर्ण आदि के प्रयोग से वश में करे। यदि यह संभव न हो तो जंगल के गहन वृक्षों अथवा पद्मों के तालाब आदि में छिपकर अपनी रक्षा करे।[१]

कभी राजा के अभिषेक-समारोह पर समस्त प्रजा और सभी पाखण्डी तो उपस्थित होते, केवल श्वेतभिक्षु न आते, तो ऐसी दशा में राजा उन्हें देश से निष्कासित कर देता।[२] नमुई के राजपद पर अभिषिक्त होने पर, श्वेत भिक्षुओं को छोड़कर, सारी प्रजा उसे बधाई देने आयी थी; यह बात राजा को अच्छी न लगी। उसने श्वेत भिक्षुओं को बुलाकर कहा—'जिसे राजपद प्राप्त हो, वह क्षत्रिय हो या ब्राह्मण, उसे सभी साधुओं को उपस्थित होकर बधाई देनी चाहिए, कारण कि राजा तपोवन की रक्षा करता है। तुम लोग मर्यादा का पालन नहीं करते, इसलिए राज्य को छोड़कर फौरन चले जाओ।' यह देखकर एक साधु गंगामन्दिर पर्वत पर विष्णुकुमार मुनि के पास पहुँचा। विष्णुकुमार[३] आकाशविद्या की सहायता से फौरन ही गजपुर के लिए रवाना हो गये। वे साधुओं को साथ लेकर नमुई के दर्शनार्थ गये। लेकिन नमुई ने कहा—'जो कुछ मुझे कहना था, मैंने कह दिया है, बार-बार कहने से कोई लाभ नहीं।' यह देखकर विष्णुकुमार ने राजा से तीन पैर जमीन की याचना की। राजा ने तीन पैर रखने की जगह दे दी, लेकिन कहा कि यदि कहीं चौथा पैर रखा तो सिर काट लिया जायगा। यह सुनकर विष्णुकुमार को भी क्रोध आ गया। कोपाग्नि से उनका शरीर बढ़ता चला गया। यह देख श्रमण संघ ने उन्हें किसी प्रकार शान्त किया। इस समय से विष्णुकुमार त्रिविक्रम के नाम से विख्यात हुए।[४]

---

१. वही. १.३।२०–२६। २. निशीथचूर्णी ४.१५७१।

३. व्यवहारभाष्य वृत्ति १.१०–११, पृ० ७६–७७ में उल्लेख है कि जैसे चाणक्य ने नन्द राजाओं का और नलदाम जुलाहे ने मकोड़ों का उन्मूलन किया, वैसे ही प्रवचन से द्वेष करने वाले राजा का समूल नाश करे। ऐसे लोग केवल शुद्ध ही नहीं कहलाते, बल्कि शीघ्र ही उन्हें मोक्ष की प्राप्ति होती है (अचिरान्मोक्षगमनं)। यहाँ प्रवचन के ग्राहक के रूप में विष्णुकुमार मुनि का उदाहरण दिया है। तथा देखिए वहीं ७.५४५–४७, पृ० ६४–अ–६५; निशीथचूर्णी पीठिका ४८७ की चूर्णी, पृ० १६२–६३।

४. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २४६।

और भी अनेक प्रकार के राज्योपद्रव हुआ करते थे। किसी राजा के तीनों राजकुमारों ने दीक्षा ग्रहण कर ली, किन्तु संयोगवश कुछ समय बाद राजा की मृत्यु हो गयी। मन्त्रियों ने राजा के लक्षणों से युक्त किसी कुमार का अन्वेषण करना आरम्भ किया। पता लगा कि दीक्षित राजकुमार विहार करते हुए नगर में आये हैं और उद्यान में ठहरे हुए हैं। यह सुनकर अमात्य छत्र, चमर और खड्ग लेकर उद्यान में पहुँचे। पहले राजकुमार ने संयम-पालन में असमर्थता प्रकट की, दूसरे ने उपसर्ग सहकर भी संयम-का पालन किया, और तीसरे को आचार्य ने संयतियों के उपाश्रय में छिपा दिया।[1]

कभी राजपुत्र और पुरोहित दोनों ही प्रद्वेष करनेवाले होते थे। कोई साधु उज्जैनी में विहार कर रहा था। भिक्षा के लिए उसने राज-भवन में प्रवेश किया। कुमारों ने उसे नृत्य करने के लिए कहा। लेकिन साधु ने उत्तर दिया कि यदि तुम लोग बाजा बजाओ तो मैं नाच सकता हूँ। कुमारों ने बजाना शुरू किया, लेकिन वे ठीक प्रकार से नहीं बजा सके। साधु और कुमारों में झगड़ा हो गया। मारपीट के बाद साधु अपने गुरु के समीप पहुँचा। पीछे-पीछे राजा अपने दल-बल सहित उपाश्रय में आया। साधु ने राजा को फटकारते हुए कहा. कि तुम कैसे राजा हो जो तुमसे अपने पुत्र भी वश में नहीं रक्खे जा सकते।[2]

उपाश्रयजन्य संकट

निर्ग्रन्थ श्रमणों को ठहरने की बहुत बड़ी समस्या थी। अनेक जनपदों में रहने के लिए उन्हें स्थान का मिलना कठिन था, और ऐसी दशा में उन्हें वृक्ष, चैत्य या शून्यगृह की शरण लेनी पड़ती थी। लेकिन ग्राम के बाहर देवकुल अथवा शून्यघर में ठहरने से स्त्री अथवा नपुंसक द्वारा उपसर्ग किये जाने की आशंका रहती थी।[3] कभी वहां सेना पड़ाव डालती थी, अथवा व्याघ्र आदि जंगली जानवरों का आना-जाना लगा रहता था। ऐसे स्थानों पर रात के समय चोरों का भय रहता, सर्प, मकोड़े आदि निकलते, मच्छरों का उपद्रव होता और कुत्ते पात्र उठाकर ले जाते।[4] कभी वहाँ घूम-फिर कर कोतवाल आकर

---

१. देखिए ऊपर पृ० ४७–४८; तथा निशीथभाष्य ४.१७४०–४४।

२. उत्तराध्ययनटीका २, पृ० २५–अ।

३. देखिये बृहत्कल्पभाष्य १.२४९३–९९।

४. निशीथभाष्य ५.१९१४ की चूर्णी; बृहत्कल्पभाष्य १.२३३०–३३।

सो जाते और कभी व्यापारी अपना सामान बेचकर सो जाते। कार्पाटिक और सरजस्क साधु तथा कुँवारे लोग (षंढ) यहाँ आकर विश्राम[1] करते। साधुओं को अपनी वसति की दिन में तीन बार देखभाल करने का आदेश है। क्योंकि संभव है कि कोई स्त्री अपने नवजात शिशु को या अकाल आदि के कारण मृत सन्तान को उपाश्रय के पास डाल जाये, या कोई किसी को मार कर या चुराये हुए धन को वहाँ रख जाये। यह भी संभव है कि कोई दृढ़व्रती अथवा परीषहों द्वारा पराजित साधु गले में फंदा लटका कर प्राणों को त्याग दे और फिर साधुओं को नाहक ही राजकुल में घसीटा जाये।[2] उपाश्रय के अभाव में विशेषकर साध्वियों को बहुत कष्ट सहन करने पड़ते थे, अतएव उन्हें सभा, प्याऊ (प्रपा) अथवा देवकुल आदि आवागमन के स्थानों में (आगमणगिह), खुले हुए स्थानों में (वियडगिह), घर के बाहर चबूतरे आदि स्थानों में (वंसीमूल) और वृक्ष के नीचे ठहरने का निषेध किया गया है।[3] साधु के लिए विधान है कि उसे कानों से नीचे की वसति में न रहना चाहिए; इससे झुककर चलने में कुत्ते-बिल्ली जननेन्द्रिय को तोड़ लेने का प्रयत्न कर सकते हैं, अथवा ऊपर सिर लगने से सांप-बिच्छू द्वारा डंसे जाने की आशंका रहती है। इसी प्रकार संस्तारक को जमीन से एक हाथ ऊपर बिछाने का विधान है, नहीं तो नीचे की ओर हाथ लटका रह जाने से सर्प आदि के चढ़ आने का भय रहता है।[4]

रोगजन्य कष्ट

बीमार पड़ने पर साधुओं को चिकित्सा के लिए दूसरों पर ही अवलम्बित रहना पड़ता था। पहले तो चिकित्सा में कुशल साधु द्वारा ही रोगी की चिकित्सा किये जाने का विधान है, लेकिन फिर भी यदि बीमारी ठीक न हो तो किसी अच्छे वैद्य को दिखाना चाहिये। यदि ग्लान इतना अधिक बीमार हो जाय कि उसे वैद्य के घर ले जाना पड़े और मार्ग की आतापना सहन न करने के कारण, कदाचित् वह प्राण छोड़ दे तो ऐसी हालत में आक्रोशपूर्ण वचनों से वैद्य कह सकता

१. ओघनिर्युक्ति २१८, पृष्ठ ८८-अ।
२. बृहत्कल्पभाष्य ३.४७४५-४६।
३. बृहत्कल्पसूत्र ३.११ तथा भाष्य।
४. बृहत्कल्पभाष्य ४.५६७३-७७।

है—"क्या तुम लोगों ने मेरा घर श्मशान-कुटी समझ रक्खा है जो मुर्दे को यहां लेकर आये हो।" तत्पश्चात् वैद्य मृतक का स्पर्श कर सचैल स्नान करता है और अपना घर गोबर से लिपवाता है। वैद्य के घर शकुन देखकर ही जाने का विधान है। यदि वह एक धोती (शाटक) पहने हो, तैल की मालिश करा रहा हो, लोध्र का उबटन लगवा रहा हो, हजामत बनवा रहा हो, राख के ढेर या कूड़े के पास खड़ा हो, आपरेशन कर रहा हो, घट या तुंबी को फोड़ रहा हो, या शिराभेद कर रहा हो तो उस समय कोई प्रश्न उससे न पूछे। हां, यदि वह शुभ आसन पर बैठा हो, प्रसन्न मुद्रा में वैद्यकशास्त्र की कोई पुस्तक पढ़ रहा हो, या किसी की चिकित्सा कर रहा हो तो धर्म-लाभ पूर्वक उससे रोगी के सम्बन्ध में प्रश्न करना चाहिए।[1] यदि वैद्य स्वयं ग्लान को देखने के लिए कहे तो उसे उपाश्रय में बुलाना चाहिए। वैद्य के उपाश्रय में आने पर आचार्य आदि को उठकर ग्लान साधु को उसे दिखाना चाहिए। आचार्य को पहले वैद्य से बातचीत करना चाहिए और आसन आदि से उसे उपनिमंत्रित करना चाहिए। आवश्यकता होने पर साधुओं को वैद्य के स्नान, शयन, वस्त्र और भोजन आदि की व्यवस्था भी करनी चाहिए। यदि वैद्य अपनी दक्षिणा मांगे तो साधु ने दीक्षा लेते समय जो धन निकुंज आदि में गाड़कर रक्खा हो उससे, अथवा योनिप्राभृत की सहायता से धन उत्पन्न कर उसे देना चाहिए। यदि यह संभव न हो तो यंत्रमय हंस अथवा कपोत आदि द्वारा उपार्जित धन वैद्य को दक्षिणा के रूप में देना चाहिए।[2] शूल उठने पर अथवा विष, विसूचिका या सर्पदष्ट से पीड़ित होने पर साधुओं को रात्रि के समय भी औषध सेवन करने का विधान है।[3]

दुर्भिक्षजन्य उपसर्ग

उन दिनों अति भयंकर दुष्काल पड़ते थे, जिससे साधुओं को नियम-विहित भिक्षा प्राप्त होना दुष्कर हो जाता था। आर्य वज्रस्वामी का उल्लेख किया जा चुका है। दुष्काल के समय मंत्र-विद्या के बल से

१. तुलना कीजिये सुश्रुत १.२६, १४-१६ आदि।

२. बृहत्कल्पभाष्य १.१६१०-२०१३; व्यवहारभाष्य ५.८९-९०, पृ० २०; निशीथसूत्र १०.१६-३६; भाष्य २९६६-३१२२।

३. बृहत्कल्पभाष्य १.२८७३-७४।

आहार लाकर वे साधुओं का पेट भरते थे। दुर्भिक्ष के समय एषणाशुद्धि नहीं रह सकती थी और असमाधि से मरण हो जाता था। यह जानकर एकबार किसी आचार्य ने अपने गच्छ के समस्त साधुओं को अन्यत्र विहार कर जाने का आदेश दिया। सब साधु तो चले गये, केवल एक क्षुल्लक आचार्य के स्नेह के कारण, जाकर भी वापिस लौट आया। तत्पश्चात् यह सोचकर कि आचार्य को क्यों कष्ट दिया जाय, वह स्वयं भिक्षा के लिए जाने लगा। भिक्षावृत्ति करते समय किसी प्रोषितभर्तृका ने उसे उसके साथ ही रहकर भोग भोगने के लिए निमंत्रित किया। क्षुल्लक ने सोचा कि यदि इसकी बात न मानूँगा तो असमाधि के कारण प्राणों से वंचित होना पड़ेगा; अतएव वे दोनों पति-पत्नी के रूप में रहने लगे।[1]

ब्रह्मचर्यजन्य कठिनाइयाँ

जैनसूत्रों में जगह-जगह साधुओं को उपदेश दिया है कि स्त्रियों के सम्पर्क से सदा बचना चाहिए। जैसे लाख को अग्नि में डालने से वह फौरन ही जल उठती है, उसी प्रकार साधु स्त्रियों के संवास से नष्ट हो जाता है।[2] स्त्री को चिपले कंटक की उपमा[3] दी गयी है, तथा साधुओं को लंगड़ी, लूली अथवा बूची और नकटी स्त्री से भी दूर ही रहने का आदेश है।[4] स्त्रियों का उपसर्ग अथवा शीतस्पर्श न सह सकने के कारण प्राणों तक का त्याग कर देने का विधान है।[5]

लेकिन अखंड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन आसान काम नहीं था। भिक्षावृत्ति करते समय साधुओं को स्त्रीजनों के सम्पर्क में आना पड़ता था। वे उनसे भिक्षा ग्रहण करते और उन्हें सद्धर्म का उपदेश देते। यदि कोई साधु एकल-विहारी होता तो उसे स्त्रियों के चंगुल में पड़ने के अधिक अवसर आने की संभावना रहती। कितनी ही बार साधुओं को गृहस्थों के साथ रहना पड़ता, और ऐसी दशा में गृहस्थ की पत्नी, कन्या, पतोहू, दाई अथवा दासी उनके पास पहुँचकर कलिप्सु संतान

१. बृहत्कल्पभाष्य ४.४१५६-५८।
२. सूत्रकृतांग ४.१.२७।
३. वही ४.१.११।
४. दशवैकालिकसूत्र ८.५६।
५. आचारांग १.२१२, पृ० २५२।

को प्राप्ति के वास्ते विषयभोग के लिए निमंत्रित करती[1]। कोई स्त्री केवल दरिद्र, दुर्भग और कठिन शरीर वाले लोगों के ही योग्य ऐसे कष्टप्रद संयम को त्यागकर उन्हें अपने साथ भोग भोगने के लिए आमंत्रित करती।[2] सूत्रकृतांग में ऐसी स्थिति का अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण किया गया है। कोई साधु कामवासना के कारण किसी स्त्री के वश में हो गया; फिर तो धीरे-धीरे वह उसे धमकाने लगी और अपने पैर से उसकी ताड़ना करने लगी। कभी व्यंग्यपूर्ण वचनों से वह उससे कहती—"ऐ प्रिय, यदि तुम मुझ जैसी सुकेशी स्त्री के साथ नहीं रहोगे तो मैं इन केशों का लोच करवा डालूँगी। किसी भी हालत में मुझे अकेली छोड़कर तुम मत रहना।" तत्पश्चात् वह साधु को लकड़ियां, आलता, भोजन, पान, वस्त्र, आभूषण, सुगंधित द्रव्य, अंजन, शलाका, चूर्ण (पाउडर), तेल, गुटिका, तिलककरणी, छत्र, पंखा, कंघा, शीशा, दातौन, पेशाब का बर्तन, (मोचमेह), ओखली और चंदालक (ताम्रमय पात्र) आदि घर-गृहस्थी का सामान लाने का आदेश देती। यदि कहीं वह गर्भवती हो गयी तो एक दास की भांति उसे उसके दोहद-पूर्ण करने को कहती। यदि वह सन्तान प्रसव करती तो संतान को गोद में उठाकर चलने के लिए कहती, और रात्रि के समय दोनों ही एक दाई की भांति उसे थपक-थपक कर सुलाते। और ये काम करते हुए यद्यपि दोनों को शर्म लगती, फिर भी एक धोबी की भांति वे उसके वस्त्र आदि धोते।[3]

व्यवहारभाष्य में इस सम्बन्ध में किसी श्रेष्ठीपुत्र की वधू की एक शिक्षाप्रद कहानी दी गयी है। किसी सेठ का पुत्र अपनी स्त्री को अपने माता-पिता के पास छोड़कर धनार्जन करने के लिए परदेश चला गया। इस बीच में स्त्री को कामवासना जागृत हुई। उसने दासी से अपनी इच्छा व्यक्त की। दासी ने गुप्त रूप से सारी बात सेठ और सेठानी से कह दी। सेठ को बड़ी चिंता हुई। उसने झूठमूठ सेठानी से लड़ाई कर ली। अब घर का सारा भार उसकी पुत्रवधू पर आ पड़ा। एक दिन दासी ने बहू को पहली बात याद दिलायी। बहू ने उत्तर दिया—"दासी, अब तो मरने तक की फुर्सत नहीं है।" इस दृष्टांत द्वारा साधुओं को उपदेश दिया गया है कि उन्हें सूत्र-स्वाध्याय आदि में

१. आचारांग २, २.१.२९४, पृ० ३३२ आदि।

२. उत्तराध्ययनटीका १, पृ० २०-अ।

३. सूत्रकृतांग ४.२।

संलग्न रहना चाहिए जिससे कि उनकी कामेच्छा शान्त रहे।[1]

फिर भी ऐसे कितने ही जैन श्रमणों का उल्लेख मिलता है जो अपने ऊपर नियंत्रण न रख सकने के कारण चारित्र से भ्रष्ट हो गये। अरिष्टनेमि के भाई रथनेमि का उल्लेख ऊपर आ चुका है। साध्वी राजीमती को निरावरण देखकर उनका मन चलायमान हो गया था। इसी प्रकार जब सनत्कुमार चक्रवर्ती अपनी पट्टरानी सुनंदा को साथ लेकर संभूत मुनि की वन्दना करने गया तो मुनि ने रानी के अलकों के स्पर्श-सुख का सातिशय अनुभव करते हुए अगले भव में भोगों का उपभोग करने के लिए चक्रवर्ती का जन्म धारण करने का निदान किया।[2] मुनि आर्द्रक के सम्बन्ध में उल्लेख है कि उन्होंने श्रमणत्व को त्याग कर किसी सार्थवाह की कन्या से विवाह कर लिया। उसके बाद दो पुत्र हो जाने के पश्चात् आर्द्रक ने अपनी पत्नी से पुनः साधु जीवन व्यतीत करने की इच्छा व्यक्त की। इस समय वह कात रही थी। उसके बच्चे ने प्रश्न किया—"मां, क्या कर रही हो?" मां ने उत्तर दिया—"तुम्हारे पिता जी साधु होना चाहते हैं, इसलिए अपने परिवार का पालन करने के लिए मैंने कातना शुरू किया है।" यह सुनकर बच्चे ने अपने पिता को बारह बार सूत के धागे से लपेट दिया, जिसका मतलब था कि आर्द्रक को १२ वर्ष तक गृहवास में रहना चाहिए।[3] मुनि आषाढ़भूति का उल्लेख पहले किया जा चुका है। अपने आचार्य के बहुत समझाने-बुझाने के बावजूद उन्होंने श्रमणत्व का त्यागकर राजगृह के सुप्रसिद्ध नट विश्वकर्मा की दो पुत्रियों से विवाह कर लिया। परिवार के सब लोग मिलकर नाटक खेलने लगे। एक बार आषाढ़भूति की दोनों पत्नियां आसव पीकर बेखबर सोयी हुई थीं; उन्हें इस

---

१. ३.२४५–५४ पृ० ५२ आदि। यहाँ इस प्रकार से वेद की शान्ति न होने पर अन्य उपायों का अवलम्बन लेने की विधि का वर्णन किया गया है। तथा देखिये वही, ३.२६७–८; ५.७३–४, पृ० १०; ६.२१, पृ० ४; वही, ३.११२–९५। तथा निशीथसूत्र ६.१–७७; तथा भाष्य २११६–२१८९ तथा चूर्णी; निशीथसूत्र ७.१–११; भाष्य २२८८–२३४० तथा चूर्णी।

२. उत्तराध्ययनटीका १३, पृ० १८६–अ आदि।

३. सूत्रकृतांगटीका २, ६, पृ० १३६। तुलना कीजिये धम्मनाम्मर कथा (२०१), १, १० १०७; तथा भक्तपरिज्ञाकथा १, पृ० १०६ आदि; ४, पृ० ५४ आदि।

अवस्था में देखकर आषाढ़भूति को फिर से वैराग्य हो आया।[1]

वेश्याजन्य उपद्रव

वेश्याजन्य उपद्रवों की भी कमी नहीं थी। कभी रात्रि के समय वेश्या उपाश्रय में आकर साधुओं के साथ रहने का आग्रह करती, तो पहले तो साधु उसे रोकने का प्रयत्न करते। यदि वह न मानती तो साधुओं को उपाश्रय छोड़कर शून्यगृह या वृक्ष के नीचे जाकर रहने का विधान है। यदि बाहर ओस गिरती हो, या हरितकाय या त्रसजीव दिखायी देते हों, तो भी बाहर ही जाकर रहने का आदेश है। लेकिन यदि बाहर चोरों और जंगली जानवरों का भय हो, या वर्षा हो रही हो, तो कठोर वचनपूर्वक वेश्या को वहां से निकल जाने के लिए कहना चाहिए। यदि वह जाने से मना करे तो किसी सहस्रयोधी साधु को चाहिए कि उसे बांध कर राजकुल में ले जाये।[2] इस सम्बन्ध में मागध गणिका आदि गणिकाओं के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने कूलवालक आदि मुनियों को चारित्र से भ्रष्ट किया था।[3]

वाद-विवादजन्य तथा अन्य संकट

धर्म का प्रचार करने के लिए जैन श्रमणों को अन्य तीर्थिकों के साथ वाद-विवाद में भी जूझना पड़ता था और इसके लिये उन्हें वाद, जल्प और वितंडा आदि का आश्रय लेना पड़ता था।[4] श्रावस्ती के राजकुमार स्कंदक की बहन पुरंदरजसा का विवाह उत्तरापथ के अन्तर्गत कुम्भकारकृत नगर के राजा दंडकी के साथ हुआ था। एक बार दंडकी का दूत पालक श्रावस्ती नगरी में आया। स्कंदक के साथ उसका विवाद हो पड़ा जिसमें पालक हार गया। कुछ समय बाद स्कंदक ने श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली और संयोगवश साधुओं के साथ विहार करता हुआ वह कुम्भकारकृत नगर में पहुंचा। पालक ने उससे बदला लेने के लिए एक इक्षुयंत्र में सबको पेरना शुरू कर दिया।[5] मथुरा के स्तूप को लेकर जैन भिक्षुओं और रक्तपटों में विवाद होने

---

१. पिंडनिर्युक्ति ४७४ आदि।

२. बृहत्कल्पभाष्य ४.४९२३-२५; निशीथभाष्य १.५५६-५९।

३. सूत्रकृतांगटीका ४.१.२।

४. निशीथभाष्य ५.२.२६-३१।

५. वही १६.५७४०-४३ और चूर्णी।

का उल्लेख पहले किया जा चुका है।[1] राजसभा में अर्हंतप्रणीत धर्म को मानने वाले जैन साधुओं और बुद्धप्रणीत धर्म को माननेवाले तच्चनिय साधुओं में विवाद हुआ करते थे।[2] आर्द्रक मुनि का गोशाल, शाक्यपुत्रीयों, द्विजातियों, एकदंडी साधुओं और हस्तितापसों के साथ वाद-विवाद होने का उल्लेख है।[3] किसी राजक्षुल्लिका के किसी चरिका आदि द्वारा वाद में पराजित कर दिये जाने पर उसके क्षिप्तचित्त हो जाने की संभावना रहती थी।[4]

इसके सिवाय, कभी किसी राजा के मन में विचार उदित होता कि तपस्वियों को रात्रिभोजन कराने से देश में शान्ति स्थापित रह सकती है, इसलिए वह उन लोगों को रात्रिभोजन कराने के अवसर को तलाश में रहता। इसी प्रकार व्यंतर देव भी साधुओं को रात्रि-भोजन कराकर प्रसन्न होते। ऐसी संकटमय स्थिति उपस्थित होने पर कहा है कि साधु को भोजन की पोटली हाथ में लेकर चुपके से इधर-उधर अंधेरे में डाल देना चाहिए, या बीमार होने का बहाना बना देना चाहिए। यदि फिर भी कोई न माने तो भोजन करने के पश्चात् मुंह में उंगली डालकर वमन कर देना चाहिए।[5]

कभी किसी साधु को किसी आर्या के पास कायोत्सर्ग में स्थित देखकर लोग कहने लगते कि हमने यही मनौती की थी और इससे हमारा प्रयोजन सिद्ध होने वाला है। यह सोचकर वे महापशु (पुरुष) का यज्ञ करने के लिए साधु को पकड़ कर वध करने के लिए ले जाते थे।[6] बगीचे में से फल आदि तोड़ लेने पर भी जैन साधुओं को कठोर दंड का भागी होना पड़ता था।[7]

---

१. व्यवहारभाष्य ५.२७-८।

२. निशीथचूर्णी १२.४०२१ की चूर्णी।

३. सूत्रकृतांग २,६।

४. बृहत्कल्पभाष्य ६.६१९७।

५. वही ४.४९६२-६६। रात्रिभोजन के गुण और दिवाभोजन के दोषों के लिए देखिये निशीथभाष्य ११.३३६५। रात्रिभोजन के दोषों के लिए देखिए, वही, पीठिका ४१८-१७, ४५४-५५।

६. व्यवहारभाष्य १, पृ० १०२-अ-१०३।

७. बृहत्कल्पभाष्य १.९२२-२३।

निर्ग्रन्थ श्रमणों का आदर्श

जैनसूत्रों में कथन है कि साधु को अपने धर्म और व्रत-नियम का अत्यन्त तत्परता से पालन करना चाहिए। कहा भी है, "चिरसंचित व्रत को भग्न करने की अपेक्षा जलती हुई अग्नि में कूद कर प्राण दे देना श्रेयस्कर है, तथा किसी भी हालत में शुद्ध कर्म करते हुए मृत्यु को शरण लेना अच्छा है, शील को खंडित कर देना नहीं।"[१] लेकिन इसके साथ-साथ यह भी ध्यान देने योग्य है कि खासकर श्रमण संस्था के विकास के प्रारम्भिक काल में इस आदर्श का अक्षरशः पालन करना कुछ साधारण काम नहीं था। छेदसूत्रों में विधान है कि जैसे कोई वणिक् अल्प लाभ के माल को त्यागकर अधिक लाभ वाले माल को ग्रहण करता है, उसी प्रकार साधु को चाहिए कि वह अल्प संयम का त्यागकर बहुतर संयम को ग्रहण करे। कहा भी है—

"सर्वत्र संयम की रक्षा करनी चाहिए, लेकिन संयम से भी अधिक अपनी रक्षा करनी चाहिए। जीवित रहने पर हिंसा आदि पापों से वह प्रायश्चित्त द्वारा छुटकारा पा सकता है, ऐसी दशा में वह अविरती नहीं कहा जायेगा।"[२]

"शरीर रूपी पर्वत से ही जलरूपी धर्म का स्रोत प्रवाहित होता है, अतएव सर्वप्रयत्न द्वारा धर्मसंयुक्त शरीर की रक्षा करे"।[३] जिस प्रकार विधि-विधानपूर्वक मन्त्र से परिगृहीत विष-भक्षण भी दोष उत्पन्न नहीं करता, इसी प्रकार मन्त्र, यज्ञ और जाप द्वारा विधिपूर्वक की हुई हिंसा को भी दुर्गति का कारण नहीं बताया। इस दृष्टांत द्वारा कल्प्य

---

१. वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हुताशनं, न चापि भग्नं चिरसंचितं व्रतं।
वरं हि मृत्युः सुविशुद्धकर्मणो, न चापि शीलस्खलितस्य जीवितम् ॥
—वही ४.४९४९ की चूर्णी।

२. सव्वत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव रक्खंतो।
मुच्चति अतिवाताओ पुणो विसोही ण ताविरती ॥
भणइ य जहा—
"तुमं जीवंतो एयं पच्छित्तेण विसोहेहिसि,
अण्णं च संजमं काहिसि।' —निशीथचूर्णीपीठिका ४५१ की चूर्णी।

३. शरीरं धर्मसंयुक्तं रक्षणीयं प्रयत्नतः।
शरीराच्स्रवते धर्मः, पर्वतात् सलिलं यथा ॥
—बृहत्कल्पभाष्य १.२९०० की टीका।

का उल्लेख पहले किया जा चुका है।[1] राजसभा में अर्हतप्रणीत धर्म को मानने वाले जैन साधुओं और बुद्धप्रणीत धर्म को माननेवाले तच्चनिय साधुओं में विवाद हुआ करते थे।[2] आर्द्रक मुनि का गोशाल, शाक्यपुत्रीयों, द्विजातियों, एकदंडी साधुओं और हस्तितापसों के साथ वाद-विवाद होने का उल्लेख है।[3] किसी राजकुल्लिका के किसी चरिका आदि द्वारा वाद में पराजित कर दिये जाने पर उसके क्षिप्तचित्त हो जाने की संभावना रहती थी।[4]

इसके सिवाय, कभी किसी राजा के मन में विचार उदित होता कि तपस्वियों को रात्रिभोजन कराने से देश में शान्ति स्थापित रह सकती है, इसलिए वह उन लोगों को रात्रिभोजन कराने के अवसर की तलाश में रहता। इसी प्रकार व्यंतर देव भी साधुओं को रात्रि-भोजन कराकर प्रसन्न होते। ऐसी संकटमय स्थिति उपस्थित होने पर कहा है कि साधु को भोजन की पोटली हाथ में लेकर चुपके से इधर-उधर अंधेरे में डाल देना चाहिए, या बीमार होने का बहाना बना देना चाहिए। यदि फिर भी कोई न माने तो भोजन करने के पश्चात् मुंह में उंगली डालकर वमन कर देना चाहिए।[5]

कभी किसी साधु को किसी आर्या के पास कायोत्सर्ग में स्थित देखकर लोग कहने लगते कि हमने यही मनौती की थी और इससे हमारा प्रयोजन सिद्ध होने वाला है। यह सोचकर वे महापशु (पुरुष) का वध करने के लिए साधु को पकड़ कर वध करने के लिए ले जाते थे।[6] बगीचे में से फल आदि तोड़ लेने पर भी जैन साधुओं को कठोर दंड का भागी होना पड़ता था।[7]

---

१. व्यवहारभाष्य ५.२७-८।

२. निशीथचूर्णी १२.४०२३ की चूर्णी।

३. सूत्रकृतांग २,६।

४. बृहत्कल्पभाष्य ६.६१९७।

५. वही ४.४९६२-६६। रात्रिभोजन के गुण और दिवाभोजन के दोषों के लिए देखिये निशीथभाष्य ११.३३८५। रात्रिभोजन के दोषों के लिए देखिए, वही, पीठिका ४१४-१७, ४५४-५५।

६. व्यवहारभाष्य १, पृ० १०२-अ-१०३।

७. बृहत्कल्पभाष्य १.९२८-३१।

निर्ग्रन्थ श्रमणों का आदर्श

जैनसूत्रों में कथन है कि साधु को अपने धर्म और व्रत-नियम का अत्यन्त तत्परता से पालन करना चाहिए। कहा भी है, "चिरसंचित व्रत को भग्न करने की अपेक्षा जलती हुई अग्नि में कूद कर प्राण दे देना श्रेयस्कर है, तथा किसी भी हालत में शुद्ध कर्म करते हुए मृत्यु को शरण लेना अच्छा है, शील को खंडित कर देना नहीं।"[१] लेकिन इसके साथ-साथ यह भी ध्यान देने योग्य है कि खासकर श्रमण संस्था के विकास के प्रारम्भिक काल में इस आदर्श का अक्षरशः पालन करना कुछ साधारण काम नहीं था। छेदसूत्रों में विधान है कि जैसे कोई वणिक् अल्प लाभ के माल को त्यागकर अधिक लाभ वाले माल को ग्रहण करता है, उसी प्रकार साधु को चाहिए कि वह अल्प संयम का त्यागकर बहुतर संयम को ग्रहण करे। कहा भी है—

"सर्वत्र संयम की रक्षा करनी चाहिए, लेकिन संयम से भी अधिक अपनी रक्षा करनी चाहिए। जीवित रहने पर हिंसा आदि पापों से वह प्रायश्चित्त द्वारा छुटकारा पा सकता है, ऐसी दशा में वह अविरती नहीं कहा जायेगा।"[२]

"शरीर रूपी पर्वत से ही जलरूपी धर्म का स्रोत प्रवाहित होता है, अतएव सर्वप्रयत्न द्वारा धर्मसंयुक्त शरीर की रक्षा करे"।[३] जिस प्रकार विधि-विधानपूर्वक मन्त्र से परिगृहीत विष-भक्षण भी दोष उत्पन्न नहीं करता, इसी प्रकार मन्त्र, यज्ञ और जाप द्वारा विधिपूर्वक की हुई हिंसा को भी दुर्गति का कारण नहीं बताया। इस दृष्टांत द्वारा कल्प्य

---

१. वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हुताशनं, न चापि भग्नं चिरसंचितं व्रतं।
वरं हि मृत्युः सुविशुद्धकर्मणो, न चापि शीलस्खलितस्य जीवितम् ॥
—वही ४.४९४९ की चूर्णी।

२. सव्वत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव रक्खंतो।
मुच्चति अतिवाताओ पुणो विसोही ण ताविरती ॥

भणइ य जहा—
"तुमं जीवंती एयं पच्छित्तेण विसोहेहिसि,
अण्णं च संजमं काहिसि।' —निशीथचूर्णीपीठिका ४५१ की चूर्णी।

३. शरीरं धर्मसंयुक्तं रक्षणीयं प्रयत्नतः।
शरीराच्छ्रवते धर्मः, पर्वतात् सलिलं यथा ॥
—बृहत्कल्पभाष्य १.२९०० की टीका।

(२) शाक्य श्रमण

शाक्य श्रमणों को रत्तपड (रक्तपट) अथवा तच्चनिय (क्षणिकवादी) नाम से उल्लिखित किया गया है। उनके पंच स्कन्ध के सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है।[१] अनुयोगद्वार और नंदिसूत्र में बुद्धशासन को लौकिक श्रुतों में गिना गया है।[२] आर्द्रककुमार और शाक्यपुत्रों के वाद-विवाद के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है। निर्ग्रन्थों और शाक्य श्रमणों के बीच अनेक शास्त्रार्थ हुआ करते थे।

(३) तापस श्रमण

वनवासी साधुओं को तापस कहा गया है।[३] तापस श्रमण वनों में आश्रम बनाकर रहते थे। वे अपने ध्यान में संलग्न रहते, यज्ञ-याग करते, शरीर को कष्ट देने के लिए पंचाग्नि तप तपते, तथा अपने धर्मसूत्रों का अध्ययन करते। उनका अधिकांश समय कंदमूल और फलों के बटोरने में ही बीतता, और वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते रहते। व्यवहारभाष्य में तापसों के सम्बन्ध में कहा है कि वे ओखली (उदूखल) अथवा धान साफ करने के स्थान (खलय) के आसपास पड़े हुए धानों को बीनते और उन्हें पका कर खाते। कभी वे केवल इतने ही धान्य ग्रहण करते जितने कि एक चम्मच (दर्वी), दंड, या चुटकी से एक बार में उठाये जा सकते हों, या धान्य-राशि पर फेंके हुए वस्त्र पर एक बार में लगे रह जाते हों।[४]

तापस-आश्रमों के उल्लेख मिलते हैं। महावीर अपनी विहारचर्या के समय मोराग संनिवेश के आश्रम में ठहरे थे।[५] उत्तरवाचाल में स्थित कनकखल नाम के आश्रम में पांच सौ तापस रहा करते थे।[६] पोतनपुर में भी तापसों का एक आश्रम था जहां वल्कलचीरी का जन्म हुआ था।[७]

---

१. सूत्रकृतांग १.१.१७।

२. अनुयोगद्वारसूत्र ४१; नन्दिसूत्र ४२, पृ० १९३-अ।

३. निशीथचूर्णी १३.४४२० की चूर्णी।

४. व्यवहारभाष्य १०.२३-२५; देखिये वट्टकेर, मूलाचार ५.५४।

५. आवश्यकनिर्युक्ति ४६३।

६. आवश्यकचूर्णी, पृ० २७८।

७. वही, पृ० ४५७। तुलना कीजिए महावस्तु, २, पृ० २०९ आदि में उल्लिखित शाक्य शाक्यसिंह के साथ। वल्कलचीरी आदि ऋषियों की

औपपातिकसूत्र में निम्नलिखित वानप्रस्थ तापस गिनाये गये हैं:— होत्तिय (अग्निहोत्री), पोत्तिय (वस्त्रधारी), कोत्तिय (भूमिशायी), जण्णई (यज्ञ करने वाले) सड्ढई (श्रद्धा रखने वाले), थालई (अपने वर्तन-भाँडे लेकर चलने वाले), हुंबउट्ठ (कमण्डल रखने वाले; कुण्डिकाश्रमण–टीका), दंतुक्खलिय[1] (दांतों से ओखली का काम लेने वाले; फलभोजी–टीका), उम्मज्जक[2] (उन्मज्जन मात्र से स्नान करने वाले), संमज्जक (अनेक बार डुबकी लगा कर स्नान करने वाले), निमज्जक (स्नान करते समय क्षणभर के लिए जल में डूबे रहने वाले), संपक्खाल (शरीर पर मिट्टी घिसकर स्नान करने वाले), दक्खिणकूलग (गंगा के दक्षिण तट पर रहने वाले), उत्तर-कूलग (उत्तर तट पर रहने वाले), संखधमक (शंख बजाकर भोजन करने वाले), कूलधमक (किनारे पर खड़े होकर शब्द करने वाले), मियलुद्धय (जानवरों का शिकार करने वाले), हत्थितावस[3] (हाथी को मारकर बहुत समय तक भक्षण करने वाले), उद्दंडक[4] (दण्ड को

निर्ग्रन्थ प्रवचन में अन्यलिंग से सिद्ध माना गया है। ये ऋषि पंचाग्नि तप करके, शीत उदक का पान कर अथवा कन्दमूल फल आदि का भक्षण करके सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, चतुःशरणटीका ६४; सूत्रकृतांग ३. ४. २, ३, ४, पृ० ९४–अ–९५।

१. दंतोउखलिन् और उन्मज्जक का उल्लेख रामायण ३.६.३ में मिलता है। तुलना कीजिए दीघनिकायअट्ठकथा १, पृ० २७०।

२. कर्णदघ्ने जले स्थित्वा तपः कुर्वन् प्रवर्तते।
उन्मज्जकः स विज्ञेयस्तापसो लोकपूजितः ॥—अभिधानवाचस्पति।

३. ये लोग एक वर्ष या छह महीने में अपने बाणों से एक महाकाय हाथी को मार कर उससे आजीविका चलाते थे। इनका कहना था कि इससे वे अन्य जीवों की रक्षा करते हैं। टीकाकार के अनुसार ये बौद्ध साधु थे, सूत्रकृतांग २,६। ललितविस्तर, पृ० २४८ में हस्तिव्रत नाम के साधुओं का उल्लेख है। महावग्ग ६.१०.२२, पृ० २३५ में दुर्भिक्ष के समय हस्ति आदि के मांस भक्षण का उल्लेख है।

४. उद्दंडगों को बोडिय और सरक्ख (सरजस्क) आदि साधुओं के साथ गिना गया है। शरीर ही उनका एकमात्र परिग्रह था और अपने पाणिपुट में वे भोजन किया करते थे, आचारांगचूर्णी, ५, पृ० १६९।

ऊपर उठाकर चलने वाले), दिसापोक्खी[1] (जल से दिशाओं का सिंचन कर फल, पुष्प आदि बटोरने वाले), वक्कवासी (वल्कल धारण करने वाले), अंबुवासी (जल में रहने वाले), बिलवासी (बिल में

---

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति (११.९) में हस्तिनापुर के शिव राजर्षि का उपाख्यान आता है। वे अपने राज्य का भार अपने पुत्र को सौंप कर तवा (लोही), लोहे की कड़ाही और कड़छा आदि उपकरण लेकर गंगा के किनारे वानप्रस्थ तापसियों के पास पहुँचे और उन्होंने दिशाप्रोक्षियों की दीक्षा स्वीकार कर ली। वे छट्ठम छट्ठ तप करते हुए दिक्चक्रवाल तप-कर्म द्वारा भुजाएँ उठा कर तप में लीन हो गये। प्रथम छट्ठ तप के पारणा के दिन वे आतापना भूमि से उतरे और वल्कल के वस्त्र धारण कर अपनी कुटिया में आये। वहाँ से बाँस के पात्र (किढिण) और टोकरी (सांकायिक, भारोद्वहनयंत्र-टीका) लेकर वे पूर्व दिशा की ओर चले। पूर्व दिशा का उदक से उन्होंने सिंचन किया, फिर पूर्व दिशा में स्थित सोम महाराजा का आह्वान कर कन्द, मूल, छाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज से अपनी टोकरी भर ली। तत्पश्चात् दर्भ, कुश और समिध ग्रहण कर, वृक्ष के पत्ते तोड़े और अपनी कुटिया में चले आये। वहाँ आकर वेदी को झाड़ा-पोंछा और लीप-पोतकर शुद्ध किया। फिर दर्भ, और कलश लेकर गंगा में स्नान करने के लिए चले। वहाँ स्नानपूर्वक आचमन किया, तथा देवता और पितरों को जलांजलि अर्पण कर, दर्भ और जल का कलश हाथ में ले, अपनी कुटी में आये। यहाँ दर्भ, कुश और बालू की वेदी बनायी, मथन-काष्ठ द्वारा अरणि को घिसकर अग्नि प्रज्वलित की। तत्पश्चात् अग्नि की दाहिनी ओर निम्नलिखित वस्तुएँ स्थापित कीं—सकथा (एक उपकरण), वल्कल, अग्निपात्र (दाण), शय्या का उपकरण, कमण्डलु और दण्ड; स्वयं भी आसन ग्रहण किया। उसके पश्चात् मधु, घी और अक्षतों से अग्नि में होम किया, फिर चरु पकाया और उससे वैश्वानर देवता और अतिथि का पूजन किया, और उसके बाद स्वयं भोजन ग्रहण किया। फिर दूसरी बार छट्ठ तप किया। इस बार दक्षिण दिशा का सिंचन कर, यम महाराज से रक्षा के लिए प्रार्थना की। तीसरी बार पश्चिम दिशा में पहुँच कर वरुण महाराज की, और चौथी बार उत्तर दिशा में स्थित वैश्रमण महाराज की पूजा-उपासना की। सोमिल ब्राह्मण ने आम्र के आराम का रोपण किया, वहाँ उसने मातुलिंग, बिल्व, कपित्थ, चिंचा आदि बोये। फिर, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर की दिशाओं में जाकर तप किया, निरयावलियाओ ३, पृ० ३७-४५; तथा देखिये वसुदेव-हिंडी पृ० १७; दीघनिकाय, सिंगालोवादसुत्त।

रहने वाले), जलवासी (जल में निमग्न होकर बैठे रहने वाले), वेलवासी (समुद्र तट पर रहने वाले), रुक्खमूलिअ (वृक्षों के नीचे रहने वाले), अंबुभक्खी (जल भक्षण करने वाले), वाउभक्खी[1] (वायु पर रहने वाले), और सेवालभक्खी[2] (शैवाल का भक्षण करने वाले) ।

इसके सिवाय, अनेक तापस मूल, कंद, छाल, पत्र, पुष्प और बीज का सेवन करते थे, और कितने ही सड़े हुए मूल, कंद, छाल आदि द्वारा जीवन निर्वाह करते थे।[3] बार-बार स्नान करते रहने से उनका शरीर पीला पड़ गया था। ये तापस-श्रमण गंगा के तट पर रहते और वानप्रस्थ आश्रम का पालन करते थे।[4] अन्य तपस्वियों की भाँति ये भी समूह में चलते थे। कोडिन्न, दिन्न और सेवालि नाम के तापसों का उल्लेख आता है; ये लोग पांच-पांच सौ साधुओं के साथ परिभ्रमण करते तथा कंदमूल और सड़े हुए पत्र तथा शैवाल का भक्षण कर जीवन-निर्वाह करते थे। ये अष्टापद (कैलाश) की यात्रा करने जा रहे थे।[5]

(४) परिव्राजकश्रमण

गेरुआ वस्त्र धारण करने के कारण इन्हें गेरुअ अथवा गैरिक भी कहा गया है।[6] परिव्राजक-श्रमण ब्राह्मण धर्म के प्रतिष्ठित पण्डित होते थे। वशिष्ठधर्मसूत्र में उल्लेख है कि परिव्राजक को अपना सिर मुण्डित रखना चाहिए, एक वस्त्र अथवा चर्मखण्ड धारण करना चाहिए, गायों द्वारा उखाड़ी हुई घास से अपने शरीर को आच्छादित करना चाहिए तथा जमीन पर सोना चाहिए।[7] ये लोग आवसथ (अवसह) में

---

१. रामायण (३.११.१२) में मंडकर्णी नामक तापस का उल्लेख है जो वायु पर जीवित रहता था; तथा महाभारत १.९६.४२ ।

२. देखिए ललितविस्तर, पृ० २४८ ।

३. तुलना कीजिये, दीघनिकाय १, अम्बट्ठसुत्त पृ० ८८ ।

४. औपपातिकसूत्र ३८, पृ० १७०; निरयावलियाओ ३, पृ० ३९ ।

५. उत्तराध्ययनटीका १०, पृ० १५४-अ ।

६. निशीथचूर्णी १३.४४२० की चूर्णी ।

७. १०.६-११; मलालसेकर, डिक्शनरी ऑव पाली प्रोपर नेम्स, जिल्द २, पृ० १५९ आदि; महाभारत १२.१९०.३ ।

रहने वाले), जलवासी (जल में निमग्न होकर बैठे रहने वाले), वेलवासी (समुद्र तट पर रहने वाले), रुक्खमूलिअ (वृक्षों के नीचे रहने वाले), अंबुभक्खी (जल भक्षण करने वाले), वाउभक्खी[1] (वायु पर रहने वाले), और सेवालभक्खी[2] (शैवाल का भक्षण करने वाले)।

इसके सिवाय, अनेक तापस मूल, कंद, छाल, पत्र, पुष्प और बीज का सेवन करते थे, और कितने ही सड़े हुए मूल, कंद, छाल आदि द्वारा जीवन निर्वाह करते थे।[3] बार-बार स्नान करते रहने से उनका शरीर पीला पड़ गया था। ये तापस-श्रमण गंगा के तट पर रहते और वानप्रस्थ आश्रम का पालन करते थे।[4] अन्य तपस्वियों की भाँति ये भी समूह में चलते थे। कोडिन्न, दिन्न और सेवालि नाम के तापसों का उल्लेख आता है; ये लोग पांच-पांच सौ साधुओं के साथ परिभ्रमण करते तथा कंदमूल और सड़े हुए पत्र तथा शैवाल का भक्षण कर जीवन-निर्वाह करते थे। ये अष्टापद (कैलाश) की यात्रा करने जा रहे थे।[5]

(४) परिव्राजकश्रमण

गेरुआ वस्त्र धारण करने के कारण इन्हें गेरुअ अथवा गैरिक भी कहा गया है।[6] परिव्राजक-श्रमण ब्राह्मण धर्म के प्रतिष्ठित पण्डित होते थे। वशिष्ठधर्मसूत्र में उल्लेख है कि परिव्राजक को अपना सिर मुण्डित रखना चाहिए, एक वस्त्र अथवा चर्मखण्ड धारण करना चाहिए, गायों द्वारा उखाड़ी हुई घास से अपने शरीर को आच्छादित करना चाहिए तथा जमीन पर सोना चाहिए।[7] ये लोग आवसथ (अवसह) में

---

१. रामायण (३.११.१२) में मंडकर्णी नामक तापस का उल्लेख है जो वायु पर जीवित रहता था; तथा महाभारत १.९६.४२।

२. देखिए ललितविस्तर, पृ० २४८।

३. तुलना कीजिये, दीघनिकाय १, अम्बट्ठसुत्त पृ० ८८।

४. औपपातिकसूत्र ३८, पृ० १७०; निरयावलियाओ ३, पृ० ३९।

५. उत्तराध्ययनटीका १०, पृ० १५४-अ।

६. निशीथचूर्णी १३.४४२० की चूर्णी।

७. १०.६-११; मललसेकर, डिक्शनरी ऑव पाली प्रोपर नेम्स, जिल्द २, पृ० १५९ आदि; महाभारत १२.१९०.३।

निवास करते तथा आचारशास्त्र और दर्शन आदि विषयों पर वाद-विवाद करने के लिए दूर-दूर तक पर्यटन करते।

परिव्राजकश्रमण चार वेद, इतिहास (पुराण), निघंटु, षष्टितंत्र, गणित, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिषशास्त्र तथा अन्य ब्राह्मण-शास्त्रों के विद्वान् होते थे। दान-धर्म, शौच-धर्म और तीर्थस्नान का वे उपदेश करते थे। उनके मतानुसार जो कुछ भी अपवित्र होता वह जल और मिट्टी से धोने से पवित्र हो जाता है, और इस प्रकार शुद्ध देह (चोक्ष) और निरवद्य व्यवहार से युक्त होकर स्नान करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इन परिव्राजकों को तालाब, नदी, पुष्करिणी, वापी आदि में स्नान करने, गाड़ी, पालकी, अश्व, हाथी आदि पर सवार होने, नट, मागध आदि का तमाशा देखने, हरित वस्तु आदि को रोंदने, स्त्री, भक्त, देश, राज और चोर कथा में संलग्न होने, तुम्बी, काष्ठ और मिट्टी के पात्रों के सिवाय बहुमूल्य पात्र धारण करने, गेरुए वस्त्र को छोड़कर विविध प्रकार के रंगीन वस्त्र पहनने, ताँबे की अंगूठी (पवित्रिय) को छोड़कर हार, अर्धहार, कुण्डल आदि आभूषणों को धारण करने, कर्णपूर को छोड़कर अन्य मालायें पहनने और गंगा की मिट्टी को छोड़कर अगुरु, चन्दन आदि का शरीर पर लेप करने की मनाही है। उन्हें केवल पीने के लिए, एक मागध प्रस्थप्रमाण जल ग्रहण करने का विधान है, वह भी बहता हुआ और छन्ने से छना हुआ (परिपूय)। इस जल को वे हाथ, पैर, भाण्डे या चम्मच आदि धोने के उपयोग में नहीं ला सकते।[1]

जैनसूत्रों में चरक[2] (जो जूथबंध घूमते हुए भिक्षा ग्रहण करते हैं,

---

१. औपपातिकसूत्र ३८, पृ० १७२-७६।

२. चरक परिव्राजक धोई हुई भिक्षा ग्रहण करते और कछोटी (कच्छोटक) लगाते, व्याख्याप्रज्ञप्ति २.१, पृ० ४९। चरक आदि परिव्राजकों को कपिल मुनि के पुत्र कहा है, प्रज्ञापना २०, पृ० ३२१४। आचारांगचूर्णी ८, पृ० २६५ में जैसे उपासकों को श्रावकों का भक्त कहा है, वैसे ही गौतमों को चरकों का भक्त कहा है। चरक आदि परिव्राजक प्रातःकाल उठकर स्कंद आदि देवताओं के गृह का परिमार्जन करके, देवताओं पर उपलेपन करते और उनके सामने धूप खेते, मलयगिरि, आवश्यकटीका, भाग १, पृ० ८७। व्यवहारभाष्य भाग ४, ३, पृ० २१-अ में वाद-विवाद में एक चरक द्वारा किसी क्षुल्लक के हराये जाने का उल्लेख है। बृहदारण्यक उपनिषद् में चरक का उल्लेख है।

अथवा जो खाते हुए चलते हैं), चीरिक (मार्ग में पड़े हुए वस्त्र को धारण करने वाले अथवा वस्त्रमय उपकरण रखने वाले), चर्मखंडिक (चर्म ओढ़ने वाले अथवा चर्म के उपकरण रखने वाले), भिच्छुंड (भिक्षोण्ड = केवल भिक्षा से ही निर्वाह करने वाले, गोदुग्ध आदि से नहीं। कोई सुगतशासन के अनुयायी को भिक्षोण्ड कहते हैं) और पंडुरंग[1] (जिनका शरीर भस्म से लिप्त हो) आदि परिव्राजकों का उल्लेख मिलता है।[2] इसके अतिरिक्त, संखा (सांख्य), जोइ (योगी), कपिल (निरीश्वर सांख्य), भिउच (भृगु ऋषि के शिष्य), हंस[3] (पर्वत की गुफाओं, रास्तों, आश्रमों, देवकुलों और आरामों में रहने वाले; केवल भिक्षा के लिए गांव में प्रवेश करने वाले), परमहंस (नदी-तट या नदी के संगमों पर वास करने वाले, और अन्त समय में चीर, कौपीन और कुश का त्याग करने वाले), बहूदग (एक रात गांव में और पांच रात नगर में रहने वाले) कुडिव्वय (कुटिव्रत = घर में रहकर ही क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार पर विजय प्राप्त करने वाले), और कण्हपरिव्वायग (कृष्णपरिव्राजक = नारायण के भक्त) का उल्लेख है।[4] तत्पश्चात् करकंड (डु), अंबड, द्वीपायन, पराशर,[5] नारद आदि की ब्राह्मण परिव्राजकों, और नग्गई (नग्नजित्), विदेह आदि की क्षत्रिय परिव्राजकों में गणना की गयी है।[6]

---

१. निशीथ १३.४४२० की चूर्णी के अनुसार, गोशाल के शिष्यों को पंडरभिक्खु कहा गया है; २.१०८५ की चूर्णी में भी उल्लेख है। अनुयोगद्वारचूर्णी (पृ० १२) में उन्हें ससरक्ख भिक्खुओं का पर्यायवाची माना है।

२. अनुयोगद्वारसूत्र २०; ज्ञातृधर्मकथाटीका १५।

३. हंस, परमहंस आदि के लिए देखिए हरिभद्र, षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० ८-अ; एच० एच० विल्सन, रिलीजन्स ऑव द हिन्दूज़, जिल्द १, पृ० २३१ आदि।

४. औपपातिकसूत्र ३८, पृ० १७२।

५. द्वीपायन और पराशर को शीत उदक और बीजरहित आदि के उपभोग से सिद्ध माना गया है, सूत्रकृतांग ३.४.२, ३, ४, पृ० ९४ अ-९५। द्वीपायन परिव्राजक की कथा उत्तराध्ययनटीका २ पृ० ३९ में आती है। इस के अनुसार, द्वीपायन का पूर्व नाम पराशर था।

६. औपपातिकसूत्र पृ० १७२-१७६।

अन्य भी अनेक परिव्राजकों के उल्लेख जैनसूत्रों में पाये जाते हैं। कात्यायनगोत्रीय स्कंदक श्रावस्ती के गद्दभाल के प्रमुख शिष्य थे। वे वेद-वेदांग के बड़े पंडित थे। एक बार इन्होंने भगवान् महावीर के दर्शनार्थ जाने का विचार किया। पहले वे परिव्राजकों के मठ में गये, वहां से त्रिदंड, कुंडिका[1] (कमण्डलु), रुद्राक्ष की माला (कंचणिया), मिट्टी का कपाल (करोटिका), आसन (भिसिया), साफ करने का वस्त्र (केसरिया), तिपाई (छण्णालिया), आंकड़ी (अंकुश-वृक्ष के पत्ते तोड़ने के लिए), तांबे की अंगूठी (पवित्तय), और कलाई का आभरण (कलाचिका) लेकर, गेरुए वस्त्र धारण किये, छतरी लगाई और जूते पहनकर चल पड़े।[2]

शुक नाम के एक दूसरे परिव्राजक का उल्लेख आता है। वह चार वेद, षष्टितंत्र और सांख्यदर्शन का पंडित था। पांच यमों और पांच नियमों से युक्त वह दस प्रकार के परिव्राजक धर्म, तथा दानधर्म, शौचधर्म और तीर्थाभिषेक का उपदेश करता हुआ, गेरुए वस्त्र पहन, त्रिदंड, कुंडिका आदि लेकर, पांच सौ परिव्राजकों के साथ सौगन्धिया नगरी के मठ में उतरा। यहां वह सांख्य सिद्धान्त के अनुसार आत्मा का चिंतन करता हुआ समय यापन करने लगा। शौचमूल धर्म का प्रतिपादन करते हुए उसने बताया कि द्रव्यशौच जल और मिट्टी से, तथा भावशौच दर्भ और मंत्रों से होता है। इसलिए कोई भी अपवित्र वस्तु ताजी मिट्टी से मांजने और शुद्ध जल से धोने से पवित्र हो जाती है, तथा जल के अभिषेक से पवित्र होकर आत्मा स्वर्ग की प्राप्ति कर लेती है।[3]

तथा छट्टम छट्ट तपोकर्म द्वारा निरन्तर ऊर्ध्व बाहु करके सूर्याभिमुख आतापना-भूमि में तपश्चरण किया करता था। वह कभी घुटनों तक के जल को पैरों से चलकर पार न करता, शकट आदि में न बैठता, गंगा की मिट्टी के सिवाय अन्य किसी वस्तु का उपलेपन नहीं करता, अपने निमित्त से पकाया हुआ आहार ग्रहण न करता, दुर्भिक्ष-भक्त, कंतार-भक्त, और ग्लान-भक्त आदि भोजन स्वीकार न करता, तथा कन्द, मूल, फल, बीज और हरित काय का सेवन न करता। अम्मड अर्हन्त और अर्हन्त चैत्यों के सिवाय, अन्ययूथिक शाक्य आदि का वंदन नहीं करता था। एक बार, अम्मड के सात शिष्य ग्रीष्म ऋतु में कांपिल्यपुर से पुरिमताल विहार कर रहे थे। वे एक गहन अटवी में प्रविष्ट हुए तो उनका जल समाप्त हो गया। जब उन्हें कहीं से भी जल प्राप्त होने के लक्षण दिखायी न दिये तो उन्होंने त्रिदंड, कुंडिका, रुद्राक्ष की माला आदि को एकान्त स्थान में रक्खा, और गंगा के तट पर पहुंच, भक्तपान का त्याग करते हुए, बालुका पर पर्यंकासन से पूर्वाभिमुख बैठ, अरहंत, श्रमण भगवान महावीर और अपने धर्माचार्य अम्मड परिव्राजक की स्तुति करने लगे। इस प्रकार सर्व प्राणातिपात आदि का त्याग कर, सल्लेखनापूर्वक उन्होंने शरीर का त्याग किया।[1]

पुद्गल परिव्राजक का उल्लेख व्याख्याप्रज्ञप्ति में आता है; वे आलभिया में ठहरे हुए थे।[2] परिव्राजकों की भांति पारिव्राजिकाएँ भी श्रमण धर्म में दीक्षित होती थीं। चोक्खा पारिव्रजिका का उल्लेख किया जा चुका है। वह अन्य परिव्राजिकाओं के साथ मिथिला नगरी में परिभ्रमण किया करती थी। परिव्राजिकाएँ विद्या, मंत्र, और जड़ी-बूटी देतीं तथा जंतर-मंतर करती थीं।

(५) आजीविक श्रमण

आजीविक मत मंखलि गोशाल से पूर्व विद्यमान था; गोशाल इस मत के तीसरे तीर्थंकर माने गये हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति के अनुसार, आजीविक मत गोशाल से ११७ वर्ष पूर्व मौजूद था। इस कथन के अनुसार गोशाल ने २२ वर्ष एणेज्जग, २१ वर्ष मल्लाराम, २० वर्ष मंडिय, १९ वर्ष रोह, १८ वर्ष भारद्वाज और १७ वर्ष अज्जुनगोयमपुत्त के शरीर में वास किया।[3]

---

१. औपपातिकसूत्र ३९ आदि।

२. ११.१२।

३. वही १५।

अन्य भी अनेक परिव्राजकों के उल्लेख जैनसूत्रों में पाये जाते हैं। कात्यायनगोत्रीय आर्य स्कंदक श्रावस्ती के गर्दभाल के प्रमुख शिष्य थे। वे वेद-वेदांग के बड़े पंडित थे। एक बार इन्होंने भगवान महावीर के दर्शनार्थ जाने का विचार किया। पहले वे परिव्राजकों के मठ में गये, वहां से त्रिदंड, कुंडिका[1] (कमण्डलु), रुद्राक्ष की माला (कंचणिया), मिट्टी का कपाल (करोटिका), आसन (भिसिया), साफ करने का वस्त्र (केसरिया), तिपाई (छण्णालिया), आंकड़ी (अंकुशक-वृक्ष के पत्ते तोड़ने के लिए), तांबे की अंगूठी (पवित्तय), और कलाई का आभरण (कलाचिका) लेकर, गेरुए वस्त्र धारण किये, छतरी लगाई और जूते पहनकर चल पड़े।[2]

शुक नाम के एक दूसरे परिव्राजक का उल्लेख आता है। वह चार वेद, षष्टितंत्र और सांख्यदर्शन का पंडित था। पांच यमों और पांच नियमों से युक्त वह दस प्रकार के परिव्राजक धर्म, तथा दानधर्म, शौचधर्म और तीर्थाभिषेक का उपदेश करता हुआ, गेरुए वस्त्र पहन, त्रिदंड, कुंडिका आदि लेकर, पांच सौ परिव्राजकों के साथ सौगन्धिया नगरी के मठ में उतरा। वहां वह सांख्य सिद्धान्त के अनुसार आत्मा का चिंतन करता हुआ समय यापन करने लगा। शौचमूल धर्म का प्रतिपादन करते हुए उसने बताया कि द्रव्यशौच जल और मिट्टी से, तथा भावशौच दर्भ और मंत्रों से होता है। इसलिए कोई भी अपवित्र वस्तु ताजी मिट्टी से मांजने और शुद्ध जल से धोने से पवित्र हो जाती है, तथा जल के अभिषेक से पवित्र होकर प्राणियों को स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[3]

अम्मड[4] परिव्राजक और उसके सात शिष्यों का उल्लेख किया गया है। अम्मड कांपिल्यपुर में सौ घरों से भिक्षा और सौ घरों में वसति प्राप्त करता था। प्रकृति से वह अत्यंत विनीत और भद्र था,

---

१. अपने त्रिदंड में कुण्डिका स्थापन कर परिव्राजक द्वारा प्रश्न पूछने का उल्लेख मिलता है, बृहत्कल्पभाष्यपीठिका ३७४।

२. व्याख्याप्रज्ञप्ति २.१, पृ० ११२। तथा देखिए उपासकदशांग ४, पृ० ८६-अ।

३. ज्ञातृधर्मकथा ५, पृ० ७१ आदि।

४. दीघनिकाय के अम्बट्ठसुत्त में अम्बट्ठ नाम के एक विद्वान् ब्राह्मण का उल्लेख है। महावीर भगवान् अम्बड को धर्म में स्थिर करने के लिए राजगृह गये थे, निशीथचूर्णीपीठिका, पृ० २०।

-तथा छट्ठम छट्ठ तपोकर्म द्वारा निरन्तर ऊर्ध्व बाहु करके सूर्याभिमुख आतापना-भूमि में तपश्चरण किया करता था। वह कभी घुटनों तक के जल को पैरों से चलकर पार न करता, शकट आदि में न बैठता, गंगा की मिट्टी के सिवाय अन्य किसी वस्तु का उपलेपन नहीं करता, अपने निमित्त से पकाया हुआ आहार ग्रहण न करता, दुर्भिक्ष-भक्त, कंतार-भक्त, और ग्लान-भक्त आदि भोजन स्वीकार न करता, तथा कन्द, मूल, फल, बीज और हरित काय का सेवन न करता। अम्मड अर्हन्त और अर्हन्त चैत्यों के सिवाय, अन्ययूथिक शाक्य आदि का वंदन नहीं करता था। एक बार, अम्मड के सात शिष्य ग्रीष्म ऋतु में कांपिल्यपुर से पुरिमताल विहार कर रहे थे। वे एक गहन अटवी में प्रविष्ट हुए तो उनका जल समाप्त हो गया। जब उन्हें कहीं से भी जल प्राप्त होने के लक्षण दिखायी न दिये तो उन्होंने त्रिदंड, कुंडिका, रुद्राक्ष की माला आदि को एकान्त स्थान में रक्खा, और गंगा के तट पर पहुंच, भक्तपान का त्याग करते हुए, बालुका पर पर्यंकासन से पूर्वाभिमुख बैठ, अरहंत, श्रमण भगवान महावीर और अपने धर्माचार्य अम्मड परिव्राजक की स्तुति करने लगे। इस प्रकार सर्व प्राणातिपात आदि का त्याग कर, सल्लेखनापूर्वक उन्होंने शरीर का त्याग किया।[1]

पुद्गल परिव्राजक का उल्लेख व्याख्याप्रज्ञप्ति में आता है; वे आलभिया में ठहरे हुए थे।[2] परिव्राजकों की भांति पारिव्राजिकाएँ भी श्रमण धर्म में दीक्षित होती थीं। चोक्खा पारिव्राजिका का उल्लेख किया जा चुका है। वह अन्य परिव्राजिकाओं के साथ मिथिला नगरी में परिभ्रमण किया करती थी। परिव्राजिकाएँ विद्या, मंत्र, और जड़ी-बूटी देतीं तथा जंतर-मंतर करती थीं।

(५) आजीविक श्रमण

आजीविक मत मंखलि गोशाल से पूर्व विद्यमान था; गोशाल इस मत के तीसरे तीर्थंकर माने गये हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति के अनुसार, आजीविक मत गोशाल से ११७ वर्ष पूर्व मौजूद था। इस कथन के अनुसार गोशाल ने २२ वर्ष एणेज्जग, २१ वर्ष मल्लाराम, २० वर्ष मंडिय, १९ वर्ष रोह, १८ वर्ष भारद्वाज और १७ वर्ष अज्जुनगोयमपुत्त के शरीर में वास किया।[3]

---

१. औपपातिकसूत्र ३९ आदि।
२. ११.१२।
३. वही १५।

गोशाल निमित्तशास्त्र के बहुत बड़े पंडित थे। इस मत के अनुयायी साधु उग्रतप, घोर तप, घृतादि-रसपरित्याग और जिह्वेन्द्रिय-प्रतिसंलीनता नामक चार कठोर तपों का आचरण करते थे। ये लोग जीव-हिंसा से विरक्त रहते, तथा मद्य, मांस, कंदमूल आदि तथा उद्दिष्ट भोजन के त्यागी होते थे।[1] दशाश्रुतस्कंधचूर्णी में उन्हें भारिय गोसाल (गुरु की अवहेलना करने वाला) कहा गया है।[2]

अनेक प्रकार के आजीविक साधुओं का उल्लेख किया गया है। बहुत से दो घर छोड़कर, तीन घर छोड़कर अथवा सात घर छोड़कर भिक्षा ग्रहण करते थे। कुछ केवल कमल की डंठल खाकर ही निर्वाह करते, कुछ प्रत्येक घर से भिक्षा ग्रहण करते, और कुछ बिजली गिरने पर उस दिन भिक्षा ग्रहण नहीं करते थे। कतिपय साधु उष्ट्रिका नाम मिट्टी के मटके में प्रविष्ट होकर तप करते थे।[3]

आजीविक मत के १२ उपासकों में ताल, तालप्रलंब, उद्विध, संविध, अवविध, उदय, नामोदय, नर्मोदय, अनुपालक, शंखपालक, अयंपुल और कायरत[4] नाम गिनाये गये हैं। ये उपासक गोशाल को अपना देव (अर्हत्) मानते थे, माता-पिता की सेवा करते थे तथा उदुंबर, बड़, बेर, सतर (शतरी=पीपल) और पीपल इन पांच उदुंबर फलों[5] तथा प्याज, लहसुन और कंदमूल का भक्षण नहीं करते थे। ये बिना बधिया किये हुए और बिना नाक छिदे बैलों से आजीविका करते तथा पन्द्रह प्रकार के कर्मादानों से विरक्त रहते थे।[6] पोलासपुर का प्रसिद्ध कुम्हार सद्दालपुत्त[7] और श्रावस्ती की हालाहला नाम की कुम्हारी-

---

१. देखिए ऊपर, पृ० १६।

२. जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० २८७।

३. औपपातिक ४१, पृ० १६६।

४. व्याख्याप्रज्ञप्ति ७.१०, पृ० ३२३ में अन्य उपासकों के साथ उदय, नामोदय, नर्मोदय, अनुपालक, (अपपालक) और शंखपालक का उल्लेख है। अयंपुल का नाम १५वें शतक में आता है।

५. बड़, पीपल, गूलर, पिलखन और काकोदुंबरी इन पाँच वृक्षों के फल, पाइयसद्दमहण्णवो।

६. व्याख्याप्रज्ञप्ति ८.५, पृ० ३६१-अ।

७. उपासकदशा ७।

८. व्याख्याप्रज्ञप्ति १५।

दोनों आजीविक मत के उपासक थे। जैनसूत्रों में गोशाल को नियतिवादी के रूप में चित्रित किया गया है, और कहा है कि गोशाल उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पराक्रम को स्वीकार नहीं करते थे।[1]

अन्य मत-मतान्तर

जैनसूत्रों में चार प्रकार के मिथ्यादृष्टियों का उल्लेख है :—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी।[2] क्रियावादी का अर्थ है जिसमें क्रिया की प्रधानता स्वीकार की गयी हो। शीलांक के अनुसार, जो सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के बिना केवल क्रिया से मोक्ष मानते हैं उन्हें क्रियावादी कहते हैं।[3] क्रियावादी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, और ज्ञान के बिना क्रिया की प्रधानता मानते हैं। क्रियावादियों के सम्बन्ध में कहा है कि जो नरक की यातनाओं से अवगत हैं, पाप के आस्रव और संवर को समझते हैं, दुख और दुख के नाश को जानते हैं, वे ही इस मत की स्थापना कर सकते हैं।[4] क्रियावाद के १८० भेद माने गये हैं।[5] अक्रियावादी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार, प्रत्येक वस्तु क्षणस्थायी है, अतएव ज्योंही किसी वस्तु का उत्पाद होता है वैसे ही वह नष्ट हो जाती है। ऐसी हालत में उसमें कोई क्रिया होने की सम्भावना नहीं रहती।

---

१. देखिये ऊपर पृ० १३। गोशाल के 'चौरासी लाख महाकल्प' आदि सिद्धान्तों का वर्णन वृद्ध आचार्यों ने भी नहीं किया, अतएव संदिग्ध होने से चूर्णीकार भी उस सम्बन्ध में कुछ नहीं लिख सके, केवल शब्दों के अनुसार ही यत्किंचित् लिखा है, व्याख्याप्रज्ञप्ति १५, पृ० ६७५-अ टीका।

२. सूत्रकृतांग १.१२.१।

३. वही, टीका, पृ० २१८-अ।

४. वही, १.१२, पृ० २०८, पृ० २२३; उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २३०। यह परिभाषा स्वयं जैनधर्म पर लागू होती है। तुलना कीजिए अंगुत्तरनिकाय ३.८ पृ० २६३। यहाँ महावीर को क्रियावादी कहा गया है।

५. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति १२.११९, पृ० २०८-अ। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप को काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव की अपेक्षा स्वतः, परतः, तथा नित्य और अनित्य रूप में स्वीकार करने से १८० भेद (९×५×२×२) होते हैं, वही।

क्षणिकवाद को मानने के कारण इन्हें बौद्ध भी कहा है।[1] अक्रियावादियों को विरुद्ध नाम से भी उल्लिखित किया है, कारण कि उनकी मान्यताएँ अन्य वादियों के विरुद्ध पड़ती हैं।[2] इनके ८४ भेद हैं।[3] अज्ञानवादी मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान को निष्फल मानते हैं। इनके ६३ भेदों का उल्लेख मिलता है।[4] विनयवादियों को अविरुद्ध नाम से भी कहा है।[5] इस मत के अनुयायियों ने बाह्य क्रियाओं के स्थान पर मोक्ष प्राप्ति के लिए विनय को आवश्यक माना है।[6] अतएव विनयवादी सुर, नृपति, यति, हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस, बकरी, गीदड़, कौआ और बगुले आदि को देखकर उन्हें प्रणाम करते हैं।[7] इनके ३२ भेद हैं।[8]

---

१. सूत्रकृतांग १२.४-८।

२. अनुयोगद्वारसूत्र २०; ज्ञातृधर्मकथाटीका १५, पृ० १९४-अ; औपपातिकसूत्र ३८, पृ० १६९।

३. स्थानांग (८.६०७) में निम्नलिखित आठ भेद बताये हैं—एगावाई, अणेगावाई, मितवाई, निम्मियवाई, सायवाई, समुच्छेदवाई, णियवाई, ण संति परलोगवाई। तुलना कीजिए दीघनिकाय ब्रह्मजालसुत्त के वर्गीकरण के साथ; बरुआ, प्री-बुद्धिस्ट इण्डियन फिलासोफी, पृ० १९७। बौद्धशास्त्रों में पकुधकच्चायन के सिद्धांत को अक्रियावाद कहा है, बी० सी० लाहा, हिस्टोरिकल ग्लीनिंग्स, पृ० ३३। उक्त वर्गीकरण में से पुण्य और पाप घटा देने पर, जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष को काल, ईश्वर, आत्मा, नियति, स्वभाव और यदृच्छातः की अपेक्षा स्वतः और परतः रूप में स्वीकार करने से ८४ (७×६×२) भेद होते हैं, सूत्रकृतांगटीका १.१२, पृ० २०९।

४. जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप को सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्य, सदवक्तव्य, असदवक्तव्य और सदसदवक्तव्य की अपेक्षा स्वीकार करने से ६३ भेद होते हैं। इनमें सत्, असत्, सदसत् और अवक्तव्य के जोड़ देने से ६७ भेद हो जाते हैं, वही।

५. औपपातिक, वही; ज्ञातृधर्मकथा, वही। अंगुत्तरनिकाय ३, पृ० २७६ में अविरुद्धकों का उल्लेख है।

६. सूत्रकृतांग १.१२.२ आदि टीका।

७. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २३०।

८. देवता, राजा, यति, ज्ञाति, वृद्ध, अधम, माता और पिता का मन, वचन, काय और दान द्वारा उपचार करने के कारण इनके ३२ (८ × ४) भेद बताये गये हैं; सूत्रकृतांगटीका १.१२, पृ० २०९-अ।

विनयवाद के अनुयायी अनेक तपस्वियों का उल्लेख जैन आगम-साहित्य में उपलब्ध होता है। जब भगवान् महावीर गोशाल के साथ विहार करते हुए कुम्मगगाम पहुँचे तो वेसियायण (वैश्यायन) बाल-तपस्वी ऊर्ध्वबाहु करके तप कर रहा था। तेजोलेश्या का वह धारी था, जिसका प्रयोग वैश्यायन ने गोशाल के ऊपर किया था।[1] वह प्राणामा प्रव्रज्या का धारक था, इसलिए वह देवता, राजा, माता, पिता और तिर्यंच आदि की समान भाव से भक्ति करता था।[2] मौर्यपुत्र तामली एक दूसरा विनयवादी था। वह यावज्जीवन छट्ठम-छट्ट तप करता हुआ, ऊर्ध्वबाहु होकर सूर्य के अभिमुख खड़ा हुआ आतापना किया करता था। पारणा के दिन आतापन-भूमि से उतर कर, वह काष्ठ का पात्र ले, ताम्रलिप्ति नगरी में ऊंच, नीच और मध्य कुलों में भिक्षा के लिए भ्रमण करता था। भिक्षा में वह केवल चावल ही लेता और उन्हें इक्कीस बार धोकर शुद्ध करता। प्राणामा प्रव्रज्या का धारक होने के कारण वह इंद्र, स्कंद, रुद्र, शिव, कुबेर, आर्या, चंडिका अथवा राजा, मंत्री, पुरोहित, सार्थवाह, या कौए, कुत्ते और चांडाल को जहां-कहीं भी पाता, वहीं प्रणाम करता, ऊँचे देखकर ऊँचे और नीचे देखकर नीचे प्रणाम करता।[3]

इसके अतिरिक्त, और भी अनेक श्रमणों और साधुओं का उल्लेख जैनसूत्रों में मिलता है। वनीपक साधु आहार के बहुत लोभी होते थे तथा शाक्य आदि के भक्तों को अपने आपको दिखाकर वे भिक्षा ग्रहण करते थे।[4] अथवा अपनी दुःस्थिति बताकर प्रिय भाषण द्वारा भिक्षा

१. आवश्यकनिर्युक्ति ४९४; आवश्यकचूर्णी, पृ० २९८।

२. अविरुद्धो विणयकरो देवाईणं पराए भत्तीए।
जह वेसियायणसुओ एवं अन्नेवि णायव्वा॥
—औपपातिकसूत्रटीका, पृ० १६९।

३. व्याख्याप्रज्ञप्ति ३.१। पूरण नामक तपस्वी को दानामा प्रव्रज्या का धारक बताया गया है। वह भिक्षा के चार भाग करता था। पहले भाग को राहगीरों को, दूसरों को कौओं और कुत्तों को, तीसरे को मच्छी और कछुओं को देता और चौथा भाग वह स्वयं खाता था। उसने अपने उपकरण तथा भक्तपान का त्याग कर सल्लेखनापूर्वक देह का त्याग किया, वही ३.२। बौद्ध-साहित्य में पूरणकस्सप को बहुजनसम्मत यशस्वी तीर्थंकरों में गिना गया है।

४. पिंडनिर्युक्ति ४४४-४५।

लेने वालों को वनीपक कहा है।[1] वनीपकों (याचकों) के पांच भेद हैं—श्रमण, ब्राह्मण, कृपण, अतिथि और श्वान।[2]

पाँच प्रकार के श्रमणों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। ब्राह्मणों (माहण) को लोकानुग्रहकारी बताते हुए कहा है कि वे लोग स्वर्ग में देवता के रूप में रहते थे, प्रजापति ने उन्हें इस पृथ्वी पर भूदेव के रूप में सिरजा। जातिमात्र से सम्पन्न इन ब्रह्मबन्धुओं को दान देने से बहुत फल बताया गया है, और यदि वे यज्ञ, याग, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह नामक षट्कर्मों से सम्पन्न हों तो फिर क्या पूछना।[3] दारिद्र्य से पीड़ित, रोगी, दुर्बल, बंधुविहीन, लूले, लंगड़े तथा सिर, आँख और दांत आदि की वेदना से पीड़ित जनों को कृपण कहा है। रास्ता चलते-चलते जो थक गये हों, अथवा जिनके आगमन की कोई तिथि निश्चित न हो, उन्हें अतिथि कहा है। गाय आदि जानवरों को घास आदि का मिलना सुलभ है, लेकिन दण्ड आदि से ताड़ित श्वानों के लिए यह भी नहीं। श्वान कैलाश पर्वत पर देव-भवनों में रहने वाले देव हैं, जो मर्त्यलोक में यक्षों के रूप में आकर निवास करते हैं। जो उनकी पूजा करता है वे उसका हित करते हैं, और जो पूजा नहीं करता, उसका हित नहीं करते।[4]

औपपातिकसूत्र में अनेक प्रव्रजित श्रमणों के नाम आते हैं—गोव्वइय[5] (इनके पास एक छोटा-सा बैल रहता है, जिसके गले में कौड़ी और माला आदि बंधी रहती है। लोगों के पांव पड़ने में यह शिक्षित रहता है। इस बैल को लेकर वे साधु भिक्षा-वृत्ति करते हैं), गोव्वइअ (गोव्रतिक—गाय की भांति व्रत रखने वाले। जब गायें गांव से बाहर जाती हैं तो ये भी साथ चल देते हैं, और जब वे चरती हैं, पानी पीती हैं, वापिस लौटती हैं और सोती हैं, तब वे भी

१. स्थानांगसूत्र ५.४५४, पृ० ३२८-अ टीका।

२. निशीथभाष्य ११.३४४१; स्थानांग, वही; दशवैकालिकचूर्णी, पृ० १९१। यहां जिनोपग का भी वनीपकों में उल्लेख है।

३. लोकाणुग्गहकारिसु भूमिदेवेसु बहुफलं दाणं।
अवि नाम बंभबंधुसु, किं पुण छक्कम्मनिरएसु॥
—निशीथभाष्य ११.४४२१।

४. वही ११.४४२४-२७।

५. गोव्रतिक का उल्लेख आवश्यकचूर्णी २, ६, पृ० ११६ में आता है।

उसी तरह करते हैं। ये लोग तृण और पत्तों आदि का ही भोजन करते हैं),[1] गिहिधम्म (गृहस्थ धर्म को श्रेयस्कर समझकर देव, अतिथि और दान आदि स्वरूप गृहस्थ धर्म को पालने वाले), धर्मचिंतक (धर्मशास्त्र के पाठक अथवा याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों द्वारा प्रणीत धर्म-संहिताओं का चिंतन करने वाले), अविरुद्ध (विनयवादी), विरुद्ध (अक्रियावादी), वृद्ध (वृद्ध अवस्था में दीक्षा ग्रहण करने वाले। ऋषभदेव के काल में उत्पन्न होने के कारण ये सब लिंगियों में आदि कहे जाते हैं), और श्रावक (धर्मशास्त्र सुनने वाले ब्राह्मण। भरत चक्रवर्ती के समय ये लोग श्रावक कहे जाते थे, बाद में ब्राह्मण कहे जाने लगे),[2] दगबिइय (उदगद्वितीय=चावल को मिलाकर जल जिनका द्वितीय भोजन हो), दगतइय (उदगतृतीय), दगसत्तम (उदकसप्तम) और दगएक्कारस (उदकएकादस=चावल आदि दस द्रव्यों को मिलाकर जल जिनका ग्यारहवां भोजन हो)।[3]

अन्य प्रव्रजित श्रमणों में कंदप्पिय (अनेक प्रकार के हास्य करने वाले), कुक्कुइया (कौत्कुच्य=भ्रू, नयन, मुख, हस्त और चरण आदि द्वारा भांडों के समान चेष्टा करने वाले), मोहरिय (मौखरिक=नाना प्रकार से असंबद्ध कृत्य करने वाले), गीयरइपिय (गीतरतिप्रिय=गीत-रति जिन्हें प्रिय हो), नच्चणसील (नर्तनशील=नाचना जिनका स्वभाव हो),[4] तथा अत्तुक्कोसिय (आत्मोत्कर्षिक=आत्मप्रशंसा करने वाले), परपरवाइय (परपरवादिक=परनिंदा करने वाले), भूइकम्मिय (भूतिकार्मिक=ज्वर आदि रोगों को शान्त करने के लिए भभूत देने वाले) और भुज्जो भुज्जो कोउयकारक (भूयः भूयः कौतुककारक=सौभाग्य के लिए बार-बार स्नान आदि कराने वाले)।[5]

बृहत्कल्प, निशीथ और व्यवहार आदि सूत्रों की टीका-टिप्पणियों

---

१. गावी हि समं निग्गमपवेसठयणासणाइ पकरेंति।
भुजंति जहा गावी तिरिक्खवासं विहाविन्ता॥
—औपपातिकटीका, पृ० १६६।

२. औपपातिकसूत्र ३८, पृ० १६८; अनुयोगद्वारसूत्र २०, पृ० २१-अ; ज्ञातृधर्मकथा १५, पृ० १६२-अ, और इनकी टीकाएँ।

३. औपपातिकसूत्र, वही।

४. वही, पृ० १७१; देखिये व्याख्याप्रज्ञप्ति १.२ की टीका; प्रज्ञापना २०,१२१०।

५. औपपातिकसूत्र ४१, पृ० १६६।

में भी अनेक साधुओं और तपस्वियों का उल्लेख किया गया है। ससरक्ख (सरजस्क) साधुओं को उद्दंडग और बोडिय (बोटिक= दिगम्बर जैन) के साथ गिनाया गया है। ये तीनों ही किसी प्रकार का परिग्रह नहीं रखते थे और पाणितल में भोजन करते थे।[1] सरजस्क साधु विद्या-मन्त्र आदि में भी कुशल होते थे।[2] जैसे वर्षा ऋतु में दकसौकरिक मिट्टी, और बोटिक गोबर और नमक का संग्रह करते थे, वैसे ही ये लोग राख का संग्रह करके रखते थे।[3] अविसरजस्कों के संबंध में कहा है कि वे लोग बहुत-सा भोजन कर लेते, और बहुत गंदे रहते थे।[4]

दगसोयरिय (उदकशौकरिक) शुचिवादी भी कहे जाते थे। यदि उन्हें कोई स्पर्श कर देता तो वे ६४ बार स्नान करते थे। एक बार किसी बैल की मृत्यु हो जाने पर कर्मकारों ने उपस्थित होकर पूछा कि क्या किया जाय? शुचिवादी ने उत्तर दिया कि बैल को यहां से हटा कर उस स्थान को जल से धो दिया जाये। तत्पश्चात् चांडालों ने मरे हुए बैल की खाल निकालने की आज्ञा मांगी। लेकिन शुचिवादी ने नहीं दी। उसने स्वयं कर्मकारों को ही यह काम करने के लिये कहा। उसने बैल के मांस, चर्म, सींग, हड्डी, और स्नायु को अलग-अलग उपयोग में लाने का आदेश दिया।[5] कोई दगसोयरिय पूर्व देश से आकर पासंडि[6]-रूप में मथुरा नगरी के नारायण कोट्ठ में ठहरा। तीन दिन के उपवास के पश्चात् उसने गोबर खाने का ढोंग किया। दो शब्द वह कभी मुंह से न निकालता और मौन धारण किये रहता। लोग उसकी तपस्या से इतने प्रभावित थे कि वे उसे सुबह ही भरपूर अन्न-पान आदि लाकर दे देते। उसी बीच एक दूसरा दगसोयरिय उसरीद नारायण कोट्ठ में आकर रहने लगा। दोनों घूमते हुए एक-दूसरे को प्रणाम करते और एक-दूसरे की प्रशंसा करते।[7]

---

१. आचारांगचूर्णी ५, पृ० १६९।

२. बृहत्कल्पभाष्य १.२८१९।

३. वही, वृत्ति ३.४२६२।

४. वही ५.५८११।

५. आचारांगचूर्णी, पृ० २१।

६. पासंडि का सामान्य अर्थ है श्रमण, भिक्षु, ब्राह्मण, परिव्राजक, कार्पटिक अथवा पांडुरंग।

७. आचारांगचूर्णी ५, पृ० १६२।

वारिखल परिव्राजक अपने पात्रों को बारह बार मिट्टी लगाकर, और वानप्रस्थ (तापस) छह बार मिट्टी लगाकर साफ करते थे।[1] चक्रचर भिक्षा के लिए वंहगो (सिक्कक) लेकर,[2] और कर्मकार भिक्षु देवद्रोणी लेकर चलते थे।[3] तत्पश्चात् कुशील साधुओं में गौतम, गोव्रतिक, चंडीदेवग (चंडी का भक्त; चक्रधरप्रायाः–टीका), वारिभद्रक (जल का पान और शैवाल का भक्षण करने वाले, तथा नित्य स्नान करने वाले और बार-बार पैर धोने वाले। ये लोग शीत उदक के सेवन से मोक्ष मानते हैं), अग्निहोत्रवादी (अग्निहोम से स्वर्ग गमन के अभिलाषी), और भागवत (जल से शुद्धि मानने वाले) आदि को गिना गया है।[4] पिंडोलग साधु बहुत गंदे रहते थे। उनके शरीर से दुर्गन्ध आती और उनके बालों में जूंएं चला करतीं।[5] राजगृह का कोई पिंडोलग वैभार पर्वत पर शिला के नीचे दबकर मर गया था।[6] कूर्चक साधु दाढ़ी-मूछ बढ़ा लेते थे।[7] कूर्चक साधुओं का अस्थिसरजस्क और दगसोगरिय साधुओं के साथ उल्लेख किया गया है।[8] अस्थिसरजस्क (कापालिक), सौगत (भिक्षुक), दगसोगरिय (शुचिवादी), कूर्चन्धर तथा वेश्याओं के घर से वस्त्र ग्रहण करने का जैन साधुओं को निषेध है।[9]

इसके सिवाय, अन्य अनेक तपस्वियों और साधुओं का उल्लेख मिलता है। कोई नमक के छोड़ने से, कोई लहसुन, प्याज, ऊंटनी का दूध, गोमांस और मद्य इन पांच वस्तुओं के त्याग करने से, तथा

---

१. बृहत्कल्पभाष्य १.१७३८।

२. वही वृत्ति १.२८८६।

३. वही ३,४३२१।

४. सूत्रकृतांग ७, पृ० १५४।

५. सूत्रकृतांगचूर्णी, पृ० १४४।

६. उत्तराध्ययनचूर्णी पृ० १३८। पिंडोलग को एक अत्यन्त प्रतिष्ठित बौद्ध साधु माना गया है, मातंगजातक (४९७), ४, पृ० ५८३; सुत्तनिपात की अट्ठकथा २, पृ० ५१४ आदि; चूलवग्ग ५.५.१०, पृ० १९६।

७. बृहत्कल्पभाष्य १.२८२२। पंडित नाथूराम प्रेमी के अनुसार, कूर्चक साधु दिगम्बर जैनसम्प्रदाय के थे, अनेकांत, अगस्त-सितम्बर, १९४४।

८. निशीथभाष्य १५.५०७१।

९. बृहत्कल्पभाष्य १.२८२२।

कोई त्रिकाल में स्नान करने से मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं।[१] कुछ लोग अरण्य में, झोंपड़ियों में अथवा ग्राम के समीप निवास करते थे। वे प्राणिहिंसा को पाप नहीं मानते थे। उनकी मान्यता थी—"मैं ब्राह्मण हूं, अतएव हन्तव्य नहीं हूं, केवल शूद्र आदि ही हन्तव्य हैं। शूद्र की हत्या करके प्राणायाम कर लेना पर्याप्त है। बिना हड्डी वाले गाड़ी-भरे क्षुद्र जीवों को मारकर यदि ब्राह्मण को भोजन करा दें तो इतना प्रायश्चित्त बस है।"[२]

अजिनसिद्ध ऋषि

ऋषिभाषित में नारद, असितदेवल, वल्कलचीरी, अंगरिसि भारद्वाज, कुम्मापुत्त, मंखलिपुत्त, जण्णवक्क (याज्ञवल्क्य), बाहुक, गद्दभाल, रामगुत्त,[३] अम्मड, वारत्तय, अद्दय, नारायण, द्वीपायन आदि ऋषियों के उल्लेख मिलते हैं। इनमें बहुत-सों को अजिनसिद्ध स्वीकार किया गया है।[४]

---

१. सूत्रकृतांगटीका ७, पृ० १५८–६०।

२. वही २, पृ० ३१४।

३. उद्दक रामपुत्त का उल्लेख महावग्ग १, ६.१०, पृ० १० में मिलता है, तथा देखिये वही ६.२३.४२, पृ० २५९।

४. तथा देखिए सूत्रकृतांग ३-४-२, ३, ४, पृ० ९४-अ आदि; चूर्णि-टीका ६४।

दूसरा अध्याय

लौकिक देवी-देवता

धर्म, तत्व रूप में मस्तिष्क की बौद्धिक मनोवृत्ति की अपेक्षा सहज ज्ञान और मनोवेग के ऊपर अधिक आधारित है। धर्म की सहायता से ही मनुष्य ने किसी निरन्तर विद्यमान कर्तृत्व-जिसे वह विश्व का नियामक समझता था—के अस्तित्व की कल्पना करके प्राकृतिक शक्तियों और विश्व के तथ्यों को प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार विश्व के नियामक समझे जाने वाले अनेक देवी-देवता और पुरातन पवित्र आत्माओं का प्रादुर्भाव हुआ।

देवी-देवताओं का अस्तित्व भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से चला आता है।[1] जैनसूत्रों में इन्द्र, स्कंद, रुद्र, मुकुंद, शिव, वैश्रमण, नाग, यक्ष, भूत, आर्या और कोट्टकिरिया मह का उल्लेख किया गया है।[2]

इन्द्रमह

इन्द्र वैदिक साहित्य में अत्यन्त प्राचीन देवता माना गया है; वह समस्त देवताओं में अग्रणी था। इन्द्र को परस्त्रीगामी बताया है।[3]

---

१. पाणिनी के काल में लोग देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनाकर अपनी आजीविका चलाते थे, गोपीनाथ, एलीमेंट्स ऑव हिन्दू इकोनोग्राफी, भूमिका।

२. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० १००; व्याख्याप्रज्ञप्ति ३.१। निशीथसूत्र ८.१४ में इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, मुकुन्द, भूत, यक्ष, नाग, स्तूप, चैत्य, वृक्ष, गिरि, दरि, अगड, तडाग, हृद, नदी, सर, सागर और आकर मह का उल्लेख है।

३. देखिए हापकिन्स, इपिक माइथोलोजी, पृ० १३५। तुलना कीजिए बृहत्कल्पभाष्य १.१८५६–५९। कहते हैं, एक बार इन्द्र उदंक ऋषि की रूपवती पत्नी को देखकर मोहित हो गया। ऋषि ने उसे शाप दिया जिससे वह ब्रह्मवध्या का पातकी कहलाया। इन्द्र डरकर कुरुक्षेत्र में चला गया। ब्रह्मवध्या भी कुरुक्षेत्र के आसपास चक्कर काटने लगी। उधर इन्द्र के बिना स्वर्ग शून्य हो गया। यह देखकर देवगण इन्द्र को स्वर्गलोक में ले चलने के लिए कुरुक्षेत्र पहुँचे। देवों

कल्पसूत्र के अनुसार इन्द्र अपनी आठ पटरानियों, तीन परिषदों, सात सैन्यों, सात सेनापतियों[1] और आत्मरक्षकों से परिवृत्त होकर स्वर्गिक सुख का उपभोग करता था।[2] प्राचीन काल में इन्द्रमह सब उत्सवों में श्रेष्ठ माना जाता और लोग इसे बड़ी धूमधाम से मनाते थे।[3] निशीथ-सूत्र में इन्द्र, स्कंद, यक्ष और भूत नामक महामहों का उल्लेख है जो क्रम से आषाढ़,[4] आसोज, कार्तिक और चैत्र की पूर्णिमाओं के दिन मनाये जाते थे जब कि लोग खूब खाते, पीते, नाचते और गाते हुए आमोद-प्रमोद करते थे।[5]

ने इन्द्र से स्वर्गलोक चलने की प्रार्थना की लेकिन इन्द्र ने कहा, ऐसा करने से मुझे ब्रह्मवध्या लग जायगी। इस पर ब्रह्मवध्या को चार हिस्सों में बाँट दिया गया—स्त्रियों के ऋतुकाल में, जल में लघुशंका करने में, सुरापान में और गुरुपत्नी के साथ सहवास में। उसके बाद इन्द्र को स्वर्गलोक में जाने की आज्ञा मिल गयी। तथा देखिए महाभारत वनपर्व २४०–२०७।

१. हरिणेगमेषी को इन्द्र की पदाति सेना का एक सेनापति (पादातानी-काधिपति) बताया गया है। इसी ने महावीर के गर्भ का परिवर्तन किया था, कल्पसूत्र २.२६। *अन्तःकृद्दशा* ३, पृ० १२ में भी *हरिणेगमेषी* का उल्लेख है। सन्तोत्पत्ति के लिए लोग उसकी मनौती करते थे।

२. १.१३।

३. जैन परम्परा के अनुसार, भरत चक्रवर्ती के समय से इन्द्रमह का आरम्भ माना जाता है। कहते हैं कि इन्द्र ने आभूषणों से अलंकृत अपनी उँगली भरत को दी और उसे लेकर भरत ने आठ दिन तक उत्सव मनाया, आवश्यकचूर्णी, पृ० २१३। देखिए हॉपकिन्स, वही, पृ० १२५। भास ने भी इन्द्रमह का उल्लेख किया है, पुसाल्कर, भास : ए स्टडी, अध्याय १९, पृ० ४४० आदि; तथा कथासरित्सागर, जिल्द ८, पृ० १४४–५३; महाभारत १.६४.३३; तथा वासुदेवशरण अग्रवाल, रंगस्वामी ऐयंगर कमैमोरेशन वॉल्युम, पृ० ४८० आदि में लेख।

४. लाट देश में यह उत्सव श्रावण की पूर्णिमा के दिन मनाया जाता था, निशीथ १९.६०६५ की चूर्णी। रामायण ४.१६.३६ के अनुसार, गौड़ देश में इसे आसोज की पूर्णिमा को मनाते थे। वर्षा के बाद जब रास्ते स्वच्छ हो जाते और पूर्णिमा के दिन युद्ध के योग्य समझे जाने लगते, तब इस उत्सव की धूम मचती थी, हॉपकिन्स, वही, पृ० १२५ आदि।

५. निशीथसूत्र १९.११–१२ तथा भाष्य।

कांपिल्यपुर में इन्द्रमहोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था। दुर्मुख राजा ने नागरिकों को इन्द्रकेतु[1] खड़ा करने का आदेश दिया। तत्पश्चात् मंगल वाद्यों के साथ श्वेत ध्वजपट और क्षुद्र घंटिकाओं से अलंकृत, श्रेष्ठ मालाओं से सुशोभित, मणिरत्नमाला से विभूषित तथा अनेक प्रकार के लटकते हुए फलों से समन्वित इन्द्रकेतु स्थापित किया गया। नर्तिकाएँ नृत्य करने लगीं, कविगण काव्यपाठ करने लगे, जन-समूह आनन्द से नाचने लगा, ऐन्द्रजालिक दृष्टिमोहन आदि इन्द्रजाल दिखाने लगे, तांबोल बांटे गये, कुंकुम और कर्पूर-जल छिड़का जाने लगा, महादान दिये जाने लगे, और मृदंगों की ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। इस प्रकार आमोद-प्रमोद में सात दिन व्यतीत हो गये। उसके बाद पूर्णिमा के दिन राजा दुर्मुख ने कुसुम और वस्त्र आदि द्वारा महा वैभव से गाजे-बाजे के साथ इन्द्रकेतु की पूजा की।[2]

हेमपुर में भी इन्द्रमह मनाया जाता था। यहां इन्द्र-स्थान के चारों ओर नगर की पांच सौ कुल बालिकाएं एकत्रित हो, अपने सौभाग्य के लिए, बलि, पुष्प और धूप आदि से इन्द्र की पूजा-उपासना करतीं।[3] पोलासपुर में भी यह महोत्सव मनाया जाता था।[4]

इन्द्रमह आदि के उत्सवों पर बहुत अधिक शोरगुल और गड़बड़ी रहने से जैन साधुओं को स्वाध्याय की मनाई की गयी है। उत्सव के लिए तैयार किया हुआ जो मद्यपान आदि खाद्य पदार्थ बच जाता, उसे लोग प्रतिपदा के दिन उपयोग में लाते। उत्सव के दिनों में आमोद-प्रमोद में उन्मत्त रहने के कारण जिन सगे-सम्बन्धियों को निमंत्रित नहीं किया जा सकता, उन्हें भी प्रतिपदा के दिन ही बुलाया जाता।[5] इन्द्रमह के दिन लोग धोबी के घर के धुले हुए स्वच्छ वस्त्र पहनते थे।[6]

---

१. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ० २५ में इन्दलट्ठि (इन्द्रयष्टि) का उल्लेख है; तथा देखिए व्याख्याप्रज्ञप्ति ९.६। तथा महाभारत ७.४९.१२। वज्रपाणि इन्द्रप्रतिमा का उल्लेख धम्मपद अट्ठकथा १, पृ० २८० में आता है।

२. उत्तराध्ययनटीका ८, पृ० १३६।

३. बृहत्कल्पभाष्य ४.५१५३।

४. अन्तःकृद्दशा ६, पृ० ४०।

५. निशीथचूर्णी १९.६०६८।

६. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १८१।

स्कंदमह

ब्राह्मणों की पौराणिक कथा के अनुसार, स्कंद अथवा कार्तिकेय[1] महादेवजी के पुत्र और युद्ध के देवता माने गये हैं। तारक राक्षस और देवताओं के युद्ध में स्कंद सेनापति बने थे। उनका वाहन मयूर माना गया है।[2] स्कंदमह आसोज की पूर्णिमा को मनाया जाता था। भगवान् महावीर के समय स्कंद पूजा प्रचलित थी। महावीर जब श्रावस्ती पहुँचे तो अलंकारों से विभूषित स्कंदप्रतिमा की रथ की सवारी निकाली जा रही थी।[3]

स्कंद और रुद्र की प्रतिमाएं काष्ठ की बनायी जाती थीं।[4] कभी प्रदीपशाला में स्थापित की हुई स्कंद प्रतिमाओं के जल जाने का डर रहता था। कभी श्वान के द्वारा जलते हुए दीपक को हिला-डुला देने से या चूहे द्वारा जलती हुई बत्ती निकाल कर ले जाने से, आग लग जाने की आशंका रहती थी। ऐसी हालत में जैन साधु के लिए वसति में ही रहने का विधान है। यदि शुद्ध वसति न मिले तो यतनापूर्वक प्रदीपशाला में रहे। यदि प्रतिमा के जल जाने की आशंका हो तो उसे वहां से सरकाकर अन्यत्र स्थापित कर दे। यदि यह शक्य न हो तो स्तम्भ, कुड्य आदि पर लेप कर दे जिससे आर्द्रता के कारण प्रतिमा जल नहीं सके, अन्यथा दीपक को वहाँ से सरका दे। यदि कदाचित् शृंखलाबद्ध दीपक हो और उसे सरकाना संभव न हो तो दीपक की बत्ती को ऊपर-नीचे करते रहना चाहिए। कुत्ते, गाय आदि को वहां से सिसकारी मारकर या दण्ड आदि दिखाकर भगा देना चाहिए, या फिर बत्ती को कम कर देना चाहिए, या उसे निचोड़ कर उसका तेल निकाल डालना चाहिए।[5]

---

१. महाभारत २.३५.४ में कुमार कार्तिकेय को रोहीतक (रोहतक) का मुख्य देवता माना गया है, तथा देखिए वही ९.४५। महाराष्ट्र में खंडोबा नाम से इसकी पूजा आरती की जाती है। स्वामी रामदास की आरती में उसे दरवाहन, मणिमल्ल, पञ्चानन आदि विशेषणों से संबोधित किया है। देखिये रा० चिं० ढेरे की मराठी पुस्तक 'खंडोबा'।

२. हॉपकिन्स, वही, पृ० २२७ आदि।

३. आवश्यकचूर्णी, पृ० ३१५।

४. वही, पृ० ११५।

५. बृहत्कल्पभाष्य ३.३४६२-७३।

रुद्रमह

हिन्दू पुराणों में ग्यारह रुद्र माने गये हैं। वे इन्द्र के साथी, शिव और उसके पुत्र के अनुचर तथा यम के रक्षक बताये गये हैं।[१] रुद्रायतन का उल्लेख आडम्बर यक्ष (हिरिमिक्ख अथवा हिरडिक) और चामुण्डा (मातृ) के आयतन के साथ किया गया है। इन आयतनों के नीचे मनुष्य की ताजी हड्डियाँ गाड़ी जाती थीं।[२] स्कन्द की प्रतिमा को भाँति रुद्रकी प्रतिमा भी काष्ठ से बनायी जाती थी।

मुकुन्दमह

महाभारत में मुकुन्द अथवा बलदेव को लांगूली अथवा हलधर कहा है; हल उसका अस्त्र है। उसके गले में सर्पों की माला पड़ी हुई है और उसकी ध्वजा में तीन सिरों के निशान हैं। बलदेव की हस्तरेखा से उसका मद्यप्रेम व्यक्त होता है।[३] भगवान् महावीर के काल में मुकुन्द और वासुदेव की पूजा प्रचलित थी। महावीर जब गोशाल के साथ विहार करते हुए आवत्त ग्राम पहुँचे तो वहाँ बलदेवगृहमें, हाथ में हल (नंगल) लिए हुए बलदेव की प्रतिमा विराजमान थी। मद्दणा गाँव में भी बलदेव की प्रतिमा मौजूद थी।[४]

शिवमह

हिन्दू पुराणों में शिव अथवा महाशिव भूतों के अधिपति, कामदेव

---

१. हॉपकिन्स, वही, पृ० १७३। रुद्र-शिवकी कल्पना के विकास के लिए देखिए भांडारकर, वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजियस सिस्टम, पृ० १०२ आदि।

२. व्यवहारभाष्य ७.३१३, पृ० ५५-अ।

३. हॉपकिन्स, वही, पृ० २१२।

४. आवश्यकनिर्युक्ति ४८१; आवश्यकचूर्णी, पृ० २९४।

५. पत्थर के कतिपय शिवलिंग सिंधुघाटी में मिले हैं जिससे पता लगता है कि प्राचीन काल में भी लिंग-पूजा प्रचलित थी। प्रजिलुस्की ने अपने 'नॉन-आर्यन लोन्स इन इण्डो-आर्यन' नामक लेख में बताया है कि लंगूल (हल) और लिंग ये दोनों शब्द आस्ट्रो-एशियायी हैं और व्युत्पत्ति की दृष्टि से दोनों का अर्थ एक है। ऋग्वेद में लिंगपूजकों के लिए निन्दावाची शब्दों का प्रयोग है, इससे पता लगता है कि लिंग-पूजा की उत्पत्ति आर्यों से हुई है, प्री-आर्यन ऐलीमैंट्स इन इण्डियन कल्चर; अतुल के० सुर, द कलकत्ता रिव्यू, नवम्बर-

के दहनकर्ता और स्कन्द के पिता माने गये हैं। संसार को ध्वंस कर देनेवाले विषका पान करना, दक्ष के यज्ञ को नष्ट कर देना और आकाश से गिरती हुई गंगा को अपने जटा-जूट में धारण करना—ये उनके मुख्य कार्य माने जाते हैं। पर्वत-देवता के रूप में, उनके सम्मान में, वैशाख में उत्सव मनाया जाता है। शिव को उमापति भी कहा गया है।[1]

जैन परम्परा के अनुसार, शिव अथवा महेश्वर चेटक की पुत्री सुज्येष्ठा के पुत्र थे। सुज्येष्ठा प्रव्रजित होकर किसी उपाश्रय में आतापना कर रही थी। इसी समय पेढाल नामक परिव्राजक विद्या देने के लिए किसी योग्य व्यक्ति की खोज में निकला। उसने सोचा यदि किसी ब्रह्मचारिणी से पुत्रोत्पत्ति हो तो विद्या सुरक्षित रह सकती है। यह सोचकर पेढाल ने सुज्येष्ठा को धूमिका से व्यामोहित कर उसमें बीज प्रक्षिप्त कर दिया। कालान्तर में उसके गर्भ से सत्यकी उत्पन्न हुआ। सत्यकी विद्याओं का पारगामी हो गया। महारोहिणी नाम की विद्या ने उसके मस्तक में एक छिद्र किया और वह उसके शरीर में प्रविष्ट हो गयी। देवता ने इस छिद्र को तीसरी आँख में परिणत कर दिया। कुछ समय के पश्चात् सत्यकी ने अपने पिता पेढाल का इसलिए वध कर दिया कि उसने राजकुमारी सुज्येष्ठा के सतीत्व को भ्रष्ट किया था। अब सत्यकी विद्याचक्रवर्ती हो गया। इन्द्र ने इसका नाम महेश्वर रखा। महेश्वर ब्राह्मणों से द्वेष रखता था, इसलिए उसने ब्राह्मणों की सैकड़ों कन्याएँ भ्रष्ट कर डालीं। वह राजा प्रद्योत के अन्तःपुर में भी उसकी रानियों के साथ क्रीड़ा किया करता। शिवा को छोड़ कर उसने सब रानियों को भ्रष्ट कर दिया था। इसके पश्चात् महेश्वर उज्जैनी की रूपवती गणिका उमा के साथ रहने लगा। एक बार जब महेश्वर उमा के साथ रमण कर रहा था, प्रद्योत ने अपने नौकर भेज-कर उसकी हत्या करा दी। जब महेश्वर के मित्र नंदीश्वर को इसका पता लगा तो वह विद्याओं से अधिष्ठित होकर, एक शिला द्वारा नगरवासियों की हत्या करने के लिए आकाश में जा पहुँचा। यह देखकर राजा नगरवासियों को साथ ले, गीले वस्त्र पहन, नंदीश्वर के

डिसम्बर, १९३२, पृ० २८४ आदि; तथा देखिए रोज़, ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑव पंजाब एण्ड नार्थ वेस्टर्न प्रोविंस, जिल्द १, पृ० २६० आदि।

१. हॉपकिन्स, वही, पृ० २१६-२९।

पैर पकड़कर, अपने अपराधों की क्षमा माँगने लगा। इस समय से प्रत्येक नगर में शिवलिंग की पूजा प्रारम्भ हुई।[1]

स्कंद और मुकुन्द की पूजा की भाँति शिवपूजा भी महावीर के समय प्रचलित थी।[2] ढोंढसिवा की पूजा की जाती थी।[3] किसी पर्वत के निर्झर में शिव की प्रतिमा विद्यमान थी। पत्र, पुष्प और गूगल से उसकी पूजा की जाती, उसका सिंचन और उपलेपन किया जाता, तथा हस्तिमद से उसे स्नान कराया जाता।[4] काष्ठनिर्मित शिव देवता का उल्लेख मिलता है।[5]

वैश्रमणमह

वैश्रमण अथवा कुबेर को उत्तर दिशा का लोकपाल तथा समस्त माल-खजाने का कुबेर कहा गया है। उसके तैरते हुए प्रासाद को गुह्यक वहन करके ले जाते हैं, जहाँ वह रत्नों को धारण किये स्त्रियों से परवेष्टित रहता है। वह दैदीप्यमान कुण्डल धारण करता है, अत्यन्त धनाढ्य है, दिव्य आसन और पादपीठ का धारक है, तथा नन्दनवन और अलकानलिनी से आनेवाली सुखद समीर का वह उपभोग करता है। अलका कैलाश पर्वत पर स्थित है। वैश्रमण यक्ष, राक्षस और गुह्यकों का अधिपति कहा जाता है।[6] जैनसूत्रों में वैश्रमण को यक्षों का अधिपति और उत्तर दिशा का लोकपाल कहा है।[7]

नागमह

ब्राह्मण पुराणों के अनुसार, सर्प-देवता सामान्यतया पृथ्वी के

---

१. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १७५ आदि।

२. आवश्यकनिर्युक्ति ५०६।

३. आवश्यकचूर्णी, पृ० २१२। बृहत्कल्पभाष्य ५.५९२८ में ढोंढशिवा को अचित्त चित्र का उदाहरण बताया गया है। हिंगुशिव के कथानक के लिए देखिए दशवैकालिकचूर्णी पृ० ४७।

४. बृहत्कल्पभाष्यपीठिका ८०४ की चूर्णी, फुटनोट।

५. बृहत्कल्पभाष्य ३.४४८७।

६. हॉपकिन्स, वही, पृ० १४२-४८।

७. जीवाभिगम ३, पृ० २८१।

८. आजकल नागा जाति के लोग असम और मणिपुर के बीच में रहते हैं। नागाओं के सम्बन्ध में विशेष जानने के लिए देखिए हार्डी, मैनुअल ऑव बुद्धिज्म, पृ० ४५; तथा राइस डैविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० २२०, आदि;

अधस्तल में निवास करते हैं, जहाँ शेषनाग अपने सहस्र फण से पृथ्वी का भार सम्भाले हुए हैं।[1]

जैन परम्परा के अनुसार राजा भगीरथ के समय से नागबलि का प्रचार हुआ। अयोध्या के राजा सगर चक्रवर्ती के ६० हजार पुत्र थे, जिनमें जण्हुकुमार सबसे बड़ा था। एक बार जण्हुकुमार अपने भाई-बंधुओं के साथ अष्टापद पर्वत पर जिनचैत्यों की वन्दना के लिए गया। वहां चैत्यों की रक्षा के लिए उसने पर्वत के चारों ओर एक खाई खोदना आरम्भ किया। खोदते-खोदते दण्डरत्न नाग-भवनों में जा लगा जिससे नागभवन टूट-फूट गये। यह देखकर नागकुमार नागराज ज्वलनप्रभ के पास पहुँचे। नागराज क्रुद्ध होकर सगरपुत्रों के पास आया[2], और कहने लगा कि तुम लोगों ने नागलोक में जो उपद्रव किया है वह तुम्हारे सबके वध का कारण होगा। जण्हुकुमार ने नागराज से क्षमा मांग कर उसे शान्त किया। जण्हुकुमार ने अब दण्डरत्न से गंगा को भेदकर उस खाई को भरना चाहा, लेकिन यह जल नाग-भवनों में भर गया। नागराज क्रोध से आग-बबूला हो गया। अब की बार उसने सगरपुत्रों के वध करने के लिए नयनविष महासर्प भेजे जिन्हें देखते ही सगर के पुत्र भस्म हो गये।[3] तत्पश्चात् सगर ने जण्हुकुमार के पुत्र भगीरथ को नागराज की आज्ञा से गंगा को समुद्र में ले जाकर डालने का आदेश दिया। नागकुमारों की पूजा द्वारा यह कार्य सम्पन्न किया गया। इसी समय से नागबलि का प्रचार हुआ।[4]

नागयज्ञ का उल्लेख मिलता है। साकेत नगरी के उत्तर-पूर्व में

अतुल के० सुर, कलकत्ता रिव्यू, नवम्बर-दिसम्बर, १९६२, पृ० २५९; डाक्टर फोगेल, इंडियन सर्पेन्ट लोर, पृ० १ आदि। यहां नागपूजा के विविध सिद्धान्तों का उल्लेख है।

१. हॉपकिन्स, वही, पृ० २३-२९।

२. तुलना कीजिये जातक २५६, ३, पृ० २४।

३. महाभारत में नाग तक्षक का उल्लेख है जिसने अपने विष के द्वारा वट वृक्ष को और राजा परीक्षित के भवन को जलाकर भस्म कर डाला। नाग कालिय की विषाग्नि के धुएं से यमुना नदी के प्रवाह के आच्छादित होने का उल्लेख मिलता है, डाक्टर फोगेल, वही, पृ० १५।

४. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २३४-३४ आदि।

५. मथुरा नागपूजा का महत्वपूर्ण केन्द्र था; यहां अनेक नागप्रतिमाएँ मिली हैं। काश्मीर में वितस्ता नदी को नाग तक्षक का गृह माना जाता है,

एक महान् नागगृह[1] था जो अत्यन्त दिव्य और सत्य माना जाता था। एक बार रानी पद्मावती ने बड़ी धूमधाम से नागयज्ञ मनाने की तैयारी की। उसने माली को बुलाकर पुष्पमण्डप को पंचरंगे पुष्पों और मालाओं से सजाने को कहा। हंस, मृग, मयूर, क्रौंच, सारस, चक्रवाल, मदनशाल और कोकिल की चित्र-रचना से पुष्पमंडप शोभित किया गया। तत्पश्चात् स्नान करके, अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ, धार्मिक यान में सवार हो, पद्मावती पुष्करिणी के पास पहुँची। वहां उसने स्नान किया और गीले वस्त्र पहने हुए कमल-पत्र तोड़े, फिर नागगृह की ओर प्रस्थान किया। उसके पीछे-पीछे अनेक दासियां और चेटियां चल रही थीं; पुष्पपटल और धूपपात्र उनके हाथ में थे। इस प्रकार बड़े ठाट से पद्मावती ने नागगृह में प्रवेश किया। लोमहस्तक से उसने प्रतिमा को झाड़ा-पोंछा, और धूप जलाकर नागदेव की पूजा की।[2] नागकुमार धरणेन्द्र द्वारा जैनों के २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की अर्चना किये जाने का उल्लेख मिलता है।[3]

यक्षमह

प्राचीन भारत में यक्ष की पूजा का बहुत महत्व था, इसलिए प्रत्येक नगर में यक्षायतन बने रहते थे।[4] जैन ग्रन्थों में उल्लेख है कि शील का पालन करने से यक्ष की योनि में पैदा होते हैं,[5] तथा यक्ष,

डाक्टर फोगेल, वही, पृ० ४१ आदि, २२९; तथा देखिए रोज़, वही, जिल्द १, पृ० १४७ आदि।

१. अर्थशास्त्र, ५.२.९०.४९, पृ० १७६ में सर्प की मूर्ति का उल्लेख है।

२. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० ९५ आदि।

३. आचारांगनिर्युक्ति ३३५ टीका, पृ० ३८५। मुचिलिन्द नाम के सर्पराज ने गौतम बुद्ध की वर्षा और हवा से रक्षा की थी, फोगल, वही, पृ० १०२-४, १२६।

४. आजकल भी यक्षों को गांवों का रक्षक मानकर सभी जाति और धर्मानुयायियों द्वारा उनकी पूजा की जाती है। लोगों का विश्वास है कि ऐसा करने से गांव संक्रामक रोगों से सुरक्षित रह सकेगा, डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर ऑव मुंगेर, पृ० ५५।

५. उत्तराध्ययनसूत्र ३.१४ आदि। बयद्दिस जातक (५१३), ५ के अनुसार यक्षों की आँखें लाल रहती हैं, उनके पलक नहीं लगते, उनकी छाया नहीं पड़ती और वे किसी से डरते नहीं। यक्षों और गन्धर्वों आदि के लिये देखिये दीघनिकाय ३,९, पृ० १५०।

देव, दानव, गंधर्व और किन्नर ब्रह्मचारियों को नमन करते हैं।[1]

जैनसूत्रों में पूर्णभद्र, मणिभद्र, श्वेतभद्र, हरितभद्र, सुमनोभद्र, व्यतिपातिकभद्र, सुभद्र, सर्वतोभद्र, मनुष्ययक्ष, वनाधिपति, वनाहार, रूपयक्ष और यक्षोत्तम नाम के तेरह यक्ष गिनाये गये हैं।[2] इनमें पूर्णभद्र और मणिभद्र[3] का विशेष महत्त्व है; इन्हें निवेदनापिंड अर्पित किया जाता था।[4] महावीर के समय इनके चैत्यों का उल्लेख मिलता है।[5]

चम्पा नगरी के उत्तर-पूर्व में स्थित पूर्णभद्र चैत्य का वर्णन औपपातिकसूत्र में किया गया है। यह चैत्य पुरातन काल से चला आ रहा था, पूर्व-पुरुषों द्वारा निरूपित था, अत्यन्त प्रसिद्ध था, आश्रित लोगों को वृत्ति देनेवाला था, तथा उसकी शक्ति और सामर्थ्य सबको ज्ञात थे। यह चैत्य छत्र, ध्वजा, घंट और पताकातिपताका से मंडित था, लोममय (रूंएदार) प्रमार्जनी से युक्त था, वहां वेदिका बनी हुई थी, भूमि गोबर से लिपी रहती थी, भित्तियां खड़िया मिट्टी से पुती रहती थीं, गोशीर्ष और रक्त चंदन के पांच अंगुलियों के छापे लगे हुए थे, द्वारों पर चंदन-कलश रक्खे थे और तोरण बंधे हुए थे। पुष्पमालाओं के समूह वहां लटके हुए थे, पंचरंगे सुगंधित पुष्पों के ढेर लगे थे तथा अगर, कुंदरुक और तुरुष्क (लोबान) की सुगंधित धूप महक रही थी। यहां नट, नर्तक, जल्ल (रस्सी पर खेल दिखानेवाले नट), मल्ल, मौष्टिक, वेलंबक (विदूषक), प्लवक (तैराक), कथक (कथा कहने

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र १६.१६।

२. अभिधानराजेन्द्रकोष, 'जक्ख'।

३. महामायूरी के अनुसार, पूर्णभद्र और मणिभद्र दोनों भाई थे, और ये ब्रह्मवती के प्रमुख देवता माने जाते थे, डाक्टर सिल्वन लेवी के 'द ज्योग्राफिकल कन्टेन्ट्स ऑव महाभारत' नामक लेख का डा० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा यू० पी० हिस्टोरिकल सोसायटी, जिल्द १५, भाग २ में अनुवाद। महाभारत २.१०.१० में भी मणिभद्र का उल्लेख है। तथा देखिये संयुत्तनिकाय १.१०, पृ० २०९। यक्षों में सबसे प्राचीन मूर्ति मणिभद्र (प्रथम शताब्दी ई० पू०) की ही उपलब्ध हुई है। भगवतीआराधना (अध्याय १८०) में पूर्णभद्र के पुत्र का नाम हरिकेश बल बताया गया है।

४. निशीथचूर्णी ११.८१ की चूर्णी।

५. आवश्यकचूर्णी, पृ० १२०।

वाले), लासक (भांड), आख्यायक (ज्योतिष), लंख, मंख, तूणइल्ल (तूणावत् = तूणा बजाने वाले), तुंबवीणिक (तूंबा बजाने वाले), भोजक (भोज) और मागध (स्तुतिपाठक) अपने खेल-तमाशे आदि दिखाते थे। यह चैत्य चंदन और गंध आदि से पूजनीय और अर्चनीय था। चारों ओर से एक महान् वनखण्ड से यह परिवेष्टित था जिसमें भांति-भांति के वृक्ष और फल-फूल लगे थे।[1]

समिल्ल नामक नगर के बाह्य उद्यान में सभा से युक्त एक देवकुलिका में मणिभद्र यक्ष का आयतन था। एक बार इस नगर में शीतला का प्रकोप होने पर नागरिकों ने यक्ष की मनौती की कि उपद्रव शान्त होने पर वे अष्टमी आदि के दिन उद्यापनिका करेंगे। कुछ समय बाद रोग शान्त हो गया। देवशर्मा नामक एक ब्राह्मण को वेतन देकर पूजा करने के लिए रख दिया गया, और वह अष्टमी आदि के दिन वहां की यक्ष-सभा को लीप-पोतकर साफ रखने लगा।[2]

ऐसे भी अनेक यक्षों के उल्लेख जैनसूत्रों में आते हैं जो शुभ कार्यों में सहायक होते थे। महावीर भगवान् अपने विहार-काल में जब ध्यान में अवस्थित हो जाते तो बिभेलग यक्ष उनकी रक्षा किया करता।[3] अश्व रूपधारी सेलग (शैलक) चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी के दिन लोगों की सहायता करने के लिए उद्यत रहा करता था। चम्पा के जिनपालित और जिनरक्षित नाम के व्यापारियों को, रत्नद्वीप की देवी से रक्षा करने के लिए, उन्हें अपनी पीठ पर बैठा, उसने चम्पा में लाकर छोड़ दिया था।[4] वाराणसी के तिंदुग उद्यान का गंडीतिंदुग यक्ष मातंग ऋषि का भक्त था और उक्त उद्यान में विहार करने पर यक्ष ने उनकी रक्षा की थी।[5]

---

१. औपपातिकसूत्र २।

२. पिण्डनिर्युक्ति २४५ आदि। ये लोग देवकुलिका में लगा हुआ मकड़ी का जाला आदि भी साफ करते थे, बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति १.१८१०। तथा देखिये कथासरित्सागर, जिल्द १, बुक २, अध्याय ८, पृ० १६२ (पेन्ज़र का अनुवाद)।

३. आवश्यकनिर्युक्ति ४८७।

४. ज्ञातृधर्मकथा ९, पृ० १२७। तुलना कीजिए वलाहस्स जातक (१९६), २, पृ० २९२।

५. उत्तराध्ययन १२ वां अध्याय, तथा टीका, पृ० १७३-अ।

सन्तानोत्पत्ति के लिए भी यक्ष की आराधना की जाती थी। धन्य सार्थवाह की पत्नी भद्रा के कोई सन्तान नहीं होती थी। धन्य की आज्ञा प्राप्त कर स्नान आदि से निवृत्त हो, वह राजगृह के बाहर नाग, भूत, यक्ष, इन्द्र और स्कंद आदि के देवकुल में आयी। उसने प्रतिमाओं का अभिषेक-पूजन किया और मनौती की कि यदि उसके सन्तान होगी तो वह देवताओं का दान आदि से आदर-सत्कार करेगी और अक्षयनिधि से उनका संवर्धन करेगी। तत्पश्चात् नाग, यक्ष आदि की उपयाचित करती हुई वह काल यापन करने लगी। कुछ समय बीत जाने पर भद्रा की अभिलाषा पूर्ण हुई।[1] गंगदत्ता के भी कोई सन्तान नहीं थी। वह वस्त्र, गंध, पुष्प और माला आदि लेकर, अपने मित्र और सगे-सम्बन्धियों के साथ उंबरदत्त यक्ष के आयतन में पहुँची। मोरपंख की कूँची से उसने यक्ष की मूर्ति को साफ किया, जल से उसका अभिषेक किया, रूंएदार वस्त्र से उसे पोंछा और वस्त्र पहनाये। तत्पश्चात् पुष्प आदि से यक्ष की उपासना की और फिर सन्तान के लिए मनौती करने लगी।[2] सुभद्रा ने भी सुरंबर यक्ष के आयतन में पहुँचकर यक्ष की मनौती की कि यदि उसके पुत्र होगा तो वह सौ भैंसों की बलि चढ़ायेगी।[3]

सन्तान की अभिलाषा पूर्ण करने में हरिणेगमेषी[4] का नाम खास कर लिया जाता है। मथुरा के जैन शिलालेखों में 'भगवा नेमेसो' कहकर उसका उल्लेख किया है। कल्पसूत्र में शक्र के आदेश से हरिणेगमेषी द्वारा महावीर के गर्भ परिवर्तन किये जाने का उल्लेख पहले आ चुका है। कल्पसूत्र की हस्तलिखित प्रतियों में उसके चित्र मिलते हैं। भद्दिलपुर के नाग गृहपति की पत्नी की आराधना से हरिणेगमेषी प्रसन्न हो गया। उसने सुलसा और कृष्ण की माता देवकी को एक साथ गर्भवती किया। दोनों ने साथ ही साथ प्रसव भी किया। सुलसा ने मृत पुत्रों को जन्म दिया और देवकी ने जीवित पुत्रों को। लेकिन हरिणेगमेषी ने दोनों का गर्भ

१. नायाधम्मकहा २, पृ० ४६ आदि; तथा आवश्यकचूर्णी २, पृ० १६४।

२. विपाकसूत्र ७, पृ० ४२ आदि। तथा देखिए हरिभद्र श्रावक (५०१), ४, पृ० ६४-५।

३. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १९३।

४. वैदिक ग्रन्थों में नैगमेष को छाग-शिरोधारक, इन्द्र का सेनापति कहा है। महाभारत में उसे अजमुख बताया है, ए० के० कुमारस्वामी, यक्षाज़, पृ० १२।

बदल दिया। आगे चलकर कृष्ण द्वारा हरिणेगमेषी की आराधना किये जाने पर, देवकी के गजसुकुमार नामक पुत्र हुआ।[1]

यक्ष हानि भी पहुँचा सकते थे, और लोगों का वध कर प्रसन्न होते थे।[2] शूलपाणि वर्धमानक गांव का एक प्रसिद्ध यक्ष था। उसने क्रुद्ध होकर गांव में महामारी फैला दी जिससे लोग गांव छोड़कर भागने लगे। महामारी का उपद्रव फिर भी शान्त न हुआ। यह देखकर लोग वापिस लौट आये। वे नगर-देवता के समक्ष विपुल उपहार लेकर उपस्थित हुए और उससे क्षमा मांगने लगे। यक्ष ने कहा कि यदि तुम मनुष्यों की हड्डियों पर देवकुल बनाने को तैयार हो तो महामारी शान्त हो सकती है। गाँववालों ने यक्ष के देवकुल में पूजा-अर्चना करने के लिए इन्द्रशर्मा नाम का एक पुजारी रख दिया। उस समय से यह गाँव अट्ठिगाम (अस्थिग्राम) कहा जाने लगा।[3]

साकेत के उत्तर-पूर्व में सुरप्रिय यक्ष का आयतन था। वह प्रति वर्ष चित्रित किया जाता था और लोग उसका महान् उत्सव मनाते थे। लेकिन जो चित्रकार उसे चित्रित करता, यक्ष उसे मार डालता। यदि यक्ष चित्रित न किया जाता तो वह महामारी फैला देता। यह देखकर जब नगर के सब चित्रकार भागने लगे तो राजा ने सब चित्रकारों को इकट्ठा किया और सबके नाम लिखकर एक घड़े में डाल दिये। ये नाम प्रति वर्ष घड़े में से निकाले जाते, और जिस चित्रकार का नाम निकलता उसे यक्ष को चित्रित करना पड़ता। एक बार कौशाम्बी से भागकर आये हुए किसी चित्रकार के लड़के की बारी आयी। उसने उज्ज्वल वस्त्र पहन, अपनी नयी कूँची से यक्ष को चित्रित किया। यक्ष ने सन्तुष्ट होकर उससे वर मांगने को कहा। चित्रकार ने चाहा कि द्विपद, चतुष्पद आदि प्राणियों के केवल एक भाग को देखकर वह उन्हें पूर्ण रूप से चित्रित कर सके। यक्ष ने प्रसन्न होकर वरदान दे दिया।[4]

जैनसूत्रों में इन्द्रमह, धनुर्मह, स्कंदमह, कुमारमह और भूतमह के

---

१. अन्तःकृद्दशा ३, पृ० १५।

२. जातकों के लिए देखिए मेहता, वही, पृ० ३२४।

३. आवश्यकचूर्णी, पृ० २७२-७४।

४. वही पृ० ८७ आदि।

मरे हुए मनुष्यों की हड्डियों पर बनाया जाता था।[1] प्रश्न करने पर, घंटिक यक्ष उसका उत्तर कान में चुपके से फुसफुसाता था।[2]

वानमंतर और गुह्यक

यक्ष के अलावा, वानमंतर, वानमंतरी और गुह्यकों आदि के उल्लेख भी मिलते हैं। अनेक अवसरों पर वानमंतरदेव को प्रसन्न करने के लिए सुबह, दुपहर और सन्ध्या के समय पटह बजाया जाता था।[3] कभी गृहपत्नी के अपने पति द्वारा अपमानित होने पर, या पुत्रवती सपत्नी द्वारा सम्मान प्राप्त न करने पर, अथवा अतिशय रोगी रहने के कारण, अथवा किसी साधु से कोई झंझट हो जाने पर शान्ति के लिए वानमंतर की पूजा-उपासना की जाती थी; और वह रात्रि के समय जैन साधुओं को भोजन कराने से तृप्त होता था।[4] नया मकान बनकर तैयार हो जाने पर भी वानमंतरों की आराधना की जाती थी।[5] कुंडलमेण्ठ वानमंतर की यात्रा भृगुकच्छ के आसपास के प्रदेश में की जाती थी। इस अवसर पर लोग संखडि मनाते थे।[6] ऋषिपाल नामक वानमंतर ने तोसलि में ऋषितडाग (इसितडाग)[7] नाम का एक तालाब बनवाया था, जहाँ प्रतिवर्ष आठ दिन तक उत्सव मनाया जाता था।[8] जैन सूत्रों में पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किंनर, किंपुरिष, महोरग और गन्धर्व[9] इन आठ व्यंतर देवों के आठ चैत्य-वृक्षों का उल्लेख है—पिशाच का कदंब, यक्ष का वट, भूत का तुलसी, राक्षस का कांडक, किन्नर का अशोक, किंपुरुष का चम्पक, महोरग का नाग और गन्धर्व का तेंदुक।[10]

---

१. आवश्यकचूर्णी २, पृ० २२७ आदि।

२. व्यवहारभाष्य ७.११३; आवश्यकचूर्णी २, पृ० २२७; बृहत्कल्पभाष्य २.१३१२।

३. दशवैकालिकचूर्णी, पृ० ४८।

४. बृहत्कल्पभाष्य ४.४९६३।

५. वही ३.४७६९।

६. वही १.३१५०।

७. खारवेल के हाथीगुंफा शिलालेख में इसका उल्लेख है

८. बृहत्कल्पभाष्य ३.४२२३।

९. उत्तराध्ययनसूत्र ३६.२०७।

१०. स्थानांग ८.६५४।

वानमंतरियों में सालेज्जा महावीर भगवान् की भक्त थी,[1] लेकिन कटपूतना ने उन्हें बहुत कष्ट पहुँचाया था।[2] डाकिनियां और शाकिनियां भी उपद्रव मचाती रहती थीं। गोल्ल देश में रिवाज था कि डाकिनी के भय से रोगी को बाहर नहीं निकाला जाता था।[3]

गुह्यकों के विषय में लोगों का विश्वास था कि वे कैलाश पर्वत के रहने वाले हैं, और इस लोक में श्वानों के रूप में निवास करते हैं।[4] कहते हैं कि देवों की भांति वे पृथ्वी का स्पर्श नहीं करते और उनकी पलक नहीं लगती।[5] यदि कभी कालगत होने के पश्चात् जैन साधु व्यंतर देव से अधिष्ठित हो जाता तो उसके मूत्र को बायें हाथ में लेकर उसके मृत शरीर को सींचा जाता, और गुह्यक का नामोच्चारण कर उससे संस्तारक से न उठने का अनुरोध किया जाता।[6]

यक्षायतन (चैत्य)

प्राकृत और पालि ग्रन्थों में यक्ष के आयतन को चेइय अथवा चेतिय नाम से उल्लिखित किया है। महाभारत में किसी पवित्र वृक्ष को अथवा वेदिका वाले वृक्ष को चैत्य कहा है। देवों, यक्षों और राक्षसों आदि का निवास स्थान होने के कारण इसे हानि न पहुँचाने का यहां विधान है। रामायण में चैत्यगृह, चैत्यप्रासाद और चैत्य-वृक्ष का उल्लेख है। याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार, चैत्य को दो गावों या जनपदों के बीच का सीमास्थल माना जाता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में चैत्य को देवगृह कहा है, और इसलिए यहाँ चैत्यपूजा को मुख्यता दी गयी है।[7] जैन आगमों के टीकाकार अभयदेवसूरि

---

१. आवश्यकचूर्णी, पृ० २९४।

२. वही, पृ० ४९०। तुलना कीजिए अयोघर जातक (५१०), ४, पृ० पृ० ८०–१; रामायण ५.२४।

३. बृहत्कल्पभाष्य १.२३८० की चूर्णी, फुटनोट ३।

४. निशीथभाष्य १३.४४२७।

५. ओघनिर्युक्तिटीका, पृ० १५६–अ। तुलना कीजिए हॉपकिन्स वही, पृ० १४७ आदि। यहाँ कहा है—"गुह्यकों का संसार उन्हीं के लिए है जो वीरतापूर्वक तलवार से मृत्यु को प्राप्त हुए हैं।" तथा देखिए कथासरित्सागर १, परिशिष्ट १।

६. बृहत्कल्पभाष्य ४.५५२५ आदि।

७. वी० आर० दीक्षितार, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, पृ० ४४०

ने चैत्य को देवप्रतिमा या व्यंतरायतन के अर्थ में प्रयुक्त किया है।[1] हेमचन्द्र आचार्य ने जिनसदन के अर्थ में इसका प्रयोग किया है।[2] जान पड़ता है कि प्रत्येक नगर में चैत्य होते थे, जहाँ महावीर, बुद्ध तथा अन्य अनेक साधु-श्रमण ठहरा करते थे। चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य का उल्लेख किया जा चुका है। राजगृह में गुणसिलय और आमलकप्पा में अंबसालवन नामक चैत्य थे। चैत्य के स्थानों पर यक्षाधिष्ठित उद्यानों का भी उल्लेख आता है। उदाहरण के लिये, वाणियगाम में सुधर्म यक्षाधिष्ठित दुईपलास (द्युतिपलाश)[3], मथुरा में सुदर्शन यक्षाधिष्ठित भंडीर[4] और वर्धमानपुर में मणिभद्र यक्षाधिष्ठित वर्धमान नामक उद्यान[5] थे। ये यक्षायतन कभी नगर के बाहर उद्यान में, कभी पर्वत पर, कभी तालाब के समीप, कभी नगर के द्वार के पास और कभी नगर के अन्दर ही होते थे।

कतिपय चैत्यों का निर्माण स्थापत्यकला की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जा सकता है। इनमें द्वार, कपाट और भवन आदि बने रहते थे। कोई देवकुलिका मनुष्य के एक हाथ-प्रमाण और पाषाण के एक खण्ड से बनायी गई थी।[6] देवी-देवताओं की मूर्तियां प्रायः काठ की बनी होती, तथा कुछ यक्षों की मूर्तियों के हाथ में लोहे की गदा रहती थी। चैत्य

आदि, सितम्बर १९१८; कुमारस्वामी, यक्षाज़, पृ० १८; हॉपकिन्स, वही, पृ० ७०–७२।

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति १ उत्थान, पृ० ७। बृहत्कल्पभाष्य १.१७७४ आदि में चार प्रकार के चैत्यों का उल्लेख है—साधर्मिक, मंगल, शाश्वत और भक्ति। गुणचन्द्र की महावीरचरियं प्रस्तावोतिका १, पृ० २२२ में तीन प्रकार के चैत्य बताये गये हैं—हरिमोग चेतिय, उद्दिस्सक चेतिय और पादुक चेतिय। चुल्लवग्ग (३७.१८३) में मंगल चेतिय का उल्लेख है। तथा देखिए सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट आदि, जिल्द १, पृ० १९५।

२. अभिधानचिन्तामणि ४.६०। निशीथचूर्णी १२.४११९ में गोट्ठ-समवायट्ठाणं आयतनं और पडिमागिहं चेतियं का उल्लेख है।

३. विपाकसूत्र २, पृ० १२।

४. वही ६, पृ० ३५।

५. वही १०, पृ० ५६।

६. उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० १४२।

के साथ सभा भी रहती थी जिसे गोबर से लीप-पोत कर साफ रक्खा जाता था।[1]

भूतमह

भूतों को निशाचर कहा गया है, जो यक्ष और राक्षस आदि के साथ गिरोह बनाकर निकलते थे। हिन्दू पुराणों में इन्हें भयंकर और मांसभक्षी कहा गया है। भूतों को बलि देकर प्रसन्न किया जाता है,[2] और बुद्धिमान मनुष्य सोने के पहले उनका स्मरण करते हैं। महाभारत में तीन प्रकार के भूतों का उल्लेख है :—उदासीन, प्रतिकूल और दयालु। रात्रि में भ्रमण करने वाले भूत प्रतिकूल कहे गये हैं।[3]

भूतमह की गणना महामहों में की गयी है। यक्षमह कार्तिकी-पूर्णिमा को, और भूतमह चैत्र पूर्णिमा को मनाया जाता था। भूतमह से पीड़ित मनुष्यों की चिकित्सा भूतविद्या द्वारा की जाती थी, जिसके लिए शांति-कर्म तथा देव, असुर, गंधर्व, यक्ष, राक्षस आदि देवताओं को बलि चढ़ाई जाती थी। भूतविद्या में कुशल भूतवादियों का उल्लेख मिलता है। किसी राजा के दरबार में रोग का उपशमन करने के लिए तीन भूतवादी उपस्थित हुए। पहले ने कहा—"मेरे पास एक मन्त्रसिद्ध भूत है, जो सुन्दर रूप बनाकर गोपुर की गलियों में घूमता है, लेकिन किसी को उसकी ओर देखना नहीं चाहिए। जो उसकी ओर देखेगा उससे वह रुष्ट हो जायेगा और उसे मार डालेगा। तथा जो उसे देखकर नीचे की ओर मुंह कर लेगा वह रोग से मुक्त हो जायेगा।" दूसरे ने कहा—"मेरा भूत अत्यन्त ऐश्वर्य वाला है, लम्बा उसका उदर है, चपटी नाक है, कोख आगे को निकली है, वह पांच सिर वाला और एक पैरवाला है, शिखारहित है, और बीभत्स उसका रूप है। वह अट्टहास करता हुआ, गाता और नाचता हुआ अपने विकृत रूप में भ्रमण करता है। उस समय जो क्रुद्ध होता है, हंसता है या

---

१. निशीथचूर्णी १.८०४। दक्षिणापथ में ग्रामदेवकुलिकायें बनी रहती थीं। इनमें व्यन्तरों का निवास माना जाता था, आचारांगचूर्णी पृ० २६०।

२. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १६२ में उज्जैनी की रानी शिवा द्वारा भूतबलि दिये जाने का उल्लेख है।

३. हॉपकिन्स, वही, पृ० ३६ आदि। भूतों के शरीर की छाया नहीं पड़ती, वे हल्दी सहन नहीं कर सकते और हमेशा नाक से बोलते हैं, कथासरित्सागर १, परिशिष्ट १। तथा देखिए रोज़, वही, जिल्द १, पृ० २०५ आदि।

प्रवंचना करता है, उसके सिर के वह सात टुकड़े कर डालता है। तथा जो उससे अच्छी तरह बोलता है, उसका अभिनंदन करता है और धूप, पुष्प आदि द्वारा उसकी अर्चना करता है; उसे वह समस्त रोगों से मुक्त कर देता है।" तीसरे भूतवादी ने कहा—"राजन्, मेरे पास भी एक इसी प्रकार का भूत है, लेकिन उसका कोई अच्छा करे या बुरा, वह दर्शनमात्र से सब रोगियों का अच्छा कर देता है।" राजा इस भूतवादी से प्रसन्न हुआ और उसने उसे अपने यहां रख लिया।[1]

इसके सिवाय, अनेक गारुड़िकों, भोगिकों (भोइय), भट्टों और चट्टों का उल्लेख आता है। कौशलराज की कन्या जब यक्षपूजा के लिए यक्षायतन में पहुँची तो यक्षप्रतिमा की प्रदक्षिणा करते समय, वह यक्ष से आविष्ट हो गयी और कुछ-कुछ बकने लगी, तो राजा ने गारुड़िक, भोगिक, भट्टों और चट्टों को बुलाकर मंत्र, तंत्र और रक्षामंडल आदि से उसकी चिकित्सा करायी।[2]

लोगों का भूत-प्रेतों में बहुत अधिक विश्वास था; उनका मानना था कि भूत दूकानों से खरीदे जा सकते हैं। कहते हैं कि कुत्तियावण (कुत्रिकापण) से दुनिया-भर की सारी वस्तुएं खरीदी जा सकती थीं; भूत भी वहां मिलते थे। राजा प्रद्योत के समय उज्जैनी में इस प्रकार की नौ दूकानें थीं; राजगृह में भी थी। एक बार भृगुकच्छ का कोई वैश्य उज्जैनी की दूकान से भूत खरीदने आया। दूकानदार ने कहा, भूत मिल सकता है, लेकिन यदि उसे काम न दोगे तो वह तुम्हें मार डालेगा[3]। वैश्य भूत खरीद कर चल दिया। वह उसे जो काम बताता, उसे वह तुरन्त कर डालता। आखिर में तंग आकर वैश्य ने एक खम्भा गड़वा दिया और उसपर उतरते-चढ़ते रहने को कहा। इस भूत ने भडौंच के उत्तर में भूतडाग नाम का एक तालाब बनाया।[4]

---

१. उत्तराध्ययनटीका १, पृ० ५।

२. वही १९, पृ० २७४; तथा आवश्यकटीका (हरिभद्र), पृ० ३९३-अ आदि।

३. इसी प्रकार की कथा कथासरित्सागर, पेन्ज़र, जिल्द १, अध्याय २८, पृ० ३९-२ में आती है।

४. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति ३.४२१४-२२। यहां कुत्रिकापण की बड़ी विचित्र व्युत्पत्ति दी गयी है—कु: इति पृथिव्याः संज्ञा, तस्याः त्रिकं कुत्रिकं—स्वर्ग-

भूतों के साथ पिशाच भी जुड़े हुए हैं। पिशाच मांस का भक्षण करते और रुधिर का पान करते। ज्ञातृधर्मकथा में तालजंघ नामक एक पिशाच का वर्णन आता है जो उपद्रव करने के लिए समुद्र के व्यापारियों के समक्ष आकाश में उपस्थित हुआ था। देखने में यह काला स्याह था, लम्बे उसके ओठ थे, दांत बाहर निकले थे, युगल जिह्वाएं लपलपा रहीं थीं, गाल अन्दर को धंसे थे, चपटी नाक थी, कुटिल भौंहें थीं, आंखों में लाली चमक रही थी। उसका वक्षस्थल और कुक्षि विशाल थी, तथा अट्टहास करता, नाचता और गर्जना करता हुआ, हाथ में तीक्ष्ण तलवार लिए वह आ रहा था।[1]

पिशाच प्रायः श्मशानों में रहते थे, लोग उन्हें अमावस्या के दिन बलि चढ़ाते थे। मल्ल योद्धा कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि को श्मशान में जाकर उन्हें भोजन कराते, और यदि वहां से वे विजयी होकर लौट आते तो राजा उन्हें अपने यहाँ नियुक्त कर लेता था।[2]

आर्या और कोट्टकिरियामह

आर्या और कोट्टकिरिया दोनों दुर्गा[3] के ही रूप हैं, जिसे चंडिका या चामुण्डा भी कहा गया है। युद्ध के लिए जाते समय लोग चामुण्डा को प्रणाम करते थे[4], तथा बकरे, भैंसे और पुरुष आदि का वधकर तथा पशुओं के सिर द्वारा याग आदि करके उसे प्रसन्न करते थे।[5] अपने जमाई की तीर्थयात्रा कुशलतापूर्वक सम्पन्न होने के लिये स्त्रियां

मर्त्यपातालक्षणं तस्यापणः हट्टः। पृथिवीत्रये यत् किमपि चेतनमचेतनं वा द्रव्यं सर्वस्यापि लोकस्य ग्रहणोपभोगक्षम विद्यते तत् आपणे न नास्ति; तथा आवश्यकटीका (मलयगिरि), पृ० ४१२ अ।

१. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० ९९।

२. व्यवहारभाष्य १, पृ० ६२-अ आदि; उत्तराध्ययनटीका ८, पृ० ७४-अ।

३. ब्राह्मण पुराणों में दुर्गा को मद्यपायिनी और मांसभक्षिणी के रूप में चित्रित किया है। दुर्ग अथवा कष्टों से रक्षा करने के कारण उसे दुर्गा कहा जाता है। उसका चिह्न मयूरपिच्छ है तथा वह मुकुट और सर्प धारण करती है। उसके चार भुजाएँ और चार मुख हैं; वह धनुष, चक्र, पाश आदि शस्त्र धारण किये हैं। उसे कैटभनाशिनी और महिषासुरप्रिया भी कहा जाता है, हॉपकिन्स, वही, पृ० २२४।

४. पिंडनिर्युक्तिटीका ४४१।

५. आचारांगचूर्णी, पृ० ६१; प्रश्नव्याकरण सूत्र ७, पृ० ३७।

प्रवंचना करता है, उसके सिर के वह सात टुकड़े कर डालता है। तथा जो उससे अच्छी तरह बोलता है, उसका अभिनंदन करता है और धूप, पुष्प आदि द्वारा उसकी अर्चना करता है; उसे वह समस्त रोगों से मुक्त कर देता है।" तीसरे भूतवादी ने कहा—"राजन्, मेरे पास भी एक इसी प्रकार का भूत है, लेकिन उसका कोई अच्छा करे या बुरा, वह दर्शनमात्र से सब रोगियों को अच्छा कर देता है।" राजा इस भूतवादी से प्रसन्न हुआ और उसने उसे अपने यहां रख लिया।[1]

इसके सिवाय, अनेक गारुडिकों, भोगिकों (भोइय), भट्टों और चट्टों का उल्लेख आता है। कौशलराज की कन्या जब यक्षपूजा के लिए यक्षायतन में पहुँची तो यक्षप्रतिमा की प्रदक्षिणा करते समय, वह यक्ष से आविष्ट हो गयी और कुछ-कुछ बकने लगी, तो राजा ने गारुडिक, भोगिक, भट्टों और चट्टों को बुलाकर मंत्र, तंत्र और रक्षा-मंडल आदि से उसकी चिकित्सा करायी।[2]

लोगों का भूत-प्रेतों में बहुत अधिक विश्वास था; उनका मानना था कि भूत दूकानों से खरीदे जा सकते हैं। कहते हैं कि कुत्तियावण (कुत्रिकापण) से दुनिया-भर की सारी वस्तुएं खरीदी जा सकती थीं; भूत भी यहां मिलते थे। राजा प्रद्योत के समय उज्जैनी में इस प्रकार की नौ दूकानें थीं; राजगृह में भी थीं। एक बार भृगु-कच्छ का कोई वैश्य उज्जैनी की दूकान से भूत खरीदने आया। दूकानदार ने कहा, भूत मिल सकता है, लेकिन यदि उसे काम न दोगे तो वह तुम्हें मार डालेगा। वैश्य भूत खरीद कर चल दिया। वह उसे जो काम बताता, उसे वह तुरन्त कर डालता। आखिर में तंग आकर वैश्य ने एक खम्भा गड़वा दिया और उसपर उतरते-चढ़ते रहने को कहा। इस भूत ने भड़ौंच के उत्तर में भूततडाग नाम का एक तालाब बनाया।[3,4]

---

१. उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० ५९।

२. वही १९, पृ० १७४; तथा आवश्यकटीका (हरिभद्र), पृ० ३९१-अ आदि।

३. इसी प्रकार की कथा कथासरित्सागर, पेन्ज़र, जिल्द १, अध्याय २८, पृ० ३२-३ में आती है।

४. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति ३.४२१४-२२। यहां कुत्रिकापण की यही निरुक्ति की गयी है—कुः इति पृथिव्याः संज्ञा, तस्याः त्रिकं कुत्रिकं—स्वर्ग-

भूतों के साथ पिशाच भी जुड़े हुए हैं। पिशाच मांस का भक्षण करते और रुधिर का पान करते। ज्ञातृधर्मकथा में तालजंघ नामक एक पिशाच का वर्णन आता है जो उपद्रव करने के लिए समुद्र के व्यापारियों के समक्ष आकाश में उपस्थित हुआ था। देखने में वह काला स्याह था, लम्बे उसके ओंठ थे, दांत बाहर निकले थे, युगल जिह्वाएं लपलपा रहीं थीं, गाल अन्दर को धंसे थे, चपटी नाक थी, कुटिल भौंहें थीं, आंखों में लाली चमक रही थी। उसका वक्षस्थल और कुक्षि विशाल थी, तथा अट्टहास करता, नाचता और गर्जना करता हुआ, हाथ में तीक्ष्ण तलवार लिए वह आ रहा था।[1]

पिशाच प्रायः श्मशानों में रहते थे, लोग उन्हें अमावस्या के दिन बलि चढ़ाते थे। मल्ल योद्धा कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि को श्मशान में जाकर उन्हें भोजन कराते, और यदि वहां से वे विजयी होकर लौट आते तो राजा उन्हें अपने यहाँ नियुक्त कर लेता था।[2]

आर्या और कोट्टकिरियामह

आर्या और कोट्टकिरिया दोनों दुर्गा[3] के ही रूप हैं, जिसे चंडिका या चामुण्डा भी कहा गया है। युद्ध के लिए जाते समय लोग चामुण्डा को प्रणाम करते थे[4], तथा बकरे, भैंसे और पुरुष आदि का वधकर तथा पशुओं के सिर द्वारा याग आदि करके उसे प्रसन्न करते थे।[5] अपने जमाई की तीर्थयात्रा कुशलतापूर्वक सम्पन्न होने के लिये स्त्रियां

मर्त्यपाताऽलक्षणं तस्यापणः हट्टः। पृथिवीत्रये यत् किमपि चेतनमचेतनं वा द्रव्यं सर्वस्यापि लोकस्य ग्रहणोपभोगक्षम विद्यते तत् आपणे न नास्ति; तथा आवश्यकटीका (मलयगिरि), पृ० ४१३ अ।

१. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० ९९।

२. व्यवहारभाष्य १, पृ० ६२–अ आदि; उत्तराध्ययनटीका ८, पृ० ७४–अ।

३. ब्राह्मण पुराणों में दुर्गा को मद्यपायिनी और मांसभक्षिणी के रूप में चित्रित किया है। दुर्ग अथवा कष्टों से रक्षा करने के कारण उसे दुर्गा कहा जाता है। उसका चिह्न मयूरपिच्छ है तथा वह मुकुट और सर्प धारण करती है। उसके चार भुजाएँ और चार मुख हैं; वह धनुष, चक्र, पाश आदि शस्त्र धारण किये हैं। उसे दैत्यनाशिनी और महिषवधप्रिया भी कहा जाता है, हॉपकिन्स, वही, पृ० २२४।

४. पिंडनिर्युक्तिटीका ४४१।

५. आचारांगचूर्णी, पृ० ६१; प्रश्नव्याकरण सूत्र ७, पृ० ३७।

कोट्टार्या को बकरे की बलि चढ़ाया करती थी।[1] जैन टीकाकारों ने आर्या और कोट्टकिरिया में अन्तर बताते हुए कहा है कि जो कूष्मांडिनी की भांति खड़ी रहती है वह आर्या है, और वही जब महिष का वध करने के लिए उद्यत हो जाती है, तो कोट्टकिरिया कहलाती है।[2]

१. निशीथचूर्णी ११.३७०० ।

२. ज्ञाताधर्मकथाटीका ८, पृ० १३८-अ। दुर्गादेवी की अनेक रूपों में उपासना की जाती है। जब यह एक वर्ष की होती है तो संध्या के रूप में, दो वर्ष की होती है तो सरस्वती के रूप में, सात वर्ष की होती है तो चंडिका के रूप में, आठ वर्ष की होती है तो शांभवी के रूप में, नौ वर्ष की होती है तो दुर्गा या बाला के रूप में, दस वर्ष की होती है तो गौरी के रूप में, तेरह वर्ष की होती है तो महालक्ष्मी के रूप में और जब सोलह वर्ष की होती है तो ललिता के रूप में उसकी उपासना की जाती है, [illegible], [illegible] ऑफ हिन्दू इकोनोमिक्स, पृ० २२२ आदि।

सिंहावलोकन

१—जैनधर्म का इतिहास भगवान् महावीर से प्रारम्भ न होकर पार्श्वनाथ से आरम्भ हुआ माना जाता है। पार्श्वनाथ एक यशस्वी तीर्थंकर थे जो महावीर के २५० वर्ष पूर्व ईसवी सन् के पूर्व आठवीं शताब्दी में जन्मे थे। इन्होंने जैनधर्म को संगठित करने के लिए सर्वप्रथम चतुर्विध संघ की स्थापना की।

जैनधर्म को शक्ति और सामर्थ्य जैनधर्म के अनुयायी श्रावक और श्राविकाओं के ऊपर अधिक आधारित रही है, जो बात प्रायः इस रूप में बौद्धधर्म में देखने में नहीं आती। जैनधर्म के उज्जीवित रहने का दूसरा कारण था उसके अनुयायियों का धर्मगत रूढ़ियों से संलग्न रहना। परिणाम यह हुआ कि बौद्धधर्म को भांति इस धर्म में तान्त्रिकों का प्रवेश न हो सका। इस धर्मपरायणता के कारण जैनधर्म के मौलिक तत्त्वों और सिद्धान्तों में शायद ही कोई विशेष परिवर्तन हुआ हो, और इसलिए यह कहा जा सकता है कि आज से दो हजार वर्ष पहले जिस तत्परता के साथ जैनधर्म का पालन किया जाता था, वस्तुतः वह तत्परता आज भी कम नहीं हुई है। वैष्णवधर्म, शैवधर्म तथा अन्य मत-मतान्तरों के नये आचार-विचार लोगों में कोई विशेष आकर्षण पैदा न कर सके, और जैनधर्म अपने पुराने उत्साह को कायम रक्खे रहा। भारत में दूर-दूर फैले हुए प्रभावशाली जैनधर्म के अनुयायियों से इस कथन का समर्थन होता है।

जिन जैन-आगमों को आधार मान कर यह सामग्री प्रस्तुत की गयी है, दुर्भाग्य से वे सब आगम किसी एक काल की रचना नहीं हैं। कुछ आगमों पर तो गुप्तकाल का प्रभाव स्पष्ट दिखायी पड़ता है। ऐसी हालत में इस पुस्तक का विवेचन काल-क्रमानुसार नहीं कहा जा सकता। फिर, ईसवी सन् के पूर्व चौथी शताब्दी से लेकर ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दी तक के बीच आगमों की तीन वाचनाएँ हुईं जिससे उनमें हानि-वृद्धि होती रही। दीर्घकाल के इस व्यवधान में निश्चय ही आगमों के विषय और भाषा आदि में काफी परिवर्तन हुआ होगा। ऐसी दशा में जैन-आगमग्रन्थों को बौद्धों के पालि त्रिपिटक जितना प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। फिर भी जो सामाजिक,

सांस्कृतिक और अर्ध-ऐतिहासिक सामग्री यहां सुरक्षित रह गयी है, वह भारत के अधूरे इतिहास की कड़ियां जोड़ने के लिए अत्यन्त उपयोगी है, इसमें सन्देह नहीं।

जैन आगमों की टीका-टिप्पणियों का समय ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक है। स्पष्ट है कि आगम ग्रन्थों के काल को टीका-ग्रन्थों के काल से मिश्रित नहीं किया जा सकता। लेकिन यह भी ध्यान रखने योग्य है कि बिना टीकाओं के आगम-सूत्रों का स्पष्टीकरण नहीं होता। इस टीका-साहित्य में अनेक प्राचीन परम्पराएँ सुरक्षित हैं। अनेक स्थानों पर टीकाकारों ने प्राचीन सूत्रों की स्खलना आदि की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। मतलब यह है कि टीका-साहित्य में उल्लिखित सामग्री का उपयोग भी यहाँ किया गया है। आगम-साहित्य में उल्लिखित सामग्री की तुलना बौद्ध सूत्रों तथा तत्कालीन प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों से की जा सकती है, अतएव इस सामग्री को अप्रामाणिक अथवा कम प्रामाणिक मानने का कोई कारण नहीं।

२—उस समय सारा देश छोटे-छोटे राज्यों में बंटा हुआ था; इन राज्यों का मालिक कोई राजा होता, या यहां गणों का शासन चलता था। राजा बड़े निरंकुश होते थे। साधारण से अपराध के लिए वे कठोर से कठोर दण्ड देने में न चूकते। कितनी ही बार तो निरपराधी मारे जाते और दोषी छूट जाते थे। राज्य में षड्यंत्र चला करते और राजा सदा शंकाशील बना रहता था। उत्तराधिकार का प्रश्न विकट था और राजा को अपने ही पुत्रों से सावधान रहना पड़ता था। अन्तःपुर तो एक प्रकार से षड्यंत्र के अड्डे समझे जाते थे। किसी के पास कोई सुन्दर वस्तु देखकर राजा उसे अपने अधिकार में ले लेना चाहता था, और इसका परिणाम था युद्ध। युद्ध में साम, दाम, दण्ड और भेद की नीति का आश्रय लिया जाता था। चोरी, व्यभिचार और हत्याएँ होती थीं, विशेषकर चोरों के उपद्रव सीमा को लांघ गये थे। जेलों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। झूठी गवाही और झूठे दस्तावेज चलते थे। राजधानी राजा का निवास-स्थान था, यद्यपि उन दिनों भी गांवों की संख्या ही अधिक थी। कर वसूल करने के लिए कर्मचारी सख्ती से काम लिया जाता था।

३—लोगों की आर्थिक स्थिति खराब नहीं कही जा सकती। देश धन धान्य से समृद्ध था, और व्यापारी लोग वणिज-व्यापार के लिए

दूर-दूर की यात्रा करते थे। फिर भी सर्व-साधारण की दशा बहुत अच्छी नहीं थी। वैसे खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने और अपनी साधारण आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कोई कमी नहीं थी। खेतों में चावल और गन्ना खूब होता था। कपास की खेती होती थी और उससे भांति-भांति के वस्त्र तैयार किये जाते थे। वर्षा के अभाव में भयंकर दुष्काल पड़ते थे। फल-फूल काफी मात्रा में होते थे। पशु-पालन का लोग ध्यान रखते थे और घी-दूध पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता था। शिल्पकला उन्नति पर थी। लुहार, कुम्हार, जुलाहे, रंगरेज और चर्मकार आदि अपने-अपने काम में व्यस्त रहते थे। उच्च वर्ग के लोग ऐश-आराम में डूबे रहते थे। वे ऊँचे-ऊँचे प्रासादों में निवास करते, अनेक स्त्रियों से विवाह करते, सुगंधित उबटन लगाकर स्नान करते, बहुमूल्य वस्त्राभूषणों को धारण करते, भांति-भांति के स्वादिष्ट व्यंजनों का आस्वादन करते, मदिरापान करते और नौकर-चाकरों से घिरे रहते। मध्यम वर्ग के लोगों का जीवन भी सुखमय था। व्यापार आदि द्वारा वे धन का संचय करते तथा धर्म और संघ को दान देकर पुण्य का अर्जन करते। वनिज-व्यापार उन्नति पर था। निम्न वर्ग की दशा सबसे दयनीय थी। दासों को आजीवन गुलामी करनी पड़ती। दुर्भिक्ष के कारण और साहूकारों का ऋण आदि न चुका सकने के कारण उन्हें दासवृत्ति स्वीकार करनी पड़ती। साधारण लोगों की आजीविका मुश्किल से ही चल पाती और शोषण की चक्की में वे पिसते रहते।

४—वर्ण-व्यवस्था के कारण समाज चार वर्णों में बंटा हुआ था। कर्म और शिल्प में भी ऊंच और नीच का भेद आ गया था। समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोपरि था, यद्यपि जैनों ने क्षत्रियों को ऊंचा उठाने का भरसक प्रयत्न किया था। शूद्रों की हालत सबसे खराब थी। परिवार को समाज की इकाई समझा जाता था। संयुक्त परिवार की प्रथा थी जिसमें पिता को परिवार का मुखिया मानकर उसका आदर किया जाता था। पुत्र-जन्म का उत्सव बहुत ठाट से मनाया जाता था। स्त्रियों की स्थिति बहुत सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। यद्यपि जैनों ने पुरुषों के समकक्ष रखकर स्त्रियों को निर्वाण की अधिकारिणी कहा है, फिर भी सामान्यतया उनका दोषपूर्ण चित्रण ही अधिक है। बहु-विवाह का चलन था। विवाह में दहेज की प्रथा थी। गणिकाओं का समाज में विशिष्ट स्थान था। परिव्राजिकाएं प्रेम-सन्देश के ले जाने

आदि का काम करती थीं। अध्यापक और विद्यार्थियों के सम्बन्ध प्रेम-पूर्ण होते थे। कोई विद्यार्थी जब अपना अध्ययन समाप्त कर बाहर से लौटकर आता तो धूमधाम से उसका स्वागत किया जाता था। वेद, वेदांग, व्याकरण, न्याय, मीमांसा, छंद और ज्योतिष आदि की शिक्षा दी जाती थी। बहत्तर कलाओं का पाठ्यक्रम में विशिष्ट स्थान था। वेदों के अध्ययन की अपेक्षा आयुर्वेद को अधिक महत्त्व दिया जाता था। वैद्य लोग व्रण चिकित्सा में चीर-फाड़ से काम लेते थे। धनुर्वेद का ज्ञान विशेषकर राजपुत्रों के लिए आवश्यक था। संगीत, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्यकला आदि कलाएँ उन्नति पर थीं। जादू-टोना और झाड़-फूंक में लोगों का विश्वास था। विद्या और मंत्र की साधना की जाती थी। अनेक प्रकार के अंधविश्वास लोगों में प्रचलित थे। आमोद-प्रमोद के साधन मौजूद थे, तथा लोग अनेक प्रकार के पर्व, उत्सव आदि मनाकर मनोरंजन किया करते थे। मृतकों का क्रिया-कर्म ठाट से किया जाता था।

५—समाज में श्रमणों को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता था। वे लोग घूम-घूमकर जनता को अपने उपदेश से लाभान्वित करते थे। निर्वाणप्राप्ति के लिए संसार को छोड़ कर प्रव्रज्या ग्रहण करना आवश्यक माना जाता था। निष्क्रमण-सत्कार बड़ी धूमधाम से मनाते थे। पक्की सड़कों आदि का अभाव होने से, तथा चोर-डाकुओं आदि के उपद्रव होने से श्रमणों को संकटमय जीवन यापन करना पड़ता था। कितनी ही बार विरुद्धराज्य के समय उन्हें गुप्तचर समझकर पकड़ लिया जाता। दुर्भिक्षकाल में तथा किसी रोग आदि से पीड़ित होने पर उन्हें भयंकर कष्ट सहने पड़ते। लोग अपनी मनोकामना पूरी करने के लिए इन्द्र, स्कन्द, यक्ष, भूत और आर्या आदि देवी-देवताओं की मनौती करते और बोली बोलते।

६—इतिहास से ज्ञात होता है कि भूगोल का विकास भी शनैः शनैः हुआ। जैसे-जैसे भारत के व्यापारी अन्य देशों में वणिज-व्यापार के लिए गये, वैसे-वैसे इन देशों का ज्ञान हमें होता गया। महावीर के समय जैनधर्म का प्रचार सीमित था, और उस समय जैन श्रमण साकेत के पूर्व में अंग-मगध, दक्षिण में कौशाम्बी, पश्चिम में थूणा, तथा उत्तर में कुणाला (उत्तर कोसल) की सीमा का अतिक्रमण नहीं करते थे। दूसरे शब्दों में, जैन श्रमणों का विहार-क्षेत्र आधुनिक बिहार, पूर्वीय उत्तरप्रदेश तथा पश्चिमी उत्तरप्रदेश के कुछ भाग तक ही

सीमित था, इसलिए यही क्षेत्र आर्य क्षेत्र माना जाता था। इसके पश्चात् राजा सम्प्रति के काल से जैन श्रमणों के विहार-क्षेत्र में वृद्धि हुई तथा वे पश्चिम में सिन्धु-सौवीर और सौराष्ट्र, पूर्व में कलिंग, दक्षिण में द्रविड़, आंध्र, और कुर्ग तथा पूर्वी पंजाब के कुछ भाग तक गमन करने लगे। महावीर ने लाढ (पश्चिमी बंगाल) नामक अनार्य देश में विहार किया था। सामान्यतया जैनधर्म ने अपने समकालीन बौद्ध धर्म की भांति, खान-पान के प्रतिबन्ध के कारण, भारतवर्ष की सीमा के बाहर कदम नहीं रक्खा। राजा उद्रायण को दीक्षित करने के लिए महावीर के चम्पा से सिन्धु-सौवीर गमन करने की बात बाद की जोड़ी हुई लगती है।

७—महावीर के समकालीन राजाओं में, श्रेणिक, कूणिक, प्रद्योत और उदयन आदि के नाम मुख्य हैं, लेकिन दुर्भाग्य से एकाध को छोड़कर उनके सम्बन्ध में विशेष जानकारी हमें नहीं मिलती। इसलिए इतिहास की दृष्टि से यह सामग्री विशेष उपयोगी नहीं कही जा सकती। महावीर लिच्छवी वंश में उत्पन्न हुए थे और गौतम बुद्ध की भांति अपने श्रमण संघ के नियमों का निर्माण करते समय लिच्छवी आदि गणों की तंत्रव्यवस्था से वे प्रभावित हुए थे। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने योग्य है कि उस काल के प्रमुख राजाओं को जैन और बौद्ध दोनों ने अपने-अपने धर्म का अनुयायी बताया है। इन लोगों ने महावीर अथवा बुद्ध के उपदेश से संसार का त्याग कर श्रमण दीक्षा स्वीकार की।

परिशिष्ट १

जैन आगमों में भौगोलिक सामग्री

पौराणिक भूगोल

जैन भूगोल के अनुसार, मध्य लोक अनेक द्वीप और समुद्रों से परिपूर्ण है और ये द्वीप-समुद्र एक-दूसरे को घेरे हुए हैं। सबसे पहला जम्बूद्वीप (एशिया) है जो हिमवन्त (हिमालय), महाहिमवन्त, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी—इन छह पर्वतों के कारण भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत नाम के सात क्षेत्रों में विभाजित है। इन छह पर्वतों से गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरि, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा नाम की चौदह नदियाँ निकली हैं।

भरत क्षेत्र ५२६ ६/१९ योजन विस्तार वाला है। यह क्षुद्र हिमवन्त के दक्षिण में तथा पूर्व और पश्चिम समुद्र के बीच अवस्थित है। भरत क्षेत्र के बीचों-बीच वैताढ्य पर्वत है। गंगा-सिंधु नदियों और वैताढ्य पर्वत के कारण यह क्षेत्र छह भागों में विभक्त है।[1] विदेह, जिसे महाविदेह भी कहते हैं, पूर्वविदेह, अपरविदेह, देवकुरु और उत्तरकुरु नामक चार भागों में बटा है। पूर्वविदेह का ब्रह्माण्डपुराण में भद्राश्व कहा है। इसमें सीता नदी (चीन की सिन्धो, जो कालान्तर की रेती में विलुप्त हो जाती है) बहती है, जो नील पर्वत से निकल कर पूर्व समुद्र में मिलती है। पूर्वविदेह और अपरविदेह अनेक विजयों में विभक्त हैं।

जम्बूद्वीप के बीचों-बीच सुमेरु[2] पर्वत है। जम्बूद्वीप को घेरे हुए लवणसमुद्र (हिन्द महासागर) है। तत्पश्चात् धातकीखण्ड, कालोदसमुद्र, पुष्करवर द्वीप आदि असंख्य द्वीप और समुद्र हैं जो एक-दूसरे को वलय की भाँति घेरे हुए हैं। पुष्करवर द्वीप के बीच में मानुषोत्तर

---

१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति १–१० ।

२. बौद्धों ने इसे सिनेरु, मेरु, सुमेरु, हेमवंत और महामेरु नाम दिये हैं; यह सब पर्वतों में ऊँचा है। आधुनिक पुराणों में इसकी ऊँचाई एक लाख योजन बताई है, बी० सी० लाहा, इण्डिया डिस्क्राइब्ड, पृ० ३ आदि।

पर्वत खड़ा हुआ है जिसके आगे मनुष्य नहीं जा सकता। दूसरे शब्दों में, मनुष्य की पहुँच अढ़ाई द्वीप—जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और पुष्करार्ध—तक ही है, इसके आगे नहीं। आठवां द्वीप नन्दीश्वर द्वीप है। यह देवों की भूमि है जहां सुन्दर उद्यान बने हुए हैं।[1] अन्तिम द्वीप का नाम स्वयंभूरमण है।[2]

संक्षेप में यही जैन पौराणिक भूगोल है।

वैज्ञानिक भूगोल

किन्तु इतिहास से पता लगता है कि अन्य ज्ञान-विज्ञान की भांति भूगोल का भी क्रमशः विकास हुआ। जैसे-जैसे भारत के व्यापारी अन्य देशों में बनिज व्यापार के लिए गये, वैसे-वैसे उन देशों का ज्ञान हमें होता गया। धर्मोपदेश के लिए जनपद-विहार करनेवाले श्रमणों ने भी भूगोल-विषयक ज्ञान में वृद्धि की। बृहत्कल्पभाष्य (ईसवी सन् की लगभग चौथी शताब्दी) में उल्लेख है कि देश-देशान्तर में भ्रमण करने से साधुओं की दर्शनविशुद्धि होती है, तथा महान् आचार्य आदि की संगति प्राप्त कर अपने आपको धर्म में स्थिर रक्खा जा सकता है। धर्मोपदेश देने के लिए जैन श्रमणों को विविध देशों की भाषाओं का ज्ञान अवश्यक बताया है जिससे कि वे भिन्न-भिन्न देशों के लोगों को उनकी भाषा में उपदेश दे सकें। भाषा के अतिरिक्त, देश-देश के रीति-रिवाजों को जानना भी उनके लिए आवश्यक माना गया है।[3]

जैन श्रमणों का विहार-क्षेत्र

प्राचीन जैनसूत्रों से पता लगता है कि आर्य और अनार्य माने जाने वाले क्षेत्रों में जैन श्रमणों का विहार क्रम-क्रम से बढ़ा। महावीर का जन्म क्षत्रियकुंडग्राम अथवा कुंडपुर (आधुनिक बसुकुंड) में हुआ था। इसी नगर के ज्ञातृखण्ड उद्यान में उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की, और तत्पश्चात् पावापुरी (अपापा अथवा मज्झिमपावा) में निर्वाण (५२७ ई० पू०) प्राप्त किया। दूसरे शब्दों में, भगवान् महावीर की प्रवृत्तियों का केन्द्र-स्थल अधिकतर अंग-मगध (बिहार) ही रहा।

---

१. आवश्यकचूर्णी, पृ० ३९७ आदि; उत्तराध्ययनटीका ९, पृ० १३८।

२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति १;४; अमूल्यचन्द्र सेन, 'सम कौस्मोलोजिकल आइडियाज़ ऑव द जैन्स', इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, १९३२, पृ० ४३–४८।

३. बृहत्कल्पभाष्य १.१२२६–३९।

परिशिष्ट १

जैन आगमों में भौगोलिक सामग्री

पौराणिक भूगोल

जैन भूगोल के अनुसार, मध्य लोक अनेक द्वीप और समुद्रों से परिपूर्ण है और ये द्वीप-समुद्र एक-दूसरे को घेरे हुए हैं। सबसे पहला जम्बूद्वीप (एशिया) है जो हिमवन् (हिमालय), महाहिमवन्, निषध, नील, रुक्म और शिखरी—इन छह पर्वतों के कारण भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत नाम के सात क्षेत्रों में विभाजित है। उक्त छह पर्वतों से गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरि, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा नाम की चौदह नदियां निकलती हैं।

भरत क्षेत्र ५२६$\frac{6}{19}$ योजन विस्तार वाला है। यह क्षुद्र हिमवन्त के दक्षिण में तथा पूर्व और पश्चिम समुद्र के बीच अवस्थित है। भरत क्षेत्र के बीचों-बीच वैताढ्य पर्वत है। गंगा-सिंधु नदियों और वैताढ्य पर्वत के कारण यह क्षेत्र छह भागों में विभक्त है।[1] विदेह जिसे महाविदेह भी कहते हैं, पूर्वविदेह, अपरविदेह, देवकुरु और उत्तरकुरु नामक चार भागों में बंटा है। पूर्वविदेह का ब्रह्माण्डपुराण में भद्राश्व कहा है। इसमें सीता नदी (चीन की सि-तो, जो काशगर की रेती में विलुप्त हो जाती है) बहती है, जो नील पर्वत से निकल कर पूर्व समुद्र में गिरती है। पूर्वविदेह और अपरविदेह अनेक विजयों में विभक्त हैं।

जम्बूद्वीप के बीचों-बीच सुमेरु[2] पर्वत है। जम्बूद्वीप को घेरे हुए लवणसमुद्र (हिन्द महासागर) है। तत्पश्चात् धातकीखण्ड, कालोदसमुद्र पुष्करवर द्वीप आदि अनगिनत द्वीप और समुद्र हैं जो एक-दूसरे को वलय की भांति घेरे हुए हैं। पुष्करवर द्वीप के बीच में मानुषोत्तर

---

१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति १–१०।

२. चीनियों ने इसे सिमेरु, मेरु, सुमेरु, हेममेरु और महामेरु नाम दिया है; यह सब पर्वतों से ऊँचा है। ब्राह्मण पुराणों में इसकी ऊँचाई एक लाख योजन बतायी है, बी० सी० लाहा, इण्डिया डिस्क्राइब्ड, पृ० २ आदि।

पर्वत खड़ा हुआ है जिसके आगे मनुष्य नहीं जा सकता। दूसरे शब्दों में, मनुष्य की पहुँच अढ़ाई द्वीप—जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और पुष्करार्ध—तक ही है, इसके आगे नहीं। आठवां द्वीप नन्दीश्वर द्वीप है। यह देवों की भूमि है जहां सुन्दर उद्यान बने हुए हैं।[१] अन्तिम द्वीप का नाम स्वयंभूरमण है।[२]

संक्षेप में यही जैन पौराणिक भूगोल है।

वैज्ञानिक भूगोल

किन्तु इतिहास से पता लगता है कि अन्य ज्ञान-विज्ञान की भांति भूगोल का भी क्रमशः विकास हुआ। जैसे-जैसे भारत के व्यापारी अन्य देशों में वनिज व्यापार के लिए गये, वैसे-वैसे उन देशों का ज्ञान हमें होता गया। धर्मोपदेश के लिए जनपद-विहार करनेवाले श्रमणों ने भी भूगोल-विषयक ज्ञान में वृद्धि की। बृहत्कल्पभाष्य (ईसवी सन् की लगभग चौथी शताब्दी) में उल्लेख है कि देश-देशान्तर में भ्रमण करने से साधुओं की दर्शनविशुद्धि होती है, तथा महान् आचार्य आदि की संगति प्राप्त कर अपने आपको धर्म में स्थिर रक्खा जा सकता है। धर्मोपदेश देने के लिए जैन श्रमणों को विविध देशों की भाषाओं का ज्ञान अवश्यक बताया है जिससे कि वे भिन्न-भिन्न देशों के लोगों को उनकी भाषा में उपदेश दे सकें। भाषा के अतिरिक्त, देश-देश के रीति-रिवाजों को जानना भी उनके लिए आवश्यक माना गया है।[३]

जैन श्रमणों का विहार-क्षेत्र

प्राचीन जैनसूत्रों से पता लगता है कि आर्य और अनार्य माने जाने वाले क्षेत्रों में जैन श्रमणों का विहार क्रम-क्रम से बढ़ा। महावीर का जन्म क्षत्रियकुंडग्राम अथवा कुंडपुर (आधुनिक वसुकुंड) में हुआ था। इसी नगर के ज्ञातृखण्ड उद्यान में उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की, और तत्पश्चात् पावापुरी (अपापा अथवा मज्झिमपावा) में निर्वाण (५२७ ई० पू०) प्राप्त किया। दूसरे शब्दों में, भगवान् महावीर की प्रवृत्तियों का केन्द्र-स्थल अधिकतर अंग-मगध (बिहार) ही रहा।

---

१. आवश्यकचूर्णी, पृ० ३९७ आदि; उत्तराध्ययनटीका ९, पृ० १३८।

२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति १;४; अमूल्यचन्द्र सेन, 'सम कौसमोलोजिकल आइडियाज ऑव द जैन्स', इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, १९३२, पृ० ४३-४८।

३. बृहत्कल्पभाष्य १.१२२६-३९।

महावीर जब साकेत (अयोध्या) के सुभूमिभाग उद्यान में विहार कर रहे थे, तो जैन श्रमणों को लक्ष्य करके उन्होंने निम्नलिखित सूत्र प्रतिपादित किया—"निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थनी साकेत के पूर्व में अंग-मगध तक, दक्षिण में कौशाम्बी तक, पश्चिम में स्थूणा (स्थानेश्वर) तक और उत्तर में कुणाला (श्रावस्ती जनपद) तक विहार कर सकते हैं। इतने ही क्षेत्र आर्यक्षेत्र हैं, इसके आगे नहीं। क्योंकि इतने ही क्षेत्रों में साधुओं के ज्ञान, दर्शन और चारित्र अक्षुण्ण रह सकते हैं।"[1] इससे स्पष्ट है कि आरम्भ में जैन श्रमणों का गमनागमन आधुनिक विहार तथा पूर्वीय और पश्चिमी उत्तरप्रदेश के कुछ भागों तक ही सीमित था।

आर्यक्षेत्रों की सीमा में वृद्धि

परन्तु लगभग ३०० वर्ष पश्चात्, राजा संप्रति (२२०–२११ ई० पू०) के समय जैन श्रमण-संघ के इतिहास में अभूतपूर्व क्रान्ति हुई जिससे जैन भिक्षु विहार, बंगाल और उत्तरप्रदेश की सीमा को लांघ कर दूर-दूर तक विहार करने लगे। राजा सम्प्रति नेत्रहीन कुणाल का पुत्र, तथा कुणाल सम्राट चन्द्रगुप्त का प्रपौत्र, बिन्दुसार का पौत्र और अशोक का पुत्र था। राजा सम्प्रति को उज्जैनी का अत्यन्त प्रभावशाली राजा बताया गया है। प्राचीन जैनसूत्रों में सम्प्रति को आर्यसुहस्ति और आर्यमहागिरि का समकालीन कहा है। संप्रति आर्यसुहस्ति के उपदेश से अत्यन्त प्रभावित हुआ, और इसके फलस्वरूप उसने नगर के चारों दरवाजों पर दानशालाएँ खुलवायीं और जैन श्रमणों को भोजन-वस्त्र देने की व्यवस्था की। संप्रति ने अपने आधीन आसपास के सामंत राजाओं को निमंत्रित कर श्रमण-संघ की भक्ति करने का आदेश दिया। वह अपने दण्ड, भट और भोजिक आदि को साथ लेकर रथयात्रा के महोत्सव में सम्मिलित होता, तथा रथ के आगे विविध पुष्प, फल, वस्त्र और कौड़ियां चढ़ाकर प्रसन्न होता। अवंतिपति सम्प्रति ने अपने भटों को शिक्षा देकर साधुवेष में सीमांत देशों में भेजा जिससे जैन श्रमणों को इन देशों में शुद्ध भोजन-पान की प्राप्ति हो सके। इस प्रकार उसने आन्ध्र, द्रविड़, महाराष्ट्र और कुडुक्क (कुर्ग) आदि अनार्य माने जाने वाले अपाय-बहुल प्रत्यंत

१. बृहत्कल्पसूत्र १.५०।

देशों को जैन श्रमणों के सुखपूर्वक विहार करने योग्य बनाया।[1] सम्प्रति के समय से निम्नलिखित २५½ देश आर्यक्षेत्र माने जाने लगे, अर्थात् इन क्षेत्रों में जैनधर्म का प्रचार हुआ—

जनपद	राजधानी
मगध	राजगृह
अंग	चम्पा
वंग	ताम्रलिप्त
कलिंग	कांचनपुर
काशी	वाराणसी
कोशल	साकेत
कुरु	गजपुर
कुशार्त	सोरिय (शौरिपुर)
पांचाल	कांपिल्यपुर
जांगल	अहिच्छत्रा
सौराष्ट्र	द्वारवती
विदेह	मिथिला
वत्स	कौशाम्बी
शांडिल्य	नन्दिपुर
मलय	भद्रिलपुर
मत्स्य	वैराट
वरणा	अच्छा
दशार्ण	मृत्तिकावती
चेदि	शुक्तिमती
सिंधु-सौवीर	वीतिभय
शूरसेन	मथुरा
भंगि	पापा
वट्टा	मासपुरी
कुणाल	श्रावस्ति
लाढ	कोटिवर्ष
केकयी अर्ध	श्वेतिका[2]

१. बृहत्कल्पभाष्य १.३२७५–८९।

२. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति १.३२६३; प्रज्ञापनासूत्र १.६६ पृ० १७३; प्रवचनसारोद्धार, पृ० ४४६।

साढ़े पच्चीस आर्यक्षेत्र

१—मगध (बिहार) ईसा के पूर्व छठी शताब्दी में जैन और बौद्ध श्रमणों की प्रवृत्तियों का मुख्य केन्द्र था। ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी से लेकर ईसवी सन् की पांचवी शताब्दी तक यह एक समृद्धिशाली प्रदेश रहा है जबकि यहाँ का कला-कौशल उन्नति के शिखर पर पहुंच चुका था। चाणक्य के अर्थशास्त्र और वात्स्यायन के कामसूत्र की रचना यहीं पर हुई थी। यहां के शासकों ने जगह-जगह सड़कें बनवाई तथा जावा, वालि आदि सुदूरवर्ती द्वीपों में जहाजों के बेड़े भेजकर इन द्वीपों को बसाया।

जैनसूत्रों में मगध को एक प्राचीन देश माना गया है और इसकी गणना सोलह जनपदों में की गयी है।[1] मगध भगवान् महावीर की प्रवृत्तियों का केन्द्र था, और उन्होंने यहां के जनसाधारण की बोली अर्धमागधी में निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश दिया था। मगध, प्रभास और वरदाम की गणना भारत के प्रमुख तीर्थों में की गई है, जो क्रम से पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में अवस्थित थे। भरत चक्रवर्ती के दिग्विजय करने पर, यहां के पवित्र जल से उनका राज्याभिषेक किया गया था।[2] मगधवासियों को अन्य देशवासियों की अपेक्षा बुद्धिमान् कहा गया है। वे लोग किसी बात को इशारेमात्र से समझ लेते थे, जबकि कौशलवासी उसे देखकर, पांचालवासी उसे आधा सुनकर और दक्षिणदेशवासी उसे पूरा सुनकर ही समझ पाते थे।[3]

---

१. शेष जनपदों के नाम हैं—अंग, वंग, मलय, मालवय, अच्छ, वच्छ, कोच्छ, पाद, लाद, वज्जि, मोलि (मल्ल), कासी, कोसल, अवाह, संभुत्तर, (सुह्मोत्तर)—व्याख्याप्रज्ञप्ति १५। तुलना कीजिए बौद्धों के अंगुत्तरनिकाय १,३ पृ० १६७ के साथ। यहां अंग, मगध, कासी, कोसल, वज्जि, मल्ल, चेति, वंश, कुरु, पंचाल, मच्छ, सूरसेन, अस्सक, अवंति, गंधार और कम्बोज नाम मिलते हैं।

२. स्थानांग ३.१४२; आवश्यकचूर्णी, पृ० १८६; आवश्यकनिर्युक्तिभाष्य-दीपिका ११०, पृ० ९३–अ।

३. व्यवहारभाष्य १०.१९२। तुलना कीजिए—

बुद्धिर्वसति पूर्वेण दाक्षिण्यं दक्षिणापथे।
पैशुन्यं पश्चिमे देशे पौरुष्यं चोत्तरापथे॥

गिलगित मैनुस्क्रिप्ट ऑव द विनयपिटक, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, १९३८, पृ० ४१६।

ब्राह्मणों ने मगध को पापभूमि बताते हुए वहां गमन करने का निषेध किया है। १८ वीं सदी के किसी जैन यात्री ने इस मान्यता पर व्यंग्य करते हुए लिखा है—

कासीवासी काग मुउइ मुगति लहइ।
मगध मुओ नर खर हुई है।[1]

अर्थात्, अत्यन्त आश्चर्य है कि यदि काशी में कौआ भी मर जाये तो वह सीधा मोक्ष जाता है, लेकिन यदि कोई मनुष्य मगध में मृत्यु को प्राप्त हो तो उसे गधे की योनि में जन्म लेना पड़ता है!

आधुनिक पटना और गया जिलों को प्राचीन मगध कहा जाता है।

मगध की राजधानी राजगृह (आधुनिक राजगिर) थी जिसकी गणना चम्पा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ति, साकेत, काम्पिल्यपुर, मिथिला और हस्तिनापुर नामक प्राचीन नगरियों के साथ की गयी है।[2] मगध देश का प्रमुख नगर होने से राजगृह को मगधपुर कहा जाता था। जैन ग्रंथों में इसे क्षितिप्रतिष्ठित, चणकपुर, ऋषभपुर अथवा कुशाग्रपुर नाम से भी कहा गया है। कहते हैं कि कुशाग्रपुर में प्रायः आग लग जाया करती थी, अतएव मगध के राजा श्रेणिक (बिम्बसार) ने उसके स्थान पर राजगृह बसाया।[3]

महाभारत काल में राजगृह में राजा जरासंध राज्य करता था। पांच पहाड़ियों से घिरे रहने के कारण इसे गिरिव्रज कहते थे। जैन परम्परा में इन पहाड़ियों के नाम हैं—विपुल, रत्न, उदय, स्वर्ग और वैभार।[4] ये पहाड़ियां आजकल भी राजगृह में मौजूद हैं और पवित्र मानी जाती हैं। इनमें वैभार और विपुल का जैन ग्रंथों में विशेष महत्त्व है। वैभार पहाड़ी को अत्यन्त मनोहर कहा है। यह पहाड़ी अनेक वृक्षों और लताओं से शोभित थी तथा नगर के नर-नारी यहां

---

१. प्राचीन तीर्थमालासंग्रह, भाग १, पृ० ४।

२. निशीथसूत्र ९.१९; स्थानांग १०.७१८। दीघनिकाय, महापरिनिब्बाण-सुत्त में चम्पा, राजगृह, श्रावस्ति, साकेत, कौशाम्बी और वाराणसी का उल्लेख है।

३. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १५८।

४. महाभारत (२.२१.२) में वैहार, वाराह, वृषभ, ऋषिगिरि और चैत्यक; तथा सुत्तनिपात की अट्ठकथा २, पृ० ३८२ में पंडव, गिज्झकूट, वेभार, इसिगिलि और वेपुल्ल नाम मिलते हैं।

क्रीड़ा के लिए आया करते थे। विपुल पहाड़ी अन्य सब पहाड़ियों से ऊँची थी; यहां से अनेक जैन श्रमणों को निर्वाण-प्राप्ति बताई है। भगवान् महावीर का यहां समवशरण आया था। वैभार पहाड़ी के नीचे तपोदा अथवा महातपोपतीरप्रभ[1] नामक गर्म पानी का एक विशाल कुण्ड था, जो आजकल भी राजगिर में मौजूद है और तपोवन के नाम से प्रसिद्ध है।

महावीर ने राजगृह में अनेक चातुर्मास व्यतीत किये थे।[2] जैन-सूत्रों के अनुसार, यहां गुणसिल,[3] मंडिकुच्छ,[4] और मोग्गरपाणि आदि चैत्य विद्यमान थे; महावीर प्रायः गुणसिल (वर्तमान गुणावा) चैत्य में ठहरा करते थे।

राजगृह वनिज-व्यापार का बड़ा केंद्र था। दूर-दूर के व्यापारी यहां से माल खरीदने आते थे। यहां से तक्षशिला, प्रतिष्ठान, कपिलवस्तु, कुशीनारा आदि भारत के प्रसिद्ध नगरों को जाने के मार्ग बने थे। बौद्धसूत्रों में, मगध के सुन्दर धान के खेतों का वर्णन किया गया है।

बुद्ध-निर्वाण के पश्चात् राजगृह की अवनति होती चली गयी। जब चीनी यात्री हुएनसांग यहां आया तो यह नगर शोभा-विहीन हो चुका था। चौदहवीं शताब्दी के जैन विद्वान् जिनप्रभसूरि के समय राजगृह में ३६ हजार गृह थे, जिनमें लगभग आधे बौद्धों के थे।

पाटलिपुत्र (पटना) मगध की दूसरी राजधानी थी। इसे कुसुमपुर, पुष्पपुर अथवा पुष्पभद्र नाम से भी कहा गया है। पाटलिपुत्र की गणना सिद्ध क्षेत्रों में की गयी है। जैन आगमों के उद्धार के लिए यहां श्रमणों का प्रथम सम्मेलन हुआ था, जो पाटलिपुत्र-वाचना के नाम से प्रसिद्ध है। इस नगर में आचार्य भद्रबाहु, आर्यमहागिरि, आर्यसुहस्ति,[5] और वज्रस्वामी आदि ने विहार किया था। यह नगर

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति २.५ पृ० १४१; बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति २.३४२९।

२. कल्पसूत्र ५.१२३; व्याख्याप्रज्ञप्ति ७.४; ५.९; २.५; आवश्यकनिर्युक्ति ४७३, ४९२,५१८।

३. ज्ञातृधर्मकथा २, पृ० ४७; दशाश्रुतस्कन्ध १०, पृ० ३६४; उपासकदशा ८, पृ० ६१।

४. व्याख्याप्रज्ञप्ति १५।

५. अन्तःकृद्दशा ६, पृ० ३१।

६. आवश्यकनिर्युक्ति १२७९ टीका; आवश्यकचूर्णी २, पृ० १५५।

व्यापार का बड़ा केंद्र था, और यहां का माल सुवर्णभूमि (बर्मा) तक जाता था।

नालंदा (वर्तमान बड़ागांव) राजगृह के उत्तर-पूर्व में अवस्थित था। बौद्धसूत्रों में राजगृह और नालंदा के बीच एक योजन का फासला बताया गया है। प्राचीन काल में नालंदा एक समृद्धिशाली नगर था, जो अनेक भवनों और उद्यानों से मंडित था। श्रमणों को यहां यथेच्छ भिक्षा मिलती थी। नालंदा के उत्तर-पश्चिम में सेसदविया नाम की एक उदकशाला (प्याऊ) थी जिसके उत्तर-पश्चिम में स्थित हस्तिद्वीप नामक उपवन में महावीर के प्रधान गणधर गौतम ने सूत्रकृतांग के अन्तर्गत नालंदीय अध्ययन की रचना की थी।[1]

तेरहवीं शताब्दी में नालन्दा बौद्धविद्या का प्रमुख केंद्र था। देश-विदेश से विद्यार्थी यहां विद्या-अध्ययन करने के लिए आते थे। चीनी यात्री हुएनसांग ने यहीं आचार्य शीलभद्र के निकट विद्या-अध्ययन किया था।

पावा अथवा मध्यम पावा (पावापुरी) में महावीर का निर्वाण हुआ था। इस नगरी का विस्तार बारह योजन बताया गया है। यहां महावीर चातुर्मास व्यतीत करने के लिये हस्तिपाल नामक गणराजा की रज्जुगसभा में ठहरे। चौथा महीना लगभग आधा बीतने को आया। इस समय कार्तिकी अमावस्या के प्रातःकाल महावीर ने निर्वाण-लाभ किया। इस समय काशी-कौशल के नौ मल्ल और नौ लिच्छवि नामक अठारह गणराजा मौजूद थे। उन्होंने इस पुण्य अवसर पर सर्वत्र दीपक जलाकर महान् उत्सव मनाया।[2] जिनप्रभसूरि के अनुसार, महावीर के निर्वाण-पद पाने के पूर्व यह नगरी अपापा कही जाती थी, बाद में इसका नाम पापा (पावापुरी) हो गया।

२—अंग भी एक प्राचीन जनपद था। उन दिनों अंग मगध के ही आधीन था, इसलिए प्राचीन ग्रंथों में अंग-मगध का एकसाथ उल्लेख मिलता है। रामायण के अनुसार, यहां महादेवजी ने अंग (कामदेव) को भस्म किया था, अतएव इसका नाम अंग पड़ा। जैन आगमों में अगलोक का उल्लेख सिंहल (श्रीलंका), बब्बर, किरात, यवनद्वीप,

---

१. सूत्रकृतांग २,७.७०; स्थानांगटीका ९.३, पृ० ४३३—अ।

२. कल्पसूत्र ५.१२८।

आरबक, रोमक, अलसन्द (एलेक्जेण्ड्रिया) और कच्छ के साथ आता है।[1]

भागलपुर जिले को प्राचीन अंग माना जाता है।

चम्पा अंगदेश की राजधानी थी; इसकी गणना भारत की दस राजधानियों में की गयी है। महाभारत में चम्पा का उल्लेख है; इसका दूसरा नाम मालिनी था। इसे सम्मेदशिखर आदि पवित्र तीर्थों के साथ गिना है। महावीर और उनके शिष्यों ने यहां विहार किया था। यहां उपासकदशा और अन्तःकृद्दशा नामक अंगों का, आर्यसुधर्मा ने अपने शिष्य आर्यजम्बू को प्रतिपादन किया था। व्याख्याप्रज्ञप्ति के कुछ भाग का विवेचन भी यहां किया गया था। शय्यंभव सूरि ने यहां दशवैकालिकसूत्र की रचना की थी। श्रेणिक की मृत्यु के पश्चात् कूणिक (अजातशत्रु) को राजगृह में रहना अच्छा न लगा, इसलिए चम्पा को उसने राजधानी बनाया। राजा कूणिक का अपनी रानियों समेत भगवान महावीर के दर्शन के लिए जाने का सरस वर्णन औपपातिकसूत्र में मिलता है। दधिवाहन यहां का दूसरा उल्लेखनीय राजा हो गया है। उसकी कन्या वसुमती (चंदनबाला) महावीर की प्रथम शिष्या थी, जो बहुत समय तक जैन श्रमणियों की अग्रणी रही।

औपपातिकसूत्र में चम्पा नगरी का विस्तृत वर्णन किया गया है—

यह नगरी समृद्धिशाली, भयवर्जित और धन-धान्य से भरपूर थी। यहां की प्रजा खुशहाल थी। सैकड़ों-हजारों हलों द्वारा यहां की जमीन की जुताई होती थी। ईख, जौ और धान की यहां बहुतायत से खेती होती थी। गाय, भैंस और भेड़ों की प्रचुर संख्या थी। गांव बहुत पास-पास थे। एक से एक सुन्दर चैत्य और वेश्याओं के सन्निवेश बने थे। नट, नर्तक, बाजीगर, मल्ल, मौष्टिक, कथावाचक, रास-गायक, बाँस की नोक पर खड़े होकर तमाशा करने वाले, चित्रपट दिखाकर भिक्षा मांगनेवाले और वीणा-वादक आदि लोगों का यह अड्डा था। यह नगरी उपद्रव-रहित थी, रिश्वतखोर, गंठकतरे, चोर, डाकू [illegible] शुल्कपालों का यहां अभाव था। पर्याप्त

शोभित थी। विशाल और गम्भीर खाई इसके चारों ओर खुदी हुई थी। चक्र, गदा, मुसुंढि, अवरोध, शतघ्नी और निश्छिद्र कपाटों के कारण शत्रु इसमें प्रवेश नहीं कर सकता था। यहां वक्र प्राकार बने हुए थे। गोल कपिशीर्षक (कंगूरे), अटारी, चरिका (घर और प्राकार के बीच का मार्ग), द्वार, गोपुर और तोरण आदि से यह रम्य थी। इस नगरी की अर्गला (मूसल) और इन्द्रकील (ओट) चतुर शिल्पियों द्वारा निर्मित थे। यहां के बाजारों और हाटों में शिल्पियों की भीड़ लगी रहती थी। शृंगाटक, त्रिक, चतुष्क और चत्वर बिक्री के योग्य वस्तुओं और दुकानों से शोभायमान थे। राजमार्ग राजा के गमनागमन से व्याप्त थे। एक से एक सुन्दर घोड़े, रथ, पालकी और गाड़ी आदि यहां की परम शोभा मानी जाती थी। यहां के तालाब कमलिनियों से शोभित थे। तात्पर्य यह कि चम्पा नगरी अत्यन्त प्रेक्षणीय, दर्शनीय और मनोहारिणी जान पड़ती थी।

चम्पा के उत्तर-पूर्व में पूर्णभद्र नाम का मनोहर चैत्य था जहां महावीर अपने शिष्य-समुदाय के साथ ठहरा करते थे।

चम्पा बनिज-व्यापार का बड़ा केन्द्र था। वणिक् लोग यहां दूर-दूर से माल खरीदने आते थे। यहाँ के व्यापारी अपना माल लेकर मिथिला, अहिच्छत्रा और पिहुंड (चिकाकोल और कलिंगपट्टम का एक प्रदेश) आदि नगरों में व्यापार के लिए जाते थे।[1] चम्पा और मिथिला में साठ योजन का अन्तर बताया गया है। चंपा के दक्षिण में लगभग १६ कोस की दूरी पर मंदारगिरि नाम का एक जैन तीर्थ है जो आजकल मंदार हिल के नाम से प्रसिद्ध है।

भागलपुर के पास वर्तमान नाथनगर को चम्पा माना गया है।

३—बंग (पूर्वीय बंगाल) की गणना सोलह जनपदों में की गयी है। अंग-बंग का उल्लेख महाभारत में आता है। प्राचीन काल में वर्तमान बंगाल भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता था। पूर्वीय बंगाल को समतट, पश्चिमी को लाढ, उत्तरी को पुण्ड्र, तथा असाम को कामरूप कहा जाता था। बंगाल को गौड़ भी कहते थे।

ताम्रलिप्ति (तामलुक) व्यापार का केन्द्र था और खासकर यह सुन्दर वस्त्र के लिए प्रख्यात था। यहां जल और स्थल दोनों मार्गों से माल आता-जाता था। कल्पसूत्र में तामलित्तिया नामक जैन श्रमणों

१. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० ९७; ९, पृ० १२१; १५. पृ० १५९; उत्तराध्ययनसूत्र २१.२।

आरबक, रोमक, अलसन्द (एलेक्जेण्ड्रिया) और कच्छ के साथ आता है।[1]

भागलपुर जिले को प्राचीन अंग माना जाता है।

चम्पा अंगदेश की राजधानी थी; इसकी गणना भारत की दस राजधानियों में की गयी है। महाभारत में चम्पा का उल्लेख है; इसका दूसरा नाम मालिनी था। इसे सम्मेदशिखर आदि पवित्र तीर्थों के साथ गिना है। महावीर और उनके शिष्यों ने यहां विहार किया था। यहां उपासकदशा और अन्तःकृद्दशा नामक अंगों का, आर्यसुधर्मा ने अपने शिष्य आर्यजम्बू को प्रतिपादन किया था। व्याख्याप्रज्ञप्ति के कुछ भाग का विवेचन भी यहां किया गया था। शय्यंभव सूरि ने यहां दशवैकालिकसूत्र की रचना की थी। श्रेणिक की मृत्यु के पश्चात् कूणिक (अजातशत्रु) को राजगृह में रहना अच्छा न लगा, इसलिए चम्पा को उसने राजधानी बनाया। राजा कूणिक का अपनी रानियों समेत भगवान महावीर के दर्शन के लिए जाने का सरस वर्णन औपपातिकसूत्र में मिलता है। दधिवाहन यहां का दूसरा उल्लेखनीय राजा हो गया है। उसकी कन्या वसुमती (चंदनबाला) महावीर की प्रथम शिष्या थी, जो बहुत समय तक जैन श्रमणियों की अग्रणी रही।

औपपातिकसूत्र में, चम्पा नगरी का विस्तृत वर्णन किया गया है—

यह नगरी समृद्धिशाली, भयवर्जित और धन-धान्य से भरपूर थी। यहां की प्रजा खुशहाल थी। सैकड़ों-हजारों हलों द्वारा यहां की जमीन की जुताई होती थी। ईख, जौ और धान की यहां बहुतायत से खेती होती थी। गाय, भैंस और भेड़ों की प्रचुर संख्या थी। गांव बहुत पास-पास थे। एक से एक सुन्दर चैत्य और वेश्याओं के सन्निवेश बने थे। नट, नर्तक, बाजीगर, मल्ल, मौष्टिक, कथावाचक, रास-गायक, बाँस की नोक पर खड़े होकर तमाशा करने वाले, चित्रपट दिखाकर भिक्षा मांगनेवाले और वीणा-वादक आदि लोगों का यह अड्डा था। यह नगरी उपद्रव-रहित थी, रिश्वतखोर, गंठकतरे, चोर, डाकू और शुल्कपालों का यहां अभाव था। पर्याप्त भिक्षा यहां मिलती थी। अनेक परिवार यहां विश्वासपूर्वक आराम से रहते थे। यह नगरी, आराम, उद्यान, सरोवर, बावड़ी आदि के कारण

---

१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ५२, पृ० २१६ अ; आवश्यकचूर्णी, पृ० १९१।

शोभित थी। विशाल और गम्भीर खाई इसके चारों ओर खुदी हुई थी। चक्र, गदा, मुसुंढि, अवरोध, शतघ्नी और निश्छिद्र कपाटों के कारण शत्रु इसमें प्रवेश नहीं कर सकता था। यहां वक्र प्राकार बने हुए थे। गोल कपिशीर्षक (कंगूरे), अटारी, चरिका (घर और प्राकार के बीच का मार्ग), द्वार, गोपुर और तोरण आदि से यह रम्य थी। इस नगरी को अर्गला (मूसल) और इन्द्रकील (ओट) चतुर शिल्पियों द्वारा निर्मित थे। यहां के बाजारों और हाटों में शिल्पियों की भीड़ लगी रहती थी। शृंगाटक, त्रिक, चतुष्क और चत्वर बिक्री के योग्य वस्तुओं और दुकानों से शोभायमान थे। राजमार्ग राजा के गमनागमन से व्याप्त थे। एक से एक सुन्दर घोड़े, रथ, पालकी और गाड़ी आदि यहां की परम शोभा मानी जाती थी। यहां के तालाब कमलिनियों से शोभित थे। तात्पर्य यह कि चम्पा नगरी अत्यन्त प्रेक्षणीय, दर्शनीय और मनोहारिणी जान पड़ती थी।

चम्पा के उत्तर-पूर्व में पूर्णभद्र नाम का मनोहर चैत्य था जहां महावीर अपने शिष्य-समुदाय के साथ ठहरा करते थे।

चम्पा वनिज-व्यापार का बड़ा केन्द्र था। वणिक् लोग यहां दूर-दूर से माल खरीदने आते थे। यहाँ के व्यापारी अपना माल लेकर मिथिला, अहिच्छत्रा और पिहुंड (चिकाकोल और कलिंगपट्टम का एक प्रदेश) आदि नगरों में व्यापार के लिए जाते थे।[१] चम्पा और मिथिला में साठ योजन का अन्तर बताया गया है। चंपा के दक्षिण में लगभग १६ कोस की दूरी पर मंदारगिरि नाम का एक जैन तीर्थ है जो आजकल मंदार हिल के नाम से प्रसिद्ध है।

भागलपुर के पास वर्तमान नाथनगर को चम्पा माना गया है।

३—वंग (पूर्वीय बंगाल) की गणना सोलह जनपदों में की गयी है। अंग-वंग का उल्लेख महाभारत में आता है। प्राचीन काल में वर्तमान बंगाल भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता था। पूर्वीय बंगाल को समतट, पश्चिमी को लाढ, उत्तरी को पुण्ड्र, तथा असाम को कामरूप कहा जाता था। बंगाल को गौड़ भी कहते थे।

ताम्रलिप्ति (तामलुक) व्यापार का केन्द्र था और खासकर यह सुन्दर वस्त्र के लिए प्रख्यात था। यहां जल और स्थल दोनों मार्गों से माल आता-जाता था। कल्पसूत्र में तामलित्तिया नामक जैन श्रमणों

१. ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० ९७; ९, पृ० १२१; १५. पृ० १५९; उत्तराध्ययनसूत्र २१.२।

की शाखा का उल्लेख मिलता है जिससे मालूम होता है कि जैन श्रमणों का यह केन्द्र रहा होगा। मोरियपुत्त तामलि का उल्लेख आता है जिसने मुंडित होकर पाणामा प्रव्रज्या स्वीकार की थी। मच्छरों का यहां बहुत प्रकोप था। हुएनसांग के समय इस नगर में बौद्धों के अनेक मठ मौजूद थे।

इसके अतिरिक्त, बंगाल में पुण्ड्रवर्धन और कोमिल्ला भी जैनधर्म की प्रवृत्तियों के केन्द्र रहे हैं। पुण्डवद्धणिया जैन श्रमणों की एक शाखा रही है। यहां की गायें मरखनी होती थीं और खाने के लिए उन्हें पौंडे दिये जाते थे।[1] हुएनसांग के समय यहां दिगम्बर निर्ग्रन्थ रहा करते थे। पुण्ड्रवर्धन की पहचान बोगरा जिले के महास्थान प्रदेश से की जाती है।

कोमलिज्जिया (या कोमलीया) भी जैन श्रमणों की एक शाखा थी। इसकी पहचान बंगाल के चटगाँव जिले के कोमिल्ला नामक स्थान से की जा सकती है।

४—कलिंग (उड़ीसा) का नाम अंग और वंग के साथ आता है। उड़ीसा को ओड्र या उत्कल नाम से भी कहा जाता था।

जातक ग्रंथों के अनुसार दन्तपुर, महाभारत के अनुसार राजपुर, महावस्तु के अनुसार सिंहपुर, तथा जैनसूत्रों के अनुसार कांचनपुर कलिंग की राजधानी बतायी गयी है। तत्पश्चात् ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी में कलिंगनगर भुवनेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुआ और आज तक इसी नाम से चला आता है। कांचनपुर (भुवनेश्वर) जैन श्रमणों का विहारस्थल था।[2] व्यापार का यह केन्द्र था और यहां के व्यापारी श्रीलंका तक जाते थे।[3]

कलिंग जनपद का दूसरा महत्वपूर्ण स्थान था पुरी (जगन्नाथपुरी)। यहां जीवन्तस्वामी-प्रतिमा होने का उल्लेख है।[4] श्रावकों के यहां अनेक घर थे। वज्रस्वामी ने यहां उत्तरापथ से आकर माहेसरी (माहिष्मती) के लिए प्रस्थान किया था। उस समय यहां का राजा बौद्ध धर्म का अनुयायी था।[5]

१. तन्दुलवैचारिकटीका, पृ० २६-अ।
२. ओघनिर्युक्तिभाष्य ३०।
३. वसुदेवहिण्डी, पृ० १११।
४. ओघनिर्युक्तिटीका ११९।
५. आवश्यकनिर्युक्ति ७७२; आवश्यकचूर्णी, पृ० ३९६।

तोसलि (धौलि, कटक जिला) भी जैन श्रमणों का केन्द्र था। महावीर ने यहां विहार किया था और उन्हें यहां अनेक कष्ट सहन करने पड़े थे।[१] तोसलिक राजा यहां की जिनप्रतिमा की देखभाल किया करता था।[२] तोसलि के निवासी फल-फूल के बहुत शौकीन थे।[३] वर्षा के अभाव में नदियों के पानी से यहाँ खेती होती थी, कभी अत्यधिक वर्षा से फसल भी नष्ट हो जाती थी। ऐसा संकटकाल उपस्थित होने पर जैन श्रमणों को ताड़ के फल भक्षण कर गुजर करना पड़ता था।[४] तोसलि में अनेक तालाब (तालोदक) थे। यहां की भैंसें बहुत मरखनी होती थीं; तोसलि आचार्य को अपने सींगों से उन्होंने मार डाला था।[५]

शैलपुर तोसलि के ही अन्तर्गत था। ऋषिपाल नामक व्यंतर ने यहां ऋपितडाग (इसितडाग) नाम का तालाब बनाया था, इसका उल्लेख पहले आ चुका है। यहां पर लोग आठ दिन तक संखडि मनाते थे। इस तालाब का उल्लेख हाथीगुंफा शिलालेख में मिलता है।

भुवनेश्वर स्टेशन से लगभग चार मील पर उदयगिरि और खंडगिरि नामक प्राचीन पहाड़ियां हैं जिन्हें काट-काटकर सुन्दर गुफाएं बनायी गयी हैं। यहां लगभग सौ गुफाएं हैं जो मूर्तिकला की दृष्टि से बहुत महत्व की हैं। ये गुफाएं ईसवी सन् ५०० वर्ष पूर्व से लेकर ईसवी सन् ५०० तक की बतायी जाती हैं। सुप्रसिद्ध हाथीगुंफा यहीं पर है जिसमें सम्राट् खारवेल (१६१ ई० पू०) का शिलालेख है। खारवेल ने मगध से जिनप्रतिमा लाकर यहां स्थापित की थी।

५—काशी (वाराणसी) मध्यदेश का प्राचीन जनपद था। काशी के वस्त्र और चदन का उल्लेख बौद्ध जातकों में मिलता है। काशी को जीतने के लिए कोशल के राजा प्रसेनजित् और मगध के राजा अजातशत्रु में युद्ध हुआ था, जिसमें अजातशत्रु की विजय हुई और काशी को मगध में मिला लिया गया। प्राचीन जैनसूत्रों में काशी और कोशल के अठारह गणराजाओं का उल्लेख मिलता है।

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति ५१०।

२. व्यवहारभाष्य ६.११५ आदि।

३. बृहत्कल्पभाष्य १.१२३९ विशेषचूर्णी।

४. वही, १.१०६०–६१।

५. आचारांगचूर्णी, पृ० २४७।

वाराणसी काशी की राजधानी थी। वरणा और असि नाम की दो नदियों के बीच अवस्थित होने के कारण इसका नाम वाराणसी पड़ा। बौद्धसूत्रों में वाराणसी को कपिलवस्तु, बुद्धगया और कुसीनारा के साथ पवित्र तीर्थों में गिना गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में, पूर्व में वाराणसी, पश्चिम में प्रभास, उत्तर में केदार और दक्षिण में श्रीपर्वत को परम तीर्थ माना गया है। जैन ग्रन्थों के अनुसार यहां भेलुपुर में पार्श्वनाथ और भदैनी में सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर का जन्म हुआ था। महावीर ने इस स्थान को अपने विहार से पवित्र किया था। नगर के उत्तर-पूर्व में मयंगतीर[1] (मृतगंगातीर) नाम के एक तालाव (ह्रद) का उल्लेख मिलता है जहां गंगा का बहुत-सा पानी एकत्रित हो जाता था[2]। वाराणसी व्यापार और विद्या का केन्द्र था। यहां के विद्यार्थी तक्षशिला विद्याध्ययन करने के लिए जाते थे। हुएनसांग के काल में यहां अनेक बौद्ध विहार और हिन्दू मंदिर मौजूद थे। जिनप्रभसूरि के समय वाराणसी देव-वाराणसी, राजधानी-वाराणसी, मदन-वाराणसी (मदनपुरा) और विजय-वाराणसी नामक चार भागों में विभक्त थी। देव-वाराणसी में विश्वनाथ का मन्दिर था, और राजधानी-वाराणसी में यवन रहते थे। उस समय यहां दंतखात नाम का प्रसिद्ध सरोवर था और मणिकर्णिका घाट यहाँ के पवित्र पाँच घाटों में गिना जाता था, जहाँ ऋषिगण पंचाग्नि तप तपते थे। आचार्य हेमचन्द्र के समय काशी और वाराणसी में कोई अन्तर नहीं रह गया था।

६—कोशल अथवा कोशलपुर (अवध) जैनसूत्रों का एक प्राचीन जनपद माना गया है। जैसे वैशाली में जन्म लेने के कारण महावीर को वैशालिक कहा जाता था, उसी तरह ऋषभनाथ को कौशलिक (कोसलिय) कहा जाता था। अचल गणधर का यह जन्मस्थान था, और जीवन्तस्वामी-प्रतिमा यहाँ विद्यमान थी।[3] कोशल का प्राचीन नाम विनीता था। कहते हैं कि यहाँ के निवासियों ने विविध कलाओं में कुशलता प्राप्त की थी, इसलिए लोग विनीता को कुशला नाम से

---

१. डॉक्टर मोतीचन्दजी ने इसकी पहचान मानगंगा से की है, काशी का इतिहास, पृ० १०–४।

२. ज्ञातृधर्मकथा ४, पृ० ६५; उत्तराध्ययनचूर्णी १३, पृ० २१५; आवश्यकचूर्णी, पृ० ५१६।

३. बृहत्कल्पभाष्य ५.५८२४।

कहने लगे'। यहां के लोग सोवीर (मदिरा) और कूट (चावल) के बहुत शौकीन थे।[२] कोशल के राजा प्रसेनजित् का उल्लेख बौद्ध सूत्रों में मिलता है।

साकेत (अयोध्या) दक्षिण कोशल को राजधानी थी। हिन्दू पुराणों में इसे मध्यप्रदेश की राजधानी कहा है। रामचन्द्रजी की यह जन्मभूमि थी। रामायण में अयोध्या का वर्णन करते हुए लिखा है—"सरयू नदी के किनारे पर अवस्थित यह नगरी धन-धान्य से पूर्ण था, सुन्दर यहा के मार्ग थे, अनेक शिल्पी और देश-विदेशों के व्यापारी यहां वसते थे। यहाँ के लोग समृद्धिशाली, धर्मात्मा, पराक्रमी और दीर्घायु थे तथा उनके अनेक पुत्र-पौत्र थे।"

जैन परम्परा के अनुसार अयोध्या को आदि तीर्थ और आदि नगर माना गया है, और यहां की प्रजा को सभ्य और सुसंस्कृत बताया है। महावीर और बुद्ध के समय अयोध्या को साकेत कहा जाता था। साकेत के सुभूमिभाग उद्यान में विहार करते हुए महावीर ने जैन श्रमणों के विहार की सीमा नियत की थी, इसका उल्लेख किया जा चुका है।

अयोध्या को कोशला, विनीता, इक्ष्वाकुभूमि, रामपुरी और विशाखा नामों से उल्लिखित किया गया है। जिनप्रभसूरि ने घग्घर (घाघरा) और सरयू के संगम पर 'स्वर्गद्वार' होने का उल्लेख किया है।

७—कुरु (थानेश्वर) का उल्लेख महाभारत में आता है। यहाँ के लोग बहुत बुद्धिमान और स्वस्थ माने जाते थे।

गजपुर (हस्तिनापुर) कुरु को राजधानी थी। जातकों में इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) को यहां की राजधानी कहा है। गजपुर का दूसरा नाम नागपुर था। वसुदेवहिण्डी में इसे ब्रह्मस्थल कहा गया है[३]। यह स्थान अनेक जैन तीर्थंकर, चक्रवर्ती और पांडवों की जन्मभूमि माना गया है, तथा अतिशय क्षेत्रों में इसकी गणना की गयी है।

श्रावस्ति को भांति यह नगर भी आजकल उजाड़ पड़ा है। नशियों पर तीर्थंकरों की चरण-पादुकाएँ बनी हैं।

८—कुशार्त शूरसेन (मथुरा) के उत्तर में बसा हुआ था। जैन ग्रन्थों में उल्लेख है कि राजा शौरि ने अपने लघु भ्राता सुवीर को

१. आवश्यकटीका (मलयागिरि), पृ० २१४।
२. पिंडनिर्युक्ति ६१९।
३. पृ० १६५।

११—सुराष्ट्र (सौराष्ट्र = काठियावाड़) की गणना महाराष्ट्र, आन्ध्र, कुडुक्क (कुर्ग) के साथ की गयी है, जहाँ राजा सम्प्रति ने अपने भटों को भेजकर जैनधर्म का प्रचार किया था।[1] इससे पता लगता है कि धीरे-धीरे यहाँ जैनधर्म का प्रचार हुआ। कालकाचार्य यहां पारसकूल (ईरान) से ९६ शाहों को लेकर आये थे, इसलिए इस देश को ९६ मंडलों में विभक्त कर दिया गया था।[2] सुराष्ट्र व्यापार का बड़ा केन्द्र था, और दूर-दूर के व्यापारी यहां माल खरीदने आते थे।[3]

द्वारका (जूनागढ़) सौराष्ट्र की मुख्य नगरी थी। इसका दूसरा नाम कुशस्थली था।[4] महाभारत में उल्लेख है कि जरासंध के भय से यादव लोग मथुरा छोड़कर द्वारका में आ बसे थे। इसे अंधकवृष्णि[5] और कृष्ण[6] का निवास-स्थान बताया गया है। द्वारका एक अत्यन्त सुन्दर और समृद्ध नगर था जो चारों ओर से पाषाण के प्राकार से परिवेष्टित था।[7] वसुदेवहिण्डी में द्वारका को आनर्त, कुशार्त, सौराष्ट्र और शुष्कराष्ट्र की राजधानी कहा है।[8] द्वीपायन ऋषि द्वारा इस नगरी के विनाश होने का उल्लेख ब्राह्मण और जैन ग्रंथों में मिलता है। यादवों का अत्यधिक मदिरापान इसके विनाश में कारण हुआ था।[9] द्वारका व्यापार का बड़ा केन्द्र था जहाँ व्यापारी लोग तेयालगपट्टण (वेरावल) से नाव द्वारा आते-जाते थे।[10]

द्वारका के उत्तर-पूर्व में रैवतक पर्वत था, जो दशार्ह राजाओं को अत्यन्त प्रिय था। इसे ऊर्जयन्त भी कहते थे। रुद्रदाम और स्कंदगुप्त के गिरनार-शिलालेखों में इसका उल्लेख है। यहां एक नन्दनवन था जिसमें सुरप्रिय नामक यक्ष का मंदिर था। रैवतक (उज्जयंत) पर्वत

१. बृहत्कल्पभाष्य १.३२८९।

२. वही १.६४३।

३. दशवैकालिकचूर्णी, पृ० ४०।

४. महाभारत, सभापर्व १४.५३।

५. अन्तःकृद्दशा १, पृ० ५।

६ ज्ञातृधर्मकथा ५, पृ० ६८।

७. देखिए ज्ञातृधर्मकथा ५, पृ० ६८; अन्तःकृद्दशा १, पृ० ४ आदि; निरयावलियाओ ५; बृहत्कल्पभाष्य १.११२६।

८. पृ० ७७।

९. अन्तःकृद्दशा ५, पृ० २५।

१०. निशीथचूर्णी, पीठिका १८२, पृ० ६१।

अनेक पक्षी, लताओं आदि से सुशोभित था। यहां पानी के झरने[1] थे और लोग प्रतिवर्ष संखडि मानने के लिए एकत्रित होते थे। यहां भगवान् अरिष्टनेमि ने निर्वाण प्राप्त किया है,[2] इसलिए इसकी गणना सिद्ध-क्षेत्रों में की जाती है। राजीमती (राजुल) ने यहां तप किया था; उसकी यहां गुफा बनी हुई है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार, यहां की चन्द्रगुफा में आचार्य धरसेन ने तप किया था, और यहीं भूतबलि और पुष्पदंत आचार्यों को अवशिष्ट श्रुतज्ञान को लिपिबद्ध करने का आदेश दिया था। गुजरात के प्रसिद्ध जैन मंत्री तेजपाल ने यहां अनेक मंदिरों का निर्माण कराया है।

प्रभास (सोमनाथ) को महाभारत में सर्वप्रधान तीर्थों में गिना है।[3] इसे चन्द्रप्रभास, देवपाटन अथवा देवपट्टन भी कहा है। प्रयाग की भांति आवश्यकचूर्णी में प्रभास को जैन तीर्थ माना है।[4]

पुंडरीक (शत्रुंजय) जैनों का आदि तीर्थ माना गया है। जैन परम्परा के अनुसार यहां पांच पांडव तथा अन्य अनेक ऋषि-मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया।[5] राजा कुमारपाल के राज्य में लाखों रुपये व्यय करके यहां के मंदिरों का जीर्णोद्धार किया गया।

वलभी (वळा) प्राचीन काल में सौराष्ट्र की राजधानी थी। ईसवी सन् की छठी शताब्दी में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में जैन आगमों को संकलित करने के लिए यहां जैन श्रमणों का अन्तिम सम्मेलन हुआ था। यहां प्राचीन काल के अनेक सिक्के और ताम्रपत्र उपलब्ध हुए हैं। हुएनसांग के समय वलभी में अनेक बौद्ध विहार विद्यमान थे।

१२—विदेह (तिरहुत) मगध के उत्तर में अवस्थित था। ब्राह्मण ग्रन्थों में विदेह को जनक की राजधानी कहा गया है। बौद्धसूत्रों में जो

१. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति १.२९२२।

२. आवश्यकनिर्युक्ति ३०७; कल्पसूत्र ६.१७४, पृ० १८२; ज्ञातृधर्मकथा ५, पृ० ६८; अन्तःकृद्दशा ५, पृ० २८; उत्तराध्ययनटीका २२, पृ० २८०।

३. इसकी उत्पत्ति के लिए देखिए सोरेनसन, इण्डैक्स टू महाभारत, पृ० ५५३।

४. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १९७। ध्यान देने की बात है कि निशीथचूर्णी ११.३३५४ की चूर्णी में प्रभास, प्रयाग, श्रीमाल और केदार को कुतीर्थ कहा है।

५. उत्तराध्ययनटीका २, पृ० ४३; अन्तःकृद्दशा २, पृ० ७; ४, पृ० २३।

वज्जियों के आठ कुलों का उल्लेख है, उनमें वैशाली के लिच्छवि और मिथिला के विदेह मुख्य थे। कल्पसूत्र में वज्जनागरी (वृजिनगर की) नामक जैन श्रमणों की शाखा का उल्लेख आता है। विदेहनिवासी होने के कारण महावीर की माता त्रिशला विदेहदत्ता[1], तथा विदेहवासी चेलना का पुत्र कूणिक वज्जिविदेहपुत्र कहा[2] जाता था। विदेह व्यापार का प्रमुख केन्द्र था।

मिथिला (जनकपुर) विदेह की राजधानी थी। रामायण में मिथिला को जनकपुरी कहा गया है। महावीर ने यहां अनेक बार विहार किया था; उन्होंने यहां छह वर्षावास व्यतीत किये।[3] मैथिलिया जैन श्रमणों की शाखा थी। आर्य महागिरि का यहां विहार हुआ था।[4] अकंपित गणधर की यह जन्मभूमि थी। जिनप्रभसूरि के समय मिथिला जगइ नाम से प्रसिद्ध थी। उस समय यहां अनेक कदलीवन, मीठे पानी की बावड़ियां, कुएं, तालाब और नदियां मौजूद थीं। नगरी के चार द्वारों पर चार बड़े बाजार थे। यहां के साधारण लोग भी पढ़े-लिखे और शास्त्रों के पंडित होते थे।[5]

किसी समय मिथिला प्राचीन सभ्यता और विद्या का केन्द्र था। ईसवी सन् की ६वीं सदी में यहां प्रसिद्ध विद्वान् मंडनमिश्र निवास करते थे, जिनकी पत्नी ने शंकराचार्य से शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित किया था। प्रसिद्ध नैयायिक वाचस्पति मिश्र की यह जन्मभूमि थी, तथा मैथिल कवि विद्यापति यहां के राज-दरबार में रहा करते थे।

वैशाली (बसाढ़, जिला मुजफ्फरपुर) विदेह की दूसरी महत्त्वपूर्ण राजधानी थी। यह प्राचीन वज्जी गणतंत्र की मुख्य नगरी थी और यहां के लोग लिच्छवि कहलाते थे। ये लोग आपस में एकत्रित होकर राज-शासन संबंधी विषयों की चर्चा किया करते थे। लिच्छवियों की एकता की बुद्ध भगवान ने प्रशंसा की थी। महावीर ने यहां बारह चातुर्मास व्यतीत किये थे[6]। यह नगरी महावीर की जन्मभूमि थी इसलिए वे

---

१. कल्पसूत्र ५.१०९।

२. व्याख्याप्रज्ञप्ति ७.९, पृ० ३१५।

३. कल्पसूत्र ५.१२३।

४. आवश्यकनिर्युक्तिभाष्य १३२, पृ० १४३-अ; उत्तराध्ययनटीका ३, पृ० ७१।

५. विविधतीर्थकल्प, पृ० ३२।

६. कल्पसूत्र ५.१२३।

वैशालीय कहे जाते थे। जैनसूत्रों में वैशाली का राजा चेटक एक अत्यन्त प्रभावशाली राजा माना गया है। गणराजाओं का वह मुखिया था, और अपनी सात कन्याओं का विभिन्न राजघरानों में उसने विवाह किया था। चेटक की बहन त्रिशला महावीर की माता थी।[१] राजा कूणिक और चेटक में महासंग्राम होने का उल्लेख जैन आगमों में आता है। इस संग्राम में चेटक पराजित होकर नेपाल चला गया, और कूणिक ने वैशाली में गधों का हल चलाकर उसे खेत कर डाला। वैशाली मध्यदेश का सुन्दर नगर माना जाता था। यह नगरी अनेक उद्यान, आराम, बावड़ी, तालाब और पोखरणियों से शोभित थी। अंबापाली गणिका यहां की परम शोभा मानी जाती थी।[२] हुएनसांग के समय यह नगरी उजाड़ हो चुकी थी।

कुंडपुर (वसुकुण्ड) वैशाली का उपनगर था। यह क्षत्रियकुंडग्राम और ब्राह्मणकुंडग्राम नामक दो मोहल्लों में बंटा था। पहले में क्षत्रिय और दूसरे में ब्राह्मण रहा करते थे। कुंडपुर को महावीर की जन्मभूमि माना गया है।[३] कुंडपुर में ज्ञातृखण्ड (नायसंड) नाम का एक सुन्दर उद्यान था जहां महावीर ने दीक्षा ग्रहण की थी। इस उद्यान की गणना ऊर्जयन्त (गिरनार) और सिद्धशिला नामक तीर्थों के साथ की गयी है।

वाणियगाम (बनिया) वैशाली का दूसरा महत्वपूर्ण स्थान था। वैशाली और वाणियगाम के बीच गंडक नदी बहती थी। यहां आनन्द आदि अनेक जैन श्रमणोपासक रहते थे।[४]

१३—वत्स (प्रयाग के आसपास का प्रदेश) काशी से सटा हुआ जनपद था। बौद्ध सूत्रों में इसे वंश कहा गया है। वत्साधिपति उदयन का उल्लेख ब्राह्मण, बौद्ध और जैन ग्रंथों में मिलता है। आर्य आषाढ़ अपने शिष्यों के साथ यहां रहते थे।[५]

कौशाम्बी (कोसम, जिला इलाहाबाद) वत्स की राजधानी थी। इस नगरी का उल्लेख महाभारत और रामायण में आता है। कहते

---

१. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १६४ आदि।

२. महावग्ग ६.१७.२९, पृ० २४६।

३. व्याख्याप्रज्ञप्ति ९.३३; आवश्यकचूर्णी पृ० २४३; आवश्यकनिर्युक्ति ३८४।

४. उपासकदशा १; तथा व्याख्याप्रज्ञप्ति ११.११; १८.१०।

५. उत्तराध्ययनचूर्णी २, पृ० ८७।

हैं कि हस्तिनापुर के गंगा से नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर राजा परीक्षित के उत्तराधिकारियों ने कौशाम्बी को राजधानी बनाया। यहाँ कुक्कुटाराम, घोषिताराम, अंबवन आदि उद्यानों का उल्लेख बौद्धसूत्रों में आता है। भगवान् बुद्ध यहीं ठहरा करते थे। भगवान् महावीर ने यहाँ विहार किया था। राजा शतानीक कौशाम्बी का शासक था। एक बार राजा प्रद्योत ने कौशाम्बी पर आक्रमण कर दिया। उस समय शतानीक अतिसार से पीड़ित होकर मर गया तथा रानी मृगावती ने अपने पुत्र उदयन को राजगद्दी पर बैठाकर स्वयं दीक्षा ग्रहण की।[1]

कौशाम्बी जैनों का अतिशय क्षेत्र माना जाता है। यहाँ महावीर की प्रथम शिष्या चंदनबाला और रानी मृगावती दीक्षित हुई थीं। कोसंबिया जैन श्रमणों की शाखा मानी गयी है।[2]

कौशाम्बी के पास प्रयाग (इलाहाबाद) था। जैन ग्रंथों में प्रयाग को तीर्थक्षेत्र माना है।[3] प्रयाग को दितिप्रयाग भी कहा है।[4] पालि साहित्य में पयागपतिट्ठान के रूप में इसका उल्लेख आता है। सुप्रतिष्ठानपुर, प्रतिष्ठानपुर या पोतनपुर (झूंसी के आसपास का प्रदेश) इसकी राजधानी थी। बादशाह अकबर के समय से प्रयाग का नाम इलाहाबाद रक्खा गया।

१४—शांडिल्य (संडिब्भ अथवा सांडिल्य) की राजधानी का नाम नन्दिपुर था। अर्वाचीन जैनग्रंथों में सन्दर्भ देश के अन्तर्गत नंदिपुर के राजा का नाम पद्मानन बताया गया है।[5] क्या उत्तर प्रदेश के हरदोई जिले का संडीला शांडिल्य हो सकता है? फैजाबाद जिले में ऋषि शांडिल्य के सांडिल्य आश्रम का उल्लेख मिलता है।[6]

१५—मलय जनपद पटना के दक्षिण में और गया के दक्षिण-पश्चिम में अवस्थित था। सुन्दर वस्त्रों के लिए यह विख्यात था।[7]

---

१. आवश्यकटीका (मलयगिरि), पृ० १०२।

२. कल्पसूत्र ८, पृ० २३१-अ।

३. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १७९।

४. वसुदेवहिंडी पृ० १६३; तथा देखिए रविषेण, पद्मपुराण, ३.२८१; करकंडुचरिउ ६.६.५; तथा महाभारत ३.८३.७१।

५. टीनी, कथाकोष, पृ० १२४।

६. नन्दलाल दे, ज्योग्रेफिकल डिक्शनरी, पृ० १७६।

७. अनुयोगद्वारसूत्र ३७, पृ० ३०; निशीथसूत्र ७.१२ की चूर्णी।

भद्रिलपुर मलय की राजधानी थी। इसकी गणना अतिशय क्षेत्रों में की गयी है। इसकी पहचान हजारीबाग जिले के भदिया नामक गांव से की जाती है। यह स्थान हंटरगंज से छह मील के फासले पर कुलुहा पहाड़ी के पास है। अनेक खंडित जैन मूर्तियां यहां मिली हैं।[1]

इस प्रदेश का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान सम्मेदशिखर (पारसनाथ हिल) है। इसे समाधिगिरि, समिदगिरि, मल्लपर्वत अथवा शिखर भी कहा गया है। इस की गणना शत्रुंजय, गिरनार, आबू और अष्टापद नामक तीर्थों के साथ की गयी है। जैन परम्परा के अनुसार २४ तीर्थंकरों ने यहां से निर्वाण प्राप्त किया है।[2]

१६—मत्स्य (अलवर के आसपास का प्रदेश) जनपद का उल्लेख महाभारत में भी आता है।

वैराट या विराटनगर (वैराट, जयपुर के पास) मत्स्य की राजधानी थी। मत्स्य के राजा विराट की राजधानी होने के कारण इसे वैराट या विराट कहा जाता था। पांडवों ने यहां गुप्त वनवास किया था। बौद्ध मठों के ध्वंसावशेष यहां उपलब्ध हुए हैं। यहां के लोग अपनी वीरता के लिए विख्यात माने जाते थे।

पुष्कर को जैनसूत्रों में तीर्थक्षेत्र बताया गया है।[3] उज्जयिनी के राजा चंडप्रद्योत के समय यह तीर्थ विद्यमान था। महाभारत में इसका उल्लेख है। यह स्थान अजमेर से लगभग छह मील की दूरी पर है।

भिल्लमाल अथवा श्रीमाल (भिनमाल, जसवंतपुर के पास) में वज्रस्वामी ने विहार किया था। यहां द्रम्म नाम का चांदी का सिक्का चलता था।[4] छठी शताब्दी से लेकर नौवीं शताब्दी तक यह स्थान श्रीमाल गुर्जरों की राजधानी रही है। यह स्थान उपमितिभवप्रपंचा कथा के कर्ता सिद्धर्षि और माघकवि की जन्मभूमि थी।

अब्बुय (अर्बुद = आबू) जैनों का प्राचीन तीर्थ माना गया है।

---

१. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर हजारीबाग, पृ० २०२।

२. आवश्यकनिर्युक्ति ३०७; तथा ज्ञातृधर्मकथा ८, पृ० १२०; आचारांग-चूर्णी, पृ० २५७।

३. आवश्यकचूर्णी, पृ० ४०० आदि; निशीथचूर्णी, १०. ३१८४ की चूर्णी, पृ० १४६।

४. बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति १.१९६९; निशीथचूर्णी १०.३०७० की चूर्णी; प्रबन्धचिंतामणि २, पृ० ५५।

यहां संखडि का पर्व मनाया जाता था।[1] यहां ऋषभनाथ और नेमिनाथ के विश्वविख्यात मंदिर हैं जिन्हें लाखों रुपया खर्च करके निर्माण किया गया है। इनमें से एक १०३२ ई० में विमलशाह का और दूसरा १२३२ ई० में तेजपाल का बनवाया हुआ है। दोनों ही मंदिर नीचे से लगाकर शिखर तक संगमर्मर के बने हैं। जिनप्रभसूरि के समय यहां अचलेश्वर, वशिष्ठाश्रम आदि अनेक लौकिक तीर्थ मौजूद थे।

१७—अच्छा की गणना जनपदों में की गयी है। बुलन्दशहर के आसपास का प्रदेश अच्छा माना गया है।

वरणा (अथवा वरुण) अच्छा की राजधानी थी। चारण गण और उच्चानागरी शाखा का उल्लेख कल्पसूत्र में आता है,[2] इससे प्रतीत होता है कि यह प्रदेश जैन श्रमणों का केन्द्र था। महाभारत में भी इसका उल्लेख है। वरणा की पहचान बुलन्दशहर से की जाती है, जो उच्चानगर का ही भाषान्तर है।[3] आजकल यह बारन के नाम से प्रसिद्ध है। चीनी साधु फाच्युआंग (४२४-४५३ ई०) नगरहार से वैदिश जाते समय वरुण होकर गया था।[4]

१८—दशार्ण (भिलसा के आसपास का प्रदेश) जनपद का उल्लेख महाभारत में मिलता है। यहां की तलवारें बहुत अच्छी मानी जाती थीं।

मृत्तिकावती दशार्ण की राजधानी थी। ब्राह्मणों की हरिवंशपुराण में इसका उल्लेख आता है। यह नगरी नर्मदा के किनारे अवस्थित थी।[5] मालवा में बनास नदी के पास अवस्थित भोजों के देश को मृत्तिकावती कहा गया है।

वइदिस अथवा विदिशा (भिलसा) को मेघदूत में दशार्ण की राजधानी बताया गया है। यहां महावीर की चन्दननिर्मित मूर्ति थी। आचार्य महागिरि और सुहस्ति ने यहां विहार किया था।[6] भरहुत के

---

१. बृहत्कल्पभाष्य १.३१५० ।

२. ८, पृ० २३२-अ ।

३. एपिग्राफिका इंडिका, जिल्द १, १८९२, पृ० ३७९ ।

४. द ज्योग्रेफिकल कण्टेण्ट्स ऑव महामायूरी, जरनल यू० पी० हिस्टोरिकल सोसायटी, जिल्द १५, भाग २ ।

५. हरिवंशपुराण १.३६.१४ ।

६. आवश्यकनिर्युक्ति १२७८ ।

शिलालेखों में विदिशा का उल्लेख मिलता है। विदिशा और मथुरा के वस्त्र बहुत अच्छे होते थे।[1] विदिशा का उल्लेख सिंधु देश के साथ किया गया है जहां प्रज्ञप्ति का पढ़ना निषिद्ध बताया है।[2] यह नगरी वेत्रवती (बेतवा) नदी के किनारे अवस्थित थी।

दशार्णपुर दशार्ण जनपद का दूसरा प्रसिद्ध नगर था। जैनसूत्रों में इसका दूसरा नाम एडकाक्षपुर बताया है।[3] बौद्ध ग्रन्थों में इसे एरकच्छ नाम से उल्लिखित किया है।[4] यह नगर बेतवा नदी के किनारे बसा था[5] और व्यापार का प्रमुख केन्द्र था। आर्य महागिरि ने यहां वैदिश से विहार किया था, और वे गजाग्रपदगिरि (इसका नाम इन्द्रपद पर्वत भी था)[6] पर्वत पर तप करने चले गये थे।[7] इसकी पहचान झांसी जिले के एरछ नामक स्थान से की जा सकती है।

दशार्णपुर के उत्तर-पूर्व में दशार्णकूट नाम का पर्वत था।[8] इसका दूसरा नाम गजाग्रपदगिरि अथवा इन्द्रपद भी था। यह पर्वत चारों ओर से गांवों से घिरा हुआ था।[9] आवश्यकचूर्णी में इस पर्वत का वर्णन किया गया है। कहा जाता है कि भगवान महावीर ने यहां राजा दशार्णभद्र को दीक्षा दी थी।

दशार्ण जनपद का दूसरा महत्वपूर्ण नगर दशपुर[10] (मंदसौर) था। आर्यरक्षित की यह जन्मभूमि थी। यहां से विद्याध्ययन करने वे पाटलिपुत्र गये थे।[11] औषध आदि प्राप्त करने के लिये उन्हें दूर के नगरों में कीचड़ में होकर जाना होता था।[12] जैन श्रमणों की प्रवृत्तियों का यह केन्द्र था।

१. आवश्यकटीका (हरिभद्र), पृ० ३०७।
२. सूत्रकृतांगचूर्णी, पृ० २०।
३. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १५६ आदि।
४. पेतवत्थु २. ७, पृ० १६।
५. आचारांगचूर्णी, पृ० २२६; देखिये गच्छाचार, पृ० ८१ आदि।
६. निशीथभाष्य १०.३१६३।
७. आवश्यकनिर्युक्ति १२७८; आवश्यकटीका, पृ० ४६८।
८. आवश्यकचूर्णी, पृ० ४७६; आवश्यकटीका, पृ० ४६८।
९. बृहत्कल्पभाष्य ३.४८४१।
१०. दशपुर नाम के लिए देखिए आवश्यकचूर्णी, पृ० ४०१ आदि।
११. वही, पृ० ४०२।
१२. निशीथचूर्णी १४.४५३६।

विदिशा के समीप कुञ्जरावर्त और रथावर्त नाम के दो पर्वतों के होने का उल्लेख मिलता है। ये दोनों पर्वत पास-पास थे। कुंजरावर्त का उल्लेख रामायण में आता है। इस पर्वत पर वज्रस्वामी ने निर्वाण लाभ किया था।[1] रथावर्त पर्वत को महाभारत में पवित्र माना गया है। इस पर्वत पर वज्रस्वामी के ५०० श्रमणों को लेकर आने का उल्लेख है। यहां से वे तप करने के लिए कुञ्जरावर्त पर्वत पर चले गये।[2]

मालवा की गणना पृथक् रूप से आर्य देशों में सम्भवतः इसलिए नहीं की गयी कि जैनधर्म के परम उद्धारक कहे जाने वाले अवंतिपति राजा सम्प्रति यहीं के निवासी थे, और यहीं से उन्होंने जैनधर्म का प्रचार करने के लिए अपने कर्मचारी दूर-दूर तक भेजे थे। मालवा के बोधिक चोरों का उल्लेख महाभारत[3] तथा जैनग्रन्थों में आता है।[4] ये लोग उज्जैनी के लोगों को भगाकर ले जाते थे। टंक और सिंधु देशवासियों की भांति यहां के निवासी अपनी कठोर भाषा के लिए प्रसिद्ध थे।[5] हुएनसांग के समय मालवा विद्या का केन्द्र था और यहां अनेक मठ-मंदिर बने हुए थे।

अवन्ति मालवा की राजधानी थी। दक्षिणापथ की यह मुख्य नगरी मानी जाती थी। ईसवी सन् की सातवीं-आठवीं शताब्दी के पूर्व मालवा अवन्ति के नाम से प्रख्यात था। आगे चलकर अवन्ति पश्चिमी मालवा का प्रदेश कहलाने लगी। यहां की मिट्टी काली होती थी, अतएव बौद्ध भिक्षुओं को स्नान करने और जूते पहिनने की अनुमति थी। इसकी पहचान मालवा, निमाड़ और मध्यप्रदेश के कुछ हिस्सों से की जाती है।

उज्जयिनी दक्षिणापथ का सबसे महत्त्वपूर्ण नगर था। इसे प्रधार अवन्ति (मालवा) की राजधानी कहा गया है। जीवन्तस्वामी-

---

१. मरणसमाधि ४७२ आदि, पृ० १२८-अ। तथा देखिए वसुदेवहिण्डी, पृ० १९२; रामायण ४.४१।

२. मरणसमाधि ४७० आदि, पृ० १२८; मलयगिरि, आवश्यकटीका, पृ० ३९५-अ।

३. ६.९.११।

४. निशीथचूर्णी १६.५७२५।

५. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति १.१२२९; निशीथचूर्णी २.८७४।

प्रतिमा के दर्शन करने के लिए यहाँ राजा सम्प्रति के समकालीन आर्य सुहस्ति पधारे थे।[१] इसके अतिरिक्त, आचार्य चंडरुद्र,[२] भद्रकगुप्त, आर्यरक्षित,[३] तथा आर्य आषाढ़[४] आदि जैन श्रमणों ने यहां विहार किया था। जैन साधुओं को यहाँ कठोर परीषह सहन करनी पड़ती थी।[५]

चण्ड प्रद्योत का यहाँ राज्य था। आगे चलकर सम्राट् अशोक का पुत्र कुणाल यहाँ का सूबेदार हुआ, और इसीके नाम से उज्जयिनी का दूसरा नाम कुणालनगर रक्खा गया।[६] कुणाल के पश्चात् राजा सम्प्रति का राज्य हुआ। आचार्य कालक ने राजा गर्दभिल्ल के स्थान पर ईरान के शाहों को बैठाया था। बाद में राजा विक्रमादित्य ने अपना राज्य स्थापित किया। सिद्धसेन दिवाकर विक्रमादित्य की सभा के एक रत्न माने गये हैं। दिगम्बर जैन परम्परा के अनुसार, सम्राट् चन्द्रगुप्त ने यहाँ भद्रबाहु से दीक्षा ग्रहण कर दक्षिण की यात्रा की थी।

उज्जयिनी व्यापार का प्रमुख केन्द्र था।[७] किसी समय बौद्धों का यहाँ जोर था और अनेक बौद्ध मठ यहाँ बने हुए थे। माहेस्सर और श्रीमाल की भाँति यहाँ के निवासी भी मद्यपान के शौकीन थे।[८] आचार्य हेमचन्द्र के समय यह नगरी विशाला, अवंति और पुष्पकरंडिनी नाम से भी प्रख्यात थी।[९]

१६—चेदि (बुन्देलखण्ड का उत्तरी भाग) में राजा शिशुपाल राज्य करता था। बौद्ध श्रमणों का यह केन्द्र था।

शुक्तिमती चेदि की राजधानी थी। महाभारत में इसका उल्लेख है। सुत्तिवइया जैन श्रमणों की एक शाखा थी। बांदा जिले के आसपास के प्रदेश को शुक्तिमती कहा जाता है।

---

१. बृहत्कल्पभाष्य १.३२७७।
२. वही ६.६१०३ आदि।
३. आवश्यकचूर्णी पृ० ४०३।
४. दशवैकालिकचूर्णी पृ० ९६।
५. बृहत्कल्पभाष्य ५.५७०६।
६. संस्तर ८२, पृ० ५८।
७. आवश्यकनिर्युक्ति १२७६; आवश्यकचूर्णी २, पृ० १५४।
८. आचारांगचूर्णी २.१, पृ० ३३३।
९. अभिधानचिंतामणि ४.४२।

२०—सिन्धु-सौवीर जनपद में सिन्धु और सौवीर दोनों शामिल थे। अभयदेव के अनुसार सौवीर (सिन्ध) सिन्धु नदी के पास होने के कारण सिन्धु-सौवीर कहा जाता था।[1] लेकिन बौद्ध ग्रन्थों में सिन्धु और सौवीर को अलग-अलग मानकर, रोरुक को सौवीर की राजधानी कहा है। सिन्धु देश में बाढ़ बहुत आती थी, तथा यह देश चरिका, परिव्राजिका, कार्पाटिका, तच्चनिका (बौद्ध भिक्षुणी) और भागवी आदि अनेक पाखण्डी श्रमणियों का स्थान था, अतएव जैन साधुओं को इस देश में गमन करने का निषेध है। यदि किसी अपरिहार्य कारण से वहां जाना हो पड़े तो शीघ्र ही लौट आने का विधान किया गया है।[2] भोजन-पान की शुद्धता भी इस देश में नहीं थी; मांस-भक्षण का यहाँ रिवाज था। यहाँ के निवासी मद्यपान करते थे और मद्यपान के पात्र से ही पानी पी लिया करते थे।[3] भिक्षा प्राप्त करने के लिए यहाँ स्वच्छ वस्त्रों की आवश्यकता होती थी।[4] दिगम्बर परम्परा के अनुसार, रामिल्ल, स्थूलभद्र और भद्राचार्य ने उज्जयिनी में दुष्काल पड़ने पर सिन्धु देश में विहार किया था।

वीतिभयपट्टन सिन्धु-सौवीर की राजधानी थी। इसका दूसरा नाम कुम्भारप्रक्षेप (कुमारपक्खेव) बताया गया है।[5] यह नगर सिणवल्लि में अवस्थित था। सिणवल्लि एक विकट रेगिस्तान था जहाँ व्यापारियों को क्षुधा और तृषा से पीड़ित हो अपने जीवन से हाथ धोना पड़ता था।[6] क्या पाकिस्तान में मुजफ्फरगढ़ जिले के अन्तर्गत सनावन या सिनावन स्थान सिणवल्लि हो सकता है ? वीतिभय की पहचान पाकिस्तान में शाहपुर जिले के अन्तर्गत भेरा नामक स्थान से की जा सकती है।[7] इसका पुराना नाम भद्रवती था। विजि नामक गांव के समीप यहां बहुत से खण्डहर पाये गये हैं।

---

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति १३.६, पृ० ६२०।

२. बृहत्कल्पभाष्य १.२८८१; ४.५४४१ आदि।

३. वही १.१२३९।

४. निशीथचूर्णी १५.५०६४ की चूर्णी।

५. आवश्यकचूर्णी २, पृ० ३७।

६. वही पृ० ३४;१५३।

७. निशीथचूर्णी में वीतिभय और उज्जैनी के बीच ८० योजन का अन्तर बताया गया है, जो विचारणीय है।

२१—शूरसेन को ब्राह्मणों के अनुसार रामचन्द्र के लघुभ्राता शत्रुघ्न ने बसाया था। शौरसेनी यहां की भाषा थी। मथुरा के आस-पास का प्रदेश शूरसेन कहा जाता है।

मथुरा शूरसेन की राजधानी थी। मथुरा उत्तरापथ[1] की एक महत्त्वपूर्ण नगरी मानी गयी है। इसका दूसरा नाम इन्द्रपुर था।[2] इसके अन्तर्गत ९६ ग्रामों में लोग अपने-अपने घरों और चौराहों पर जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा स्थापित करते थे।[3] यहां सुवर्ण-स्तूप होने का उल्लेख है, जिसे लेकर जैन और बौद्धों में झगड़ा हुआ था। कहते हैं कि अन्त में इसपर जैनों का अधिकार हो गया।[4] हरिषेण के बृहत्कथा-कोश (१२.१३२) और सोमदेवसूरि के यशस्तिलकचंपू में इसे देवनिर्मित स्तूप कहा है।[5] राजमल्ल के जम्बूस्वामिचरित में मथुरा में ५०० स्तूपों के होने का उल्लेख है, जिनका उद्धार अकबर बादशाह के समकालीन साहू टोडर ने कराया था। यह प्राचीन स्तूप आजकल कंकाली टीले के रूप में मौजूद है, जिसकी खुदाई से अनेक पुरातत्व सम्बन्धी बातों का पता लगा है।

मथुरा में अन्तिम केवली जम्बूस्वामी का निर्वाण हुआ था, इसलिए सिद्धक्षेत्रों में इसकी गणना की गयी है। ईसवी सन् की चौथी शताब्दी में जैन आगमों की यहां संकलना हुई थी, इस दृष्टि से भी इस नगरी का महत्त्व समझा जा सकता है। आर्यमंगु[6] और आर्य-

---

१. यहाँ अत्यन्त शीत पड़ने के कारण, वस्त्र के अभाव में साधारण लोग आग जलाकर रात काटते थे, निशीथचूर्णी पीठिका १७५। शीत की भाँति गर्मी भी यहां बहुत अधिक होती थी, वही २४७। यहां के लोग रात्रि में भोजन करते थे, वही ४५५। उत्तरापथ धर्मचक्र के लिये प्रसिद्ध था; वही १०.२९२७।

२. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १९३।

३. बृहत्कल्पभाष्य १.१७७४ आदि।

४. व्यवहारभाष्य ५.२७ आदि। मथुरा के कंकाली टीले की विशेष जानकारी के लिए देखिए आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, भाग ३, प्लेट्स १३–१५; बुहलर, दी इण्डियन सैक्ट्स ऑव द जैन्स, पृ० ४२–६०; वियना ओरिटियन्ल जरनल, जिल्द ३, पृ० २३३–४०; जिल्द ४, पृ० ३१३–२१।

५. तुलना कीजिए रामायण ७.७०.५।

६. आवश्यकचूर्णी २, पृ० ८०।

रक्षित[1] ने यहां विहार किया था। प्राचीन काल से ही अनेक साधु-सन्तों का यह केन्द्र रहा है, इसलिए इसे पाखंडिगर्भ कहा है।[2] मथुरा भंडीर (वट वृक्ष) यक्ष की यात्रा के लिए प्रसिद्ध था। जिनप्रभसूरि ने यहाँ १२ वनों का उल्लेख किया है।

मथुरा व्यापार का मुख्य केन्द्र बताया गया है, और वस्त्र के लिए वह विशेष रूप से प्रसिद्ध था।[3] यहाँ के लोगों का मुख्य पेशा व्यापार ही था, खेतीबारी यहाँ नहीं होती थी।[4] राजा कनिष्क के समय मथुरा से श्रावस्ति, बनारस आदि नगरों को मूर्तियाँ भेजी जाती थीं।

बौद्ध ग्रंथों में मथुरा के पांच दोष बताये हैं—भूमि की विषमता, धूल की अधिकता, कुत्तों और यक्षों का उपद्रव और भिक्षा की दुर्लभता[5]। लेकिन मालूम होता है कि फाहियान और हुएनसांग के समय मथुरा में बौद्ध धर्म का जोर था, और उस समय यहां अनेक संघाराम और स्तूप बने हुए थे।

मथुरा की पहचान मथुरा से दक्षिण-पश्चिम में स्थित महोलि नामक ग्राम से की जाती है।

२२—भंगि जनपद मलय के आसपास का प्रदेश कहलाता था। महाभारत में इसका उल्लेख है। इसमें हजारीबाग और मानभूम जिले आते हैं।

पापा भंगि की राजधानी थी। यह पापा कुशीनारा के पास की मल्लों की पापा नगरी तथा महावीर की निर्वाण-भूमि मज्झिमपावा अथवा पावापुरी से भिन्न है। सम्मेदशिखर के आसपास की भूमि को पापा माना गया है।

२३—वट्टा की राजधानी मासपुरी बतायी गयी है। मासपुरी जैन श्रमणों की एक शाखा थी।[6] इस प्रदेश का ठीक पता नहीं चलता।

---

१. वही पृ० ४११।

२. आचारांगचूर्णी पृ० १६१।

३. आवश्यकटीका (हरिभद्र), पृ० ३०७।

४. बृहत्कल्पभाष्य १.१२३९।

५. अंगुत्तरनिकाय ३,५, पृ० ४६४। मथुरा के वर्णन के लिए देखिए हरिवंशपुराण १.५४.५६ आदि।

६. कल्पसूत्र ८, पृ० २३०।

२४—कुणाल जनपद को उत्तर कोशल नाम से भी कहा गया है। सरयू नदी बीच में पड़ने के कारण कोशल जनपद उत्तर कोशल और दक्षिण कोशल दो भागों में विभक्त था।

श्रावस्ति (सहेट-महेट, जिला गोंडा) कुणाल जनपद की राजधानी थी। यह नगरी अचिरावती (राप्ती) नदी के किनारे बसी थी। जैनसूत्रों में उल्लेख है कि इस नदी में बहुत कम पानी रहता था; इसके अनेक प्रदेश सूखे थे और जैन श्रमण इसे पार करके भिक्षा के लिए जाते थे।[1] लेकिन जब कभी इस नदी में बाढ़ आती तो लोगों का बहुत नुकसान हो जाता था।[2] एक बार तो यहां के सुप्रसिद्ध बौद्ध उपासक अनाथपिंडक का सारा माल-खजाना ही नदी में बह गया था।[3]

भगवान् महावीर ने यहां अनेक चातुर्मास व्यतीत किये थे। श्रावस्ति बौद्धों का केंद्र था। अनाथपिंडक और मृगारमाता विशाखा बुद्ध भगवान् के महान् उपासक थे। मंखलि गोशाल की उपासिका हालाहला कुम्हारी श्रावस्ति की ही रहने वाली थी। पार्श्वनाथ के अनुयायी केशीकुमार और महावीर के अनुयायी गौतम गणधर के बीच चातुर्याम और पंचमहाव्रत को लेकर यहां ऐतिहासिक चर्चा हुई थी।[4]

जिनप्रभसूरि के अनुसार, यहां समुद्रवंशीय राजा राज्य करते थे, जो बुद्ध के परम उपासक थे और बुद्ध के सन्मान में वरघोड़ा निकालते थे। कई किस्म का चावल यहां पैदा होता था। श्रावस्ति महेठि नाम से कही जाती थी।[5]

आजकल यह ऐतिहासिक नगरी चारों ओर से जंगल से घिरी हुई है। यहां बुद्ध की एक विशाल मूर्ति है जिसके दर्शन के लिए बौद्ध उपासक बर्मा, श्रीलंका आदि दूर-दूर स्थानों से आते हैं।

२५—लाढ अथवा राढ़ की गणना अनार्य देशों में की जाती थी। यह देश वज्जभूमि (वज्रभूमि = वीरभूम) और सुब्भभूमि (सुह्म)

---

१. कल्पसूत्र ६.१२ पृ० २८४ अ; बृहत्कल्पसूत्र ४.३३; भाष्य ४.५६३९, ५६५३; तुलना कीजिए अंगुत्तरनिकाय ३,६ पृ० १०८।

२. आवश्यकचूर्णी पृ० ६०१; आवश्यकटीका (हरिभद्र), पृ० ४६५; मलयगिरिटीका, पृ० ५६७; टौनी का कथाकोश, पृ० ६ आदि।

३. धम्मपदअट्ठकथा ३, पृ० १०; १, पृ० ३६०।

४. उत्तराध्ययन २३.२ आदि।

५. विविधतीर्थकल्प, पृ० ७०।

नामक दो भागों में विभक्त था। भगवान् महावीर ने यहाँ विहार किया था और उन्हें अनेक कष्ट सहन करने पड़े थे। यहाँ गांवों की संख्या बहुत कम थी इसलिए महावीर को रहने के लिए वसति मिलना भी दुर्लभ होता था।[1] वज्रभूमि के निवासी रूक्ष भोजन करने के कारण स्वभाव से क्रोधी होते थे और वे महावीर को कुत्तों से कटवाते थे।[2] लाढ को सुह्म भी कहा गया है। व्याख्याप्रज्ञप्ति में सोलह जनपदों में संभुत्तर (सुह्मोत्तर = सुह्म के उत्तर में) की गणना की गयी है। आधुनिक हुगली, हावड़ा, बांकुरा, वर्दवान, और मिदनापुर जिलों के पूर्वीय भागको प्राचीन लाढ़ बताया है।

कोटिवर्ष लाढ़ जनपद की राजधानी थी। कोडिवरिसिया नामक जैन श्रमणों की शाखा का उल्लेख मिलता है।[3] गुप्तकालीन शिलालेखों में इस नगर का उल्लेख है। कोटिवर्ष की पहचान दीनाजपुर जिले के बानगढ़ नामक स्थान से की गयी है।

२५॥—केकय जनपद श्रावस्ति से पूर्व की ओर नेपाल की तराई में स्थित था। उत्तर के केकय देश से यह भिन्न है। इसके आधे भाग को आर्य देश स्वीकार किया गया है, इसका तात्पर्य है कि इसके आधे प्रदेश में ही जैन धर्म का प्रचार हुआ था। संभवतः बाकी के आधे में आदिमवासी जातियां निवास करती थीं।

सेयविया (श्वेतिका) केकयी की राजधानी थी। बौद्ध सूत्रों में इसे सेतव्या कहा है और इसे कोशल देश की नगरी बताया है।[4] श्वेतिका से गंगा नदी पार कर महावीर के सुरभिपुर पहुँचने का उल्लेख मिलता है।[5]

जैनधर्म के अन्य केन्द्र

इन साढ़े पचीस आर्य क्षेत्रों के अतिरिक्त, अन्य स्थलों में भी जैन-धर्म का प्रचार हुआ था। भद्रबाहु, स्थूलभद्र आदि जैन श्रमणों ने नेपाल में विहार किया था। यहां स्थूलभद्र ने भद्रबाहु स्वामी से पूर्वों

१. आवश्यकनिर्युक्ति ४८२; आचारांग ९.३।

२. आवश्यकनिर्युक्ति ४८२; आचारांग, वही; देखिये वही पुस्तक १.१. पृ० ११।

३. कल्पसूत्र ८, पृ० २२७-अ।

४. दीघनिकाय २, पायासिसुत्त, पृ० २३६।

५. आवश्यकनिर्युक्ति ४६९-७०।

का ज्ञान प्राप्त किया था।[1] आचार्य कालक पारसकूल (ईरान) जाकर वहां के शाहों को अपने साथ भारतवर्ष लाये थे।[2]

राजा सम्प्रति के अथक प्रयत्न से दक्षिणापथ (गंगा का दक्षिण और गोदावरी का उत्तरी भाग) में जैनधर्म का प्रसार हुआ था। दक्षिण भारत के प्रदेशों में आंध्र देश जैनों की प्रवृत्ति का केंद्र था।[3] इसकी राजधानी धनकटक (वेजवाड़ा) थी। गोदावरी और कृष्णा नदी के बीच के प्रदेश को प्राचीन आंध्र माना गया है। दमिल अथवा द्रविड़ देश में जैन श्रमणों को वसति का मिलना दुर्लभ था, इसलिए उन्हें वृक्ष आदि के नीचे ठहरना पड़ता था।[4] कांचीपुर (कांजीवरम्) यहां की राजधानी थी। यहां का 'नेलक' सिक्का दूर-दूर तक चलता था। कांची के दो नेलक कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) के एक नेलक के बराबर गिने जाते थे।[5] दिगम्बर आचार्य स्वामी समंतभद्र की यह जन्मभूमि थी।

तत्पश्चात् महाराष्ट्र[6] और कुडुक्क (कुर्ग) का नाम आता है। कुडुक्क आचार्य का उल्लेख व्यवहारभाष्य में मिलता है,[7] इससे पता लगता है कि शनैः शनैः कुडुक्क (कोडगू) जैन श्रमणों की प्रवृत्ति का केंद्र बन गया था। महाराष्ट्र के अनेक रीति-रिवाजों का उल्लेख छेदसूत्रों की टीकाओं में मिलता है। महाराष्ट्र में नग्न रहने वाले जैन श्रमण अपने लिंग में वेंटक (एक प्रकार की अंगूठी) पहनते थे।[8] यहां के निवासी आटे में पानी मिलाकर उसे किसी दीपक में रखते और फिर उस दीपक को शीत जल में रख देते।[9] प्रतिष्ठान या पोतनपुर (पैठन) महाराष्ट्र का प्रधान नगर था। बौद्ध ग्रंथों में पोतन या पोतलि को अश्मक देश की राजधानी बताया है। प्रतिष्ठान महाराष्ट्र का भूषण गिना जाता था।

---

१. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १८६।
२. निशीथचूर्णी १०.२८६०, पृ० ५९; व्यवहारभाष्य १०.५, पृ० ६४।
३. बृहत्कल्पभाष्य १.३२८६।
४. वही, ३.३७४९।
५. वही, ३.३८९२।
६. इसे देशार्ण (निम्नभूमि) कहा है, पिंडनिर्युक्ति ६१६।
७. ४.२८३; १, पृ० २२१-अ।
८. बृहत्कल्पभाष्य १.२६३७।
९. निशीथचूर्णी १७.५६७०।

यहां श्रमणपूजा (समणपूय) नाम का बड़ा भारी उत्सव मनाया जाता था।[1] यहां का राजा सातवाहन था। पादलिप्त सूरि[2] और कालकाचार्य ने इस भूमिको अपने विहार से पवित्र किया था। जिनप्रभसूरि के समय प्रतिष्ठान में ६८ लौकिक तीर्थ थे।

कोंकण में जैन श्रमणों ने विहार किया था। इस देश में अत्यधिक वृष्टि के कारण जैन श्रमणों को छतरी रखने का विधान है।[3] यहां मच्छर बहुत होते थे।[4] यहां के लोग फल-फूल के शौकीन थे।[5] गिरियज्ञ नाम का उत्सव यहां मनाया जाता था।[6] पश्चिमी घाट तथा समुद्र के बीच का स्थल प्राचीन कोंकण माना जाता है। यहाँ शूर्पारक (सोप्पारय) व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र था।[7] वज्रसेन,[8] आर्यसमुद्र और आर्यमंगु[9] आदि आचार्यों ने यहां विहार किया था। महाभारत में इस नगर का उल्लेख आता है। बम्बई के पास ठाणा जिले के सोपारा नामक स्थान से इसकी पहचान की जाती है।

गोल्ल देश का उल्लेख जैन आगमों में अनेक स्थलों पर आता है। यहां अत्यधिक शीत होने के कारण जैन श्रमणों को वस्त्र धारण करने की अनुमति दी गयी है।[10] यहां आम की फाँक करके उन्हें सुखाया जाता, और फिर उन्हें पानी में धोकर उनसे आम्र-पानक बनाया जाता[11]। जैन परम्परा के अनुसार, चंद्रगुप्त का मंत्री चाणक्य यहीं का निवासी था। श्रवणबेलगोला के शिलालेखों में गोल्ल और गोल्लाचार्य का उल्लेख मिलता है, इससे पता लगता है कि यह प्रदेश दक्षिण में ही होना चाहिए। गुन्टूर जिले में गरुड़ नदी पर स्थित गोलि ही प्राचीन गोल्ल देश मालूम होता है।

१. निशीथचूर्णी, १०.३१५१, पृ० १३१।
२. पिंडनिर्युक्ति ४९७ आदि।
३. आचारांगचूर्णी, पृ० ३६६।
४. सूत्रकृतांगटीका ३.१.१२।
५. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति १.१२३९।
६. वही, १.२८५५।
७. बृहत्कल्पभाष्य १.२५०६।
८. आवश्यकचूर्णी, पृ० ४०१।
९. व्यवहारभाष्य ६.२३९ आदि।
१०. आचारांगचूर्णी, पृ० २७४।
११. वही, पृ० १४०।

आभीर देश भी जैन श्रमणों का केन्द्र रहा है। आर्य समित[1] और वज्रस्वामी[2] ने यहां विहार किया था। यहां कण्हा (कन्हन) और वेण्णा (वेन) नदियों के बीच में ब्रह्मद्वीप अवस्थित था जहां अनेक तापस रहा करते थे।[3] कल्पसूत्र में वंभदीविया शाखा का उल्लेख आता है।[4] तगरा इस देश की राजधानी थी। यहां राढाचार्य ने विहार किया था।[5] तगरा की पहचान उस्मानाबाद जिले के तेरा नामक स्थान से की जाती है।

लाट देश का उल्लेख भी जैन ग्रंथों में मिलता है, यद्यपि इसकी गणना पृथक् रूप से आर्य देशों में नहीं की गयी। यहां वर्षाऋतु में गिरियज्ञ[6] नामक उत्सव तथा श्रावण शुक्ला पूर्णिमा के दिन इन्द्रमह[7] मनाया जाता था। इस देश में वर्षा से ही खेती होती थी।[8] भृगुकच्छ (भड़ोंच) लाट देश की शोभा माना जाता था। व्यापार का यह बड़ा केन्द्र था। आचार्य वज्रभूति का यहां विहार हुआ था।[9] मामा की लड़की से यहां विवाह जायज था, मौसा की लड़की से नहीं।[10] भृगुकच्छ और उज्जैनी के बीच पचीस योजन का अन्तर था।[11] उत्तर गुजरात में आनंदपुर (वड़नगर) भी जैन श्रमणों का केन्द्र था।[12]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म का उदय विहार में हुआ और वह वहीं फूला-फला। क्रमशः उत्तरप्रदेश के पूर्वीय और कतिपय पश्चिमी

---

१. आवश्यकटीका (मलय), पृ० ५१४–अ।
२. आवश्यकचूर्णी, पृ० ३९७।
३. आवश्यकटीका (मलय), पृ० ५१४–अ।
४. ८, पृ० २३३।
५. उत्तराध्ययनटीका २, पृ० २५।
६. बृहत्कल्पभाष्य १.२८५५।
७. निशीथचूर्णी १९.६०६५, पृ० २२६।
८. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति १.१२३९।
९. व्यवहारभाष्य ३.५८।
१०. निशीथचूर्णीपीठिका १२६।
११. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १६०।
१२. निशीथचूर्णी ५.२१४०, पृ० ३५७।

जिलों में इसका प्रचार हुआ।[1] फिर यह पश्चिमी बंगाल और उड़ीसा में फैला। तत्पश्चात् सौराष्ट्र होता हुआ राजस्थान (राजस्थान और गुजरात उस समय अलग नहीं थे) के भागों में फैल गया। फिर मध्यप्रदेश होता हुआ विदर्भ और महाराष्ट्र में होकर आंध्र, कुर्ग आदि दक्षिण के देशों में फैलता गया।

---

१. विविधतीर्थकल्प के अपापाबृहत्कल्प में महावीर के निम्नलिखित ४२ चातुर्मासों का उल्लेख है—

१ अस्थिग्राम, ३ चम्पा और पृष्ठचम्पा, १२ वैशाली और वाणियगाम, १४ नालंदा और राजगृह, ६ मिथिला, २ भद्दिया, १ आलभिया, १ पणियभूमि, १ श्रावस्ति, १ मध्यमपावा (अन्तिम)।

परिशिष्ट २

आगम-साहित्य में उल्लिखित राजा-महाराजा

जैन आगमों की अनुश्रुतियाँ

दुर्भाग्य से जैन आगम-साहित्य में उल्लिखित अनुश्रुतियाँ और परम्पराएँ, हमारे इतिहास पर विशेष प्रकाश नहीं डालतीं, अतएव उन्हें प्रामाणिकता की कोटि में नहीं रक्खा जा सकता। कितनी ही पौराणिक परम्पराएँ यहाँ अनियमित तथ्यों के साथ जहां-तहां गुंथी हुई पाई जाती हैं जिन्हें कि जैन श्रमण अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने और व्याख्यानों को रोचक बनाने के लिए उपयोग में लाया करते थे। बौद्धों की भांति हम यहां भी कितने ही राजा-महाराजा और सम्राटों का दर्शन करते हैं जो श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर, कठोर तपश्चर्या करने के पश्चात्, किसी पर्वत से निर्वाण पद प्राप्त करते हैं। बौद्धों के राजा ब्रह्मदत्त की भांति यहां राजा जितशत्रु के नाम के साथ अनेक पौराणिक कथा-कहानियाँ जोड़ी गयी हैं।

राजाओं की ऐतिहासिकता

प्राचीन जैन साहित्य में महावीर के समसामयिक अनेक राजाओं का उल्लेख मिलता है, लेकिन दो-चार को छोड़कर बाकी के सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं लगता। और तो क्या, काशी और कोशल के गणराजाओं के प्रमुख शक्तिशाली चेटक जैसे राजा का इतिहास में कहीं नाम तक नहीं। इसी प्रकार चम्पा के राजा दधिवाहन, दशार्ण के राजा दशार्णभद्र और वीतिभय के राजा उद्रायन (बौद्धों का रुद्रायन) जैसे राजाओं के सम्बन्ध में भी कुछ ज्ञात नहीं होता। राजा उद्रायन का उल्लेख महावीर द्वारा दीक्षित आठ राजाओं[१] के साथ आता है, लेकिन उनके सम्बन्ध में भी इतिहास मौन है।

धार्मिक कट्टरता का अभाव

राजा-महाराजाओं के सम्बन्ध में दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि अधिकांश प्रमुख शासकों को, जैसे बौद्धों ने अपने धर्म का

१. अन्य राजाओं में एणेयक, वीरंगय, वीरयस, संजय, सेय, सिव और संख का उल्लेख है, स्थानांग ८.६२१।

जिलों में उसका प्रचार हुआ।[1] फिर वह पश्चिमी बंगाल और उड़ीसा में फैला। तत्पश्चात् सौराष्ट्र होता हुआ राजस्थान (राजस्थान और गुजरात उस समय अलग नहीं थे) के भागों में फैल गया। फिर मध्यप्रदेश होता हुआ विदर्भ और महाराष्ट्र में होकर आंध्र, कुर्ग आदि दक्षिण के देशों में फैलता गया।

---

१. विविधतीर्थकल्प के अपापाबृहत्कल्प में महावीर के निम्नलिखित ४२ चातुर्मासों का उल्लेख है—

१ अस्थिग्राम, ३ चम्पा और पृष्ठचम्पा, १२ वैशाली और वाणियगाम, १४ नालंदा और राजगृह, ६ मिथिला, २ भद्दिया, १ आलभिया, १ पणियभूमि, १ श्रावस्ति, १ मध्यमापावा (अन्तिम)।

परिशिष्ट २

आगम-साहित्य में उल्लिखित राजा-महाराजा

जैन आगमों की अनुश्रुतियाँ

दुर्भाग्य से जैन आगम-साहित्य में उल्लिखित अनुश्रुतियाँ और परम्पराएँ, हमारे इतिहास पर विशेष प्रकाश नहीं डालतीं, अतएव उन्हें प्रामाणिकता की कोटि में नहीं रक्खा जा सकता। कितनी ही पौराणिक परम्पराएँ यहाँ अनियमित तथ्यों के साथ जहां-तहां गुंथी हुई पाई जाती हैं जिन्हें कि जैन श्रमण अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने और व्याख्यानों को रोचक बनाने के लिए उपयोग में लाया करते थे। बौद्धों की भांति हम यहां भी कितने ही राजा-महाराजा और सम्राटों का दर्शन करते हैं जो श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर, कठोर तपश्चर्या करने के पश्चात्, किसी पर्वत से निर्वाण पद प्राप्त करते हैं। बौद्धों के राजा ब्रह्मदत्त की भांति यहां राजा जितशत्रु के नाम के साथ अनेक पौराणिक कथा-कहानियाँ जोड़ी गयी हैं।

राजाओं की ऐतिहासिकता

प्राचीन जैन साहित्य में महावीर के समसामयिक अनेक राजाओं का उल्लेख मिलता है, लेकिन दो-चार को छोड़कर बाकी के सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं लगता। और तो क्या, काशी और कोशल के गणराजाओं के प्रमुख शक्तिशाली चेटक जैसे राजा का इतिहास में कहीं नाम तक नहीं। इसी प्रकार चम्पा के राजा दधिवाहन, दशार्ण के राजा दशार्णभद्र आर वीतिभय के राजा उदायन (बौद्धों का रुद्रायन) जैसे राजाओं के सम्बन्ध में भी कुछ ज्ञात नहीं होता। राजा उदायन का उल्लेख महावीर द्वारा दीक्षित आठ राजाओं[1] के साथ आता है, लेकिन उनके सम्बन्ध में भी इतिहास मौन है।

धार्मिक कट्टरता का अभाव

राजा-महाराजाओं के सम्बन्ध में दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि अधिकांश प्रमुख शासकों को, जैसे बौद्धों ने अपने धर्म का

---

१. अन्य राजाओं में एणेयक, वीरंगय, वीरयस, संजय, सेय, सिवं और संख का उल्लेख है, स्थानांग ८.६२१।

जैन परम्परा के अनुसार, ऋषभदेव असंख्य वर्षों तक राज्य का संचालन करते रहे। तत्पश्चात् भरत को राज्य सौंपकर उन्होंने श्रमण दीक्षा स्वीकार की। राजा भरत विनीता के प्रथम चक्रवर्ती घोषित किये गये। ऋषभ ने अपने साधु-जीवन में दूर-दूर तक परिभ्रमण किया। वे बहली और अटंब (? अंबड) आदि में भ्रमण करते हुए हस्तिनापुर आये जहां कि बाहुबलि के पौत्र राजा श्रेयांस ने उन्हें इक्षुरस का आहार दिया। ऋषभ ने पुरिमताल के शकटमुख उद्यान में केवलज्ञान प्राप्त किया और अष्टापद पर्वत से मुक्ति पायी।[१]

मल्लि को जैनधर्म में १९ वां तीर्थंकर माना गया है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में उन्हें स्त्री[२] तथा दिगम्बर सम्प्रदाय में पुरुष माना है। कहते हैं कि मल्लि के रूप-गुण की प्रशंसा सुनकर उसे प्राप्त करने के लिए कोशल, अंग, काशी, कुणाल, कुरु और पंचाल के राजाओं ने मल्लि के पिता राजा कुम्भक के ऊपर चढ़ायी कर दी थी।[३]

नमि, जो राजर्षि कहे जाते थे, २० वें तीर्थंकर हो गये हैं। वे युगबाहु और मदनरेखा के पुत्र थे। युगबाहु की जब अपने भाई द्वारा हत्या की गयी तो नमि गर्भावस्था में थे। यह काण्ड देखकर मदनरेखा भय से जंगल में भाग गयी और उसने वहां पुत्र को जन्म दिया। वहां से मिथिला का राजा पद्मरथ बालक को उठा लाया और उसने उसे अपनी रानी को सौंप दिया। कुछ समय बाद, पद्मरथ ने दीक्षा ग्रहण की और नमि का राजसिंहासन पर अभिषेक किया गया। कालान्तर में राजा नमि ने भी दीक्षा ले ली।[४] उनकी गणना करकंडु, दुर्मुख और नग्गजित् नाम के प्रत्येकबुद्धों के साथ की गयी है। चारों का क्षितिप्रतिष्ठित नगर में आगमन हुआ था।[५]

---

१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूत्र २.३०-३; कल्पसूत्र ७.२०५-२२८; आवश्यकनिर्युक्ति १५० आदि; आवश्यकचूर्णी पृ० १३५-८२; वसुदेवहिंडी पृ० १५७-८५, १८६; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, १० १०० आदि।

२. मल्लि के तीर्थ को दस आश्चर्यों में गिना गया है, बाकी के नौ आश्चर्य हैं—उपसर्ग, गर्भहरण, अभाविता परिषद्, कृष्ण का अवरकंका-गमन, चन्द्र-सूर्य का अवतरण, हरिवंश कुल की उत्पत्ति, चमर-उत्पात, अष्टशतसिद्ध तथा असंयती की पूजा, कल्पसूत्र, पृ० २५-अ।

३. ज्ञातृधर्मकथा ८।

४. उत्तराध्ययनसूत्र ९।

५. वही १८, ४५। नमि की पहचान महाभारत के राजर्षि जनक से की

नेमि अथवा अरिष्टनेमि २२ वें तीर्थंकर माने गये हैं। वे सोरियपुर के राजा समुद्रविजय की रानी शिवा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। कृष्ण-वासुदेव उनके चचेरे भाई थे। अरिष्टनेमि का पाणिग्रहण उग्रसेन की कन्या राजीमती से होने जा रहा था। लेकिन जब वे अपनी बारात लेकर मथुरा पहुँचे तो रास्ते में उन्हें बरातियों के खिलाने के लिए बाड़े में बाँधकर रक्खे हुए पशुओं की चीत्कार सुनायी पड़ी। यह देखकर वे मार्ग में से ही लौट पड़े और दीक्षा ग्रहण कर रैवतक (गिरनार) पर्वत पर तप करने लगे। यहीं से उन्होंने निर्वाण-लाभ किया। राजीमती भी इस पर्वत पर आकर तप करने लगी। उसने भी यहीं से सिद्धि पाई।[1]

पार्श्वनाथ २३ वें तीर्थंकर हो गये हैं। उनका जन्म बनारस में हुआ था, और सम्मेदशिखर से उन्होंने सिद्धि प्राप्त की।[2]

वर्धमान महावीर, जिन्हें ज्ञातृपुत्र[3] नाम से कहा गया है, जैनों के अन्तिम तीर्थंकर थे। बौद्ध ग्रथों में उन्हें निगंठ नाटपुत्त कहा है। वे गणराजा सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला के गर्भ से चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को वैशाली के उपनगर क्षत्रियकुण्डग्राम में पैदा हुए थे। सिद्धार्थ को श्रेयांस अथवा यशस्वी (जसंस) भी कहा है; उनका गोत्र काश्यप था। महावीर की माता त्रिशला वसिष्ठ गोत्र की थीं, और वे विदेहदत्ता, अथवा प्रियकारिणी भी कही जाती थीं। सुपार्श्व महावीर के चाचा, नंदिवर्धन उनके ज्येष्ठ भ्राता, सुदर्शना उनकी बहन, कौंडिन्यगोत्रीय यशोदा उनकी पत्नी तथा प्रियदर्शना अथवा अनवद्या उनकी कन्या थीं। प्रियदर्शना का विवाह जमालि के साथ हुआ था। उसके गर्भ से शेषवती अथवा यशोमती का जन्म हुआ।[4]

जा सकती है। जातकों में इन्हें महाजनक द्वितीय कहा गया है। रामायण और पुराणों के अनुसार, नमि मिथिला के राजपरिवारों के संस्थापक थे, रतिलाल मेहता, प्री बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० ४८ आदि; राय चौधुरी, पोलिटिकल हिस्ट्री आव ऐंशियेंट इण्डिया, पृ० ४५; चरक २६, पृ० ६६५।

१. उत्तराध्ययन २२।

२. देखिए इसी पुस्तक के प्रथम खण्ड का प्रथम अध्याय।

३. अन्य नामों के लिए देखिए शूब्रिंग, डाक्ट्रीन्स आव द जैन्स, पृ० २९।

४. कल्पसूत्र ५। दिगम्बरों की मान्यता के अनुसार, महावीर देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में अवतरित नहीं हुए। वे अविवाहित ही रहे, तथा दीक्षा ग्रहण करते समय उनके माता-पिता जीवित थे। देखिए जिनसेन, हरि-

महावीर ने तीस वर्ष की अवस्था में संसार त्याग कर दीक्षा ग्रहण की। कहते हैं कि एक वर्ष से कुछ अधिक समय तक महावीर ने सवस्त्र विहार किया, उसके बाद वे नग्न अवस्था में विचरण करने लगे। १२ वर्ष तक कठोर साधना के पश्चात् उन्होंने जंभियग्राम के बाहर ऋजुवालिका नदी के किनारे केवलज्ञान प्राप्त किया। महावीर ने पावा के हस्तिपाल राजा की रज्जुकसभा में अन्तिम चातुर्मास व्यतीत किया और ७२ वर्ष की अवस्था में कार्तिक वदी अमावस्या के दिन निर्वाण पाया। जिस रात्रि को महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया, काशी और कोशल के १८ गणराजाओं ने पौषधपूर्वक दीपक जलाकर सर्वत्र प्रकाश किया। अन्तिम समय में महावीर ने शुभ और अशुभ कर्मों से सम्बन्धित पचपन और अशुभ कर्मों के फल से सम्बन्धित पचपन व्याख्यान दिये, तथा बिना पूछे हुए प्रश्नों के ३६ उत्तरों का प्रतिपादन किया।

बाकी के तीर्थंकर प्रायः अयोध्या, हस्तिनापुर, मिथिला और चम्पा आदि स्थानों में जन्मे तथा सम्मेदशिखर पर उन्होंने सिद्धि पायी।[1]

बारह चक्रवर्ती

चक्रवर्तियों का सबसे प्राचीन उल्लेख समवायांग में मिलता है।[2] भरत को प्रथम चक्रवर्ती कहा है। वे ऋषभ और सुमंगला के पुत्र थे, जैसा कि कहा जा चुका है। भरत ने अपने चक्ररत्न की सहायता से दिग्विजय के लिए प्रयाण किया, तथा जम्बूद्वीप के पूर्व में स्थित मगध, दक्षिण में स्थित वरदाम, और पश्चिम में स्थित प्रभास नामक पवित्र तीर्थों, तथा सिन्धु देवी, वैताढ्य और तिमिसगुहा पर विजय पायी। तत्पश्चात् चर्मरत्न द्वारा महान् सिन्धु नदी को पार कर सिंहल, बर्बर, अंग, चिलात (किरात), यवनद्वीप, आरबक, रोमक और अलसंड नामक

धर्मपुराण, अध्याय दूसरा। लेकिन ध्यान देने की बात है कि उपर्युक्त ग्रन्थ में (६६.८) वीर के पर्याय के साथ 'णिगमणाय' का उल्लेख किया गया है।

१. देखिए, आवश्यकनिर्युक्ति ३८२ आदि; उत्तराध्ययनसूत्र ६; उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २३४ आदि; नायाधम्मकहा ८; कल्पसूत्र ६.१७०-८८; वसुदेवहिंडी पृ० ३००, ३०४, ३४० आदि, ३४६ आदि।

२. उनके नाम हैं—भरत, सगर, मघव, सनत्कुमार, शान्ति, कुंथु, अर, सुभौम, महापद्म, हरिषेण, जय और ब्रह्मदत्त, सूत्र १२; तथा आवश्यकनिर्युक्ति ३७४ आदि; स्थानांग १०.७१८।

देशों में प्रवेश किया। यहां पिक्खुर, कालमुख और जोणक नामक म्लेच्छों तथा वैताढ्य पर्वत के दक्षिण में निवास करने वालों म्लेच्छों को जीता, तथा दक्षिण-पश्चिम से सिन्धुसागर तक के प्रदेश और अन्त में अत्यन्त रमणीय कच्छ देश पर विजय प्राप्त की। उसके बाद तिमिसगुहा में प्रवेश किया और अपने सेनापति को उसके दक्षिणी द्वार को उद्घाटन करने का आदेश दिया। फिर उन्मग्नजला और निमग्नजला नाम की नदियों को पार किया, और आवाड़ नामक किरातों को पराजित किया। ये किरात भरत के उत्तरार्ध में निवास करते थे, तथा वे धनसम्पन्न, अहंकारी, शक्तिशाली, जोशीले और पृथ्वी पर रहने वाले राक्षसों की भांति जान पड़ते थे। तत्पश्चात् भरत ने क्षुद्र हिमवंत को जीता और ऋषभकूट पर्वत की ओर कदम बढ़ाया। यहां पहुँचकर उन्होंने अपने काकणी रत्न द्वारा अपना नाम लिखा जिसमें अपने आपको प्रथम चक्रवर्ती घोषित किया। उसके बाद वैताढ्य पर्वत के उत्तर की ओर चले जहां नमि और विनमि नामक विद्याधरों ने उन्हें सुभद्रा नामक स्त्रीरत्न अर्पित किया। फिर गंगा के ऊपर विजय प्राप्त की और वे गंगा नदी के पश्चिमी किनारे पर स्थित खण्डप्रपात' नामक गुफा की ओर मुड़े। यहां पहुँचकर उन्होंने अपने सेनापति को गुफा का उत्तरी द्वार खोलने का आदेश दिया। यहां पर भरत को नवनिधियों की प्राप्ति हुई।

इस प्रकार भरत चक्रवर्ती चौदह रत्नों से विभूषित हो अपनी राजधानी विनीता को लौट गये, जहां बड़ी धूमधाम से उनका राज्याभिषेक सम्पन्न हुआ। राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के पश्चात् भरत ने अपने ९८ भाइयों के पास सन्देश भिजवाया कि या तो वे उसकी सेवा में उपस्थित हों, नहीं तो देश छोड़कर अन्यत्र चले जायें। यह सुनकर सब भाइयों ने ऋषभ के पादमूल में बैठकर जिन दीक्षा स्वीकार की। तत्पश्चात् भरत ने तक्षशिला को राजदूत भेजा। यहां बाहुबलि राज्य करते थे। बाहुबलि को उन्होंने चक्रवर्ती की आज्ञा शिरोधार्य करने का सन्देश भिजवाया। इस पर दोनों भाइयों में युद्ध ठन गया, और अन्त में बाहुबलि ने अपना राज्य छोड़कर दीक्षा ले ली। कालान्तर में भरत ने भी दीक्षा स्वीकार की और तपश्चरण पूर्वक अष्टापद पर्वत पर मुक्ति पाई। इसी समय से भरत के नाम पर हिन्दुस्तान का नाम भारतवर्ष पड़ा।[1]

---

१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ३.४१-७१; आवश्यकचूर्णी पृ० १८२-२२८; उत्तरा- ३२ जै०

महावीर ने तीस वर्ष की अवस्था में संसार त्याग कर दीक्षा ग्रहण की। कहते हैं कि एक वर्ष से कुछ अधिक समय तक महावीर ने सवस्त्र विहार किया, उसके बाद वे नग्न अवस्था में विचरण करने लगे। १२ वर्ष तक कठोर साधना के पश्चात् उन्होंने जंभियग्राम के बाहर ऋजुवालिका नदी के किनारे केवलज्ञान प्राप्त किया। महावीर ने पावा के हस्तिपाल राजा की रज्जुकसभा में अन्तिम चातुर्मास व्यतीत किया और ७२ वर्ष की अवस्था में कार्तिक वदी अमावस्या के दिन निर्वाण पाया। जिस रात्रि को महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया, काशी और कोशल के १८ गणराजाओं ने प्रौषधपूर्वक दीपक जलाकर सर्वत्र प्रकाश किया। अन्तिम समय में महावीर ने शुभ और अशुभ कर्मों से सम्बन्धित पचपन और अशुभ कर्मों के फल से सम्बन्धित पचपन व्याख्यान दिये, तथा बिना पूछे हुए प्रश्नों के ३६ उत्तरों का प्रतिपादन किया।

बाकी के तीर्थंकर प्रायः अयोध्या, हस्तिनापुर, मिथिला और चम्पा आदि स्थानों में जन्मे तथा सम्मेदशिखर पर उन्होंने सिद्धि पायी।[1]

बारह चक्रवर्ती

चक्रवर्तियों का सबसे प्राचीन उल्लेख समवायांग में मिलता है।[2] भरत को प्रथम चक्रवर्ती कहा है। वे ऋषभ और सुमंगला के पुत्र थे, जैसा कि कहा जा चुका है। भरत ने अपने चक्ररत्न की सहायता से दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया, तथा जम्बूद्वीप के पूर्व में स्थित मगध, दक्षिण में स्थित वरदाम, और पश्चिम में स्थित प्रभास नामक पवित्र तीर्थों, तथा सिन्धु देवी, वैताढ्य और तिमिसगुहा पर विजय पायी। तत्पश्चात् चर्मरत्न द्वारा महान् सिन्धु नदी को पार कर सिंहल, बर्बर, अंग, चिलात (किरात), यवनद्वीप, आरबक, रोमक और अलसंड नामक

वंशपुराण, अध्याय दूसरा। लेकिन ध्यान देने की बात है कि उपर्युक्त ग्रन्थ में (६६.८) वीर के यशोदा के साथ 'विवाहमङ्गल' का उल्लेख किया गया है।

१. देखिए, आवश्यकनिर्युक्ति ३८२ आदि; उत्तराध्ययनसूत्र ६; उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २४४ आदि; ज्ञातृधर्मकथा ८; कल्पसूत्र ६.१७०–८४; वसुदेवहिंडी पृ० ३००, ३०४, ३४० आदि, ३४६ आदि।

२. उनके नाम हैं—भरह, सगर, मघव, सणक्कुमार, सन्ति, कुंथु, अर, सुभोम, महापउम, हरिसेण, जय और बंभदत्त, सूत्र १२; तथा आवश्यकनिर्युक्ति ३७४ आदि; स्थानांग १०.७१८।

देशों में प्रवेश किया। यहां पिक्खुर, कालमुख और जोणक नामक म्लेच्छों तथा वैताढ्य पर्वत के दक्षिण में निवास करने वालों म्लेच्छों को जीता, तथा दक्षिण-पश्चिम से सिन्धुसागर तक के प्रदेश और अन्त में अत्यन्त रमणीय कच्छ देश पर विजय प्राप्त की। उसके बाद तिमिसगुहा में प्रवेश किया और अपने सेनापति को उसके दक्षिणी द्वार को उद्घाटन करने का आदेश दिया। फिर उन्मग्नजला और निमग्नजला नाम की नदियों को पार किया, और आवाड़ नामक किरातों को पराजित किया। ये किरात भरत के उत्तरार्ध में निवास करते थे, तथा वे धनसम्पन्न, अहंकारी, शक्तिशाली, जोशीले और पृथ्वी पर रहने वाले राक्षसों की भांति जान पड़ते थे। तत्पश्चात् भरत ने क्षुद्र हिमवंत को जीता और ऋषभकूट पर्वत की ओर कदम बढ़ाया। यहां पहुँचकर उन्होंने अपने काकणी रत्न द्वारा अपना नाम लिखा जिसमें अपने आपको प्रथम चक्रवर्ती घोषित किया। उसके बाद वैताढ्य पर्वत के उत्तर की ओर चले जहां नमि और विनमि नामक विद्याधरों ने उन्हें सुभद्रा नामक स्त्रीरत्न अर्पित किया। फिर गंगा के ऊपर विजय प्राप्त की और वे गंगा नदी के पश्चिमी किनारे पर स्थित खण्डप्रपात॰ नामक गुफा की ओर मुड़े। यहां पहुँचकर उन्होंने अपने सेनापति को गुफा का उत्तरी द्वार खोलने का आदेश दिया। यहां पर भरत को नवनिधियों की प्राप्ति हुई।

इस प्रकार भरत चक्रवर्ती चौदह रत्नों से विभूषित हो अपनी राजधानी विनीता को लौट गये, जहां बड़ी धूमधाम से उनका राज्याभिषेक सम्पन्न हुआ। राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के पश्चात् भरत ने अपने ९८ भाइयों के पास सन्देश भिजवाया कि या तो वे उसकी सेवा में उपस्थित हों, नहीं तो देश छोड़कर अन्यत्र चले जायें। यह सुनकर सब भाइयों ने ऋषभ के पादमूल में बैठकर जिन दीक्षा स्वीकार की। तत्पश्चात् भरत ने तक्षशिला को राजदूत भेजा। यहां बाहुबलि राज्य करते थे। बाहुबलि को उन्होंने चक्रवर्ती की आज्ञा शिरोधार्य करने का सन्देश भिजवाया। इस पर दोनों भाइयों में युद्ध ठन गया, और अन्त में बाहुबलि ने अपना राज्य छोड़कर दीक्षा ले ली। कालान्तर में भरत ने भी दीक्षा स्वीकार की और तपश्चरण पूर्वक अष्टापद पर्वत पर मुक्ति पाई। इसी समय से भरत के नाम पर हिन्दुस्तान का नाम भारतवर्ष पड़ा।[1]

---

१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ३.४१-७१; आवश्यकचूर्णी पृ० १८२-२२८; उत्तरा- ३२ जै०

सगर द्वितीय चक्रवर्ती थे। भरत के समान उन्होंने भी दिग्विजय की और भरत क्षेत्र के छह खण्डों को अपने वश में किया। उनके अनेक पुत्र हुए। एक बार, उनका सबसे ज्येष्ठपुत्र जण्हुकुमार, अपने पिता की आज्ञा लेकर, अपने लघु भ्राताओं के साथ, पृथ्वी-परिभ्रमण के लिए चला। वह अष्टापद पर्वत पर पहुँचा। यहाँ उसने भरत चक्रवर्ती द्वारा निर्मित चैत्यों के दर्शन किये। उसने सोचा कि चैत्यों की रक्षा के लिए पर्वत के चारों ओर एक खाई खोद देना ठीक होगा। यह सोचकर वह दण्डरत्न की सहायता से अपने भाइयों के साथ पृथ्वी खोदने में जुट गया। इससे पृथ्वी के नीचे रहने वाले नागों के निवासस्थानों को क्षति पहुँची, और भयभीत होकर वे दौड़े-दौड़े अपने राजा ज्वलनप्रभ के पास पहुँचे। गुस्से में भरा ज्वलनप्रभ सगर के पुत्रों के पास पहुँचा। लेकिन जण्हुकुमार ने नागराज को बहुत अनुनय-विनय कर के उसे शान्त किया कि हम लोगों का इरादा आपको कष्ट पहुँचाने का बिल्कुल भी नहीं था, हम लोग तो चैत्यों की रक्षा के लिए खाई खोद रहे थे। खैर, खाई तैयार हो गयी, लेकिन जब तक उसे पानी से न भर दिया जाये तबतक किस काम की? ऐसी हालत में जण्हुकुमार ने अपने दण्डरत्न से गंगा को फोड़ना शुरू किया। खाई जल से भर गयी, लेकिन यह जल नागों के घरों में प्रवेश कर गया। ज्वलनप्रभ को अब की बार बहुत क्रोध आया। उसने सगर के पुत्रों के पास विषयुक्त बड़े-बड़े फणधारी सर्प भेजे जिससे वे जलकर भस्म हो गये।

कुछ समय पश्चात् अष्टापद के आसपास रहने वाले लोग इकट्ठे होकर सगर के पास पहुँचे, और उन्होंने निवेदन किया कि महाराज, गंगा के जल से गावों में बाढ़ आ गयी है। यह सुनकर सगर ने अपने पौत्र भगीरथ को बुलाया और उससे फौरन ही अष्टापद के लिए रवाना हो, गंगा के जल को खींच कर, पूर्वी समुद्र में ले जाने का आदेश दिया। भगीरथ ने आज्ञा का पालन किया और लौटकर इसकी सूचना सगर को दी। सगर चक्रवर्ती ने संसार त्यागकर श्रमण दीक्षा स्वीकार की।[१]

ध्ययनटीका १८, पृ० २३२-अ; वसुदेवहिंडी पृ० १८६ आदि। तथा राकहिंग, वही, पृ० २२; तथा देखिए महाभारत १.१०१।

१. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २३३-अ आदि; वसुदेवहिंडी, पृ० ३००, ३०४ आदि तथा तुलना कीजिए महाभारत ३.१०५ आदि; रामायण १.३८ आदि; चूलवंस ८७.२२।

सनत्कुमार चौथे चक्रवर्ती हो गये हैं। वे अश्वसेन और सहदेवी के पुत्र थे। कुरुवंश में वे पैदा हुए थे और हस्तिनापुर में राज्य करते थे। सम्मेदशिखर पर उन्होंने मुक्ति पायी।[1]

सुभौम आठवें चक्रवर्ती थे। कार्तवीर्य के वे पुत्र थे। कार्तवीर्य को हस्तिनापुर के राजा अनंतवीर्य का पुत्र बताया गया है। रेणुका (जमदग्नि की पत्नी) का बहन राजा अनंतवीर्य की रानी थी। एक बार जमदग्नि ने रेणुका को ब्रह्मचरु और उसकी बहन को क्षत्रियचरु खाने के लिए दिया, लेकिन रेणुका ने उसे अपनी बहन से बदल लिया। कालक्रम से रेणुका ने राम और उसकी बहन ने कार्तवीर्य को जन्म दिया। आगे चलकर राम ने अनंतवीर्य की हत्या कर दी और कार्तवीर्य का राज्याभिषेक किया गया। राम के ही हाथों कार्तवीर्य की मृत्यु हुई और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी तारा के गर्भ से सुभौम का जन्म हुआ। आगे चलकर सुभौम ने राम से बदला लेने के लिए उसकी हत्या कर दी, और इस पृथ्वी को इक्कीस बार ब्राह्मणों से हीन करने के बाद उसे शान्ति मिली।[2]

ब्रह्मदत्त अन्तिम चक्रवर्ती हो गये हैं। वे कांपिल्यपुर के ब्रह्म और चुलनी की सन्तान थे। चुलनी की कोशल के राजा दीर्घ, काशी के राजा कटय, गजपुर के राजा कणेरुदत्त और चम्पा के राजा पुष्पचूल से मित्रता थी। ब्रह्म की मृत्यु के बाद राजा दीर्घ कांपिल्यपुर के राज्य की देखभाल करने लगा। अन्त में ब्रह्मदत्त और राजा दीर्घ में युद्ध ठन गया जिसमें दीर्घ को प्राणों से हाथ धोना पड़ा।[3]

बाकी के चक्रवर्तियों ने हस्तिनापुर, कांपिल्यपुर, राजगृह और श्रावस्ती में जन्म लिया, तथा एकाध को छोड़कर प्रायः सभी ने सम्मेदशिखर से निर्वाण प्राप्त किया।[4]

---

१. महाभारत ३.१८८.२४; १.६९.२४ में सनत्कुमार का उल्लेख है; तथा देखिए दीघनिकाय २.५, पृ० १५७ आदि।

२. आवश्यकचूर्णी, पृ० ५२०; वसुदेवहिंडी पृ० २३५-४०। तथा देखिए महाभारत ३.११७ आदि; १२.४८; रामायण १.७४-७।

३. उत्तराध्ययनटीका १३, पृ० १८७-अ आदि। ब्रह्मदत्त के लिए देखिए महाउमग्ग जातक; स्वप्नवासवदत्ता; रामायण १.३३.१८ आदि।

४. देखिए उत्तराध्ययनटीका १३, पृ० १८७ आदि; २३६-अ-२४१; वसुदेवहिंडी पृ० १२८-३१; २३३-४०; ३४०-४२; ३४६-४८।

बलदेव-वासुदेव-प्रतिवासुदेव

उसके पश्चात् नौ बलदेव,[1] नौ वासुदेव[2] और नौ प्रतिवासुदेवों[3] का जन्म हुआ। इस सम्बन्ध का सबसे प्राचीन उल्लेख आवश्यक-भाष्य में उपलब्ध होता है।[4] बलदेव (अथवा बलभद्र) और वासुदेव (अथवा केशव) हमेशा भाई के रूप में उत्पन्न होते है, तथा वासुदेव प्रतिवासुदेवों के प्रतिस्पर्धी होते है।[5] उदाहरण के लिए, राम और लक्ष्मण दोनों भाई थे, राम ने बलदेव के रूप में और लक्ष्मण ने वासुदेव के रूप में जन्म लिया। लक्ष्मण के हाथों प्रतिवासुदेव रावण की मृत्यु हुई। इसी प्रकार राम (बलदेव) और कृष्ण (वासुदेव) क्रमशः अन्तिम बलदेव और वासुदेव के रूप में जन्मे, और कृष्ण ने अन्तिम प्रतिवासुदेव कंस को मारकर इस पृथ्वी का उद्धार किया।[6]

कृष्ण वासुदेव

कृष्ण ने यदुकुल में जन्म धारण किया था। यदु के नाम से यादव-वंश की स्थापना हुई। यदु के सूर नाम का एक पुत्र था। उसके दो सन्तानें थीं-सोरी और वीर। सोरी ने सोरियपुर (सर्यपुर अथवा सूरजपुर; आगरा जिले में बटेसर के पास यमुना नदी के किनारे) और वीर ने सोवीर (सिंध) की स्थापना की। सोरी के दो सन्तानें हुई-*अंधकवृष्णि*[7] और *भोजवृष्णि*। *अंधकवृष्णि* पहले सोरिय-

---

१. उनके नाम हैं—अयल, विजय, भद्द, सुप्पभ, सुदंसण, आनंद, नंदन, पउम, राम।

२. उनके नाम हैं—तिविट्ठ, दिविट्ठ, सयंभू, पुरिसुत्तम, पुरिससीह, पुरिसपुंडरीय, दत्त, नारायण और कृष्ण।

३. उनके नाम हैं—अश्वग्रीव, तारक, मेरक, मधुकैटभ, निसुंभ, बलि, प्रह्लाद, रावण, जरासंध।

४. ४१ इत्यादि।

५. देखिए वासुदेवहिंडी, पृ० २४०-४५; उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २५५-अ।

६. देखिए वसुदेवहिंडी; उत्तराध्ययनसूत्र २२।

७. ब्राह्मण परम्परा में अंधक और वृष्णि को परस्पर भाई बताया गया है। देखिए वेदिक इण्डैक्स २, पृ० २८६ आदि; रायचौधुरी, पोलिटिकल हिस्ट्री आव ऍशियेंट इंडिया पृ० ११८। तथा बौद्ध परम्परा के लिए देखिये।

पुर[1] में राज्य करते थे, फिर द्वारका में राज्य करने लगे[2]। अंधकवृष्णि के दस पुत्र (जो दसार[3]-दशार्ह-कहे जाते थे) थे और कुन्ती और माद्री नाम की दो पुत्रियां। दशार्ह राजाओं में समुद्रविजय प्रमुख थे, बाकी के नाम हैं अक्खोभ, थिमिअ, सागर, हिमव, अयल, धरण, पूरण, अभिचंद और वसुदेव। पहले वे मथुरा में राज्य करते थे, बाद में जरासंध के भय से द्वारका चले आये।[4] भोजवृष्णि के उग्रसेन और देवक नाम के दो पुत्र थे। भोगकुल में उत्पन्न उग्रसेन[5] के बंधु, सुबंधु, कंस और रायमती (राजीमती) आदि, तथा देवक के देवकी नाम की सन्तान हुई। उधर, अंधकवृष्णि के पुत्र समुद्रविजय[6] के अरिष्टनेमि और रथनेमि दो पुत्र हुए। अंधकवृष्णि के दूसरे पुत्र वसुदेव थे। उनके वासुदेव, बलदेव, जराकुमार, अक्रूर, सारंग, सुहृदारग, अणाहिट्ठी, सिद्धत्थ, गयसुकुमाल आदि सन्तानें हुईं। कृष्ण ने पज्जुण्ण, संब, भानु,

---

घटजातक (४५४)। जैन टीकाकारों ने अंधकवृष्णि शब्द की विचित्र व्युत्पत्तियां दी हैं—अंधगवण्हिणो'त्ति अंह्रिपा—वृक्षास्तेषां वह्नयस्तदाश्रयत्वेनेत्यह्रिपवह्नयो बादरतेजस्कायिका इत्यर्थः। अन्ये त्वाहुः-अंधकाः-अप्रकाशकाः सूक्ष्म नाम कर्मोदयाद्ये वह्नयस्ते अंधकवह्नयो जीवाः, व्याख्याप्रज्ञप्तिटीका १८.२, पृष्ठ ७४५-अ।

१-कल्पसूत्र टीका ६, पृ० १७१।

२-अन्तःकृद्दशा १, पृ० ५।

३-दसार राजाओं का वर्णन बंधदशा के चौथे अध्याय में दिया गया है, यह आगम आजकल अनुपलब्ध है, स्थानांग १०.७५५। संयुत्तनिकाय २, २०.७.७, पृ० २२२ में उन्हें क्षत्रियों का एक वर्ग कहा है। बुद्धघोष के अनुसार वे अनाज का दसवां हिस्सा ग्रहण करने के कारण दशार्ह कहे जाते थे, संयुत्तनिकायटीका २, पृ० २२७। तथा देखिए महाभारत २.४०.५।

४. दशवैकालिकचूर्णी, पृ० ४१।

५. वही, पृ० ८८। दशवैकालिकसूत्र (२.८) में राजीमती ने अपने आपको भोगराज की कन्या बताया है और हरिभद्रसूरि ने भोगराज और उग्रसेन को एक माना है।

६. हरिभद्रसूरि ने दशवैकालिकसूत्र की टीका (२.८) में अंधकवृष्णि और समुद्रविजय को एक स्वीकार किया है, जब कि उत्तराध्ययनसूत्र (२२.४) में अरिष्टनेमि को समुद्रविजय की सन्तान माना है।

सुभानु आदि को, तथा बलदेव ने सुमुहकुमार, दुम्मुह, कूवदारय, निसढ कुज्जवारअ, और ढंढ आदि को जन्म दिया।[१]

वसुदेव के दो रानियां थीं, एक देवकी और दूसरी रोहिणी। देवकी से कृष्ण और रोहिणी से बलदेव पैदा हुए। जराकुमार को कृष्ण का ज्येष्ठ भ्राता कहा गया है; वह कृष्ण के वध का कारण हुआ[२]। पांडुमथुरा के शासक पंच पांडवों ने दीक्षा ग्रहण करते समय जराकुमार को राजसिंहासन पर बैठाया[३]। जराकुमार के प्रपौत्र का नाम जितशत्रु बताया गया है। वह वृष्णिकुमार ससअ और भसअ नाम के अपने दो पुत्रों के साथ वणवासी में राज्य करता था[४]।

कंस मथुरा के राजा उग्रसेन का पुत्र था। जब वह पैदा हुआ तो उसे भाग्यहीन जानकर एक सन्दूक में रख यमुना नदी में बहा दिया गया। सोरिय के किसी व्यापारी के हाथ में वह पड़ा और उसने उसे राजगृह के राजा जरासंध को सौंप दिया। जरासंध ने अपनी कन्या जीवयशा से उसका विवाह कर दिया। कंस मथुरा में आकर रहने लगा; उसने उग्रसेन को बंदी बना लिया और वह मथुरा का राजा बन बैठा।

कहते हैं कि एक बार जीवयशा वसुदेव की पत्नी देवकी को अपने कंधे पर बैठाकर बड़े गर्व से नृत्य कर रही थी। इतने में कंस के लघु भ्राता मुनि अतिमुक्तककुमार को आते हुए देखकर, उसने उन्हें भी अपने साथ नृत्य करने के लिए कहा। इस पर अतिमुक्तककुमार ने भविष्यवाणी की कि देवकी के सातवें पुत्र के हाथ से कंस का वध होगा। यह सुनकर कंस ने वसुदेव की सातों सन्तानों को पहले से ही मांग लिया। उसने देवकी की छहों सन्तानों को मार डाला[५]। लेकिन

---

१. देखिए वसुदेवहिंडी, पृ० ७७-७८ आदि; ११० आदि; ३५७ आदि; उत्तराध्ययनटीका २२-१ आदि, पृ० २७, २९, ४५-अ; अन्तःकृद्दशा ३, पृ० ८, २२; कल्पसूत्रटीका ६, पृ० १७२-७८; निरयावलियाओ ५।

२. उत्तराध्ययनटीका २, पृ० ३६-अ आदि।

३. वही, पृ० ४२-अ।

४. बृहत्कल्पभाष्य ४.५२५५ आदि।

५. दूसरी परम्परा के अनुसार, देवकी ने आठ पुत्रों को जन्म दिया, जिनमें से छह को हरिणेगमेषी ने भद्दिलपुर की सुलसा के मृत पुत्रों से बदल दिया। सातवें पुत्र का नाम कृष्ण वासुदेव और आठवें का नाम गयसुकु-

जब उसके सातवीं सन्तान पैदा हुई तो देवकी ने झट से नन्द की पत्नी यशोदा की कन्या से उसे बदल लिया। आगे चलकर कृष्ण बड़े हुए और उन्होंने कंस का वध किया।[1] अपने जमाई का वध सुनकर जरासंध को बहुत क्रोध आया। इस समय जरासंध के भय से समुद्रविजय, कृष्ण, बलराम, नेमि आदि यादवकुमार मथुरा के पश्चिम में चले गये, और यहां कृष्ण की पत्नी सत्यभामा के भानु और सुभानु नामक पुत्रों ने द्वारका को बसाया। जरासंध ने अपनी सेना के साथ द्वारका को कूच किया और यहां कृष्ण के हाथों उसका वध हुआ[2]।

कृष्ण के अनेक[3] महिषियां थीं जिनमें आठ मुख्य बतायी गयी हैं। इनमें उग्रसेन की कन्या सत्यभामा उनकी पहली रानी थी जिसने भानु और सुभानु को जन्म दिया। दूसरी रानी पद्मावती राजा रुधिर[4] की कन्या थी। तीसरी गौरी वीतिभय के राजा मेरु की, चौथी गांधारी पुष्कलावती के राजा नग्नजित् की, पांचवीं लक्ष्मणा सिंहलद्वीप के राजा हिरण्यलोम की, छठी सुसीमा अरक्खुरी के राजा राष्ट्रवर्धन की, सातवीं जांबवती जंबवन्त के राजा जमवन्त की, तथा आठवीं रुक्मिणी कुडिनीपुर के राजा भीष्मक की कन्या थी। जांबवती के गर्भ से संब, और रुक्मिणी के गर्भ से प्रद्युम्न (पज्जुन्न) का जन्म हुआ।[5]

समुद्रविजय और शिवादेवी के पुत्र अरिष्टनेमि कृष्ण वासुदेव के चचेरे भाई थे। यादवों को वे अत्यन्त प्रिय थे। एक बार की बात है वे कृष्ण की आयुधशाला में गये और उन्होंने धनुष पर बाण रखकर छोड़ दिया, जिससे समस्त पृथ्वी कांप उठी। फिर उन्होंने कृष्ण का पांचजन्य शंख फूंका। यह देखकर कृष्ण को भय हुआ कि कहीं वे उनके राज्य को हरण न कर लें। बलदेव ने उन्हें समझाया भी कि वे तीर्थंकर

माल रक्खा गया। गजसुकुमाल ने कुमार अवस्था में ही श्रमण दीक्षा ग्रहण की, अन्तःकृद्दशा ३।

१. वसुदेवहिंडी पृ० ३६८ आदि; कल्पसूत्रटीका ६, पृ० १७३ आदि।

२. कल्पसूत्रटीका ६, पृ० १७६ आदि। ब्राह्मण परम्परा के लिए देखिए रायचौधुरी, वही, पृ० ११६।

३. ज्ञातृधर्मकथा ५, पृ० ६८।

४. प्रश्नव्याकरण ४, पृ० ८८ में हिरण्यनाभ नाम दिया गया है।

५. देखिए स्थानांग ८.६२७; वसुदेवहिंडी पृ० ७८ आदि ८२, ६४, ९८।

हैं और आप वासुदेव, अतएव दोनों में युद्ध की संभावना नहीं है। लेकिन कृष्ण ने इसे स्वीकार न किया। फलस्वरूप दोनों में बाहुयुद्ध हुआ जिसमें कृष्ण को हार माननी पड़ी।[1]

आगे चलकर अरिष्टनेमि ने श्रमण दीक्षा ग्रहण की और साधु-अवस्था में वे विचरण करने लगे। एक बार जनपद विहार करते हुए अरिष्टनेमि द्वारका पधारे। कृष्ण वासुदेव अपने परिवार सहित उनके दर्शन के लिए गये। उन्होंने प्रश्न किया—"भगवन्, मरकर मैं कहां उत्पन्न होऊँगा?" अरिष्टनेमि ने उत्तर दिया—"सुरा, अग्नि और द्वीपायन ऋषि के कोप से द्वारका का नाश होगा। तत्पश्चात् माता-पिता और सगे-सम्बन्धियों से रहित बलदेव के साथ, युधिष्ठिर आदि पांच पाण्डवों के पांडुमथुरा चले जाने पर, तुम कोशाम्र वन में, न्यग्रोध वृक्ष के नीचे, एक शिलापट्ट पर पीत वस्त्र पहने हुए, जराकुमार के तीक्ष्ण बाण से घायल होकर तीसरे नरक जाओगे। वहां से आगामी उत्सर्पिणी काल में, पुण्ड्र जनपद में *अमम* नाम के बारहवें तीर्थंकर होकर निर्वाण प्राप्त करोगे।"

भविष्यवाणी सुनकर कृष्ण वासुदेव को बहुत चिंता हुई। जराकुमार के ऊपर यादव नजर रखने लगे और वे वनवास को चले गये। कृष्ण ने द्वारका में प्रवेश करते ही नगरी में घोषणा करा दी कि सुरा को कादम्ब वन में फेंक दी जाये। राजकर्मचारियों ने फौरन ही आज्ञा का पालन किया। कदम्ब वन में पड़े रहने के कारण यह सुरा कादम्बरी नाम से कही जाने लगी और छह मास में पककर स्वादिष्ट बन गयी। इस सुरा का संब आदि कुमारों ने पान किया और उसके मद से उन्मत्त हो उन्होंने तपश्चरण में लीन द्वीपायन ऋषि की खूब मरम्मत की। यह समाचार जब कृष्ण वासुदेव के पहुँचा तो बलदेव को लेकर वे ऋषि को मनाने के लिए पहुँचे। लेकिन ऋषि क्रोध से सन्तप्त हो उठे थे। उन्होंने कहा—"तुम दोनों को छोड़कर द्वारका को जला डालने की मैंने प्रतिज्ञा की है, अब उसे कोई नहीं रोक सकता।"

द्वीपायन ऋषि का उपद्रव आरम्भ हो गया। कृष्ण ने प्रजा से तप, उपवास आदि में संलग्न रहने का अनुरोध किया और घोषणा करा दी कि जो कोई जिन-दीक्षा लेना चाहता हो, उसके कुटुम्ब आदि का पालन-पोषण, राज्य की ओर से किया जायगा। इस समय

१. उत्तराध्ययनटीका २२, पृ० २७८-अ।

पज्जुन्न, निसढ, सुय, सारण, संब आदि यादव कुमारों तथा रुक्मिणी और अन्य कुमारियों ने दीक्षा ग्रहण की।

द्वीपायन ऋषि मरकर अग्निकुमार देवों में उत्पन्न हुए। उन्होंने द्वारका को जलाना आरम्भ कर दिया। देखते-देखते नगरी प्रज्वलित हो उठी। कृष्ण वासुदेव और बलदेव अपने माता पिता को लेने पहुँचे। उन्होंने उन दोनों को रथ पर बैठा लिया, लेकिन वे स्वयं जलने लगे। इस बीच में बलदेव के प्राणप्रिय चरम देहधारी कुज्जवारअ को देवतागण पल्लव देश में लिवा ले गये। द्वारका छह मास तक जलती रही। कृष्ण वासुदेव और बलदेव ने पाण्डवों के पास दक्षिण समुद्र के किनारे पर स्थित पांडुमथुरा जाने का इरादा किया। दोनों सौराष्ट्र होते हुए हत्थिकप्प (हाथब, भावनगर के पास) नगर के बाहर आये। इस समय कृष्ण को बहुत जोर की प्यास लगी। बलदेव अपने भाई के लिए जल लेने गये। कृष्ण कौशेय वस्त्र ओढ़ कर सो गये। इस बीच में भ्रमण करते हुए जराकुमार वहां आ पहुँचे। उन्होंने हरिण समझ कर सोते हुए कृष्ण के ऊपर बाण चला दिया जो उनके मर्म-स्थान में जाकर लगा। कृष्ण के वक्षस्थल पर कौस्तुभ मणि देखकर जराकुमार को अत्यन्त दुःख आ। उन्होंने अपने अपराध का क्षमा मांगी। लेकिन अब क्या हो सकता था ? इस बीच में बलदेव भी जल लेकर लौटे। अपने प्रिय भ्राता के मृत शरीर को कंधे पर उठाये वे बहुत दिनों तक फिरते रहे। अन्त में बलदेव तुंगिया पर्वत पर पहुँचकर तप में लीन हो गये। कृष्ण की मृत्यु का समाचार सुनकर पांडवों को अत्यन्त दुःख हुआ। जराकुमार को अपना राज्य सौंप कर उन्होंने श्रमण दीक्षा ग्रहण की।[1]

राजा द्रुपद कांपिल्यपुर में राज्य करते थे। अपनी कन्या द्रौपदी के स्वयंवर के समय उन्होंने दूर-दूर के राजा-महाराजाओं को आमन्त्रित किया। द्वारका से कृष्ण वासुदेव, बलदेव, उग्रसेन आदि, हस्तिनापुर से पांच पाण्डवों समेत पंडु राजा, शुक्तिमती के राजा दमघोष और उनके पुत्र शिशुपाल, हस्तिशीर्ष के राजा दमदंत, राजगृह के राजा जरासंध के पुत्र सहदेव तथा कौंडिन्य के राजा भीष्मक के पुत्र रुक्मी आदि अनेक राजा-महाराजाओं ने स्वयंवर में

---

१. अन्तःकृद्दशा पृ० २७-९; उत्तराध्ययनटीका पृ० ३९।

सम्मिलित हो समारोह की शोभा बढ़ाई।[1] पंडुराजा का विवाह अंधकवृष्णि की कन्या कुंती[2] और दसघोष का विवाह मात्री से हुआ था।[3] कौंडिन्य के राजा भीष्मक की कन्या शिशुपाल को दी गयी थी, लेकिन कृष्ण ने उसका अपहरण कर उसे अपनी महिषी बना लिया।[4]

महावीर के समकालीन राजा-महाराजा

राजा श्रेणिक

श्रेणिक को सेनिय, भंभसार अथवा भिंभिसार भी कहा गया है। कहते हैं कि राजा प्रसेनजित् के काल में कुशाग्रपुर में प्रायः आग लग जाया करती थी। एक बार राजा के रसोइये की असावधानी के कारण राजमहल में आग लग गयी। आग के उपद्रव से भयभीत हो सब राजकुमार महल छोड़कर भागे। जल्दी-जल्दी में कोई हाथी, कोई घोड़ा और कोई मणि-मुक्ता लेकर भागा, लेकिन श्रेणिक के हाथ एक भंभा (एक वाद्य) आई और वे उसे ही लेकर चलते बने। राजा प्रसेनजित् के पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया कि यह विजय का चिह्न है। तब से श्रेणिक भिंभसार के नाम से कहे जाने लगे।[6] जैन परम्परा में श्रेणिक को भगवान् महावीर का भक्त कहा गया है। महावीर से पूछे हुए उनके कितने ही प्रश्नों के उत्तर जैन आगमों में सुरक्षित हैं। उन्हें राजसिंह (रायसीह) कहा गया है,[7] वाहिय कुल में उन्होंने जन्म लिया था।[8]

---

१. ज्ञातृधर्मकथा १६। बौद्ध परम्परा के लिए देखिए कुणालजातक (५३६)।

२. ज्ञातृधर्मकथा, वही।

३. सूत्रकृतांग ३.१. पृ० ७९।

४. ज्ञातृधर्मकथा १६, पृ० १७८; प्रश्नव्याकरणटीका ४, पृ० ८७-अ।

५. बौद्धधर्म के अनुसार, यह कोसल का राजा था और मगध-सम्राट् बिंबसार का पड़ोसी था, मज्झिमनिकाय, अंगुलिमालसुत्त।

६. आवश्यकचूर्णी, २, पृ० १५८। उदान की टीका परमत्थदीपनी पृ० १०४ के अनुसार श्रेणिक के पास बहुत बड़ी सेना थी, अथवा वह सेनिय गोत्र का था, इसलिए सेनिय कहा जाता था। बिंबि (सुनहरा) वर्ण का होने के कारण उसका नाम बिंबिसार पड़ा।

७. उत्तराध्ययनसूत्र २०.५८।

८. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १६५।

राजा श्रेणिक की तेईस रानियों के नाम मिलते हैं।[1] कहते हैं कि श्रेणिक में युवराज के समस्त गुण मौजूद थे, फिर भी उसका पिता उसे राजपद नहीं देता था। यह देखकर श्रेणिक को चिन्ता हुई और वह भागकर वेन्यातट चला गया। यहाँ उसने किसी वणिक् की कन्या नन्दा से विवाह कर लिया। कुछ समय बाद नंदा (अथवा सुनंदा) गर्भवती हुई और श्रेणिक राजगृह लौट गया। बाद में नंदा का पिता अपनी कन्या को लेकर राजगृह आया और यहां नंदा ने अभयकुमार को जन्म दिया।[2] आगे चलकर यही अभयकुमार श्रेणिक का एक सलाहकार प्रिय मंत्री बना। धारिणी राजा श्रेणिक की दूसरी रानी थी, उसके गर्भ से मेघकुमार का जन्म हुआ। अभयकुमार मेघकुमार के जन्म के समय मौजूद थे। इसका विस्तृत वर्णन ज्ञातृधर्मकथा के प्रथम अध्ययन में आता है। चेल्लणा श्रेणिक की तीसरी रानी थी। वह वैशाली के गणराजा चेटक की सबसे छोटी कन्या थी। अभयकुमार की सहायता से श्रेणिक उसे चुपचाप वैशाली से अपहृत करके लाया था।[3] अपगतगंधा

---

१. नदा, नंदमई, नंदुत्तरा, नंदसेणिया, मरुया, सुमरुया, महमरुया, मरुदेवा, भद्दा, सुभद्दा, सुजाता, सुमणाइया, भूयदिन्ना, काली, सुकाली, महाकाली, कण्हा, सुकण्हा, महाकण्हा, वीरकण्हा, रामकण्हा, पिउसेणकण्हा और महासेणकण्हा, अन्तकृद्दशा ७, पृ० ४३।

२. आवश्यकचूर्णी, पृ० ५४६; हरिभद्र, आवश्यकटीका पृ० ४१७-अ। मूलसर्वास्तिवाद जिल्द ३, भाग २, पृ० २० आदि के अनुसार अभयकुमार राजा बिंबिसार और अंबपालि का अवैध पुत्र था। दूसरी परम्परा के अनुसार, अभयकुमार उज्जयिनी की गणिका पद्मावती का पुत्र था, थेरीगाथा की अट्ठकथा, पृ० ३९-४१। मज्झिमनिकाय के अभयराजकुमारसुत्त के अनुसार, वह महावीर का शिष्य था, लेकिन बाद में वह बौद्धधर्म का अनुयायी बन गया था।

३. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १६५ आदि। चेल्लणा वैदेही भी कही गयी है। उसकी बड़ी बहन का नाम सुज्येष्ठा था। बौद्ध परम्परा में उन्हें क्रमशः चेला और उपचेला कहा गया है। दोनों लिच्छवियों के सेनापति सिंह की कन्याएं और बिंबिसार के मन्त्री गोप की भतीजियां थीं, देखिए मूलसर्वास्तिवाद का विनयवस्तु, पृ० १२ आदि। पालि साहित्य में कोसलादेवी (जातक ३, २८३, पृ० १२३) और खेमा (अंगुत्तरनिकाय की अट्ठकथा मनोरथपूरणी १, पृ० ३४२) को राजा श्रेणिक की रानियां बताया है। कोसलादेवी अजातशत्रु की माता थी।

नाम की श्रेणिक की एक अन्य रानी का उल्लेख आता है।[1]

आवश्यकचूर्णी के अनुसार श्रेणिक के अनेक पुत्र थे।[2] अनुत्तरोपपातिकदशा (१) में श्रेणिक के निम्नलिखित दस पुत्रों के नाम आते हैं—जालि, मयालि, उवयालि, पुरिससेण, वारिसेण, दीहदंत, लट्ठदंत, वेहल्ल, वेहायस और अभयकुमार। इनमें से पहले सात धारिणी, वेहल्ल (अथवा हल्ल) और वेहायस (अथवा विहल्ल) चेल्लणा और अभयकुमार नंदा की कोख से पैदा हुए थे। उक्त आगम के दूसरे प्रकरण में दीहसेन, महासेन, लट्ठदंत, गूढ़दंत, सुद्धदंत, हल्ल, दुम, दुमसेण, महादुमसेण, सीहसेण, महासीहसेण और पुण्णसेण का उल्लेख मिलता है। इन सब पुत्रों ने जैन दीक्षा धारण कर निर्वाण-पद प्राप्त किया। काल, सुकाल, महाकाल, कण्ह, सुकण्ह, महाकण्ह, वीरकण्ह, रामकण्ह, सेणकण्ह, महासेणकण्ह नाम के श्रेणिक के अन्य पुत्र बताये गये हैं, जो काली, सुकाली, महाकाली आदि रानियों से पैदा हुए थे।[3] काल आदि दस राजकुमारों का राजा कूणिक के साथ मिलकर, वैशाली के गणराजा चेटक से युद्ध करने का उल्लेख मिलता है।[4] नंदिसेण और कूणिक (अजातशत्रु) श्रेणिक के अन्य पुत्र थे। नंदिसेण के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं मिलती। हम केवल इतना ही जानते हैं कि वह श्रेणिक के प्रिय हस्ती सेचनक को अनुशासन में रखता था और उसने जैन दीक्षा ग्रहण कर ली थी।[5]

राजा कूणिक (अजातशत्रु)

कूणिक राजा श्रेणिक का दूसरा पुत्र था। हल्ल और विहल्ल उसके सगे भाई थे। तीनों रानी चेल्लणा से पैदा हुए थे। कूणिक को अशोकचन्द्र, वज्जिविदेहपुत्त अथवा विदेहपुत्त भी कहा गया है। कहते हैं कि जब कूणिक पैदा हुआ तो उसे नगर के बाहर एक कूड़ी पर छोड़ दिया गया। वहाँ उसकी कन उंगली में एक मुर्गे की पूंछ से चोट लग गयी और इस समय से वह कूणिक कहा जाने लगा।[6] दूसरी परम्परा में

१. निशीथचूर्णी पीठिका, पृ० १७।
२. २, पृ० १६७।
३. निरयावलियाओ १।
४. वही २।
५. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १७१; वही, पृ० ५५९।
६. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १६६।

अनुसार, उसके जन्म के पश्चात् जिस असोगवणिया (अशोक वन) में कूणिक को छोड़ा गया था, वह प्रकाशित हो उठी इससे वह अशोकचन्द्र नाम से कहा जाने लगा।[1] व्याख्याप्रज्ञप्ति में कूणिक को वज्जी-विदेहपुत्र कहा है। इसका कारण था कि उसकी माता चेल्लणा विदेह वंश की थी।[2] आचार्य हेमचन्द्र ने इस परम्परा का समर्थन किया है।

औपपातिकसूत्र में राजा कूणिक को अत्यन्त विशुद्ध, पीढ़ी-दर-पीढ़ी से चले आने वाले राजकुल में उत्पन्न, राजा के लक्षणों से सम्पन्न, बहुजनों द्वारा संमान्य, सर्वगुणों से समृद्ध, राज्याभिषिक्त, दयालु, भवन-शयन-आसन-यान और वाहन से संयुक्त, बहुत धन-सुवर्ण और रूप्य से सम्पन्न, धनोपार्जन के अनेक उपायों का ज्ञाता, बहुजनों को भोजन और दान देने वाला, तथा अनेक दास-दासी-गो-महिष और कोष-कोष्ठागार-आयुधागार से समृद्ध बताया है।[3] कूणिक ने अपने अन्तःपुर की रानियों समेत अत्यन्त श्रद्धा और भक्तिभाव-पूर्वक किस प्रकार अपने दल-बल सहित श्रमण भगवान् महावीर के दर्शन के लिए प्रस्थान किया, इसका सरस और विस्तृत वर्णन उक्त सूत्र में दिया गया है।

रानी चेल्लणा द्वारा राजा श्रेणिक के मांस भक्षण करने के दोहद का उल्लेख किया जा चुका है। जन्म के पश्चात् जब कूणिक को दासी द्वारा कूड़े पर छुड़वा दिया गया तो श्रेणिक ने उसे वापस मँगवा लिया। लेकिन बड़े होने पर कूणिक की इच्छा हुई कि वह श्रेणिक को मारकर स्वयं राजसिंहासन पर बैठे। उसने काल, सुकाल आदि दस राजकुमारों को बुलवाया और उनके सामने प्रस्ताव रक्खा कि राजा श्रेणिक का वध कर हम लोग उसका राज्य, राष्ट्र, बल, वाहन, कोष, कोष्ठागार और जनपद ग्यारह भागों में बाँट लेंगे। राजकुमारों ने कूणिक का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

एक दिन अवसर पाकर कूणिक ने राजा श्रेणिक को गिरफ्तार करा, कारागृह में डलवा दिया, और राज्याभिषेक पूर्वक अपने आपको राजा

---

१. वही।

२. ७.९ टीका। बौद्धसूत्रों में भी अजातशत्रु को वेदेहिपुत्त कहा है। बुद्धघोष ने इस शब्द की विचित्र व्युत्पत्ति दी है: वेद-इह, वेदेन इहति इति वेदेहि अर्थात् बुद्धिजन्य प्रयत्न करनेवाला, दीघनिकाय की अट्ठकथा १, पृ० १३९।

३. ६, आदि, पृ० २० आदि।

घोषित कर दिया। उसने प्रतिदिन पूर्वाह्न और अपराह्न में श्रेणिक को सौ कोड़े मारने का हुक्म दिया और उसका भोजन-पान बन्द कर दिया। चेल्लणा तक उससे मिलने नहीं जा सकती थी। बाद में कहने-सुनने पर जब उसने चेल्लणा को मिलने की आज्ञा दी तो वह अपने केशों को सुरा में भिगोकर, उनमें कुल्माष छिपाकर ले जाती थी। कारागृह में पहुँचकर वह अपने केशों को सौ बार जल से धोती और उसका पान कर श्रेणिक शक्ति प्राप्त करता।[1]

एक दिन की बात है, कूणिक अपनी माता के पादवंदन के लिए गया। माँ को चिंतित देख उसने चिंता का कारण पूछा। माँ ने उत्तर दिया—"बेटा, जब तुमने अपने पिता को जो तुम्हें जी-जान से प्यार करता था, कैद कर रक्खा है तो मुझे कैसे अच्छा लग सकता है?" कूणिक ने कहा—"वह तो मुझे जान से मार डालना चाहता था, फिर तुम उसके स्नेह की क्या बात करती हो?" इस पर रानी ने कूणिक के बचपन की बात सुनायी कि किस तरह उसके पिता ने उसे कूड़ी पर से उठवाकर मँगवाया और किस प्रकार वह उसकी उंगली की वेदना शांत करने के लिए उसकी पीप चूस लेता था।[2] यह सुनकर कूणिक को

१. निरयावलियाओ १; आवश्यकचूर्णी २, पृ० १७१। बौद्ध मान्यता के अनुसार, अजातशत्रु ने अपने पिता को तापनगेह में रक्खा था जहाँ कि केवल उसकी माता ही उससे मिलने जा सकती थी। आरम्भ में वह भोजन को अपने केशों में छिपाकर ले जाती थी, बाद में सुनहले जूतों में रखकर ले जाने लगी। उसके बाद वह अपने शरीर में सुगन्धित जल चुपड़ने लगी; श्रेणिक इसे अपनी जीभ से चाट लेता। लेकिन इसे भी बन्द कर दिया गया, और अजातशत्रु ने अपने नौकरों को श्रेणिक के पाँवों को चीरकर उन्हें नमक और तेल द्वारा आग पर पकाने का आदेश दिया। श्रेणिक का प्राणांत हो गया। इस समय अजातशत्रु को पुत्रोत्पत्ति का समाचार मिला। समाचार सुनकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। प्रसन्न होकर उसने अपने पिता को जेल से छोड़ देने का हुक्म सुनाया, लेकिन अफसोस कि वह अब इस दुनिया में नहीं था, दीघनिकायअट्ठकथा, १, पृ० १३५ आदि।

२. दूसरी मान्यता के अनुसार, एक बार, कूणिक और रानी पद्मावती के पुत्र उदायी ने, कूणिक के भोजन करते समय, उसकी थाली में मूत दिया। लेकिन उतने हिस्से को छोड़कर कूणिक भोजन करता रहा। अपनी माँ से उसने कहा—'माँ, क्या किसी और का भी पुत्र इतना प्यारा होगा?' यह सुनकर

अपने किये हुए पर अत्यन्त संताप हुआ। वह परशु हाथ में लेकर अपने पिता के बंधन काटने के लिए चला। लेकिन श्रेणिक ने समझा कि वह उसे मारने आ रहा है; यह सोचकर, वह तालपुट विष खाकर मर गया। अपने पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर कूणिक को बहुत दुःख हुआ, और राजगृह छोड़कर वह चम्पा में आकर रहने लगा[1]।

राजा कूणिक अब निश्चिंत होकर राज्य करने लगा था। लेकिन अपने सगे जुड़वां भाई हल्ल और विहल्ल की ओर से उसे अभी भी भय बना रहता था। बात यह थी कि राजा श्रेणिक ने अपनी जीवित अवस्था में ही अपना सुप्रसिद्ध सेचनक गन्धहस्ति और अठारह लड़ी का कीमती हार हल्ल और विहल्ल को दे दिया था। विहल्लकुमार अपनी देवियों के साथ हाथी पर सवार हो गंगा पर जाता, वहां हाथी देवियों के साथ भांति-भांति की क्रीड़ाएँ कर उनका मनोरंजन करता। यह देखकर कूणिक की रानी पद्मावती[2] को बहुत ईर्ष्या हुई और उसने सेचनक हाथी की मांग की।[3]

एक दिन कूणिक ने विहल्ल को बुलाकर उससे हाथी और हार लौटाने को कहा। लेकिन इसके बदले विहल्ल ने कूणिक से आधा राज्य मांगा। जब कूणिक ने राज्य देना स्वीकार न किया तो हल्ल और विहल्ल दोनों भाग कर अपने नाना चेटक के पास वैशाली चले गये। कूणिक ने दूत भेजकर उन्हें लौटाने के लिए कहलवाया, लेकिन कोई परिणाम नहीं हुआ। चेटक ने उत्तर दिया कि उसके लिये दोनों बराबर हैं, अतएव वह किसी का पक्षपात नहीं कर सकता। आखिर दोनों ओर से युद्ध ठन गया। कूणिक ने काल, सुकाल आदि दस कुमारों को साथ ले वैशाली को घेर लिया। उधर से काशी के

उसकी मां ने उसके बचपन की सारी बातें उसे सुनायीं, और उसे पितृद्रोही बताया, आवश्यकचूर्णी २, पृ० १७२।

१. निरयावलि १; आवश्यकचूर्णी २, पृ० १७१।

२. कूणिक की अन्य रानियों में धारिणी और सुभद्रा आदि के नाम आते हैं, औपपातिक ७, पृ० २३; २३, पृ० १४४।

३. एक दूसरी परम्परा के अनुसार चेल्लणा कूणिक के लिए गुड़ के, और हल्ल विहल्ल के लिए खांड के लड्डू भेजा करती थी जिससे कूणिक अपने भाइयों से ईर्ष्या करने लगा, वही, पृ० १६७।

नौ मल्लकि और कोशल के नौ लिच्छवि[1] राजा आ गये। दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ। काल, सुकाल आदि कुमार मारे गये। अन्त में वज्जीविदेहपुत्त कूणिक की जय हुई तथा चेटक हार गया। चेटक अपने गले में लोहे की प्रतिमा लटका कुएँ में कूद पड़ा और वैशाली-निवासी नेपाल जाकर रहने लगे। हल्ल और विहल्ल ने महावीर के पास जैन दीक्षा ग्रहण कर ली।[2]

कहते हैं कि तिमिसगुहावासी किसी देव से आहत हो कूणिक की मृत्यु हो गयी और मर कर वह छठे नरक में गया।

मन्त्री अभयकुमार

अभयकुमार राजा श्रेणिक का दूसरा पुत्र था। श्रेणिक का वह अत्यन्त विश्वासभाजन था, और प्रधान-मन्त्री के पद पर वह नियुक्त था। उसकी बुद्धिमत्ता और प्रत्युत्पन्नमति की अनेक कथाएँ जैन आगम ग्रन्थों में मिलती हैं।

श्रेणिक का अन्य परिवार

श्रेणिक के कन्याएँ भी थीं। अपनी एक कन्या का विवाह उसने राजगृह के निवासी कृतपुण्य के पुत्र से किया था, जिसने मगरमच्छ से सेचनक हाथी की रक्षा की थी।[3] श्रेणिक की सेना नाम की एक बहन का भी उल्लेख आता है। किसी विद्याधर के साथ उसका विवाह हुआ था। सेना ने कन्या को जन्म दिया, और उसकी माँ की मृत्यु के बाद उसे श्रेणिक के पास भेज दिया गया। आगे चलकर मंत्री अभयकुमार के साथ उसका विवाह हुआ।[4]

---

१. बौद्धों की मज्झिमनिकाय की अट्ठकथा में बताया है कि लिच्छवियों के पेट में जो कुछ जाता, वह आर-पार दिखायी देता था, जैसे कि कोई वस्तु काँच के पात्र में रक्खी हो, अतः वे लोग निच्छवि (निच्छवी = पारदर्शक) कहे जाने लगे। ज्ञातुधर्मकथा के टीकाकार अभयदेव ने लिच्छवी का अर्थ 'लिप्सवः' (वणिक्) किया है। दोनों ही व्युत्पत्तियाँ वास्तविकता से दूर हैं।

२. निरयावलि १; आवश्यकचूर्णी २, पृ० १६४-७४; व्याख्याप्रज्ञप्ति ७.९; व्यवहारभाष्य १०.५३५ आदि। बौद्ध परम्परा में अजातशत्रु और लिच्छवियों के युद्ध के लिए देखिए दीघनिकाय, महापरिनिब्बाणसुत्त और उसकी अट्ठकथा।

३. आवश्यकचूर्णी, पृ० ४६८।

४. वही २, पृ० ४६८। बौद्ध परम्परा के अनुसार सेनिय बिंबिसार ने ५२ वर्ष तक राज्य किया, महावंश २.३०; बी० सी० लाहा, सम क्षत्रिय ट्राइब्स इन्शियन्ट इण्डिया? — इण्डियन किंग्स, बुद्धिस्ट स्टडीज़, पृ० १८६ आदि।

राजा उदायी

राजा कूणिक की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र उदायी राजगद्दी पर बैठा। चम्पा छोड़कर वह पाटलिपुत्र आकर रहने लगा था। उसके कोई सन्तान नहीं थी।[1] श्रेणिक और कूणिक जैसा प्रभावशाली वह नहीं था। उसके साथ शिशुनाग वंश के राजाओं की परम्परा ही समाप्त हो गयी।

महावीर का राजघरानों से सम्बन्ध

वैशाली का गणराजा चेटक

हैहयवंशी राजा चेटक वैशाली में राज्य करता था। काशी-कोशल के अठारह गणराजा उसके अधीन थे। चेटक की बहन त्रिशला भगवान् महावीर की माँ थी। उसके सात कन्याएं थीं जो प्रायः राज-घरानों में ब्याही थीं। उसकी कन्या प्रभावती का विवाह वीतिभय के राजा उद्रायण के साथ, शिवा का उज्जैनी के राजा प्रद्योत के साथ, मृगावती का कौशाम्बी के राजा शतानीक के साथ, ज्येष्ठा का महावीर के ज्येष्ठ भ्राता कुंडग्रामवासी नन्दिवर्धन के साथ, पद्मावती का चम्पा के राजा दधिवाहन के साथ और सबसे छोटी चेल्लणा का राजगृह के राजा श्रेणिक के साथ हुआ था; सुज्येष्ठा अविवाहित ही रही।[2]

सिंधु-सोवीर का राजा उद्रायण

सिन्धु-सोवीर का राजा उद्रायण एक शक्तिशाली राजा था। उसे सोलह जनपदों और तरेसठ नगरों का शासक तथा दस मुकुटबद्ध राजाओं का स्वामी बताया गया है। तापसों का वह भक्त था। उसकी रानी प्रभावती से अभीतिकुमार का जन्म हुआ। कहते हैं कि उद्रायण के मन में भगवान् महावीर के दर्शन करने का विचार पैदा हुआ और भगवान् तुरत चंपा से आकर वहाँ स्वयं उपस्थित हो गये। यहाँ उन्होंने उद्रायण को अपने धर्म में दीक्षित किया।[3] उद्रायण राजर्षि

---

१. निरयावलि १; आवश्यकचूर्णी २, पृ० १७९।

२. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १६४। दिगम्बर विद्वान् हरिषेण के बृहत्कथा-कोश ९७.३६ के अनुसार चेटक की रानी का नाम सुभद्रा था, उसके सात कन्याएँ थीं।

३. व्याख्याप्रज्ञप्ति १३.६।

के नाम से विख्यात थे। श्रमण-धर्म में दीक्षित होने वाले मुकुटबद्ध राजाओं में वे अन्तिम राजा गिने गये हैं।[1]

पुत्र के रहते हुए भी, अपने भानजे केशीकुमार को राजसिंहासन पर बैठाने के कारण अभीतिकुमार को अच्छा न लगा। रुष्ट होकर वह चम्पा के राजा कूणिक के पास चला गया और वहीं रहने लगा।[2] इस बीच में मौका पाकर केशी ने उद्रायण को दही में विष मिलाकर दे दिया जिससे उसका प्राणान्त हो गया।[3]

राजा उद्रायण एक कुशल योद्धा था और साथ ही अपनी आन का पक्का भी। उसके पास चन्दननिर्मित महावीर की एक सुन्दर प्रतिमा थी जिसकी देखभाल देवदत्ता नाम की एक कुबड़ी दासी किया करती थी। एक बार गंधार का कोई श्रावक प्रतिमा के दर्शन करने आया। वह देवदत्ता से बहुत प्रसन्न हुआ और उसने देवदत्ता को कुछ गोलियाँ दीं जिनके खाने से वह रूपवती बन गयी। देवदत्ता ने उज्जयिनी के राजा प्रद्योत का नाम सुन रक्खा था। उसने प्रद्योत का नाम स्मरण कर एक और गोली खा ली जिससे प्रद्योत अपने नलगिरि हाथी पर सवार होकर फौरन ही उसे लेने आ गया। देवदत्ता अपने रूप के कारण अब सुवर्णगुलिका कही जाने लगी। उसने प्रद्योत से चन्दन की प्रतिमा भी साथ ले चलने को कहा। सुबह होने पर उद्रायण को पता लगा कि न तो वहाँ देवदत्ता ही है और न प्रतिमा ही। नलगिरि

---

१. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १७१ आदि।

२. व्याख्याप्रज्ञप्ति १३.६।

३. आवश्यकचूर्णी २, पृ० ३६। स्थानांगटीका, पृ० ४०८-अ; उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २५४-अ। तुलना कीजिए दिव्यावदान (अध्याय ३७) के साथ। बौद्ध परम्परा के अनुसार, रुद्रायन रोरुक का राजा था। उसकी रानी का नाम चन्द्रप्रभा और पुत्र का नाम शिखण्डी था। कहते हैं कि राजा बिंबिसार ने रुद्रायन के पास बुद्ध की एक प्रतिमा भिजवाई जिससे कि वह बौद्ध धर्म से परिचित हो सके। कुछ समय बाद चन्द्रप्रभा ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और उसकी मृत्यु हो गयी। रुद्रायन ने भी प्रव्रज्या ले ली। रुद्रायन के पश्चात् शिखण्डी राज्य का स्वामी बना। लेकिन उसके मंत्री उसे ठीक-ठीक मार्गदर्शन नहीं करते थे। यह जानकर रुद्रायन अपने पुत्र को सलाह देने के लिए उसके पास आया लेकिन षड्यंत्र द्वारा उसकी हत्या कर दी गयी। तथा देखिए मुनि जिनविजय का लेख, पुरातत्त्व १, पृ० २६८ आदि।

के पदचिह्न, उसकी मूत्र और लीद देखकर लोग समझ गये कि उज्जयिनी का राजा प्रद्योत रात में चुपचाप आकर दोनों को ले गया है।

उद्रायण और प्रद्योत का युद्ध

उद्रायण ने प्रद्योत के पास दूत भेजकर कहलवाया कि मुझे दासी की चिन्ता नहीं, लेकिन प्रतिमा लौटा दो। लेकिन प्रद्योत ने सुनी अनसुनी कर दी। यह देखकर उद्रायण ने अपने दस सामन्त राजाओं को साथ ले उज्जयिनी पर चढ़ाई कर दी। दोनों ओर से घमासान युद्ध होने लगा। प्रद्योत हार गया और उद्रायण की जीत हुई। एक पट्ट पर 'दासीपति' लिखकर उसे प्रद्योत के मस्तक पर लगाया गया और प्रद्योत को बन्दी बनाकर वीतिभय ले आये। कुछ दिन बाद, पर्यूषण के अवसर पर उद्रायण ने प्रद्योत के अपराधों को क्षमाकर उसे छोड़ दिया। और अब उसका मस्तक सुवर्णपट्ट से विभूषित कर दिया गया। कहा जाता है कि इस समय से राजाओं के मस्तक को पट्ट से भूषित करने का रिवाज चल पड़ा, इससे पहले वे मुकुटबद्ध कहे जाते थे।[1]

चम्पा का राजा दधिवाहन

दधिवाहन अपनी रानी पद्मावती के साथ चम्पा में राज्य करता था। जब रानी गर्भवती हुई तो वह राजा के साथ हाथी पर सवार होकर वनक्रीडा के लिए गयी। लेकिन हाथी जंगल में भाग गया और राजा ने वृक्ष की शाखा पकड़कर किसी तरह अपनी जान बचायी। उधर रानी पद्मावती ने दन्तपुर पहुंच कर दीक्षा ग्रहण कर ली। कुछ समय बाद उसने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम करकंडु रक्खा गया। बड़ा होकर करकंडु कांचनपुर के राजसिंहासन पर बैठा, और राजा दधिवाहन के साथ उसका युद्ध ठन गया। इस समय पद्मावती ने बीच-बिचाव करके किसी तरह युद्ध रुकवाया। बाद में दधिवाहन ने अपना राज्य करकंडु को सौंपकर श्रमण दीक्षा ग्रहण की।[2]

---

१. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ० २५३ आदि; आवश्यकचूर्णी, पृ० ४०० आदि। इस सम्बन्ध की अन्य परम्पराओं के लिए देखिए रायचौधुरी, वही, पृ० ६७, १२३, १६५।

२. आवश्यकचूर्णी २, पृ० २०५ आदि; उत्तराध्ययनटीका ९, पृ० १३२-अ।

राजा शतानीक की चम्पा पर चढ़ाई

एक बार की बात है, दधिवाहन के जीते-जी कौशाम्बी के राजा शतानीक ने चम्पा पर चढ़ाई कर दी। दधिवाहन की सेना हार गयी तथा दधिवाहन की कन्या वसुमती और उसकी रानी धारिणी शतानीक के एक ऊँट-सवार के हाथ पड़ गयी। ऊँट-सवार धारिणी को अपनी पत्नी बनाना चाहता था। दोनों को वह कौशाम्बी ले आया। वहाँ आकर धारिणी का देहान्त हो गया, और वसुमती को उसने धनदेव नामक व्यापारी के हाथ बेच दिया। वसुमती धनदेव के घर रहने लगी, लेकिन धनदेव की पत्नी मूला वसुमती से बहुत ईर्ष्या करती थी। उसने वसुमती के केश कटवाकर उसे एक घर में बन्द कर दिया। कुछ समय बाद उसने महावीर भगवान का अभिग्रह पूर्णकर उन्हें आहार से लाभान्वित किया। वसुमती अब चन्दना अथवा चन्दनबाला कही जाने लगी। चन्दना ने महावीर के पादमूल में बैठकर दीक्षा स्वीकार की और वह उनके साध्वी-संघ का नेतृत्व करती हुई समय बिताने लगी।[1]

कौशाम्बी का राजा शतानीक

राजा शतानीक कौशाम्बी में राज्य करते थे। उनके पिता का नाम सहस्रानीक, और पुत्र का नाम उदयन[2] था। उदयन चेटक की कन्या मृगावती से पैदा हुआ था। श्रमणोपासिका महासती जयन्ती सहस्रानीक की पुत्री, शतानीक की भगिनी और उदयन की फूफी थी। निर्ग्रन्थ साधुओं के ठहरने के लिए वसति देने के कारण वह प्रथम शय्यातरी कहलायी। जयन्ती ने महावीर से अनेक प्रश्न पूछे थे।[3]

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति ५२० आदि; आवश्यकटीका, पृ० २९४ आदि।

२. बौद्धों की धम्मपद अट्ठकथा १, पृ० १६५ में उदेन (उदयन) शब्द की बड़ी विचित्र व्युत्पत्ति दी है। कहते हैं कि जब उदयन की माता गर्भवती थी तो कोई राक्षस उसे उठाकर ले गया। उसने अल्लकप्प के पास किसी वृक्ष के ऊपर उसे रख दिया। जब बालक का जन्म हुआ तो बहुत तूफान (उतु) चल रहा था, इस कारण बालक का नाम उदयन रक्खा गया। तथा देखिए पेंजर, कथासरित्सागर जिल्द १, पुस्तक २, अध्याय ९, पृ० ९४-१०२।

३. व्याख्याप्रज्ञप्ति १२.२।

प्रद्योत और शतानीक का युद्ध

शतानीक और प्रद्योत दोनों साढ़ू थे। प्रद्योत जब युद्ध के लिए कौशाम्बी पहुँचा तो शतानीक अपनी सेना को यमुना के दक्षिणी किनारे से हटाकर उत्तरी किनारे पर ले गया। शतानीक के सिपाही घोड़ों पर चढ़कर प्रद्योत के शिविर में घुस गये और प्रद्योत के सिपाहियों के नाक-कान काट लाये। इससे प्रद्योत हताश होकर वापिस लौट गया।[1]

प्रद्योत द्वारा रानी मृगावती की मांग

प्रद्योत तभी से खार खाये बैठा था। एक बार की बात है, राजा शतानीक ने एक चित्रकार को देशनिकाला दे दिया। घूमता-घूमता वह उज्जैनी पहुँचा और उसने शतानीक की रानी मृगावती का एक सुन्दर चित्र प्रद्योत को दिखाया। प्रद्योत रानी का रूप-सौंदर्य देखकर रीझ गया। उसने फौरन ही कौशाम्बी को दूत रवाना किया, और शतानीक को कहलवाया कि या तो वह अपनी रानी उसके हवाले कर दे, नहीं तो युद्ध के लिए तैयार हो जाये। शतानीक इस शर्त को स्वीकार करने के लिए कैसे तैयार हो सकता था? प्रद्योत ने फिर कौशाम्बी को घेर लिया। इस समय दुर्भाग्य से अतिसार के कारण शतानीक की मृत्यु हो गयी।[2]

मृगावती की दीक्षा

जब शतानीक की मृत्यु हुई तो उदयन बहुत छोटा था। इसलिए राजकाज की सारी जिम्मेवारी उसकी माँ रानी मृगावती के ऊपर आ पड़ी। इस समय राजा प्रद्योत ने फिर से अपनी माँग दुहराते हुए मृगावती को विवाह के लिए कहा। लेकिन मृगावती ने उत्तर दिया कि जब तक उदयन राजकाज सम्हालने के योग्य न हो जाये तब तक इस प्रस्ताव को स्थगित रखा जाये। उसने प्रद्योत से अनुरोध किया कि नगर की शत्रु से रक्षा करने के लिए किलेबन्दी आदि द्वारा उसे सुदृढ़ बनाया जाये। इस बीच में भगवान् महावीर का कौशाम्बी आगमन हुआ। मृगावती उनके दर्शनार्थ उपस्थित हुई और उसने उनके संघ में दीक्षित होने की अभिलाषा व्यक्त की। राजा प्रद्योत भी उस समय वहीं था। मृगावती ने दीक्षा के लिए प्रद्योत की

---

१. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १५९-६१।

२. वही पृ० ८८ आदि।

राजा शतानीक की चम्पा पर चढ़ाई

एक बार की बात है, दधिवाहन के जीते-जी कौशाम्बी के राजा शतानीक ने चम्पा पर चढ़ाई कर दी। दधिवाहन की सेना हार गयी तथा दधिवाहन की कन्या वसुमती और उसकी रानी धारिणी शतानीक के एक ऊँट-सवार के हाथ पड़ गयी। ऊँट-सवार धारिणी को अपनी पत्नी बनाना चाहता था। दोनों को वह कौशाम्बी ले आया। यहाँ आकर धारिणी का देहान्त हो गया, और वसुमती को उसने धनदेव नामक व्यापारी के हाथ बेच दिया। वसुमती धनदेव के घर रहने लगी, लेकिन धनदेव की पत्नी मूला वसुमती से बहुत ईर्ष्या करती थी। उसने वसुमती के केश कटवाकर उसे एक घर में बन्द कर दिया। कुछ समय बाद उसने महावीर भगवान का अभिग्रह पूर्णकर उन्हें आहार से लाभान्वित किया। वसुमती अब चन्दना अथवा चन्दनबाला कही जाने लगी। चन्दना ने महावीर के पादमूल में बैठकर दीक्षा स्वीकार की और वह उनके साध्वी-संघ का नेतृत्व करती हुई समय बिताने लगी।[1]

कौशाम्बी का राजा शतानीक

राजा शतानीक कौशाम्बी में राज्य करते थे। उनके पिता का नाम सहस्रानीक, और पुत्र का नाम उदयन[2] था। उदयन चेटक की कन्या मृगावती से पैदा हुआ था। श्रमणोपासिका महासती जयन्ती सहस्रानीक की पुत्री, शतानीक की भगिनी और उदयन की फूफी थी। निर्ग्रन्थ साधुओं के ठहरने के लिए वसति देने के कारण वह प्रथम शय्यातरी कहलायी। जयन्ती ने महावीर से अनेक प्रश्न पूछे थे।[1]

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति ५२० आदि; आवश्यकटीका, पृ० २९४ आदि।

२. बौद्धों की धम्मपद अट्ठकथा १, पृ० १६५ में उदेन (उदयन) शब्द की बड़ी विचित्र व्युत्पत्ति दी है। कहते हैं कि जब उदयन की माता गर्भवती थी तो कोई राक्षस उसे उठाकर ले गया। उसने अल्लकप्प के पास किसी वृक्ष के ऊपर उसे रख दिया। जब बालक का जन्म हुआ तो बहुत तूफान (उतु) चल रहा था, इस कारण बालक का नाम उदयन रक्खा गया। तथा देखिए पेंजर, कथासरित्सागर जिल्द १, पुस्तक २, अध्याय ९, पृ० ९४-१०२।

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति १२.२।

प्रद्योत और शतानीक का युद्ध

शतानीक और प्रद्योत दोनों साढू थे। प्रद्योत जब युद्ध के लिए कौशाम्बी पहुँचा तो शतानीक अपनी सेना को यमुना के दक्षिणी किनारे से हटाकर उत्तरी किनारे पर ले गया। शतानीक के सिपाही घोड़ों पर चढ़कर प्रद्योत के शिविर में घुस गये और प्रद्योत के सिपाहियों के नाक-कान काट लाये। इससे प्रद्योत हताश होकर वापिस लौट गया।[1]

प्रद्योत द्वारा रानी मृगावती की मांग

प्रद्योत तभी से खार खाये बैठा था। एक बार की बात है, राजा शतानीक ने एक चित्रकार को देशनिकाला दे दिया। घूमता-घूमता वह उज्जैनी पहुँचा और उसने शतानीक की रानी मृगावती का एक सुन्दर चित्र प्रद्योत को दिखाया। प्रद्योत रानी का रूप-सौंदर्य देखकर रीझ गया। उसने फौरन ही कौशाम्बी को दूत रवाना किया, और शतानीक को कहलवाया कि या तो वह अपनी रानी उसके हवाले कर दे, नहीं तो युद्ध के लिए तैयार हो जाये। शतानीक इस शर्त को स्वीकार करने के लिए कैसे तैयार हो सकता था? प्रद्योत ने फिर कौशाम्बी को घेर लिया। इस समय दुर्भाग्य से अतिसार के कारण शतानीक की मृत्यु हो गयी।[2]

मृगावती की दीक्षा

जब शतानीक की मृत्यु हुई तो उदयन बहुत छोटा था। इसलिए राजकाज की भारी जिम्मेवारी उसकी माँ रानी मृगावती के ऊपर आ पड़ी। इस समय राजा प्रद्योत ने फिर से अपनी माँग दुहराते हुए मृगावती को विवाह के लिए कहा। लेकिन मृगावती ने उत्तर दिया कि जब तक उदयन राजकाज सम्हालने के योग्य न हो जाये तब तक इस प्रस्ताव को स्थगित रखा जाये। उसने प्रद्योत से अनुरोध किया कि नगर की शत्रु से रक्षा करने के लिए किलेबन्दी आदि द्वारा उसे सुदृढ़ बनाया जाये। इस बीच में भगवान् महावीर का कौशाम्बी आगमन हुआ। मृगावती उनके दर्शनार्थ उपस्थित हुई और उसने उनके संघ में दीक्षित होने की अभिलाषा व्यक्त की। राजा प्रद्योत भी उस समय वहीं था। मृगावती ने दीक्षा के लिए प्रद्योत की

१. आवश्यकचूर्णी २, पृ० १५९-६१।

२. वही पृ० ८८ आदि।

अनुमति चाही, और यह मना न कर सका। मृगावती ने उदयन को प्रद्योत को सौंप दिया और प्रद्योत की अंगारवती आदि आठ रानियों के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली।[1]

उदयन और वासवदत्ता

एक बार की बात है कि राजा प्रद्योत का नलगिरि हाथी उन्मत्त हो उठा और वह काबू के बाहर हो गया। किसी ने सुझाया कि इसके लिए कौशाम्बी के राजा संगीतशास्त्र के वेत्ता उदयन को बुलाया जाये। प्रद्योत जानता था कि उदयन को हाथियों का बहुत शौक है, इसलिए उसने एक यंत्रमय हाथी के अन्दर अपने सिपाही बैठाकर उसे कौशाम्बी के पास जंगल में छुड़वा दिया। ज्योंही उदयन ने हाथी को देखा, उसने गाना शुरू कर दिया। जब गाना-गाता उदयन हाथी के पास पहुँचा तो, झट से राजा के कर्मचारियों ने उसे गिरफ्तार कर लिया। उदयन को प्रद्योत के पास लाया गया। प्रद्योत ने उसे राजकुमारी वासवदत्ता[2] को संगीत की शिक्षा देने के लिए कहा। लेकिन उदयन को सावधान कर दिया गया कि वासवदत्ता एक आँख से कानी है इसलिए उसे वह देखने का प्रयत्न न करे। वासवदत्ता को भी अपने शिक्षक के कोढ़ी होने के कारण उसकी तरफ देखने की मनाही कर दी गयी। दोनों के बीच एक पर्दा (यवनिका) डाल दिया गया और परदे के पीछे से संगीत की शिक्षा दी जाने लगी। वासवदत्ता शिक्षक के कण्ठ से निकले हुए मधुर स्वर को सुनकर उसकी ओर आकर्षित हुई और उसे साक्षात् देखने का अवसर खोजने लगी। एक दिन, उसने गाने को कुछ अशुद्ध पढ़ दिया, जिसे सुनकर उदयन क्रोध से चिल्ला उठा—"अरी कानी, तू इतना भी नहीं समझती ?" वासवदत्ता ने उत्तर दिया—"अरे कोढ़ी, क्या तू अपने आपको नहीं जानता ?" इतने में परदा हटा और दोनों की आँखें चार हुईं। मालूम हुआ, न कोई काना है और न कोई कोढ़ी।

एक दिन नलगिरि खंभा तुड़ाकर भाग गया। उदयन को उसे वश

---

१. वही, पृ० ९१ आदि।

२. वासवदत्ता अंगारवती की कन्या बताई गई है, आवश्यकचूर्णी २, पृ० १६१। भास के प्रतिज्ञायौगन्धरायण और कथासरित्सागर के उल्लेखों से इसका समर्थन होता है। देखिए गुने, प्रद्योत, उदयन एण्ड श्रेणिक—ए जैन लीजेन्ड, ऐनेल्स आफ भांडारकर ओरिएण्टल इंस्टिट्यूट, १९२०-२१।

में करने के लिए कहा गया। उदयन ने प्रस्ताव रक्खा कि वह राजकुमारी वासवदत्ता के साथ भद्रावती[1] हथिनी पर सवार होकर गाये। प्रद्योत ने स्वीकृति दे दी। नलगिरि पकड़ा गया, लेकिन उदयन और वासवदत्ता भाग निकले।[2]

उज्जयिनी का राजा प्रद्योत

प्रद्योत उज्जयिनी का एक बलशाली राजा था। वह अपने प्रचण्ड स्वभाव के कारण चण्डप्रद्योत नाम से प्रख्यात था।[3] चेटक की कन्या शिवा उसकी प्रिय रानियों में से थी और उसके चार बहुमूल्य रत्नों में गिनी जाती थी; अन्य रत्नों के नाम हैं—नलगिरि हाथी, अग्निभीरु रथ और लोहजंघ पत्रवाहक। राजा प्रद्योत के गोपाल और पालक नाम के दो पुत्र थे; पालक को राजपद मिला। उसके अवंतिवर्धन और

---

१. बौद्ध साहित्य में भद्दवतिका और काक नामक दास के अतिरिक्त, प्रद्योत के चेलकण्णी और मुंजकेसी नाम की दो घोड़ियों और नालागिरि नामक हाथी का उल्लेख है। भद्दवतिका एक दिन में पन्द्रह योजन जाती थी। उदयन इसी पर सवार होकर वासवदत्ता के साथ भागा, धम्मपद अट्ठकथा १, पृ० १९६ आदि।

२. दूसरी परम्परा के अनुसार, नलगिरि के वश में हो जाने पर प्रद्योत अपने क्रीड़ा-उद्यान में चला गया। उदयन के मंत्री यौगंधरायण, जो वहाँ पहले से आया हुआ था, को बहुत अच्छा मौका हाथ लगा। उसने चार घड़ों को मूत्र से भरा, तथा प्रद्योत की कंचनमाला नामक दासी, वसंत नामक महावत, घोषवती नामक वीणा, तथा उदयन और वासवदत्ता के साथ भद्रावती पर सवार होकर वह उज्जयिनी से भाग निकला। प्रद्योत ने अपने कर्मचारियों को हुक्म दिया कि नलगिरि की सहायता से उन लोगों का पीछा किया जाये। लेकिन जब नलगिरि भद्रावती के पास पहुँचता तो उदयन का मंत्री मूत्र का एक घड़ा फोड़ देता जिससे नलगिरि रुक जाता। इतने में वे पच्चीस योजन का रास्ता नाप लेते। इस प्रकार तीन घड़े फोड़कर उन्होंने उज्जयिनी से कौशाम्बी तक का ७५ योजन का रास्ता तय किया, आवश्यकचूर्णी २, पृ० १६० आदि। अन्य परम्पराओं के लिए देखिए भास, स्वप्नवासवदत्ता; चुल्लहंसजातक; कथासरित्सागर; रायचौधुरी, वही, पृ० १६४ आदि; इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, १९३० पृ० ६७८–७०० ।

३. महावग्ग ८.१.९, पृ० २९५ में भी उसे चण्ड कहा गया है।

राष्ट्रवर्धन नाम के दो पुत्र हुए। राष्ट्रवर्धन के पुत्रों के नाम थे अवंतिसेन और मणिप्रभ।[1]

राजा प्रद्योत ने अनेक युद्ध लड़े। किसी के पास कोई सुन्दर वस्तु देखकर उसे प्राप्त करने की अभिलाषा वह संवरण नहीं कर सकता था। जैसे देवदत्ता और चन्दननिर्मित महावीर की प्रतिमा को लेकर वीतिभय के राजा उद्रायण के साथ, रानी मृगावती को लेकर कौशाम्बी के राजा शतानीक के साथ तथा सुंसुमारपुर के राजा धुंधुमार की कन्या अंगारवती को लेकर उसके पिता के साथ उसका युद्ध हुआ,[2] इसी प्रकार महामुकुट के लिए कांपिल्यपुर के राजा दुमुंह से वह भिड़ गया। दुमुंह ने कहलवाया था कि यदि प्रद्योत अपने चारों रत्न देने को तैयार हो तो ही उसे महामुकुट मिल सकता है। लेकिन गर्व के नशे में चूर प्रद्योत ने एक न सुनी। आखिर दोनों में युद्ध हुआ जिसमें प्रद्योत हार गया। उसे बन्दी बनाकर कांपिल्यपुर ले जाया गया जहाँ राजकुमारी मदनमंजरी से उसका प्रेम हो गया और दोनों का विवाह हो गया।[3]

प्रद्योत राजा श्रेणिक के ऊपर भी चढ़ाई करने में न चूका। लेकिन श्रेणिक के मंत्री अभयकुमार ने उसे खूब छकाया। जहाँ प्रद्योत की सेना पड़ाव डालने वाली थी, वहाँ उसने पहले से ही घड़ों में दीनारें भर कर गड़वा दीं। जब प्रद्योत अपनी सेना लेकर वहाँ पहुँचा तो अभयकुमार ने उसके सैनिकों पर विश्वासघात का आरोपण करते हुए, जमीन में गड़े हुए स्वर्ण की दीनारों के घड़ों को दिखाया। प्रद्योत ने जमीन खुदवाकर देखा तो वहाँ सचमुच दीनारों के घड़े थे। इसी बीच में श्रेणिक के सैनिकों ने प्रद्योत के सैनिकों पर आक्रमण कर दिया और प्रद्योत को वापिस भागना पड़ा।[4]

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति १२८२; भास, प्रतिज्ञायौगंधरायण, कथासरित्सागर, जिल्द १, पुस्तक ३, पृ० ८७ आदि।

२. आवश्यकचूर्णी २,१९९ आदि।

३. उत्तराध्ययनटीका ९ पृ० १४१ आदि। अन्य कथाओं के लिए देखिए, रतिलाल मेहता, प्री-बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० ४८; रायचौधुरी, वही, पृ० ६१,७०,११४।

४. मज्झिमनिकाय (३.८.१, पृ० ४८) के अनुसार, अजातशत्रु ने राजगृह की इसलिए किलेबंदी करायी कि उसे भय था कि कहीं प्रद्योत आक्रमण न कर दे।

उज्जयिनी लौटने पर उसे अभयकुमार की चालाकी का पता लगा तो वह बहुत शर्मिन्दा हुआ। उसने अपनी चालाकी से अभयकुमार को राजगृह से पकड़वा मँगाया, लेकिन अभयकुमार भी कुछ कम नहीं था। वह प्रद्योत को एक खटिया से बाँधकर राजगृह ले गया। श्रेणिक प्रद्योत पर बहुत गुस्सा था। वह उसे अपनी तलवार से मार डालना चाहता था, लेकिन अभयकुमार ने उसे बचा लिया।[1]

मौर्यवंश

नन्दों का राज्य

राजा कूणिक के पुत्र उदायि की मृत्यु[2] के पश्चात् पाटलिपुत्र का राज्य नापितदास को मिला। यह प्रथम नन्द कहलाया।[3] लेकिन दण्ड, भट और भोजिक आदि क्षत्रिय उसे दासपुत्र समझकर उसका उचित सम्मान नहीं करते थे। इस पर नापितदास को बहुत क्रोध आया। इस प्रकार के कुछ लोगों को उसने मरवा दिया और कुछ को पकड़ कर जेल में डलवा दिया। कपिल नामक ब्राह्मण के पुत्र कल्पक को उसने अपना कुमारामात्य नियुक्त किया।

प्रथम नन्द की मृत्यु के पश्चात् महापद्म नाम का नौंवा नन्द हुआ। उसने कल्पक के वंश में उत्पन्न शकटाल को मंत्री बनाया।[4] शकटाल के स्थूलभद्र और श्रियक नाम के दो पुत्र, तथा जक्खा, जक्खदिन्ना, भूया, भूयदिन्ना, सेणा, वेणा और रेणा नाम की सात कन्याएं थीं।[5]

सम्राट् चन्द्रगुप्त

चन्द्रगुप्त चाणक्य द्वारा प्रतिष्ठित मौर्यवंश का प्रथम राजा हो गया

१. देखिए आवश्यकचूर्णी २, पृ० १५९-६३।

२. देखिए वही २, पृ० १७९ आदि।

३. यह घटना महावीर-निर्वाण के ६० वर्ष बाद घटित हुई, स्थविरावलि-चरित ६.२३१-४३। नंद और उसके वंशज तब तक मगध का शासन करते रहे जब तक कि चाणक्य ने अपने बुद्धि-बल से अन्तिम नंद राजा को पदच्युत न कर दिया। यह घटना महावीर-निर्वाण के १५५ वर्ष बाद घटी, वही ३३९।

४. आवश्यकचूर्णी पृ० १८१ आदि। तथा देखिए कथासरित्सागर, जिल्द १, अध्याय ४। नंदों के सम्बन्ध में बौद्ध परम्परा के लिए देखिए महावंस ५.१५; तथा रायचौधुरी, वही, पृ० १८७ आदि।

है। नंद राजाओं के मयूरपोषकों के किसी गाँव के मुखिया का यह पुत्र था।[1] कहा जाता है कि चाणक्य नन्द राजाओं द्वारा अपमानित होकर राजपद के योग्य किसी व्यक्ति की खोज में घूमता-घामता इस गाँव में आया और उसने चंद्रगुप्त को अपने अधिकार में ले लिया। बड़े हो जाने पर चाणक्य ने उसे साथ में ले पाटलिपुत्र के चारों ओर घेरा डाल दिया। नन्द के सिपाहियों ने इसका पीछा किया और चाणक्य चन्द्रगुप्त को लेकर भाग गया। तत्पश्चात् हिमवंतकूट के राजा पर्वतक[2] के साथ मिलकर चाणक्य ने फिर से नन्दों पर चढ़ाई की और अबकी बार वह विजयी हुआ। चाणक्य नन्द राजाओं को सकुटुम्ब मरवाने की योजना में सफल हुआ और चन्द्रगुप्त का राज्य निष्कंटक हो गया।[3]

मौर्यवंश की जौ के साथ तुलना

मौर्यवंश की जौ के साथ तुलना की गयी है। जैसे जौ बीच में मोटा तथा आदि और अन्त में हीन होता है, वैसे ही मौर्यवंश को भी बताया गया है। प्रथम मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त को बल, वाहन आदि विभूति से हीन कहा है। चन्द्रगुप्त के बाद उसका पुत्र बिन्दुसार, उसका पुत्र अशोक, उसका कुणाल और फिर उसका पुत्र सम्प्रति हुआ। ये सब आगे-आगे एक दूसरे से महान् होते गये। सम्प्रति के पश्चात् मौर्यवंश की अवनति होती चली गयी।[4]

उज्जयिनी का शासक सम्प्रति

कुणाल अशोक का पुत्र था। उज्जयिनी नगरी उसे आजीविका के

---

१. बौद्धों के महावंश की टीका (वंसत्थप्पकासिनी), १, पृ० १८० में भी मौर्य और मोर में संबंध बताते हुए कहा है कि मौर्यों द्वारा निर्मित भवनों में मोरों की गर्दन जैसा नीले रंग का पत्थर लगाया जाता था। एरियन के अनुसार पाटलिपुत्र के मौर्यों के प्रासाद में पालतू मोर रक्खे जाते थे, रायचौधुरी, वही पृ० २१६।

२. बौद्ध परम्परा में, महावंसटीका, पृ० १८१ आदि के अनुसार, चन्द्रगुप्त को अंतिम नंद धननन्द का उत्तराधिकारी कहा है।

३. उत्तराध्ययनटीका, पृ० ५७ आदि; आवश्यकचूर्णी, पृ० ५६३ आदि। तथा देखिए कथासरित्सागर, जिल्द १, पुस्तक १, अध्याय ५।

४. बृहत्कल्पभाष्य १.३२७८ आदि। अशोक के संबंध में अन्य प्रमाणों के लिए देखिए रायचौधुरी, वही, पृ० ३,२८१; वी० ए० स्मिथ, ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० १०२ आदि।

लिए (कुमारभुक्ती) दी गयी थी। जब वह आठ वर्ष का हुआ तो उसकी सौतेली माँ ने ईर्ष्यावश उसकी आंखें फुड़वाकर उसे अंधा कर दिया। कुछ समय पश्चात् कुणाल सम्राट् अशोक के दरबार में उपस्थित हुआ और उसने अपने पुत्र सम्प्रति के लिए राज्य की याचना की। अशोक ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की।[1]

सम्प्रति उज्जयिनी का शासक हो गया। धीरे-धीरे उसने दक्षिणापथ जीत लिया और सीमाप्रान्त के क्षेत्रों को अपने वश में कर लिया। जैन धर्म में सम्प्रति को जैन श्रमण संघ का परम प्रभावक बताया गया है। नगर के चारों द्वारों पर उसने दान की व्यवस्था की और श्रमणों को वस्त्र आदि दान में दिये। भोजनालयों में दीन, अनाथ और पथिकों के खाने से जो भोजन अवशेष रहता, उसे वह जैन साधुओं को दिलवाता था (जैन साधुओं के लिए राजपिंड का निषेध है)। भोजन के बदले रसोइयों को वह उसका मूल्य दे देता था। प्रत्यन्त देशों के राजाओं को बुलाकर उसने श्रमणों के प्रति भक्तिभाव प्रदर्शित करने का आदेश दिया था। अपने दण्ड, भट और भोजिकों को साथ लेकर वह रथयात्रा के साथ चलता, तथा रथ पर पुष्प, फल, गंध, चूर्ण, कपर्दक (कौड़ी) और वस्त्र आदि चढ़ाता। चैत्यगृह में स्थित भगवान् की प्रतिमा की पूजा वह बड़े ठाट से करता। उसके आदेश से अन्य राजा भी अपने-अपने राज्यों में रथयात्रा का महोत्सव मनाते। राजाओं से वह कहा करता कि द्रव्य की उसे आवश्यकता नहीं, यदि वे लोग उसे अपना स्वामी मानते हैं तो उन्हें श्रमणों की पूजा-भक्ति करनी चाहिए। उसने अपने राज्य में अमाघात (मत मारो) की घोषणा की और जैन चैत्यों का निर्माण कराया। अपने योद्धाओं को साधु वेष में भेजकर उसने आंध्र, द्रविड़, महाराष्ट्र और कुडुक्क (कुर्ग) आदि प्रत्यंत देशों को जैन श्रमणों के सुखपूर्वक विहार करने योग्य बनाया।[2] वस्तुतः

---

१. बृहत्कल्पभाष्यपीठिका २९२ आदि; १.३२७५ आदि; निशीथचूर्णी ५.२१५४ की चूर्णी, पृ० ३६१। बौद्ध परम्परा के लिए देखिए बी०सी० लाहा, ज्याग्रफिकल ऐस्सेज़, पृ० ४४ आदि।

२. बृहत्कल्पभाष्य १.३२७८-८९; निशीथचूर्णी १६.५७५४-५८, पृ० १३१; तथा देखिए स्थविरावलिचरित ११।

है। नंद राजाओं के मयूरपोषकों के किसी गाँव के मुखिया का यह पुत्र था।[1] कहा जाता है कि चाणक्य नन्द राजाओं द्वारा अपमानित होकर राजपद के योग्य किसी व्यक्ति की खोज में घूमता-घामता इस गाँव में आया और उसने चंद्रगुप्त को अपने अधिकार में ले लिया। बड़े हो जाने पर चाणक्य ने उसे साथ में ले पाटलिपुत्र के चारों ओर घेरा डाल दिया। नन्द के सिपाहियों ने उसका पीछा किया और चाणक्य चन्द्रगुप्त को लेकर भाग गया। तत्पश्चात् हिमवंतकूट के राजा पर्वतक[2] के साथ मिलकर चाणक्य ने फिर से नन्दों पर चढ़ाई की और अबकी बार वह विजयी हुआ। चाणक्य नन्द राजाओं को सकुटुम्ब मरवाने की योजना में सफल हुआ और चन्द्रगुप्त का राज्य निष्कंटक हो गया।[3]

मौर्यवंश की जौ के साथ तुलना

मौर्यवंश की जौ के साथ तुलना की गयी है। जैसे जौ बीच में मोटा तथा आदि और अन्त में हीन होता है, वैसे ही मौर्यवंश को भी बताया गया है। प्रथम मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त को बल, वाहन आदि विभूति से हीन कहा है। चन्द्रगुप्त के बाद उसका पुत्र बिन्दुसार, उसका पुत्र अशोक, उसका कुणाल और फिर उसका पुत्र सम्प्रति हुआ। ये सब आगे-आगे एक दूसरे से महान् होते गये। सम्प्रति के पश्चात् मौर्यवंश की अवनति होती चली गयी।[4]

उज्जयिनी का शासक सम्प्रति

कुणाल अशोक का पुत्र था। उज्जयिनी नगरी उसे आजीविका के

1. बौद्धों के महावंस की टीका (वंसत्थप्पकासिनी), १, पृ० १८० में भी मौर्य और मोर में संबंध बताते हुए कहा है कि मौर्यों द्वारा निर्मित भवनों में मोरों की गर्दन जैसा नीले रंग का पत्थर लगाया गया था। एरियन के अनुसार पाटलिपुत्र के मौर्यों के प्रासाद में पालतू मोर रक्खे जाते थे, रायचौधुरी, वही पृ० २१६।

2. बौद्ध परंपरा में, महावंसटीका, पृ० १८१ आदि के अनुसार, पर्वत को अंतिम नंद धननन्द का उत्तराधिकारी कहा है।

3. उत्तराध्ययनटीका, पृ० ५७ आदि; आवश्यकचूर्णी, पृ० ५६१ आदि। तथा देखिए कथासरित्सागर, जिल्द १, पुस्तक १, अध्याय ५।

4. बृहत्कल्पभाष्य १.३२७८ आदि। अशोक के सम्बन्ध में अन्य परम्पराओं के लिए देखिए रायचौधुरी, वही, पृ० ४, २९१; वी० ए० स्मिथ, अर्ली हिस्टरी ऑफ इंडिया; बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० २७५ आदि।

लिए (कुमारभुक्ति) दी गयी थी। जब वह आठ वर्ष का हुआ तो उसकी सौतेली माँ ने ईर्ष्यावश उसकी आंखें फुड़वाकर उसे अंधा कर दिया। कुछ समय पश्चात् कुणाल सम्राट् अशोक के दरबार में उपस्थित हुआ और उसने अपने पुत्र सम्प्रति के लिए राज्य की याचना की। अशोक ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की।[1]

सम्प्रति उज्जयिनी का शासक हो गया। धीरे-धीरे उसने दक्षिणापथ जीत लिया और सीमाप्रान्त के क्षेत्रों को अपने वश में कर लिया। जैन धर्म में सम्प्रति को जैन श्रमण संघ का परम प्रभावक बताया गया है। नगर के चारों द्वारों पर उसने दान की व्यवस्था की और श्रमणों को वस्त्र आदि दान में दिये। भोजनालयों में दीन, अनाथ और पथिकों के खाने से जो भोजन अवशेष रहता, उसे वह जैन साधुओं को दिलवाता था (जैन साधुओं के लिए राजपिंड का निषेध है)। भोजन के बदले रसोइयों को वह उसका मूल्य दे देता था। प्रत्यन्त देशों के राजाओं को बुलाकर उसने श्रमणों के प्रति भक्तिभाव प्रदर्शित करने का आदेश दिया था। अपने दण्ड, भट और भोजिकों को साथ लेकर वह रथयात्रा के साथ चलता, तथा रथ पर पुष्प, फल, गंध, चूर्ण, कपर्दक (कौड़ी) और वस्त्र आदि चढ़ाता। चैत्यगृह में स्थित भगवान् की प्रतिमा की पूजा वह बड़े ठाट से करता। उसके आदेश से अन्य राजा भी अपने-अपने राज्यों में रथयात्रा का महोत्सव मनाते। राजाओं से वह कहा करता कि द्रव्य की उसे आवश्यकता नहीं, यदि वे लोग उसे अपना स्वामी मानते हैं तो उन्हें श्रमणों की पूजा-भक्ति करनी चाहिए। उसने अपने राज्य में अमाघात (मत मारो) की घोषणा की और जैन चैत्यों का निर्माण कराया। अपने योद्धाओं को साधु वेष में भेजकर उसने आंध्र, द्रविड़, महाराष्ट्र और कुडुक्क (कुर्ग) आदि प्रत्यंत देशों को जैन श्रमणों के सुखपूर्वक विहार करने योग्य बनाया।[2] वस्तुतः

---

१. बृहत्कल्पभाष्यपीठिका २९२ आदि; १.३२७५ आदि; निशीथचूर्णी ५.२१५४ की चूर्णी, पृ० ३६१। बौद्ध परम्परा के लिए देखिए बी०सी० लाहा, ज्याग्रफिकल ऐस्सेज़, पृ० ४४ आदि।

२. बृहत्कल्पभाष्य १.३२७८-८९; निशीथचूर्णी १६.५७५४-५८, पृ० १३१; तथा देखिए स्थविरावलिचरित ११।

अखिलाय=विस्वर ४५७१ (बृ०)
अस्सतर=वेगसर=भच्चर ५१ (बृ०)
अहिमर=साहसी चोर १३० (बृ०)

आ

आचुसिज्ज=चूसना १७०
(नि० चू०)
आढा=आदर २६७६ (बृ०)
आणट्ठवण=आज्ञा स्थापन २४८६
(बृ०)
आदेस=पाहुना ५४४ (बृ०)
आर=संसार ३१६ (बृ०)
आलवण=आलपन १५७१ (बृ०)
आसियावण=अपहरण २७८६
(बृ०)
आहट्ट=पहेली १३०१ (बृ०)

इ

इकड=लाट देश में होने वाला
एक प्रकार का तृण ८८७ (नि०)
इड्डर=गाड़ी ४७६ (ओ०)
इत्तिरिय=थोड़े समय के लिये
३३० (नि०)
इलय=छुरी ३२ (नि० चू०)
इलिया=इल्ली १२० (नि०)
उअपोत=आकीर्ण ३१७२ (बृ०)
उंडिस=लेख की मुद्रा १८६ (बृ०)
उंदुय=उंदुक=स्थानम् १२२३
(बृ०)
उंदुर=उंदीर (मराठी)=चूहा
८०० (नि०)
उक्कुरुड (उकरड़ी गुजराती)=
कूरडी=कचरे का ढेर १६२५ (बृ०)
उक्कस=जैन साध्वियों का एक वस्त्र
(परिधाणवत्थस्स अब्भितरचूलाए
उवरिकण्णो नाभिहेट्ठा उक्खो
भण्णइ) १०६० (बृ०)
उक्ख (उच्छ)=बैल ३. १५०
(व्य०)
उक्खल=उदूखल=ओखली
२६४२ (बृ०)
उक्खलिया=थाली ८०८ (नि०)
उग्घाड=उघाडना २२५ (नि०)
उच्छुद्ध=परित्यक्त ३१३२ (बृ०)
उज्जल्ल=अत्यन्त मलिन शरीर वाला
२४५७ (बृ०)
उज्झायणा=दुर्गन्धि ३६६७ (बृ०)
उडुंचक=उपहास ४४८ (बृ०)
उड्ड=उड़ना १०० (बृ०)
उड्डण=अङ्गीकार ३. ७२ (व्य०)
उड्डयर=जो शौच करते समय
चंचलता के कारण शौच में
अपना हाथ खराब कर लेता है
१७४१ (बृ०)
उड्डहन=गधे आदि पर चढ़ाना
२५०० (बृ०)
उत्तरोट्ठरोम=मूंछ ३५६
(नि० सू०)
उत्तिग=चींटियों का बिल ७. ७४
(नि० सू० चू०)
उत्तुइअ=गर्वित २. ३०७ (व्य०)
उत्तेडा=बिन्दू १६ (पि०)
उद्दर=अनंतरोक्तर् २८७८ (बृ०)
उद्सी=उदश्वित्=मट्ठा ५६०४
(बृ०)
उद्दुण्डक=उपहास के योग्य
४००२ (बृ०)
उद्दूढ=चुराया हुआ २६१६ (बृ०)
उप्पलज्ज=उत्पलार्य=साधु २६४२
(बृ०)

उप्पेय=तेल आदि की मालिश ६. ६१ (व्य०)
उब्भंड=नग्न, निर्लज्ज ६१५१ (बृ०)
उब्भामग=परस्त्रीगामी २३५८ (बृ०)
उमुंग=अलायं=लूका २२६ (नि०)
उम्मरीय (उंबरठा मराठी)= देहली ४७७० (बृ०)
उल्लंडक=मिट्टी का गोला ४२५४ (बृ०)
उल्ला=आर्द्र=आल्ला (पश्चिमी उत्तरप्रदेश की बोली में) ३२६ (बृ०)
उल्लुगच्छी=सुई की नोक ३६८६ (नि०)
उव=खाई ७२१ (बृ०)
उवइ=उवइग=समुद्देहिका=दीमक २६१ (नि०)
उवग (ओवग)=खड्डा=कुसारो ४१५ (नि०)
उव्वट्टण=उबटन १८११ (बृ०)
उव्वर=ओवरी (ओवरी मराठी में=कोठरी) १७३ (नि०)
उहर=छोटा ७. ३१६ (व्य०)

ए

एक्कखुर=घोड़ी आदि एक खुरवाले पशु २१६८ (बृ०)
एक्कावण्ण=इक्यावन ३०८५ (बृ०)
एरंडदूए=हड़काया कुत्ता २६२६ (बृ०)
एलालुग=खीरा=ककड़ी २४४२ (बृ०)

ओ

ओम=दुर्भिक्ष १४५५ (बृ०)
ओली=पंक्ति २२१६ (बृ०)
ओस=ओस ५५८ (नि०)
ओसरण=साधुओं का एकत्रित होना ६१०३ (बृ०)
ओहार=एक प्रकार की मछली ५६३३ (बृ०)

क

कउय = वेप परिवर्तन करने वाला ५३५२ (बृ०)
कंकडुय = कांकटुक: (कुडकू हिन्दी) = न सीझने वाले, उड़द, चने आदि २१५ (बृ०)
कंचिक्क = कंचित्क = नपुंसक ५१८३ (बृ०)
कंटइल = कंटीले ३२४८ (बृ०)
कंडन (कंडिय) = छड़ना १७१ (पिं०)
कक्कड़ी = ककड़ी १. १०२१ (बृ०)
कट्टर = कढ़ी में डाला हुआ घी का बड़ा ६२५ (पिं०)
कट्टरिगा = कटारी २८६० (नि०चू०)
कट्टोल्ल = हल द्वारा जोती हुई भूमि १२ (पिं०)
कडहू = एक वृक्ष ६५३ (नि०)
कडुच्छिका = कड़छी २५६ (ओ० भा० टी०)
कडुदंडपोट्टलिक = गले में दारुण कुरूप पोटली वाला काला बकरा ६. ८ (व्य०)
कड्डिल्ल = निश्छिद्र २. २७ (व्य०)
कड्ढण = काढ़ना ८६६ (बृ०)
कडियं = कढाया हुआ १४८२ (बृ०)
कण्हगोमी = कृष्ण शृगाल ६. ३१७ (व्य०)

कत्तंती = कातने वाली ५७४ (पिं०)
करथ = कहां (कोथाय बंगाली में) १५२५ (बृ०)
कप्पट्ठग = बालक ४. ३३ (बृ०)
कप्पट्ठी = कव्वट्ठी = जैन साधु को रहने का स्थान देने वाले गृहस्थ की कन्या अथवा युवती या कुल बधु ३५५ (नि०)
कप्पर = खप्पर ५११ (नि०)
कयल = केला १७१२ (बृ०)
कयवर = कचरा ३१४ (बृ०)
करग = पानी का बर्तन (करवा) ६०४ (नि०)
कल्लं = कल १५४१ (बृ०)
कल्लाल = कलाल ६०४७ (नि०चू०)
कलिंच = तृण के पूले १४६८ (बृ०)
कलिंच = बांस की खप्पच ५०६ (नि०)
कली = प्रथम १०८४ (बृ०)
कल्लुग = नदी के पत्थर ५६४६ (बृ०)
कवड्डग = कौड़ी १६६६ (बृ०)
कसट्ट = कचरा ५५७ (ओ०)
कहकहकह = कहकहा लगाना १२६६ (बृ०)
कहणा = कहना = कहणा (पश्चिमी उत्तरप्रदेश की बोली में) ११६० (बृ०)
काणिट्ट = पत्थर (लोहे की व्य० ४.५५५ टी० में) की ईंटें ४७६८ (बृ०)
कामगद्दह = कामगर्दभ (ब्राह्मण के लिए प्रयुक्त ४४६ (पिं०)
काहिली = मन २०७२ (बृ०)

काहल = फल्गुप्राय २८४ (बृ०)
किढी = दासी अथवा वृद्ध श्राविका १२०५, १६५६ (बृ०)
कीए = क्रीतः = खरीदा हुआ १. ६०६ (बृ०)
कीड = कीड़ा ६१२ (बृ०)
कुंचवीरग = एक प्रकार का जलयान ५३२३ (नि०)
कुंडय = चावलों की कणी १४८ (नि०)
कुकम्मिग = बर्तन, शालि, दाल आदि का अपहरण करने वाला ३६०६ (बृ०)
कुक्कुडी = (कूकड़ी गुजराती) मुर्गी ३. ३२ (व्य०)
कुट्टणी = कूटने वाली २६६३ (बृ०)
कुडंग = जिस वन में तुंबी पैदा होती हो ४०३४ (बृ०)
कुडंड = बांस का टोकरा ६२१४ (बृ०)
कुडुंभग = जल का मेंढक १६४ (नि० चू०)
कुड्ड = कुब्जा ४०६१ (बृ०)
कुणी = जिसके हाथ न हो (टूंडा) ३०१८ (बृ०)
कुतव = कुनप = जीन ३६६२ (बृ०)
कुप्पासय = कूर्पासिक = कंचुक ३६५४ (बृ०)
कुरिण = बड़ा जंगल ४२७ (ओ०)
कुरुण = राजा या किसी अन्य का भय ३. ६३ (व्य० टी०)

खोड = लकड़ी का खूंटा (मराठी में खोड़) ११२३ (बृ०)
खोडी = लकड़ी की पेटी ३. ८८ (व्य०)
खोला = राजा द्वारा नियुक्त गुप्तचर १२७ (पिं०)
खोल्ल = कोटर = खोल ६१२ (बृ०)

ग

गंठी = गांठ ६३ (बृ०)
गंडय = घोषणा करने वाला पुरुष ७. ३४१ (व्य०)
गड्डा = गड्ढा २१६७ (बृ०)
गमणी = जूते २५४ (नि०)
गर = अकालमारक विष ४१४ (नि०)
गल्लधरण = कुल्ला करना १०. ४१६ (व्य०)
गल्लोल = हस्तिमद १४ (नि० चू०)
गार (गार मराठी) = कंकड़-पत्थर ५६४६ (बृ०)
गास = ग्रास = घास ११६ (बृ०)
गिहिमत्त = घटिका आदि पात्र १२. १० (नि० सू०)
गुंठ = दुष्ट घोड़ा ५६६३ (नि०)
गुंठ = मायावी ३. ३४० (व्य०)
गुज्झंग = मृगीपद = योनि १७५३ (नि० चू०)
गुज्झक्खिणी स्वामिनी ५. ५७०४ (बृ०)
गुल (गूळ मराठी) = गुड़ १२८ (बृ०)
गुलिय = गोली १. १२७७ (बृ०)
गुविला = गम्भीर ४५४१ (बृ०)
गेंदुग = गेंद ४१३७ (नि० चू०)
गेरु = गेरुक = परिव्राजक ३७४ (बृ०)
गोणी = गाय १७१ (बृ०)
गोणी = गूणी = बोरी ३६७५ (बृ०)
गोफण (गोफण मराठी) = गोफन ४०८ (नि०)
गोम्ही (गोम मराठी) = कानखजूरा १२४५ (नि०)
गोर = गेहूँ ३०७२ (बृ०)
गोरुअ=प्रशस्त गाय (गोरु बंगाली में) १५३७ (नि० चू०)
गोव्वर = गोबर १७३१ (बृ०)

घ

घयघट्ट=घी का मैल १७११ (बृ०)
घयण = भांड ६३२५ (बृ०)
घाडिय = घाटिक: = मित्र २१७५ (बृ०)
घाण = तिलपीडन यंत्र = घाणी ४० (पिं०)
घाणा (घाण मराठी) = घिन २३७६ (बृ०)
घिंसिसिरवास = ग्रीष्म ३१० (ओ० भा०)
घुट्टक = लेप किये हुए पात्र को घिसने का पत्थर १५ (पिं०)
घुसुलण (घुसलणें मराठी) = मथन ५७४ (पिं०)
घोट्ट = आस्वादन ३६६ (बृ०)
घोट = चट्ट २०६६ (बृ०); पंचालचट्टा २६०६ (बृ०)
घोडयकंडूइय = दो साधुओं का परस्पर प्रश्न ४. १०५ (व्य०)

च

चंगोड ५११५ (बृ०)
चक्क = तिलयंत्र ३६४८ (बृ०)
चडप्फडंत = बार-बार इधर-उधर घूमना ६३२२ (बृ०)
चट्टू = एक पात्र १६५१ (बृ०)
चड्डुग = तेल का पात्र (चाडुं, गुजराती में) ५७७६ (नि०)
चड्डुतरं = चढ़ना-उतरना ४२२० (बृ०)
चप्पडअ = चपटा ८४४ (नि०)
चप्पुडिया = चुटकी बजाना ७. २३३ (व्य०)
चमढण = मर्दन १६३ (पिं०)
चाउल = चावल का धोवन ४०३७ (बृ०)
चाडो = भाग जाना १३३७ (बृ०)
चालिणि = छलनी (चाळण मराठी में) ३४३ (बृ०)
चिक्कण = चिकना ६६ (पिं०)
चिक्खल्ल (चिखल मराठी) = कीचड़ ११७३ (बृ०)
चिप्पक = कूटा हुआ (चेपो गुजराती में) ३६७३ (बृ०)
चिब्भिड = खीरा (चीभडुं गुजराती में) ८४३ (बृ०)
चिरिक = चर्म का भाजन (मशक) ३२७३ (बृ०)
चिलिण = अशुचि १६५ (पिं०)
चीयत = प्रीतिकर १०५१ (बृ०)
चुक्क = चूकना ५१८१ (बृ०)
चुडण = जीर्णता २५ (पिं०)
चुडुलि = उल्का ४४६४ (बृ०)
चुल्ली(चूल मराठी) = चूल्हा ३३१ (नि० चू०)
चोक्ख = चोखा ५५१० (बृ०)
चोप्प = मूर्ख ३७३ (बृ०)
चोप्पाल = चौपाल ४७७० (बृ०)
चोल्लय = भोजन ३१२७ (बृ०)

छ

छंदिय = निमंत्रित २८५६ (बृ०)
छड्डिय = छूड़े हुए १२११ (बृ०)
छड्ड = छोड़ना २००३ (बृ०)
छप्पइ = छह पैर वाली—जूं १५३७ (बृ०)
छव्वय = बांस की पिटारी ५५८ (ओ०)
छल्ली = छाल ६७१ (बृ०)
छाइल्ल = दीपक (छाया वाला) ७. ३५६ (व्य०)
छिंडिका = बाड़े का छिद्र २६५३ (बृ०)
छिक्क = छुआ हुआ २६४८ (बृ०)
छिक्कोवण = जिसे जल्दी गुस्सा आता हो ६१५७ (बृ०)
छिन्ना = छिन्नाला (जिसके हाथ, पांव और नाक काट लिये गये हों) = कुलटा २३१५ (बृ०)
छिहलि = शिखा ३६११ (नि०)
छु = छूट ५३६५ (नि०)
छेमग = महामारी ५. ७६ (व्य०)

ज

जक्ख = श्वान ५७४ (बृ०)
जड्ड = हस्ती १५८६ (बृ०)
जण = जन अथवा जण १४७२ (बृ०)

जल्ल =(जाळ मराठी)=शरीर का मैल ५३४ (नि०)
जाउ (जावु) = यवागू ६२५ (पिं०)
जाउग (जाऊ मराठी) = ज्येष्ठ या देवर की पत्नी १७२५ (बृ०)
जावसिआ=घासवाहक २३८ (पिं०)
जिम्हं = लज्जनीय=मायावी २७०६ (बृ०)
जियगद्दत्तणं = जिसने लज्जा को जीत लिया है २३३८ (बृ०)
जुगं = जूआ ६०४ (नि०)
जुन्न = जीर्ण (गुजराती में जूना) १४५६ (बृ०)
जूव (यूपक) = चेटक नाम का जल-मध्यवर्ती तट २४१३ (बृ०)
जोइक्ख = दीपक ७. ३५६ (व्य०)
जोवण = धान्यमर्दन ६० (पिं० भाष्य)
जोवणं = रथकार आदि २५६० (बृ०)

झ

झंझडिया = ऋण न चुकाने पर वणिकों में गाली-गलोज द्वारा कलह होना २७०४ (नि०)
झड्डरविड्डर = मंत्र-तंत्र आदि का प्रयोग ३. २३२ (व्य०)
झिंझिरि = वृक्ष विशेष ८५० (बृ०)

ड

डंडअ = डंडा ३२१४ (बृ०)
डंडणया = दण्ड ३५६ (बृ०)
डउर (डओयर) = जलोदर ४२५८ (बृ०)
डक = डंक मारा हुआ ६५४ (बृ०)
डगण = एक यान ३१७१ (बृ०)
डगरा = पादमूलिका ४८५३ (नि० चू०)
डगल (डगलक) = टट्टी पोंछने के पत्थर के ढेले ४४१ (बृ०)
डब्बहत्थ = बायां हाथ (डाबुं गुजराती में) ५५२५ (बृ०)
डाग=पत्तों की भाजी ८०८ (नि०)
डायाल = प्रासाद की भूमि ६३१ (नि०)
डिंडिम = गर्भ ४१४३ (बृ०)
डिंडीबंध = गर्भसंभव ४११६ (बृ०)
डिंभ = बालक ३३३७ (बृ०)
डुंब=हाथी का महावत ३८७ (पिं०)
डेविंति = उपभोग करते हैं २४५५ (बृ०)
डोय=लकड़ी का हाथा (गुजराती में डोयो) २५० (पि०)
डोल (टोळ मराठी) = तिड्डक = टिड्डा २३७६ (बृ०)

ढ

ढकण = ढकन २६४२ (बृ०)
ढक्कंति = ढंकते हैं १३६२ (बृ०)
ढिंकुण = खटमल (ढेंकूण मराठी में) ५३७६ (बृ०)

ण

णंतग = वस्त्र २२८० (बृ०)
णत्तू = नाती ४२५१ (बृ०)
णहसिह = नखाग्र १५१४ (नि०)
णहोरग = निहोरक ४८८२ (बृ०)
णिण्ण = खड्डा ४०३६ (नि०)
णिसेणी = नसैनी ४२५३ (नि०)

ण्हाण = स्नान (ण्हाण पश्चिमी उत्तरप्रदेश की बोली में) १२५१ (बृ०)

त

तक्क = उदासी = छास (खानदेश में बोली जाने वाली आभीरों की भाषा में)=मट्ठा (ताक मराठी में) १७०६ (बृ०)
तण्णग = बछड़ा २११६ (बृ०)
तलिया=गमणी=जूता २५४ (नि०)
तिंतिणी = बड़बड़ाना ३.८५ (व्य०)
तुंड = मुंह (तोंड मराठी में) ३४६ (बृ०)
तुंडिय = थिग्गल = थेगला १.४१ (नि० सू०)
तुप्प (तुप्प कन्नड़) = मृत कलेवर की चर्बी २०१ (नि०)
तुमंतुमा = तू-तू १५०६ (बृ०)
तूरपइ = नटों का मुखिया ६४१ (बृ०)
तूह = तीर्थ ४८६० (बृ०)

थ

थली = घोड़े आदि का स्थान ७.२३७ (व्य०)
थाइणि = घोड़ी (ठाणी मराठी में) ३६५६ (बृ०)
थालिय = थाली ३१८७ (नि०चू०)
थिग्गल = जोड़ (थेगला हिन्दी) ८.१५७ (व्य०)
थिबुक = बिन्दु ३०२ (नि० चू०)
थूर = स्थूल (थोर मराठी में) १६६६ (बृ०)
थेज्जवई = पृथ्वी १८० (बृ०)

द

दंडपरिहार = बड़ी पुरानी कंबली २६७७ (बृ०)
दंतखज्ज = दांतों से खाने योग्य तिल आदि ३३६४ (बृ०)
दंतवण (दांतवण मराठी) = दातौन १५२० (नि०चू०)
दंतिक्क = दांत से तोड़कर खाये जाने वाले मोदक आदि, अथवा चावल का आटा ३०७२ (बृ०)
दद्दर = जीना (दादर मराठी और गुजराती में) ३६४ (पिं०)
दद्दरय = तेल के बर्तन वगैरह पर बांधा जाने वाला वस्त्र १६५८ (बृ०)
दवदवस्स (दवदव मराठी) = शीघ्र २२८१ (बृ०)
दव्वी = छोटी कड़छी (डोई) २५० (पिं०)
दसा (दशी=छोटा धागा,मराठी में) = किनारी ३६०५ (बृ०)
दाढिया = डाढ़ी १५१४ (नि०चू०)
दाली = रेखा ३२३ (ओ०)
दावर = दूसरा १००४ (बृ०)
दीहसुत्तं करेइ = कातता है ५.२४ (नि० सू०)
दुखुर = दो खुर वाले गाय, भैंस आदि जानवर २१६८ (बृ०)
दुग्घास = दुर्भिक्ष ४३४६ (बृ०)
दुचक्कमूल = दो चक्के वाली गाड़ी ४६७ (बृ०)
दुयक्खरय = दो अक्षर वाला=दास ४४३० (बृ०)

दुस्सिय (गुजरात या महाराष्ट्र के दोशी)=दौष्यिक=वस्त्र बेचनेवाला (धुस्सा हिन्दी में) ३२८१ (बृ०)
देक्खति = देखता है १८७८ (नि० चू०)
दोद्धिअ = लौकी (दूधी मराठी) १०.४६४ (व्य०)
दोर = डोरी ३८६६ (बृ०)

ध

धारणिओ=ऋणधारी २६६० (बृ०)
धोवण = धोना १६३६ (बृ०)

न

नवरंग २८६२ (बृ०)
नालिएर = नालिकेर = नारियल ८५२ (बृ०)
नावापूरय = चुल्लू ४५६ (बृ०)
निग्घोलिय = खाली किया हुआ ३३६६ (बृ०)
निच्छक्क = निर्लज्ज २२५६ (बृ०)
निच्छल्लिय = छालरहित १६५७ (बृ०)
नित्तुप्प = बिना चुपड़ा हुआ १७०६ (बृ०)
नीलकेसी = तरुणी ४.१२४ (व्य०)
नेऊण = ले जाकर (नेऊन मराठी में) १७७६ (बृ०)

प

पंचपुंड = पंचपुंड्र = किशोर (पांच स्थानों में श्वेत वर्ण वाला) ४३ (पि० भाष्य)
पंतवत्थ = जीर्णवस्त्र ३५०८ (बृ०)
पंतावणा = ताडणा ८६६ (बृ०)
पंती = पंक्ति = (पंती गुजराती में) १८२२ (बृ०)
पउणइ = प्रगुणीभवति = अच्छा होना ६८ (बृ०)
पउलिया = पक्व १०७६ (बृ०)
पखाल = पखवाली १०४ (बृ०)
पघस=स्नान करने के बाद कुंकुम-चूर्ण आदि से शरीर को घिसना २३६७ (बृ०)
पच्चोवणी=अगवानी के लिए आना ४४०७ (नि० चू०)
पच्छयण=पाथेय ११६१ (नि०चू०)
पट्टालि = घर के ऊपर चटाई आदि की बनी कच्ची छत ७. ४०५(व्य०)
पड्डिया (पाड़ी हिन्दी) = छोटी भैंस ३. ३४ (व्य०)
पड्डुच्छि = भैंस ८७ (ओ०)
पत्थर = पत्थर ६७ (बृ०)
पत्थिय = बांस की बड़ी पेटी ४७६ (ओ०)
पदमग्ग=सोपान १. ११ (नि०सू०)
पनरस = पंचदश १४४३ (बृ०)
पप्पडिय = चावल की पापड़ी ५५६ (पि०)
पमद्दमाण = रुई से पूनी बनाना ५७४ (पि०)
परित्थड = वृत्तांत १३ (नि० चू०)
परिपूणग = घी-दूध छानने का छन्ना ३४५ (बृ०)
परियारण = कामभोग २. ३२१ (व्य०)
परियारिया जिसके साथ विषय-भोग किया गया हो ५४३ (नि०)
परिवच्छि = निर्णय २१४२ (बृ०)

परिहार = संज्ञा = शौच ७४७ (बृ०)
पलास = पलाश = बड़ आदि के कोमल पत्ते (ढाक) ६१२ (नि०)
पल्लंक = पलंग ८३० (बृ०)
पव्वय = डोंगर (डुंगर गुजराती में) २४०६ (नि०)
पव्वोणि = संमुख ६. २६१ (व्य०)
पहुग (पिहुग) = पृथुक = चौले (पोहा मराठी में) ३६४७ (बृ०)
पागयजण = साधारण जन १२१४ (बृ०)
पाणंधि (पाणद्धि) = मार्ग ८. २३ (व्य०)
पादपोस = पायुपोस = अपानद्वार ११०८ (नि०)
पारदोच=जहां चोर का भय न हो ३६०५ (बृ०)
पालु = अपान ३. ४० (नि० सू०)
पासवण = प्रस्रवण = मूत्र १. ६६ (बृ० सू०)
पासे = पास ८६४ (बृ०)
पाहुडिया = भिक्षा १३३१ (नि०)
पाहुण = प्राघूर्णक = पाहुना १४८१ (बृ०)
पिंजिय = पींजना २६६६ (बृ०)
पट्टं सरति = जो बहुत टट्टी-पेशाब करता है ४६८५ (बृ०)
पिट्ठ = पिट्ठी (पीठ मराठी में

पीडग (पेढ) = पीढ़ा ३२३८ (नि०)
पीढमद्द = मुँह से प्रियभाषी ६. ४६ (व्य०)
पीढसप्पी = पंगु ३२५३ (बृ०)
पुट्ट = पेट (पोट मराठी में) १४६४ (बृ०)
पुताइ = पुताकी = उद्भ्रामिका = कुलटा ६०५३ (बृ०)
पुत्तलग = पुतला १६७ (नि०)
पुरोहड = घर के पीछे का भाग = बाड़ा २०६० (बृ०)
पुसयति (पुसणें मराठी) = पूंछता है ४५६ (बृ०)
पूलिया = पूली ४५ (नि० चू०)
पूवलियखाओ=पूपलिकाखादकः= पूआ खाते समय जो केवल चव-चव-शब्द करता है। ६० वर्ष का यह वृद्ध खाट से न उठ सकने के कारण 'खट्वामल्ल' कहा जाता है। खांसने और थूकने में भी उसे कष्ट होता है २६२३-५ (बृ०)
पेडण = मोरपंख ४६३८ (बृ०)
पेलव = निःसत्व २८८५ (बृ०)
पेलु (पेळू मराठी) = पूनी २६६६ (बृ०)
पोआल (पोळ मराठी) = सांड

फ

फणस=कटहल (फणस मराठी में) ४७ (बृ०)
फरुसग = कुम्भकार १३५ (नि०)
फल्ल = सूती कपड़ा ५६६८ (बृ०)
फव्वीह = यथेच्छ भक्त-पान का लाभ २२१६ (बृ०)
फिल्लसिय (फेल्लसण) = फिसल जाना ३३०७ टीका (बृ०)
फुंफुग (फुंफुमा) = फूं-फूं करना, फूंक मारना २२८५ (बृ०)
फुट्टपत्थर = फूटे हुए पत्थर २६६२ (नि०)
फुरावेंति = अपहरण करते हैं ३. १६३ (व्य०)
फेल्ल = दरिद्र ३७२६ (नि०)
फोडित = जीरा, हींग से बघारा हुआ ६. ५४ (व्य०)

ब

बइल्ल = बैल ३१६३ (नि०)
बडुअ = ब्राह्मण ६१६६ (बृ०)
बप्प = बाप ३१८७ (नि० चू०)
बहिलग = ऊंट, खचर, बैल आदि पशु ३०६६ (बृ)
बहुफोड=बहुभक्षक १६१ (ओ०भा०)
बाडग (बाड़ी बंगला) = मुहल्ला १४८५ (नि०)
बायाला = बयालीस २७४ (बृ०)
बाहाड = घर्षित ४१२६ (बृ०)
बिज्जल (बिज्जल) = शिथिल कर्दम ५६५ (नि०)
बीया = बीज (बीय गुजराती में) ८२८ (बृ०)
बुक्कण्णय = पांसे २५ (नि० चू०)
बेट्टिया = बेटी = राजकन्या ४६१५ (बृ०)
बेट्ठ = बैठा १७४ (ओ० भा०)
बोहिय = बोधिक = पश्चिम दिशावासी म्लेच्छ ४७ (बृ०)
बोड = मुंड २१७ (पिं०)
बोरी=बेर का पेड़ (बोर मराठी में) ४१७८ (बृ०)
बोल = वृंद २२७३ (बृ०)
बोलेइ = बोलता है १६६६ (बृ०)

भ

भंडण=कलह (भांडण मराठी में) २७०६ (बृ०)
भंडी = गंत्री = गाड़ी १०३० (बृ०)
भंडु = छुरा ३६११ (नि०)
भच्चय (भाचा मराठी) = भागिनेय ५११५ (बृ०)
भज्ज = भूंजना ५७४ (नि०)
भासुंडणा = भ्रंशना २२४१ (बृ०)
भुल्ल=भूलना ५. २२ व्य०
भुस = भूसा १५३७ (नि० चू०)
भूणअ = पुत्र ४६२६ (बृ०)
भूणिया = पुत्री ५१५४ (बृ०)
भेंडिआ = भिंडिका = त्राडी ४६२७ (बृ०)
भोइय=भोजिका=भार्या (भोजयति भर्तारं) ८६६ (बृ०)
भोज्ज = भोज ३१७६ (बृ०)
भोयडा = कच्छ=लंगोट (महाराष्ट्र में लड़कियां बचपन से पहनती हैं और शादी होने तक पहने रहती हैं) १२६ (नि०)

म

मंडग = मांडा १७०६ (बृ०)
मक्कडी=बंदरी (माकड मराठी में) २५४५ (बृ०)
मक्कोडग = मकौड़ा २६३० (बृ०)
मग्गु = जलकाक १८३ (बृ०)
मच्छिया = मक्खी—माछी २६२ (नि०)
मडप्फर = गमन में उत्साह ४. ६० (व्य०)
मणूस = मनुष्य (माणुस गुजराती-मराठी में) १०२ (बृ०)
मधुमुह = मिठबोला (दुर्जन) ४११७ (बृ०)
मधूला = पादगंड ३८६५ (बृ०)
मप्पक = माप २२६ (नि० चू०)
मरुग = ब्राह्मण १०१३ (बृ०)
मल = जो हाथ से घिसकर उतारा जाये ५३४ (नि०)
महुरिया = नागिनी ५२५६ (बृ०)
माउगाम = स्त्रीसमूह (महाराष्ट्र में स्त्री के अर्थ में प्रचलित; भोजपुरी मउगी) २०६६ (बृ०)
माल = माला, तला २२४६ (बृ०)
मिंठ = महावत २०६६ (बृ०)
मि = मैं (मराठी में 'मि') ४१६४ (बृ०)
मीरा = बड़ा चूल्हा ४७०६ (नि० चू०)
मीराकरण = चटाइयों द्वारा द्वार का आच्छादन ३०४३ (बृ०)
मुइंग (मुयिंग) = चींटी (मुंगी मराठी में) २६१ (नि०)
मुग्गछिवाडी=कोमल मूंग की फली ६६४ (बृ०)
मुद्दिया = दाख ६७४ (बृ०)
मुद्धि = हरण आदि ७७ (बृ०)
मूड (मुडा मराठी) = अन्न का एक माप ४. १८३ (व्य० टी०)
मेहुण (मेहुणा = बहनोई, या साला मराठी में) = मामा का पुत्र (भानजा) २८२२ (बृ०)
मेहुणि = मामा या बुआ की लड़की या साली मराठी में भी ५७७५ (नि०)
मोअ = मोक = कायिकी = मूत्र ७४७ (बृ०)
मोग्गरग = गेंदे का फूल (मोगरा मराठी में) ६७८ (बृ०)
मोरंड = तिल आदि के लड्डू ३२८१ (बृ०)
मोरग = कुंडल ५२२७ (बृ०)

र

रट्ठउड = राठौड़ ३७५७ (बृ०)
रडण = रोना (रडवुं गुजराती में) ४५७१ (बृ०)
रन्न = अरण्य (रान गुजराती व मराठी में) १. ८७२ (बृ०)
रसयइ = रसोई ५४ (ओ० भाष्य)
राउल = राजकुल २६३६ (बृ०)
रिक्खा = रेखा १८३८ (बृ०)
रीढा = इच्छानुसार २१६२ (बृ०)
रुंच = ओटना ५७४ (नि०)
रुंद = विस्तीर्ण (रुंद मराठी में) २३७५ (बृ०)
रोट्ट = चावल का आटा ३६३ (ओ०)

रोहिणिज्जा=अन्तःपुर की स्वामिनी ३७६ (बृ०)

ल

लंद = काल १४३८ (बृ०)
लडह = मनोज्ञ २३०५ (बृ०)
लसुण (लसूण मराठी) = लहसुन ८६७ (बृ०)
लाउणालो = चींटी ५११ (नि०)
लाउलिग = डंगर=लाठी लिये हुए ४२६८ (बृ०)
लाया = लाजा ४८७ (नि०)
लाला = वत्ती ३४६५ (बृ०)
लूह = रूक्ष १३५८ (बृ०)
लेच्छारिअ = लिप्त ६१०८ (नि०)
लेव = वर्तन पर रंग करना ३३० (नि०)
लोढण = कपास ओटना ४७४ (ओ०)
लोही = कवल्ली = कड़ाही २६५१ (नि०)

व

वंठ = जिसका विवाह न हुआ हो २१८ (ओ०)
वइ (वइ मराठी) = बाड़ी २७६ (नि०)
वक्खर = भांड ४४७७ (बृ०)
वघाणि = चार्वाक ३. ३४४ (व्य०)
वट्टखुर = गोल खुरवाला (घोड़ा) ३७४७ (बृ०)
वड = विभाग ६१४२ (नि० चू०)
वडग = बड़ा ६३७ (पिं०)
वडसाला = डाली १३५ (नि०)
वडार = बंटवारा ६५५ (ओ०)
वडुंयक = वडुंवक=बहुत से सम्बन्धी ५१८७ (बृ०)
वत्ती = खड़िया १५८ (बृ०)
वद्दल = बादल ७४२ (बृ०)
वरंडग = बरामदा ४८२४ (बृ०)
वलय = धान्य आदि भरने का कोठार ३२६८ (बृ०)
वलवा (वडूवा मराठी) = घोड़ी २२८३ (बृ०)
वाइ = एक प्रकार का मद्य ४६२ (नि०)
वाउलणा=व्याकुलता ११७५ (बृ०)
वाउलगा=पुरुष का पुतला (बाहुली मराठी में) १५५ (नि०)
वाडी = बाड़ १०६६ (बृ०)
वाणिगिणी = प्रोषितभर्तृका २८४७ (बृ०)
वारय = घट २०४८ (बृ०)
वारवारेण = बारबार ५१२ (बृ०)
वालचिय = पुरुष ४०५ (पिं०)
वालुंक = ककड़ी ३७६ (बृ०)
विंटय = अंगूठी (वींटी मराठी में) २२५२ (बृ०)
विकडु = कड़वी औषधि १०१० (बृ०)
विगुरुव्विय = वस्त्रादि से अलंकृत २२०१ (बृ०)
विच्छू = बिच्छू ६१६ (बृ०)
विज्जल (देखिए विज्जल)
वियण (वियणि)=पंखा (बीजना हिन्दी में) २५२ (नि०)
वियरग = कूपिका २८१६ (बृ०)
वियाया = प्रसूता (ब्याना हिन्दी) ७. ३०४ (व्य०)

साहुली=वृक्ष की डाली २३८ (नि०)

सिंदूर = सिन्दूर से लाल देवकुल २५०७ (बृ०)

सिंदूर = सभाघर ५१५७ (नि०)

सिंधवण्ण = सफेद रंग का ४१७० (बृ०)

सिइ = सीढ़ी १०. ४०८ (व्य०)

सिग्ग = श्रान्त १५८५ (बृ०)

सिण्हा = ओस ३५०३ (बृ०)

सिसाण = गंधी की दूकान पर शरीर का घिसना १. ५ (नि०चू०)

सुगेही = सुन्दर घर वाली (बया) ३२५२ (बृ०)

सुढिय=अत्यन्त आद्रत २६७२ (बृ०)

सुढिय = श्रान्त २१५५ (बृ०)

सुण्ह = पुत्रवधू (सून मराठी में) १२५८ (बृ०)

सुप्प = सूप २३६ (नि०)

सुविही = आंगन का छोटा मंडप ६०५५ (बृ०)

सेडुय = कपास २६६६ (बृ०)

सेढि = सीढ़ी १०७ (बृ०)

सोट्टा = शुष्क काष्ठ (सोटा पश्चिमी उत्तरप्रदेश की बोली में) ३५१६ (बृ०)

सोलग = घोड़े की देखभाल करने वाले २०६६ (बृ०)

ह

हंसोलीणं = कंधे पर चढ़ना २५ (नि० चू०)

हत्थकम्म=हस्तमैथुन ४६७ (नि०)

हिंड = हिंडना १४६६ (बृ०)

होढ = गाढ़ ६१२२ (बृ०)

आधारभूत ग्रन्थ
जैन आगम

आचारांग (आयारंग)
— निर्युक्ति, भद्रबाहु
— चूर्णी, जिनदासगणि, रतलाम, १९४१
— टीका, शीलांक, सूरत, १९३५
— अंग्रेजी अनुवाद, हर्मन जैकोबी, सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट, २२, १८८४

अनुत्तरोपपातिकदशा (अणुत्तरोववाइयदसाओ)
— संपादन, पी० एल० वैद्य, पूना, १९३२
— टीका, अभयदेव; एम० सी० मोदी, अहमदाबाद, १९३२

अनुयोगद्वार (अणुयोगद्दार), आर्यरक्षित
— चूर्णी, जिनदासगणि, रतलाम, १९२८
— टीका, हरिभद्र, रतलाम, १९२८
— टीका, मलधारी हेमचन्द्र, भावनगर, १९३१

अन्तःकृद्दशा (अन्तगडदसाओ)
— संपादन पी० एल० वैद्य, पूना, १९३२
— टीका, अभयदेव; एम० सी० मोदी, अहमदाबाद, १९३२
— अंग्रेजी अनुवाद, एल० डी० बारनेट, लंदन, १९०७

आवश्यक (आवस्सय)
— निर्युक्ति, भद्रबाहु
— भाष्य
— चूर्णी, जिनदासगणि, रतलाम, १९२८
— टीका, हरिभद्र, आगमोदयसमिति, बम्बई, १९१६
— टीका, मलयगिरि, आगमोदयसमिति, बम्बई, १९२८
— निर्युक्तिदीपिका, माणिक्यशेखर, सूरत, १९३९

उत्तराध्ययन (उत्तरज्झयण)
— निर्युक्ति, भद्रबाहु
— चूर्णी, जिनदासगणि, रतलाम, १९३३
— टीका, शान्तिसूरि, बम्बई, १९१६

उत्तराध्ययन (उत्तज्झयण)
— टीका, नेमिचन्द्र, बम्बई, १६३७
— अंग्रेजी अनुवाद, हरमन जैकोबी, सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट ४५, १८९५
— संपादन, जे० शार्पेण्टियर, उपसला, १९२२
उपासगदशा (उवासगदसाओ)
— सम्पादन, पी० एल० वैद्य, पूना, १६३०
— टीका, अभयदेव
— अंग्रेजी अनुवाद, होर्नेल, कलकत्ता, १८८८
ऋषिभाषित (इसिभासिय), सूरत, १६२७
ओघनिर्युक्ति (ओहनिज्जुत्ति)
— भाष्य
— टीका, द्रोणाचार्य, बम्बई, १६१६
औपपातिक (ओवाइय)
— टीका, अभयदेव, द्वितीय संस्करण, विक्रम संवत् १६१४
कल्पसूत्र (पज्जोसणाकप्प)
— टीका, समयसुंदरगणि, बम्बई, १६३६
— अंग्रेजी अनुवाद, हरमन जैकोबी, सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट २२, १८८४
गच्छाचार (गच्छायार)
— टीका, विजयविमलगणि, अहमदाबाद, १६२४
चतुःशरण (चउसरण)
— अवचूर्णी, वीरभद्र, देवचंद लालभाई
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (जंबुद्दीवपन्नत्ति)
— टीका, शांतिचन्द्र, बम्बई, १६२०
जीतकल्प (जीयकप्प)
— भाष्य, जिनभद्रगणि; पुण्यविजय, अहमदाबाद, विक्रम संवत् १६१४
जीवाभिगम
— टीका, मलयगिरि, बम्बई, १६१६
ज्ञातृधर्मकथा (नायाधम्मकहा)
— टीका, अभयदेव, आगमोदय, बम्बई, १६१६
— संपादन, एन० वी० वैद्य, पूना, १६४०

ज्ञातृधर्मकथा (नायाधम्मकहा)
 — भगवान् महावीर की धर्मकथाओ, वेचरदास, अहमदाबाद, १९३१
तन्दुलवैचारिक (तन्दुलवेयालिय)
 — टीका, विजयविमल, देवचन्द्र लालभाई
दशवैकालिक (दसवेयालिय)
 — निर्युक्ति, भद्रबाहु
 — चूर्णी, जिनदासगणि, रतलाम, १९३३; अगस्त्यसिंह, प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी
 — टीका, हरिभद्र, बम्बई, १९१८
 — सम्पादन, डब्ल्यू, शूब्रिंग, अहमदाबाद, १९३२
दशाश्रुतस्कंध (दसासुयखंध), लाहौर, १९३६
 — चूर्णी, भावनगर, सं० २०११
नन्दि, देववाचक क्षमाश्रमण
 — चूर्णी, जिनदासगणि, रतलाम, १९२८
 — टीका, हरिभद्र, रतलाम, १९२८
 — टीका, मलयगिरि, बम्बई, १९२४
निरयावलिया (कप्पिया)
 — टीका, चन्द्रसूरि, अहमदाबाद, १९३८
 — सम्पादन, गोपाणी एण्ड चौक्सी, अहमदाबाद, १९३४
निसीह (निशीथ)
 — भाष्य
 — चूर्णी, जिनदासगणि; उपाध्याय कवि अमरमुनि और मुनि कन्हैयालाल, सम्मतिज्ञानपीठ, आगरा, १९५७–१९६०
 प्रकीर्णक (दस) : चतुःशरण (चउसरण), आतुरप्रत्याख्यान (आउरपच्चक्खाण), महाप्रत्याख्यान (महापच्चक्खाण), भक्तपरिज्ञा (भत्तपइण्णा), तन्दुलवैचारिक (तंदुलवेयालिय), संस्तार (संथार), गच्छाचार (गच्छायार), गणिविद्या (गणिविज्जा), देवेन्द्रस्तव (देविंदत्थय), मरणसमाधि (मरणसमाहि), बम्बई, १९२७
पिंडनिर्युक्ति (पिंडनिज्जुत्ति)
 — भाष्य
 — टीका, मलयगिरि, सूरत, १९१८
प्रज्ञापना (पण्णवणा)
 — टीका, मलयगिरि, बम्बई, १९१८–१९

प्रज्ञापना (पण्णवणा)
— गुजराती अनुवाद, भगवानदास, अहमदाबाद, विक्रम संवत् १६६१
प्रश्नव्याकरण (पण्हवागरण)
— टीका, अभयदेव, बम्बई, १६१६
— अमूल्यचन्द्र सेन, ए क्रिटिकल इन्ट्रोडक्शन टू द पण्हवागरणाइं, वुर्जबर्ग, १६३६
बृहत्कल्प (कप्प)
— भाष्य, संघदासगणि
— टीका, मलयगिरि और क्षेमकीर्ति; पुण्यविजय, आत्मानंद जैन सभा, भावनगर, १६३३-३८
भगवती (देखिए व्याख्याप्रज्ञप्ति)
महानिशीथ (महानिसीह)
— डब्ल्यू० शूब्रिंग, बर्लिन, १६१८
— गुजराती अनुवाद, नरसिंह भाई (हस्तलिखित)
राजप्रश्नीय (रायपसेणइय)
— टीका, अभयदेव
— गुजराती अनुवाद, बेचरदास, अहमदाबाद, विक्रम संवत १६६४
व्यवहार (व्यवहार)
— भाष्य
— टीका, मलयगिरि, भावनगर, १६२६
विपाकसूत्र (विवागसुय)
— टीका, अभयदेव, बड़ौदा, विक्रम संवत् १६२२
— सम्पादन, ए० टी० उपाध्ये, बेळगांव, १६३५
व्याख्याप्रज्ञप्ति
— टीका, अभयदेव, आगमोदयसमिति, बम्बई १६२१; रतलाम, १६३७
— गुजराती अनुवाद, बेचरदास, अहमदाबाद, विक्रम संवत १६७६–८८
समवायांग
— टीका, अभयदेव, अहमदाबाद, १६३८
सूत्रकृतांग (सूयगडं)
— निर्युक्ति, भद्रबाहु

— चूर्णी, जिनदासगणि, रतलाम, १९४१
— टीका, शीलांक, आगमोदय समिति, बम्बई, १९१७
— अंग्रेजी अनुवाद, हर्मन जैकोबी, सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट, ४५, १८९५
सूर्यप्रज्ञप्ति (सूरियपन्नत्ति)
— टीका, मलयगिरि, बम्बई, १९१९
स्थानांग (ठाणांग)
— टीका, अभयदेव, अहमदाबाद, १९३७

(२) आगम-बाह्य जैन ग्रन्थ

अंगविज्जा, प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, १९५७
अभिधानचिंतामणि, हेमचन्द्र, भावनगर, वीर संवत् २४४१
अभिधानराजेन्द्रकोष, विजयराजेन्द्र सूरी रतलाम, १९१३–३४
चतुर्विंशतिप्रबन्ध, राजशेखर, बम्बई, १९३२
त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित, हेमचन्द्र;अनुवाद एच० एम० जॉन्सन, १९३०
पउमचरिय, विमलसूरि, भावनगर, १९१४
परिशिष्टपर्व, हर्मन जैकोबी, कलकत्ता, १९३२
पाइयसद्दमहण्णवो, प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, १९६३
प्रबन्धचिन्तामणि, मेरुतुङ्ग, बम्बई, १९३२
प्रवचनसारोद्धार, नेमिचन्द, बम्बई, १९२२–२६
प्राचीन तीर्थमाला संग्रह, भाग १, भावनगर, संवत् १९७८
बृहत्कथाकोष, हरिषेण; ए० एन० उपाध्ये, बम्बई, १९४३
भगवतीआराधना, शिवकोटि, देवेन्द्रकीर्तिग्रन्थमाला, शोलापुर, १९३५
वसुदेवहिंडी, संघदासगणि वाचक, आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९३०–३१
विविधतीर्थकल्प, जिनप्रभसूरी, बम्बई, १९३४

(३) बौद्ध ग्रन्थ

अंगुत्तरनिकाय ४ भाग, नालंदा-देवनागरी-पालि ग्रन्थमाला, बनारस, १९६०
—अट्ठकथा (मनोरथपूरणी), ४ भाग, लंदन, १९२४-४०
अवदानशतक, २ भाग, सेंट पीटर्सबर्ग, १९०६

उदान-अट्ठकथा (परमत्थदीपनी), लंदन, १९२६
खुद्दकपाठ-अट्ठकथा (परमत्थजोतिका), लंदन, १९१५
चूलवंश, २ भाग, लंदन, १९२५
चूलवग्ग, नालंदा-देवनागरी-पालि ग्रन्थमाला, बनारस, १९५६.
जातक (हिन्दी अनुवाद), ६ भाग, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्रयाग
थेरगाथा, थेरीगाथा, रंगून, १९३७
थेरगाथा-अट्ठकथा (परमत्थदीपनी) लंदन, १९४०
थेरीगाथा-अट्ठकथा (परमत्थदीपनी), लंदन, १८९३
डिक्शनरी ऑव पालि प्रौपर नेम्स, २ भाग, जी० पी० मललसेकर, लंदन, १९३७-३८

दिव्यावदान, कैम्ब्रिज, १८८६
दीघनिकाय, ३ भाग, ना० दे० पा०, ग्रन्थमाला, बनारस, १९५८
— अट्ठकथा (सुमङ्गलविलासिनी), ३ भाग, लंदन, १८८६-१९३२
धम्मपद-अट्ठकथा, ५ भाग, पालि टैक्स्ट सोसाइटी, १९०६-१५
मज्झिमनिकाय, ३ भाग, ना० दे० पा०, ग्रन्थमाला, बनारस, १९५८
— अट्ठकथा (पपंचसूदनी, ५ भाग, लंदन, १९२२-३८
महावग्ग, ना० दे० पा० ग्रन्थमाला, बनारस, १९५६
महावंस (टीका), लंदन, १९०८
मिलिन्दपञ्ह, ट्रेन्कनेर, लंदन, १८८०
ललितविस्तर, लंदन, १९०२ और १९०८
विभंग-अट्ठकथा (सम्मोहविनोदिनी) , लंदन, १९२३
विनयपिटक-अट्ठकथा (समंतोपासादिका), ४ भाग, लंदन, १९२४-३८
विनयवस्तु, गिलगिट, मैनुस्क्रिप्ट, जिल्द ३, भाग २, श्रीनगर-काश्मीर, १९४२

संयुत्तनिकाय, ४ भाग, ना० दे० पा० ग्रन्थमाला, बनारस, १९५६
— अट्ठकथा (सारत्थपकासिनी), ३ भाग, लंदन १९२९-३७
सुत्तनिपात-अट्ठकथा (परमत्थजोतिका), ४ भाग, लंदन, १९१६-१८

(४) ब्राह्मण ग्रन्थ

आपस्तंब धर्मसूत्र, काशी संस्कृत सीरीज बनारस, १९३२
कथासरित्सागर, सोमदेव, सम्पादन पेंजर, भाग १-१०, लंदन, १९२४-२८

गौतम चरकसंहिता, २ भाग, हरिदत्त शास्त्री लाहौर, १९४०
दशकुमारचरित, काले, बम्बई, १९२५
बृहत्संहिता, २ भाग, वाराहमिहिर, सम्पादन, सुधाकर द्विवेदी, बनारस संवत् १९८७
भरतनाट्यशास्त्र, भरत, गायकवाड़ ओरिंटियल सीरीज़, १९२४; १९३६; काशी संस्कृत सीरीज़, १९२९
मनुस्मृति, निर्णयसागर, बम्बई, १९४६
महाभारत, टी० आर० कृष्णाचार्य, बम्बई, १९०६-९
मृच्छकटिक, आर० डी० करमरकर, पूना, १९३७
याज्ञवल्क्यस्मृति, विज्ञानेश्वर की टीका, चौथा संस्करण, बम्बई, १९३६
रामायण, टी० आर० कृष्णाचार्य, बम्बई, १९११
वैदिक इन्डैक्स, २ भाग, मैकडोनल एण्ड कीथ, १९१२
शतपथ ब्राह्मण, ५ भाग, बम्बई, १९४०
सुश्रुतसंहिता, भास्कर गोविन्द घाणेकर, लाहौर, १९३६, १९४१

(५) सामान्य ग्रन्थ

आचार्य पी० के० : डिक्शनरी ऑव हिन्दू आर्किटैक्चर, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, १९२७
आप्टे वी० एम० : सोशल एण्ड रिलीजियस लाइफ इन द गृह्यसूत्राज़, अहमदाबाद, १९३९
आल्टेकर ए० एस० : एजूकेशन इन ऐंशियेंट इंडिया, बनारस, १९३४
: द पोज़ीशन आव वीमैन इन हिन्दू सिविलिजेशन, बनारस, १९३८
ओझा गौरीशंकर : भारतीय प्राचीन लिपिमाला, अजमेर, विक्रम संवत् १९७५
कनिंघम ए० : ऐंशियेंट ज्योग्रफी आव इंडिया, कलकत्ता, १९२४
कल्याण विजयमुनि : श्रमण भगवान् महावीर, जालौर, विक्रम संवत् १९८८
कापड़िया एच० आर० : ए हिस्ट्री ऑव कैनोनिकल लिटरेचर ऑव द जैन्स, बम्बई, १९४१
: आगमोनुं दिग्दर्शन, भावनगर, १९५८
कुमारस्वामी ए० के० : द यक्षाज़, वाशिंगटन, १९२८, १९३१
: द डान्स ऑव शिव, न्यूयार्क, १९२४

ग्लासनैप : जैनिदम (गुजराती अनुवाद); अहमदाबाद
घुर्ये जी० एस० : कास्ट एण्ड रेस इन इंडिया, लंदन, १९३२
चक्लादार एच० सी० : सोशल लाइफ इन ऐंशियेंट इंडिया—स्टडीज़ इन वात्स्यायन कामसूत्र, कलकत्ता, १९२६
जैन जगदीशचन्द्र : लाइफ इन ऐंशियेंट ऐज रिपिक्टेड इन जैन कैनन्स, बम्बई, १९४७
: प्राकृत साहित्य का इतिहास, बनारस, १९६१
: दो हजार बरस पुरानी कहानियाँ, काशी, १९४६
: प्राचीन भारत की कहानियाँ, बम्बई, १९५६
: भारत के प्राचीन जैन तीर्थ, बनारस, १९५२
: रमणी के रूप, जबलपुर, १९६१
डे नन्दलाल : द ज्योग्रफिकल डिक्शनरी ऑव ऐंशियेंट एण्ड मेडीवल इंडिया, लंदन, १९२७
दाते जी० टी० : द आर्ट ऑव वार इन ऐंशियेंट इंडिया, लंदन, १९२९
दास एस० के० : द इकोनोमिक हिस्ट्री ऑव ऐंशियेंट इंडिया, कलकत्ता, १९३७
दीक्षीतार वी० आर० रामचन्द्र : हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इंस्टिट्यूशन्स, मद्रास, १९२९
देव एस० बी० : जैन मौनेस्टिक जुरिस्प्रूडेंस, बनारस, १९६०
नार्मन ब्राउन डब्ल्यू० : द स्टोरी ऑव कालक, वाशिंगटन, १९३३
पार्जिटर एफ० ई० : ऐंशियेंट हिस्टोरिकल ट्रैडीशन, लन्दन, १९२२
पिशल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, अनुवादक हेमचन्द्र जोशी, पटना, १९५८
पुण्यविजय मुनि : जैन चित्रकल्पद्रुम, अहमदाबाद, विक्रम संवत् १९९२
: बृहत्कल्पसूत्र छठे भाग की प्रस्तावना, भावनगर, १९४२
पुसालकर ए० डी० : भास—ए स्टडी, लाहौर, १९४०
फिक रिचार्ड : द सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ-ईस्ट इंडिया इन बुद्धाज टाइम, कलकत्ता १९२०
फोगल जे० : इंडियन सर्पेण्ट लोर, लंदन, १९२६
बनर्जी पी० एन० : पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन ऐंशियेंट इंडिया, १९१६
बागची पी० सी० : प्री-आर्यन एण्ड प्री-द्रविडियन इन इंडिया, सिलवन लेवी, कलकत्ता, १९२९
ब्यूलर : द इंडियन सैक्ट ऑव द जैन्स, लंदन, १९०३

भरतसिंह उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, प्रयाग, संवत २००८
: *बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, प्रयाग, संवत् २०१८*
भांडारकर आर० जी० : वैष्णविज़म, शैविज़म एण्ड माइनर रिलीजियस सिस्टम्स्, स्ट्रासबर्ग, १९१३
भागवत (मिस) डी० एन० : अर्ली बुद्धिस्ट जुरिस्प्रूडेंस, पूना
मजूमदार आर० सी० : कॉरपोरेट लाइफ इन ऐंशियेंट इंडिया, पूना, १९२२
मित्र आर० एल० : इण्डो-आर्यन, २ भाग, कलकत्ता, १८८१
मेहता रतिलाल : प्री-बुद्धिस्ट इंडिया, बम्बई, १९४१
राइस डेविड्स टी० डब्ल्यू० : बुद्धिस्ट इंडिया, लंदन, १९१७
रायचौधुरी एच० सी० : पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐंशियेंट इंडिया, कलकत्ता, १९३२
राव गोपीनाथ : ऐलीमेण्ट्स ऑव हिन्दू इकोनोग्राफी, मद्रास, १९१४
रैप्सन ई० जे० : कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, भाग १, कैम्ब्रिज, १९२२, १९३५
लाहा बी० सी० : ज्यॉग्रफिकल ऐस्सेज़, कलकत्ता, १९३८
: महावीर, हिज़ लाइफ़ एण्ड टीचिंग, लंदन, १९३७
: हिस्टौरिकल ग्लीनिंग्ज़, कलकत्ता, १९२२
: इंडिया ऐज़ डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टैक्स्ट्स ऑव बुद्धिज़म एण्ड जैनिज़म, लंदन, १९४१
: बुद्धिस्टिक स्टडीज़, कलकत्ता, १९३१
: ट्राइब्स इन ऐंसियेंट इंडिया, पूना, १९४३
वाल्वल्कर पी० एच० : हिन्दू सोशल इंस्टिट्यूशन्स, बम्बई, १९३९
विण्टरनीज़ मौरिस : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, भाग २, कलकत्ता १९३३
शाह उमाकान्त पी० : स्टडीज़ इन जैन आर्ट, बनारस, १९५५
शाह सी० जे० : जैनिज़म इन नार्थ इंडिया, लंदन, १९३२
शूब्रिग डब्ल्यू० : डाक्ट्रीन्स ऑव द जैन्स, बनारस, १९६२
सेन अमूल्यचन्द्र : स्कूल्स ऐण्ड सैक्ट्स इन जैन लिटरेचर, विश्वभारती स्टडीज़ ३, अप्रैल, १९३१
हॉपकिन्स ई० डब्ल्यू० : इपिक माइथॉलौजी, स्ट्रासबर्ग, १९१५

(६) पत्र-पत्रिकाएं

अनेकान्त
आर्किओलोजिकल सर्वे ऑव इण्डिया रिपोर्ट्स
आशुतोषमुकुर्जी सिल्वर जुबिली वाल्यूम्स ओरिंटिएलिस, भाग १-३
इंडियन ऐण्टीक्वेरी
इंडियन कल्चर
इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली
इम्पीरियल गजेटियर
एपिग्राफिआ इंडिका
ऐनसाइक्लोपीडिया ऑव इथिक्स एण्ड रिलीजन
ऐनल्स ऑव भांडारकर ओरिंटियल रिसर्च इंस्टिट्यूट
कलकत्ता रिव्यू
कल्चरल हैरिटेज ऑव इंडिया, रामकृष्ण सेन्टनरी मेमोरियल वाल्यूम ३
जर्नल ऑव द अमरिकन ओरिंटियल सोसायटी
जर्नल ऑव द इंडियन सोसायटी ऑव ओरिंटिएल आर्ट
जर्नल ऑव द बिहार एण्ड ओरिसा रिसर्च सोसायटी
जर्नल ऑव द युनिवर्सिटी ऑव बम्बई
जर्नल ऑव द यू० पी० हिस्टोरिकल सोसायटी
जैन इंडियन ऐंटीक्वेरी
डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ऑव बंगाल, बिहार एण्ड उड़ीसा, युनाइटेड प्राविन्सेज, पंजाब आदि
नागरी प्रचारिणी पत्रिका
पुरातत्त्व (गुजराती)
भारतीय विद्या

शब्दानुक्रमणिका

आ

इ

घ

ट

ठ

थ

द

भ